सम्पूर्ण जीवन दर्शन

मानव मात्र को "एक-मत" करनेवाली "एक-मात्र" अकाट्य सन्त वाणी

भाग – १
(प्रबोधनी)

स्वामी श्री शरणानन्द जी महाराज

जो मजहब, संप्रदाय से भी ज्यादा हमारा अपना है ।

प्रथम संस्करण – २०१९
1000 प्रतियाँ

मूल्य : कुल 10 पुस्तकों के लिए ₹2500/- (10 X ₹250/-)

प्रकाशक

करनाल मानव सेवा संघ

निकट बस स्टैण्ड़, जी टी रोड़,
करनाल, हरियाणा – 132 001
दूरभाष : 0184-2254415

प्रार्थना

(प्रार्थना आस्तिक प्राणी का जीवन है)

मेरे नाथ !
आप अपनी
सुधामयी,
सर्व-समर्थ,
पतितपावनी,
अहैतुकी कृपा से
दु:खी प्राणियों के हृदय में
त्याग का बल
एवं
सुखी प्राणियों के हृदय में
सेवा का बल
प्रदान करें,
जिससे वे
सुख-दु:ख के बन्धन से
मुक्त हो,
आपके पवित्र प्रेम का
आस्वादन कर
कृतकृत्य हो जायें ।

ॐ आनन्द! ॐ आनन्द!! ॐ आनन्द!!!

हरिः शरणम्

हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम् ।
हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम् ।
हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम् ।
हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम् ।

सर्वहितकरी कीर्तन

हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।

हे समर्थ, हे करुणा सागर, विनती यह स्वीकार करो।
हे समर्थ, हे करुणा सागर, विनती यह स्वीकार करो।
भूल दिखाकर उसे मिटाकर, अपना प्रेम प्रदान करो।
भूल दिखाकर उसे मिटाकर, अपना प्रेम प्रदान करो।
पीर हरो हरिः, पीर हरो हरिः, पीर हरो, प्रभु पीर हरो।
पीर हरो हरिः, पीर हरो हरिः, पीर हरो, प्रभु पीर हरो।

मानवता के मूल सिद्धांत

(१) आत्म-निरीक्षण, अर्थात् प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपने दोषों को देखना।

(२) की हुई भूल को पुनः न दोहराने का व्रत लेकर सरल विश्वासपूर्वक प्रार्थना करना।

(३) विचार का प्रयोग अपने पर और विश्वास का दूसरों पर, अर्थात् न्याय अपने पर और प्रेम तथा क्षमा अन्य पर।

(४) जितेन्द्रियता, सेवा, भगवचिन्तन और सत्य की खोज द्वारा अपना निर्माण।

(५) दूसरों के कर्तव्य को अपना अधिकार, दूसरों की उदारता को अपना गुण और दूसरों की निर्बलता को अपना बल न मानना।

(६) पारिवारिक तथा जातीय सम्बन्ध न होते हुए भी पारिवारिक भावना के अनुरूप ही पारस्परिक सम्बोधन तथा सद्भाव, अर्थात कर्म की भिन्नता होने पर भी स्नेह की एकता।

(७) निकटवर्ती जन-समाज की यथाशक्ति क्रियात्मक रूप से सेवा करना।

(८) शारीरिक हित की दृष्टि से आहार-विहार में संयम तथा दैनिक कायों में स्वावलम्बन।

(९) शरीर श्रमी, मन संयमी, बुद्धि विवेकवती, हृदय अनुरागी तथा अहं को अभिमान-शून्य करके अपने को सुन्दर बनाना।

(१०) सिक्के से वस्तु, वस्तु से व्यक्ति, व्यक्ति से विवेक तथा विवेक से सत्य को अधिक महत्त्व देना।

(११) व्यर्थ चिन्तन-त्याग तथा वर्तमान के सदुपयोग द्वारा भविष्य को उज्ज्वल बनाना !

विषय सूची

I. मानवमात्र के शरणानन्दजी... 1
1. प्रबोधनी 2
II. सत्संग और साधन 12
2. असत् का त्यागः साधन की अभिव्यक्ति 13
3. अकर्तव्य का नाश: कर्तव्य की अभिव्यक्ति 16
4. पराधीनता का नाश: स्वाधीनता की अभिव्यक्ति 23
5. आसक्ति का अभाव और प्रेम की अभिव्यक्ति 29
6. मूक-सत्संग और विश्राम की अभिव्यक्ति 35
7. उपसंहार 47
III. दर्शन और नीति..... 51
8. प्रथम प्रकरण 52
9. द्वितीय प्रकरण 57
10. तृतीय प्रकरण 64
11. चतुर्थ प्रकरण 67
12. पंचम प्रकरण 78
13. षष्ठ प्रकरण 83
14. सप्तम प्रकरण 90
15. अष्टम प्रकरण 93
16. नवम प्रकरण 99
17. दशम प्रकरण 104
18. एकादश प्रकरण..... 114
19. द्वादश प्रकरण..... 121
IV. जीवन पथ 127
20. जीवन असत से सत की ओर। 128
21. प्रभु में प्रियता। 137
22. मिले हुए का सदुपयोग। 143
23. मानव जीवन का महत्व। 148
24. विश्राम में जीवन हैं। 158
25. कर्तव्य परायणता। 167
26. स्मृति की जागृति – "हैं" की प्राप्ति 173
27. असंगता का महत्व। 182
28. प्रवृति सेवा में निवृति प्रेम में। . 189
29. प्रभु में विश्वास 192
30. प्रियता में जीवन की पूर्णता। .. 198
31. ममता का त्याग 201
32. अगाध अनन्त आनन्द की प्राप्ति 204
33. जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति – अनित्य हैं। 211
V. दुःख का प्रभाव..... 219
34. दुःख का प्रभाव – एक परिचय 220
35. दुः:ख का प्रभाव..... 232
36. उपसंहार 304
VI. मानवता के मूल सिद्धांत ... 309
37. प्रार्थना..... 310
38. प्रार्थना की व्याख्या 310
39. पहला नियम 316
40. दूसरा नियम..... 329
41. तीसरा नियम..... 333
42. चौथा नियम..... 341
43. पाँचवां नियम 347
44. छठा नियम 351
45. सातवां नियम..... 354
46. आठवां नियम 357
47. नवां नियम..... 361
48. दसवां नियम 364
49. ग्यारह्वां नियम 367
VII. मूक-सत्संग तथा नित्य-योग 371
50. मूक-सत्संग तथा नित्य-योग... 372

मानवमात्र के
शरणानन्दजी

प्रबोधनी

(संक्षिप्त परिचय)

ब्रह्मलीन स्वामी शरणानन्द जी महाराज एक महान् क्रान्तिदर्शी, तत्त्ववेत्ता, भगवद्-भक्त एवं मानवता के संरक्षक सन्त थे। उनका प्रादुर्भाव उत्तर भारतवर्ष में 20 वीं सदी के प्रारम्भ में हुआ। उनके जीवन में उन्मेष के सम्बन्ध में समय-समय पर प्रसंगवश उन्हीं के श्रीमुख से जो कुछ सुना गया, उससे हम लोगों ने जाना कि बचपन में ही लगभग 10 वर्ष की अवस्था में उनकी आँखें चलीं गयीं। उनके अन्धेपन के दुःख से सारा परिवार अथाह दुःख में डूब गया, परन्तु उस दुःख के प्रभाव से इनमें एक प्रश्न पैदा हो गया- 'क्या ऐसा भी कोई सुख होता है, जिसमें दुःख शामिल न हो? ' उत्तर मिला कि ऐसा सुख साधु-सन्त को होता है, जिसमें दुःख सम्मिलित नहीं रहता। इस उत्तर से उन्हें जीवन की राह मिल गई। उन्होंने निश्चय कर लिया कि मैं साधु हो जाऊँगा। इनके मन में यह चिन्तन चलने लगा कि साधु कैसे बनूँ ! सद् गुरु-रूप सन्त मिले। बातचीत हुई। सन्त ने परामर्श दिया कि ईश्वर के शरणागत हो जाओ। इनके बाल्यकाल के कोमल हृदय पर सन्त की वाणी का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। ईश्वर की शरणागति स्वीकार करते ही इनके मन में ईश्वर से मिलने की तीव्र उत्कण्ठा जाग्रत हो गई। उस उत्कण्ठा ने शरीर और संसार के सब बन्धनों को ढीला कर दिया। 19 वर्ष की उम्र में इन्होंने विधिवत् संन्यास ले लिया। इनका नवीन नामकरण हुआ 'स्वामी शरणानन्द'। उसी समय से सब सामान और साथियों का सहारा छोड़ कर ये संन्यास धर्म के कठोर व्रतों का दृढ़ता से पालन करते हुए भगवान के सहारे रहने लगे।

श्री महाराज जी की बाल्यकालीन घटनाओं से स्पष्ट विदित होता है कि भगवान् के शरणागत होने का भाव इनमें इतना सजीव था कि— सर्व समर्थ प्रभु सदैव अपने साथ हैं- इस सत्य के अभिव्यक्त होने में देर नहीं लगी। एक बार मथुरा से आगरा जाते समय ये अकेले ही पैदल यमुना के किनारे-किनारे जा रहे थे। एक

स्थान पर ढाह गिरी। ये पानी में जा पड़े। नदी चढ़ी हुई थी। हाथ की लाठी छूट गई। तैरना कुछ आता था, पर बिना देखे पता नहीं चला कि किधर की ओर तैरें। 'शरण्य' की याद आई और उनके भरोसे इन्होंने जल में डूबते हुए शरीर को ढीला छोड़ दिया। तत्काल ऐसा महसूस हुआ जैसे किसी ने इनको जल में से निकाल कर किनारे पर डाल दिया। उठने के लिए जब इन्होंने धरती पर हाथ टेका तो एक नयी लाठी हाथ में आ गई। प्रभु की शरणागत-वत्सलता को पाकर इनका हृदय भर आया। उनकी महिमा से अभिभूत, उनके प्यार में मस्त होकर ये उठे और चल दिए।

इनके जीवन की ऐसी अनेक घटनाएँ हैं, जिनसे ईश्वर के प्रति अविचल आस्था एवं अनन्य शरणागति का परिचय मिलता है। जब कभी ये वृन्दावन में होते तो प्रतिदिन श्री बाँकेबिहारी जी के दर्शन करने जाते थे। एक दिन एक मित्र ने पूछ लिया, कि 'महाराज जी ! आपको दिखाई तो देता नहीं है – दर्शन कर नहीं सकते, फिर आप मन्दिर में क्यों जाते हैं?' श्री महाराज जी ने उत्तर दिया- "भले आदमी! सोचो तो सही- मेरी आँखें नहीं हैं, तो क्या ठाकुर जी की भी आँखें नहीं हैं? मैं नहीं देख सकता, परन्तु वे तो देखते हैं। मुझे देख कर उन्हें प्रसन्नता होती है, इसलिए मैं मन्दिर में जाता हूँ।" कितना सजीव ईश्वर-विश्वास है।

श्री स्वामी जी महाराज एक बार ट्रेन में बैठे थे। ईसाई मत के एक पादरी साहब भी वहाँ आकर बैठ गए। थोड़ी देर बाद उन्होंने श्री महाराज जी से पूछा कि 'आप मसीहा को जानते हैं?' इन्होंने सहज भाव से उत्तर दिथा- 'जी हाँ, जानता हूँ। पादरी साहब ने फिर प्रश्न किया कि 'मसीहा के सम्बन्ध में आप क्या जानते हैं?' इस प्रश्न को सुन कर बड़ी प्रसन्नता एवं कॉनफिडेंस के साथ श्री महाराज जी ने कहा- 'भाई, मसीहा खुदा के पुत्र हैं, मैं खुदा का दोस्त हुँ, मसीहा मेरा सगा भतीजा है। मैं उसको अच्छी तरह से जानता हूँ। मसीहा मुझे बहुत प्यारा लगता है।' एक गेरुए वस्त्रधारी हिन्दू संन्यासी मसीहा को अपना सगा सम्बन्धी मानता है और आत्मीयता के नाते प्यार करता है-ऐसे सम्बन्ध की कल्पना भी पादरी साहब नहीं कर सकते होंगे। वे श्री महाराज जी का उत्तर सुन कर स्तम्भित रह गए। उन्होंने हिन्दू मत के

इस व्यापक ईश्वरीय सम्बन्ध की बात, जिसमें सभी मजहब के ईश्वर-विश्वासी समा जायें, कभी सुनी नहीं होगी। आप सोचिए कि श्री महाराज जी की बात कितनी सत्यतापूर्ण है। वस्तुत: ईश्वरवाद में मजहब-भेद हो ही नहीं सकता। ईश्वरवाद तो मानव जीवन का एक ऐसा व्यापक सत्य है कि मन्दिर, मस्जिद और चर्च के भेद इसे विभाजित नहीं कर सकते। ईश्वरवादी होकर मजहबी संघर्ष करने वाला घोर अनीश्वरवादी है। क्योंकि, सही ईश्वरवाद का अर्थ है- प्रभु से आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करना। वैष्णव मत के अनुसार यही उपासना है। इसी आधार पर श्री महाराज जी ने भक्तिमती मीरा जी, महात्मा ईसा मसीह और पैगम्बर मुहम्मद को परम वैष्णव कह कर स्वीकार किया है। क्योंकि मीरा जी ने ईश्वर को अपना पति माना, महात्मा ईसा ने ईश्वर को अपना पिता माना और पैगम्बर मुहम्मद ने ईश्वर को अपना दोस्त माना और तीनों ही प्रभु के परम भक्त हुए। प्रभु-भक्ति के लिए ईश्वर को अपना मानना और उनको रस देने के लिए उनका प्रेमी होना अनिवार्य है। कोई मन्दिर में जाकर पूजा करेगा, कि मस्जिद में जाकर नमाज पढ़ेगा, कि चर्च में जाकर करेगा-यह प्रश्न ही नहीं उठता।यदि कोई प्रभु को अपना मान कर उनके प्रति प्रेम-भाव रखेगा और उन्ही के नाते प्राणिमात्र के प्रति सद् भाव रखेगा तो उसे सब जगह परमात्मा मिलेगा, अन्यथा कहीं नहीं मिलेगा।यह ध्रुव सत्य है।श्री स्वामी जी महाराज ने इस सत्य को स्वीकार करने का परामर्श सभी ईश्वरवादी साधको को दिया है।उनका यह विचार उनके प्रवचनों में व्यक्त है, जिसका अनुसरण मजहबी एकता को सुरक्षित रखने में समर्थ है। श्री स्वामी जी महाराज को संन्यास देने वाले गुरु ने एक बार विदा होते समय कह दिया कि 'बेटा, जब तुम आजाद हो जाओगे, तो सारी प्रकृति तुम्हारी सेवा के लिए लालायित रहेगी, चराचर जगत तुम्हारी आवश्यकता-पूर्ति के लिए तैयार रहेगा। वृक्ष तुम्हें फल-फूल देंगे और खूंखार शेर तुम्हें गोद में लेकर तुम्हारी रक्षा करेंगे।" इतना कह कर सद्गुरूदेव ने स्वरचित एक दोहा सुना दिया-

जीते जी मर जाय, अमर हो जावे।
दिल देवे, सो दिलबर को पावे ॥

'जीते जी मर जाय' अर्थात अंकिचन, अचाह एवं अप्रयत्न हो जाना और 'दिल देवे' अर्थात केवल प्रभु को अपना मन कर उन्हें रस देने के लिए अपने को समर्पित करना।

श्री स्वामी जी महाराज ने गुरुवाणी को सर्वाश में धारण किया और उसे अपने जीवन में शत-प्रतिशत फलित होते देखा। अकिंचन, अचाह एवं अप्रयत्न होकर इन्होंने परम स्वाधीन, दिव्य-चिन्मय जीवन पा लिया तथा प्रभु के प्रेमी होकर प्रेम के अनन्त रस से भरपूर हो गये।

घोर पराधीनता की पीड़ा से मुक्त होकर अमरत्व के आनन्द में मस्त हो गए। इस सम्बन्ध में श्री महाराज जी ने अपना एक अनुभव सुनाया था। एक बार उनका शरीर अस्वस्थ हो गया था। उत्तराखण्ड की यात्रा करके वापस आए थे। हिल डायरिया से शरीर बहुत ही दुर्बल हो गया था। साथ-साथ ज्वर भी रहने लगा। बीमारी की दशा में करीब 40 दिन बीत गए थे। चिकित्सकों के मतानुसार, नाड़ी की गति शरीर के नाश का संकेत दे रही थी। मित्रों, प्रेमियों एवं चिकित्सकों ने चिन्ता प्रकट की। श्री स्वामी जी महाराज के शरीर को नियमानुसार कुशा और मृगछाला बिछा कर जमीन पर उतार दिया गया। चारों ओर प्रियजन खड़े थे। प्रेमी डॉक्टर ने कहा कि 'बाबाजी चले।' इन्होंने सुना और प्रियजनों के उमड़ते हुए हृदय के स्पन्दन को अनुभव किया। वीतराग सन्त को बड़ा भारी कौतुहल हुआ कि प्रियजन अब मैं देखता हूँ कि मृत्यु कैसी होती है? जब वे देखने लगे तो उन्हें बड़ा आनन्द आया। शरीर के छूट जाने में इतना हल्कापन और इतना आनन्द था कि जिसकी कोई सीमा ही नहीं थी। इस अनुभव से वे इस निश्चय पर पहुँचे कि मृत्यु में कोई दुःख नहीं है। चूंकि आदमी शरीर को बनाए रखना चाहता है, इस कारण मरने में दुःखी और भयभीत होता है अन्यथा आनन्द ही आनन्द है। उनका आनन्द मृतकवत् शरीर पर भी फैल गया था। वे उस शरीर को जमीन पर पड़ा हुआ देख रहे थे और सुन रहे थे कि कितने प्रसन्न हैं।"

बुद्धि की प्रखरता, हृदय की कोमलता एवं जीवन के प्रति जागरूकता के गुण इनमें जन्मजात थे। अवसर पाकर इन गुणों का पूर्ण विकास हुआ।

एक बार ये अपने गुरु के पास बैठे थे। इनके मन में शास्त्रों एवं उपनिषदों के अध्ययन का संकल्प उठा। आँखें तो थी नहीं, मन ही मन सोच कर रह गए। तत्काल ही इनके गुरुदेव बोल उठे- 'अरे भाई, ठहरी हुई बुद्धि में श्रुति का ज्ञान स्वत: अभिव्यक्त होता है। उसकी पाठशाला है- 'एकान्त' और पाठ है'मौन'। ज्ञानार्जन का यह रहस्य सुन कर ये बहुत प्रसन्न हो गए। इन्होंने एकान्त में मौन रह कर बुद्धि को सम कर लिया। बुद्धि की समता में वह ज्ञान उदित हो गया जो ग्रन्थों के अध्ययन से कभी सम्भव ही नहीं है। उस ज्ञान के प्रकाश में इन्हें सृष्टि के आदि-अन्त के सभी रहस्यों का पता चल गया। सृष्टि के विधायक की मंगलकारिता एवं मानव-जीवन के मंगलमय विधान का अर्थ स्पष्ट हो गया। इन्होंने जानने योग्य सब कुछ जान लिया, क्योंकि जिस ज्ञान से सब कुछ जाना जाता है, वह ज्ञान इनमें अभिव्यक्त हो गया था।

अन्तर्चक्षुओं के खुलते ही इनमें इतनी सामर्थ्य आ गई कि बाह्य जगत को भी देखने में समर्थ हो गए। वे भीतर-बाहर सब कुछ देख सकते थे। बिलकुल निर्द्वन्द्व एवं निर्भीक होकर रहते थे। बाहरी-आँखों के बिगड़ जाने का दुःख सदा के लिए मिट गया।

इनका इतना विकास अल्प समय में ही हो गया। जिन मित्रों ने प्रारम्भ से इनको देखा है, वे कहते हैं कि देखते ही देखते उनके भीतर सत्य से अभिन्न होने की गहरी व्याकुलता जो थी, वह परम शान्ति में बदल गई। उनका मुखमण्डल प्रकाशमान हो गया। वे अपने अविनाशी अस्तित्व में आप स्थित रहने लगे। उनके हृदय में ईश्वरीय प्रेम लहराने लगा, जिसके स्पर्श मात्र से निकटवर्ती मित्रगण पुलकायमान होने लगे। योग के द्वारा सिद्ध होने वाली सब सिद्धियाँ सहज ही उनमें आ गई, पर वे उन सब सिद्धियों को गोपनीय रखते थे। उनका जीवन योग, बोध एवं प्रेम का सजीव प्रतीक था। यही कारण है कि इनकी उपस्थिति से वातावरण में प्रेम की लहरियाँ उठती रहती थी।

उनके जीवन से यह सत्य प्रत्यक्ष होता था कि ज्ञान और प्रेम का तत्व जब किसी सन्त में अभिव्यक्त हो जाता है तो वह विभु हो जाता है। श्री महाराज जी के निकट सम्पर्क में आने वाले अनेक साधक भाई-बहन एक

अज्ञात मिठास के आभास से आकर्षित होकर चुपचाप मंत्रमुग्ध की भाँति उनके पास बैठे रहते थे। प्रेम-पथ की साधना की चर्चा जब होने लगती थी और श्री महाराज जी प्रेमी तथा प्रेमास्पद के अनन्त विहार की मधुर वार्ता सुनाने लग जाते थे तो सुनने वाले ईश्वरविश्वासी साधक अपने आप को भूल जाते थे। अनेक श्रोताओं ने समय-समय पर अपना अनुभव हमें बताया कि श्री महाराज जी की वाणी में उनका रसमय जीवन ही प्रवाहमान होकर श्रोताओं के हृदय को स्पर्श करता था, जिससे श्रोता अपने आपको प्रेम-भाव में उत्तरोत्तर ऊंचे उठते हुए पाते थे। उन्हें अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती थी।

इनकी प्रश्नोत्तर की शैली बेजोड़ थी। वाक्पटुता एवं उन्मुक्त हास्य, भ्रमनिवारण के लिए कड़ी-से-कड़ी आलोचना के साथ ही मातृवत् स्नेह का व्यवहार जिज्ञासुजनों के विशेष आकर्षण का स्रोत था। अन्तर्बोध से अनुप्राणित इनकी अकाट्य युक्तियों में बहुत ही स्पष्टता, दृढ़ता एवं निस्सन्देहता थी। इनके प्रवचनों एवं साहित्य में कहीं भी आपको ग्रन्थों के प्रमाणों का उल्लेख नहीं मिलेगा। वे जानते थे कि स्वत: सिद्ध सत्य को प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। वे कभी सोचकर नहीं बोलते थे। कई बार उन्होंने प्रसंगवश ऐसा कहा कि, 'भाई जैसे तुम सुनते हो वैसे मैं भी सुनता हूँ। मैं भी तो श्रोता हूँ।'

उनकी अहं-शून्य वाणी में ज्ञान और प्रेम की अजस्त्र धारा सहज ही प्रवाहित होती रहती थी, जिसे सुनकर बड़े-बड़े शास्त्रज्ञ भी कहते थे और आज भी कह रहे हैं कि वर्षों तक ग्रन्थों के अध्ययन से दर्शन के जो गूढ़ रहस्य समझ में नहीं आये थे, वे सब इन बेपढ़े सन्त की वाणी से स्पष्ट हो गए।

करुणा से द्रवित, सर्वात्मभाव से भावित सन्त-हृदय में गहन एकान्तिक चिन्तन के फलस्वरूप मानव-जीवन सम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर स्वरूप 'मानवता के मूल सिद्धान्त' प्रकाश में आए। उनको श्री महाराज जी ने मानव-समाज के लिए एक नवीन क्रान्तिकारी विचारधारा के रूप में संजोया। उसी विचारधारा तथा साधन प्रणाली का प्रतीक है- 'मानव-सेवासंघ'। इस संस्था की स्थापना सन्त शिरोमणि पूज्यपाद स्वामी शरणानन्द जी महाराज ने इस हेतु से की कि

इसके माध्यम से युगों-युगों तक मानव-समाज की विचारात्मक, भावात्मक एवं क्रियात्मक सेवाएँ होती रहें। 1952 ई. में इसकी स्थापना हुई तथा सन् 1953 ई. में इसका रजिस्ट्रेशन हो गया। वृन्दावन में इसका प्रधान कार्यालय है। इस संस्था को स्थापित करने की आवश्यकता इसलिए पड़ गई कि मानवमात्र के परित्राण के लिए जिस सर्वमान्य विचार-प्रणाली का सृजन श्री महाराज जी की अनार्व्यथा से हुआ था- उसको उन्होंने अपने व्यक्तिगत नाम से प्रकाशित करना पसन्द नहीं किया। जिन्हें अहम् को अभिमान-शून्य रखना अभीष्ट होता है, वे आत्म-ख्याति से बचकर रहते हैं।

इसमें दूसरी एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि श्री महाराज जी के विचारानुसार देश, काल, मत, मजहब, सम्प्रदाय एवं वर्ग से निरपेक्ष जो जीवन का सत्य है, उसे व्यक्ति के माध्यम से प्रकट करना उसका मूल्य घटाना है और सबसे बड़ी बात यह है कि जिन्होंने परम प्रेमास्पद की सत्ता से भिन्न अपना अस्तित्व ही नहीं रखा, वे अपने नाम से कोई बात कैसे कह सकते थे ! इन्हीं कतिपय उल्लेखनीय कारणों से 'मानव-सेवा-संघ' की स्थापना हुई।

तब से अब तक देश के विभिन्न भागों में मानव-सेवा-संघ के माध्यम से जन-जन के भीतर सोई हुई मानवता को जगाने की सेवा की जा रही है। श्री स्वामी जी महाराज इस बात हे लिए बड़े ही आतुर रहते की प्रत्येक भाई – बहन अपने कल्याण में स्वाधीन और समर्थ हो जाए।

उनका प्रादुर्भाव एक विलक्षण विभूति के रूप में हुआ, ऐसा उनके सम-सामयिक सभी महान् सन्त एवं महापुरुष मानते हैं। प्रचण्ड ज्ञान, अकाट्य युक्ति, सरल विश्वास एवं अनन्य भक्ति- ये सभी पक्ष उनमें अपनी पराकाष्ठा पर थे। ऐसा अद्‌भुत कम्बिनेशन कहीं देखने में नहीं आता, जैसा परम पूज्य स्वामी जी महाराज में विद्यमान था। फिर भी उपर्युक्त दिव्यताओं को अपनी विशेषता मानने की भूल उन्होंने कभी नहीं की।

मेरा कुछ नहीं है।
मुझे कुछ नहीं चाहिए।
मैं कुछ नहीं हूँ।
सर्व-समर्थ प्रभु मेरे अपने हैं।

- यह चिरन्तन सत्य उनका जीवन था और यही उनके कथन का

केन्द्र भी है। महाराज जी की बड़ी भारी विशेषता यह रही है की वे साधकों को किसी बाहरी विधि – विधान एवं अभ्यासजन्य साधनों पर अटकने नहीं देते थे, विभिन्न दर्शनिक मतभेदों में उलझने नहीं देते थे, किसी दर्शन या साधन-प्रणाली का आग्रह या विरोध नहीं करते थे। उन्होंने कभी अपना मत दुसरो पर आरोपित नहीं किया। स्वयं कट्टर ईस्वर-वादी होते हुए भी कभी ईश्वरवाद का प्रचार नहीं किया।

वे एक तत्त्वदर्शी सन्त थे। इसी कारण उन्होंने भक्ति –पथ, ज्ञान-पथ या योग -पथ मे किसी को सबसे अच्छा या किसी को उससे कम अच्छा नहीं बताया। किसी को सहज या किसी को अपेक्षाकृत कठिन नहीं बताया। उन्होंने इस बात को घोषित किया है कि दर्शन अनेक और जीवन एक है। उन्होंने साधक मात्र को यह अभय वचन दिया है कि तुम आरम्भ में अपनी रुचि, योग्यता, सामर्थ्य, विश्वास और विचार के अनुसार किसी एक साधन-पथ को पसन्द कर लो, पूर्णता में तुम्हें पूर्ण जीवन मिलेगा। कर्तव्यनिष्ठ को भी, योगी को भी, विचारक को भी एवं प्रभु विश्वासी को भी दिव्य, चिन्मय, रसरूप जीवन मिलता है, यह निर्विवाद सत्य है। जीवन की पूर्णता में योग, बोध और प्रेम से अभिन्नता सभी साधकों की हो जाती है। श्री महाराज जी का यह क्रान्तिकारी विचार उनके प्रवचनों से स्पष्ट व्यक्त होता था।

व्यक्ति के कल्याण एवं सुन्दर समाज के निर्माण सम्बन्धी कोई ऐसी समस्या नहीं है कि जिसका समाधान श्री महाराज जी की वाणी के अनुसरण से न हो जाय। श्री महाराज जी के अनुसार मानव-जीवन का सर्वोत्तम चित्र यह है कि-

शरीर विश्व के काम आ जाय, अहम् अभिमान-शून्य हो जाय, और हृदय परम प्रेम से परिपूर्ण हो जाय।

इस आदर्श को उन्होंने अपने जीवन से दर्शाया और अपने महाप्रयाण से भी यही पाठ पढ़ाया। जब उन्हें यह विदित हो गया कि उनका शरीर अब समाज की सेवा के योग्य नहीं रह गया, तब उस शरीर को त्यागने का समय, तिथि एवं विधि भीतर ही भीतर निश्चित कर ली और कहने लगे-

1. मैं त्रिकाल में भी शरीर नहीं हूँ।
2. शरीर के नाश से मुझे दुःख नहीं होगा। मैं बहुत आनन्द में रहूँगा।
3. बीच की यह उपाधि हट जाएगी तो भक्त और भगवान के अनन्त मिलन का अनन्त आनन्द रहेगा। इसलिए इस शरीर के छूटने पर शोक-सभाएँ नहीं होगी, सत्संग-समारोह होगे।
4. शरीर की बैकुण्ठी नहीं सजेगी, प्रोसेशन नहीं निकलेगा। मैं क्रान्तिकारी संन्यासी हूँ। तुम लोग विधि-विधान में मत पड़ना। कुटी में से पार्थिव शरीर निकालकर, आँगन में रखकर भस्म करदेना। शरीर की भस्मी मिट्टी में मिल जाएगी, खाद बन जाएगी, घास उगेगी, पशुओं का चारा बनेगा।
5. समाधि-स्थल पर कोई चिह्न नहीं बनेगा, फूल नहीं चढ़ेगा।
6. साधना का नाश नहीं होता। अत: सेवा, त्याग, प्रेम का व्रत विभु होकर जन-समाज में फैलेगा।
7. इस शरीर की सेवा में जिसकी रुचि है, वह मानव-सेवा-संघ की सेवा करे। संघ मेरा शरीर है और वह स्थाई रहेगा।
8. जो लोग मुझे प्यार करते हैं वे भगवान् को प्यार करें, क्योंकि भगवत्-प्रेम मेरा जीवन है।
9. जो उपदेष्टा भगवत्-विश्वास की जगह पर अपने व्यक्तित्व का विश्वास दिलाते हैं और भगवत्-सम्बन्ध के बदले अपने व्यक्तित्व से सम्बन्ध जोड़ने देते हैं, वे घोर अनर्थ करते हैं।
10. सिवाय परमात्मा के और कुछ
11. व्यक्त जगत की विविधता के भीतर अव्यक्त नित्य प्रेम-तत्त्व के एकत्वदर्शी सन्त ने कहा

    (क) 'कोई गैर नहीं है'- यह धर्म का मंत्र है।

    (ख) 'कोई और नहीं है'- यह प्रेम का मंत्र है।

प्रिय साधकों,इस सत्य को मानो। सर्वसमर्थ प्रभु तुम्हारे अपने है,उनके होकर रहो,उन्ही का काम करो और यह सद्गुरु का आशीर्वचन है की उन्हीं में तुम्हरा नित्य वास होगा।

ऐसी अमृतमयी वाणी को सुनकर वाणी को सुनाकर, योगा होकर, नाशवान् शरीर को स्वेच्छा से त्याग कर उस ब्रह्मनिष्ठ सन्त ने जीने की और मरकर अमर होने की कला हमें सिखायी।

उन सन्त शिरोमणि के चरणों में हमारा शक्षत्-शत् नमन।

जब तक पूज्यपाद श्री स्वामी जी महाराज सशरीर इस संसार में विराजमान थे, तब तक उन्होंने अपना जीवनदायी संदेश ग्राम-ग्राम, प्रान्त-प्रान्त अविराम भ्रमण करते हुए साधु-सन्त, साधक, समाजसेवी, साहित्यकार आदि सभी वर्गों को सुनाया और अब उनके ब्रह्मलीन हो जाने पर मानव-सेवा-संघ के माध्यम से यह काम हो रहा है।

सन्त अमर हैं। उनकी वाणी अमर है। हम सब भाई-बहन अमरत्व से अभिन्न हो जायें, इसी सद्भावना के साथ....

निवेदिका
देवकी

सत्संग और साधन

व्यक्ति द्वारा प्रतिपादित सत्य सार्वभौमिक नहीं होता। अत: सभी के लिए अनुसरणीय नहीं हो सकता। व्यक्ति का सहारा लेकर कोई सत्य का दर्शन नहीं पा सकता। सब बाह्य सहारे छोड़कर सत्य की खोज करने पर एक ही सत्य विभिन्न साधकों में विभिन्न रूपों में स्वयं प्रकाशित होता है। अत: प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र रूप से सत्य से अभिन्न हो सकता है। इसी विषय का वैज्ञानिक विवेचन ***"सत्संग और साधन"*** *में किया गया है, जो वर्तमान युग की माँग है।*

असत् का त्यागः साधन की अभिव्यक्ति

अपने जाने हुए असत् के संग से असाधन की उत्पत्ति हुई है। यद्यपि असाधन की माँग जीवन में नहीं है परन्तु सत्संग और साधन का भेद स्पष्ट रूप से विदित न होने के कारण साधक उत्पन्न हुए असाधन को बलपूर्वक किए हुए साधन के द्वारा मिटाने का प्रयास करते हैं पर सफल नहीं होते। इस महत्वपूर्ण समस्या को हल करने के लिए सत्संग और साधन के भेद का बोध अनिवार्य है।

साधक अपने जाने हुए असत् से अपरिचित नहीं है। असत् को असत् जान लेने पर भी उसका संग करना साधक का अपना बनाया हुआ दोष है। अपने बनाए हुए दोष को मिटाने का दायित्व किसी अन्य पर नहीं हो सकता। अत: असत् के त्याग द्वारा सत् का संग करने का दायित्व पूरा करना परम आवश्यक है। असत् का त्याग और सत् का सङ्ग उसी प्रकार युगपद है जिस प्रकार सूर्य का उदय और अन्धकार की निवृत्ति। असत् को असत् जिससे जानते हैं उसी से असत् के त्याग का निर्णय कर सकते हैं। असत् के त्याग का निर्णय ही असत् के त्याग का साधन है। असत् का त्याग और सत् का सङ्ग एक ही तत्व के दो रूप हैं। अन्तर केवल इतना है कि असत् का त्याग पुरुषार्थ है और सत् का सङ्ग स्वतः सिद्ध है। असत् के त्याग के अतिरिक्त सत्संग के लिए कोई अन्य प्रयास अपेक्षित नहीं है। केवल असत् के त्याग मात्र से ही सत्संग हो जाता है, जिसके होते ही उत्पन्न हुए असाधन का नाश और साधन की अभिव्यक्ति स्वत: होती है। असाधन के नाश और साधन की अभिव्यक्ति में साधक का पुरुषार्थ अपेक्षित नहीं है। केवल जाने हुए असत् के त्याग में ही साधक के प्रयास की पूर्णता है। किन्तु बेचारा साधक प्रमादवश सत्सङ्ग और साधन के भेद को बिना जाने उत्पन्न हुए असाधन को भिन्न-भिन्न प्रकार के साधनों द्वारा बलपूर्वक मिटाने का प्रयास करता है। विधान के अनुसार, असत् का सङ्ग करते हुए सतत रूप से असाधन उत्पन्न होते ही रहते हैं और साधक बलपूर्वक साधन करता ही रहता है। बलपूर्वक किया हुआ साधन असाधन को दबा देता है, उसे मिटा नहीं पाता। इतना ही नहीं, साधक

साधन करने का मिथ्या अभिमान और कर बैठता है, जो बड़ा ही भयंकर असाधन है। इस समस्या का हल तभी सम्भव है जब साधक उत्पन्न हुए असाधन के नाश और साधन की अभिव्यक्ति के लिए सर्वप्रथम अपनी वर्तमान वस्तुस्थिति पर निज विवेक के प्रकाश में विचार करे और अपने जाने हुए असत् के त्याग के लिए अथक प्रयत्नशील बना रहे। असत् का त्याग होने पर असाधन का नाश अपने-आप हो जाता है। असाधन का नाश और साधन की अभिव्यक्ति युगपद् है।

कारण का नाश होने पर भी कार्य की प्रतीति होती है। जिस प्रकार वृक्ष का मूल कट जाने पर भी उसकी हरियाली कुछ काल प्रतीत होती है उसी प्रकार असत् का त्याग करने पर भी असत् के सङ्ग के प्रभाव को कुछ काल साधक अपने शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि में देखता है और भयभीत हो जाता है। इतना ही नहीं अपने किए हुए असत् के त्याग में भी विकल्प कर बैठता है। असत् का त्याग वर्तमान की वस्तु है परन्तु उसके प्रभाव के नाश में काल अपेक्षित है। अपने निर्णय में विकल्प करना भी तो असत् का ही संग है। जब साधक सावधानीपूर्वक अपने निर्णय में विकल्प नहीं करता तब अपने-आप असत् के सङ्ग का प्रभाव नष्ट हो जाता है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जो सर्वांश में असत् का त्याग करने में सर्वदा तत्पर हैं।

असत् के संग से असाधन की उत्पत्ति और सत् के संग से साधन की अभिव्यक्ति स्वत: होती है। मंगलमय विधान के अनुसार प्रत्येक उत्पत्ति का विनाश और जिसकी अभिव्यक्ति होती है उससे अभिन्नता स्वाभाविक है। कोई भी साधक सर्वांश में असत् का संग नहीं कर सकता, किन्तु सर्वांश में सत् का संग हो सकता है। जब सर्वांश में असत् का संग हो ही नहीं सकता तब सर्वांश में असाधन सम्भव नहीं है। इसी कारण प्रत्येक साधक के जीवन में आंशिक असाधन रहता है और सर्वांश में साधन की माँग रहती है। इस दृष्टि से असाधन का नाश और साधन से अभिन्नता अनिवार्य है।

समस्त साधन विश्राम, स्वाधीनता और प्रेम में ही विलीन होते हैं। अत: इन तीनों का सम्पादन सभी साधकों के लिए अनिवार्य है। आंशिक साधन से किसी भी साधक को सन्तुष्टि नहीं होती, किन्तु आंशिक असाधन

प्रत्येक साधक को क्षुब्ध रखता है। इससे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि साधक की माँग सर्वांश में असाधन के नाश की है। सर्वांश में असाधन का नाश होते ही सर्वांश में साधन की अभिव्यक्ति स्वत: होती है। सर्वांश में असाधन का नाश तभी सम्भव होगा जब साधक अपने जाने हुए असत् का सर्वांश में त्याग करे। अपने जाने हुए असत् के त्याग में पराधीनता तथा असमर्थता नहीं है। असाधन-जनित सुख-लोलुपता और आंशिक साधन का अभिमान असत् के सङ्ग को पोषित करते हैं। आंशिक साधन का अभिमान गल जाने पर असाधन-जनित सुख-लोलुपता अपने-आप मिट जाती है। आंशिक साधन का अभिमान अहम्-रूपी अणु को पुष्ट करता है, जिससे बेचारा साधक असाधन-जनित सुखलोलुपता का त्याग नहीं कर पाता। प्राकृतिक विधान के अनुसार अहम्-रूपी अणु में असाधन का बीज भी है और साधन की माँग भी। "पराधीनता में जीवन-बुद्धि" यही असाधन का बीज है। "स्वाधीनता में स्वाभाविक प्रियता" यही साधन की माँग है। "पराधीनता में जीवन-बुद्धि" क्या साधक का अपना जाना हुआ असत् नहीं है? अवश्य है। स्वाधीनता की माँग रहते हुए पराधीनता को सहन करते रहना क्या साधक का अपना प्रमाद नहीं है? स्वाधीनता-सम्पादन में कोई परिस्थिति अपेक्षित नहीं है। जिसकी प्राप्ति किसी परिस्थिति से साध्य नहीं है उसकी प्राप्ति के लिए क्या किसी श्रम की अपेक्षा है? कदापि नहीं। पराधीनता का असह्य होना ही स्वाधीनता की उत्कट लालसा को जाग्रत करने में समर्थ है। पराधीनता के रहते हुए न तो जड़ता का ही नाश होता है और न अभाव का अभाव। इस दृष्टि से पराधीनता का अन्त करना अनिवार्य है।

पराधीनता में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना अपना जाना हुआ असत् है, क्योंकि किसी भी साधक को पराधीनता प्रिय नहीं है। जिसमें स्वाभाविक प्रियता न हो उसमें जीवन-बुद्धि स्वीकार करना असत् का संग है। प्रत्येक साधक के जीवन में वास्तविक जीवन की माँग है। वास्तविक जीवन वही है, जिसमें अभाव तथा अप्रियता की गन्ध भी न हो, अपितु नित-नव प्रियता तथा अभाव का अभाव हो। जिसमें अभाव का अभाव है वह अविनाशी है। इस

दृष्टि से जीवन अविनाशी है। अविनाशी जीवन सभी साधकों को नित्य प्राप्त है, किन्तु असत् के सङ्ग से अप्राप्त-सा प्रतीत होता है। असत् के सङ्ग का त्याग करते ही नित्य-प्राप्त में अगाध प्रियता स्वतः जाग्रत होती है।

नित्य प्राप्त की प्राप्ति श्रम-साध्य नहीं है, अपितु चिरविश्राम से ही साध्य है। श्रम का मूल असत् का सङ्ग है, कारण कि असत् के सङ्ग से ही काम की उत्पत्ति होती है। क्या काम के रहते हुए किसी भी साधक को विश्राम सम्भव है? कदापि नहीं। सर्वांश में असत् का त्याग करते ही सभी साधकों की विश्राम, स्वाधीनता तथा प्रेम से अभिन्नता हो सकती है, जो सर्वांश में साधन की अभिव्यक्ति है। इस दृष्टि से साधक पर एकमात्र अपने जाने हुए असत् के त्याग का दायित्व है।

अकर्तव्य का नाश: कर्तव्य की अभिव्यक्ति

असत् के सङ्ग से अकर्तव्य की उत्पत्ति और उसके त्याग से कर्तव्य की अभिव्यक्ति स्वत: होती है। विवेक-विरोधी कर्म अपना जाना हुआ असत् है। उससे ही साधक के जीवन में अकर्तव्य की उत्पत्ति हुई है। अकर्तव्य की उत्पत्ति में ही कर्तव्य की विस्मृति निहित है। कर्तव्य की विस्मृति से ही अकर्तव्य पोषित होता है। कर्तव्य की स्मृति जाग्रत करने के लिए विवेक-विरोधी कर्म का त्याग अनिवार्य है। विवेक-विरोधी कर्म के साथ-साथ किया हुआ आंशिक कर्तव्य कर्म साधक को मिथ्या अभिमान में ही आबद्ध करता है। इस दृष्टि से असत् का त्याग किए बिना आंशिक कर्तव्य भी अकर्तव्य के रूप में ही परिणत हो जाता है। अत: कर्तव्य कर्म के आरम्भ से पूर्व विवेक-विरोधी कर्म का त्याग अत्यन्त आवश्यक है। विवेक-विरोधी कर्म का त्याग सत्संग और कर्तव्य-परायणता साधन है। विधान के अनुसार सत्संग करने पर साधन की अभिव्यक्ति स्वत: होती है। अतः अकर्तव्य का नाश तथा कर्तव्य की अभिव्यक्ति के लिए साधक को सत्संग करना अनिवार्य है।

सत्संग करने पर साधन स्वत: होता है। जो स्वत: होता है वही जीवन है। इस दृष्टि से साधन साधक के जीवन

से भिन्न नहीं है, अपितु साधन ही जीवन है। साधन का जीवन से विभाजन सम्भव नहीं है। साधन और जीवन में जो भेद प्रतीत होता है वह एकमात्र असत् के संग का ही परिणाम है। असत् के संग के त्याग में ही साधक के प्रयास की पूर्णता है। असत् के संग का त्याग करने पर साधक को कुछ भी करना शेष नहीं रहता। करने के अन्त में ही चिर-विश्राम निहित है। विश्राम साधन है और असत् का त्याग सत्संग है। विश्राम की प्राप्ति है। उसका त्याग नहीं हो सकता। जिसका त्याग नहीं हो सकता उसी में जीवन है। अकर्तव्य ने ही विश्राम को आच्छादित किया है। असत् के संग से ही अकर्तव्य का जन्म हुआ है। अकर्तव्य का अन्त करने के लिए साधक को असत् का त्याग कर सदा के लिए विश्राम से अभिन्न होना है। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक को असत् के त्याग के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं करना है। सत् के सङ्ग से साधन स्वतः होने लगता है। करने का अन्त प्रिय है करना प्रिय नहीं है। करने की आसक्ति रहते हुए साधक यह रहस्य जान नहीं पाता। यदि करना है तो केवल असत् का त्याग। जो स्वतः होने लगता है, वह समष्टि शक्तियों के अधीन है। जो किया जाता है वह मिली हुई शक्तियों का उपयोग है। प्रत्येक साधक को प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपने जाने हुए असत् का त्याग करना है। जाने हुए असत् का त्याग करते ही अकर्तव्य, असाधन और आसक्तियों का नाश हो जाता है। अकर्तव्य के नाश में कर्तव्य की, असाधन के नाश में साधन की और आसक्तियों के नाश में प्रेम की अभिव्यक्ति स्वत: होती है। अत: यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि जाने हुए असत् का त्याग ही साधक का परम पुरुषार्थ है।

मिली हुई वस्तु सामर्थ्य तथा योग्यता को अपना मानना अपना जाना हुआ असत् हैं। इस असत् के सङ्ग से ही विकारों की उत्पत्ति होती है। विकारयुक्त जीवन की माँग न तो साधक को ही है और न जगत् को। इस दृष्टि से असत् का संग करने से जीवन न अपने लिए उपयोगी है और न जगत् के लिए। अत: जीवन की उपयोगिता सिद्ध करने के लिए सत्संग द्वारा साधन का निर्माण परम आवश्यक है।

साधन ही साधक का अपना जीवन है, कारण कि साधन से ही साधक की अभिन्नता होती है और साधन ही साध्य का स्वभाव है। साध्य

के स्वभाव में ही साध्य की अगाध प्रियता और साध्य की प्राप्ति निहित है। इस दृष्टि से मिली हुई वस्तु सामर्थ्य तथा योग्यता का उपयोग कर्तव्य-पालन ही में है। कर्तव्य का सम्बन्ध पर के प्रति और उसका परिणाम अपने प्रति होता है। कर्म-विज्ञान की दृष्टि से दूसरों के प्रति जो कुछ किया जाता है वह विधान के अनुसार अपने प्रति स्वत: हो जाता है। मिले हुए की ममता का त्याग करते ही निर्विकारता की अभिव्यक्ति स्वत: होती है, जिसके होते ही मिले हुए का सदुपयोग अपने आप होने लगता है। मिले हुए के सदुपयोग में ही कर्तव्य की पूर्णता है। कर्तव्य की पूर्णता में ही चिर-विश्राम है। इस दृष्टि से असत् के त्याग में ही साधन की अभिव्यक्ति है।

शरीर आदि वस्तुओं को अपना मानकर जो कुछ किया जाता है उससे साधन का निर्माण नहीं होता, अपितु मिथ्या अभिमान ही शेष रहता भी प्रकार असाधन का नाश तथा साधन की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है।

मंगलमय विधान के अनुसार जिस किसी साधक की वस्तु योग्यता, सामर्थ्य के रूप में जो कुछ मिला है, वह वास्तव में व्यक्तिगत नहीं है। जो जाने हुए असत् के सङ्ग से ही अकर्तव्य की उत्पत्ति हुई। अकर्तव्य ने व्यक्ति और समाज में, शरीर और विश्व में, दो देशों, दो वर्गों और दो सम्बन्धियों में वास्तविक एकता सुरक्षित नहीं रहने दी और अनेक प्रकार के संघर्ष उत्पन्न कर दिए। इतना ही नहीं, बेचारे साधक को भी जड़ता तथा अभाव में आबद्ध कर दिया। मिली हुई वस्तु को व्यक्तिगत मानते रहने पर किसी प्रकार भी अकर्तव्य का अन्त सम्भव नहीं है। इस कारण कर्तव्यनिष्ठ साधक को मिली हुई वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता की ममता का अन्त करना अनिवार्य है। वस्तु, योग्यता आदि की ममता का त्याग करने पर उनके सदुपयोग में कोई कठिनाई नहीं होती, अपितु उनका सदुपयोग सहज तथा स्वाभाविक हो जाता है। ममता बनाए रखने से, जो कुछ मिला है वह सदैव रहेगा, यह भी सम्भव नहीं है। साधक जिन वस्तु आदि में ममता करता है वे सदैव नहीं रहतीं, किन्तु ममता का प्रभाव लोभ, मोह आदि विकारों के रूप में ही उसके हाथ लगता है, जिससे बेचारा साधक अनेक प्रकार के दोषों में आबद्ध हो जाता है। जीवन में माँग निर्दोषता की है, परन्तु ममता ने उसकी अभिव्यक्ति नहीं होने दी। अत:

प्रत्येक साधक को कर्तव्यनिष्ठ होने के लिए जाने हुए असत् का त्याग अनिवार्य है।

प्राप्त वस्तु सामर्थ्य, योग्यता आदि की ममता से उत्पन्न हुई वस्तुओं में जीवन-बुद्धि हो जाती है, जिसके होते ही साधक में अप्राप्त वस्तुओं की कामना उत्पन्न होती है, जो उसे शान्त नहीं रहने देती। कामनाओं के रहते हुए विश्राम सम्भव नहीं है। विश्राम के बिना असमर्थता का अन्त नहीं होता। उसके हुए बिना कर्तव्यपरायणता की अभिव्यक्ति नहीं होती। इस दृष्टि से साधक को न तो प्राप्त वस्तु आदि में ममता ही करनी है और न अप्राप्त की कामना। कामना-रहित होने पर भी विधान के अनुसार आवश्यक वस्तु सामर्थ्य और योग्यता स्वत: प्राप्त होती है, तो फिर कामनाओं का साधक के जीवन में स्थान ही कहाँ है? कामना-मात्र से यदि वस्तुएँ प्राप्त होतीं तब तो कामना का भी महत्व होता, किन्तु विश्व में एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं है जिसकी सभी कामनाएँ पूरी हो जाएँ। इस दृष्टि से कामनापूर्ति साधक का उद्देश्य नहीं है। कामना-पूर्ति में जीवन-बुद्धि अपना जाना हुआ असत् है। अतएव उसका त्याग अनिवार्य है।

यह सभी साधको को विदित है कि कामना-पूर्ति के सुख का प्रलोभन नवीन कामना को जन्म देता है। इस प्रकार प्रत्येक कामना की पूर्ति कामना-उत्पत्ति में ही हेतु है और विधान के अनुसार सभी कामनाएँ किसी की भी पूरी नहीं होतीं। इस दृष्टि से अन्त में कामना-अपूर्ति ही शेष रहती है, जो वास्तव में अभाव-रूप है। अभाव का अभाव साधक की अपनी माँग है। उस माँग की पूर्ति कामनाओं के नाश में ही निहित है। कामना-पूर्ति तथा अपूर्ति दोनों का उपयोग कामना-निवृति में ही है। कामना-निवृति में ही चिर-विश्राम निहित है, जो वास्तव में साधन है। अकर्तव्य के नाश तथा कर्तव्य की अभिव्यक्ति से चिर-विश्राम की उपलब्धि सम्भव है। साधक विवेकपूर्वक यह भली-भाँति अनुभव कर लेता है कि मिली हुई वस्तु योग्यता तथा सामर्थ्य न तो व्यक्तिगत है और न अपने लिए है अपितु पर अपना अधिकार नहीं मानता और सामर्थ्य के अनुरूप विधिवत् सेव्य के अधिकारों की रक्षा करता है। सेव्य के अधिकारों की रक्षा करने से विद्यमान राग की निवृत्ति होती है और अपने अधिकार के त्याग से नवीन राग की उत्पत्ति नहीं

होती। अत: सेवक बड़ी ही सुगमतापूर्वक राग-रहित होकर चिर-विश्राम से अभिन्न हो जाता है। इस प्रकार साधक मिली हुई वस्तु योग्यता आदि को अपना न मानकर उसके सदुपयोग द्वारा बड़ी ही सुगमतापूर्वक कर्तव्यनिष्ठ हो चिर-विश्राम प्राप्त करता है। चिर-विश्राम रूपी साधन की अभिव्यक्ति ममता-रूपी असत् के त्याग से ही सम्भव है। असत् का त्याग और असाधन का नाश, सत् का संग और साधन की अभिव्यक्ति युगपद हैं। असत् के त्याग में साधक के प्रयास की पूर्णता और असाधन के नाश तथा साधन की अभिव्यक्ति में मंगलमय विधान की उदारता निहित है। अत: सत्संग और साधन के भेद को जान लेने पर साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक साधननिष्ठ हो सिद्धि पाता है।

अपने प्रति होने वाली बुराई किसी को प्रिय नहीं है, यह बात सभी साधकों को विदित है। जो अपने लिए प्रिय नहीं है, उसे अन्य के प्रति करने की रुचि अपना जाना हुआ असत् है। इस असत् के सङ्ग से ही होने के लिए इस जाने हुए असत् का त्याग अनिवार्य है। साधक जिस-जिस अंश में जाने हुए असत् का त्याग करता जाता है उसी-उसी अंश में अकर्तव्य का नाश स्वत: होता जाता है। जिस-जिस अंश में अकर्तव्य का नाश होता आता है उसी-उसी अंश में कर्तव्य की अभिव्यक्ति होती जाती है। इस दृष्टि से सर्वांश में अकर्तव्य का नाश होने पर ही कर्तव्य-परायणता से साधक की अभिन्नता हो जाती है।

मंगलमय विधान की दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध है कि किए हुए का परिणाम कर्ता को ही मिलता है। इस कारण किसी को भी किसी के प्रति वह नहीं करना है, जिसमें किसी का अहित है। अतएव अपने हित के लिए उन सभी चेष्टाओं का सर्वांश में नाश करना अनिवार्य है, जिनसे दूसरों का अहित है। यह तभी सम्भव होगा जब साधक अपने इस जाने हुए असत् का त्याग करे कि दूसरों की हानि में अपना लाभ, ह्रास में विकास, अवन्नती में उन्नति है। जब साधक उस सुख को स्वीकार नहीं करता जिसका जन्म किसी के दुःख से हो, उस विकास को नहीं अपनाता जो किसी के ह्रास से हो तब उसका विकास अवश्य होता है।

प्राकृतिक नियमानुसार किसी के कर्तव्य में किसी का अधिकार और किसी के अधिकार में

ही किसी का कर्तव्य है। परन्तु यह सभी साधकों को विदित है कि साधक की स्वाधीनता कर्तव्य-पालन में है, अधिकार पाने में नहीं। अधिकार तो किसी कर्तव्यनिष्ठ की उदारता में है और कर्तव्यपरायणता साधक का अपना साधन है। इस दृष्टि से कर्तव्य में ही अपना अधिकार है, अधिकार पाने में नहीं। जब साधक अपने इस जाने हुए असत् का कि "अधिकार पाने में स्वाधीनता है" त्याग कर देता है तब बड़ी ही सुगमतापूर्वक कर्तव्यनिष्ठ होकर कृतकृत्य हो जाता है। अधिकार-लोलुपता साधक को राग तथा क्रोध से रहित नहीं होने देती। राग तथा क्रोध के रहते हुए कर्तव्य-परायणता सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से साधक को अधिकार-लोलुपता से रहित होना परम आवश्यक है।

सुख के बने रहने का प्रलोभन और दुःख के आ जाने का भय साधक को प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग नहीं करने देता, जिसके बिना कर्तव्यपरायणता नहीं आती। अतः साधक को सुख के प्रलोभन तथा दुःख के भय से रहित होना अनिवार्य है। विधान के अनुसार सुख अपने आप जाता है और दुःख अपने आप आता है। जो अपने आप जाता है, उसको बनाए रखने का प्रलोभन तथा जो अपने आप आता है, उससे भयभीत होना अपना जाना हुआ असत् है। कारण कि जो सम्भव नहीं है उसको सम्भव बनाने का प्रयास ही तो असत् है। अत: साधक जब तक अपने को सुख के प्रलोभन तथा दुःख के भय से रहित नहीं कर लेता तब तक प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग सम्भव नहीं है और उसके बिना न तो उत्कृष्ट परिस्थिति ही प्राप्त होती है और न सभी परिस्थितियों से अतीत दिव्य चिन्मय जीवन से अभिन्नता ही होती है।

बुराई को बुराई जानकर न करना और भलाई को भलाई जानकर करना साधन है, परन्तु किसी भी प्रलोभन से प्रेरित होकर की हुई भलाई और किसी भय से भयभीत होकर त्यागी हुई बुराई वास्तव में साधन के रूप में असाधन है। असाधन के रूप में असाधन का नाश सुगम है और जब असाधन साधन के रूप में प्रतीत होता है तब उसका मिटाना बहुत ही दुष्कर हो जाता है। प्रलोभन और भय का होना अपना जाना हुआ असत् है, क्योंकि इनके रहते हुए असाधन का नाश और साधन की अभिव्यक्ति

सम्भव नहीं है। अत: यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि साधक के जीवन में प्रलोभन तथा भय का कोई स्थान ही नहीं है।

समस्त असाधन अभिमान में और समस्त साधन निरभिमानता में निहित हैं। अभिमान के बिना किसी भी असाधन की उत्पत्ति सम्भव नहीं है, कारण कि अभिमान के आते ही बेचारा साधक परिच्छिन्नता में आबद्ध हो जाता है, जिसके होते ही अनेक प्रकार के भेद उत्पन्न हो जाते हैं। भेद की उत्पत्ति में ही भय, प्रलोभन, काम, क्रोध आदि अनेक दोषों की उत्पत्ति हो जाती है। इस दृष्टि से अभिमान का त्याग अनिवार्य है। अभिमान को उत्पत्ति किसी न किसी वस्तु अवस्था, परिस्थिति के आश्रित होती है। जब तक साधक परिस्थिति में जीवन-बुद्धि स्वीकार नहीं करता तब तक अभिमान की उत्पत्ति ही नहीं होती। अत: परिस्थिति में जीवन-बुद्धि अपना जाना हुआ असत् है। उसका त्याग किए बिना निरभिमानता सम्भव नहीं है, जो समस्त साधनों की जननी है।

अकर्तव्य का अन्त और कर्तव्य की अभिव्यक्ति के लिए प्रत्येक साधक को विवेक-विरोधी कर्म का त्याग करना अत्यन्त आवश्यक है, कारण कि वह अपना जाना हुआ असत् है। विवेक-विरोधी कर्म के रहते हुए किया हुआ कर्तव्य भी वास्तव में अकर्तव्य ही को पुष्ट करता है। आंशिक कर्तव्यपरायणता मिथ्या अभिमान को पोषित करती है। सीमित गुणों का अभिमान दोष-जनित वेदना को जाग्रत नहीं होने देता, जिसके बिना हुए दोष-जनित सुख का प्रलोभन नाश नहीं होता, जिसके रहते हुए अकर्तव्य का सर्वांश में अन्त सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से आंशिक कर्तव्य के अभिमान का नाश अनिवार्य है। जिसके होते ही कर्तव्य की अभिव्यक्ति स्वत: होती है। कर्तव्य की अभिव्यक्ति में ही सुन्दर समाज का निर्माण तथा चिर-विश्राम निहित है।

कर्तव्य के पालन में साधक सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है। अकर्तव्य के साथ-साथ किया हुआ कर्तव्य वर्तमान में सिद्धिदायक नहीं है। कर्तव्य का सम्बन्ध सर्वदा प्राप्त परिस्थिति से है, अप्राप्त परिस्थिति से नहीं। अकर्तव्य-जनित सुख-लोलुपता ने ही बेचारे साधक को कर्तव्यपालन में असमर्थ कर दिया है। कर्तव्याकर्तव्य का द्वन्द्व ही साधक के

अहम् को जीवित रखता है। मंगलमय विधान के अनुसार जो नहीं करना चाहिए उसके न करने पर जो कर्तव्य है वह अपने आप होने लगता है। इस दृष्टि से कर्तव्यपरायणता स्वाभाविक है, साधक का जीवन है। उससे निराश साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

पराधीनता का नाश: स्वाधीनता की अभिव्यक्ति

उत्पन्न हुए संकल्पों की जब पूर्ति नहीं होती तब प्राणीमात्र पराधीनता का अनुभव करता है। परन्तु वास्तविक स्वाधीनता का पुजारी तो संकल्प-पूर्ति में भी पराधीनता का ही दर्शन करता है, कारण कि संकल्प-पूर्ति देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदि के अधीन है। वस्तु आदि के अधीन होना स्वाधीनता नहीं है। यदि यही स्वाधीनता है तो फिर पराधीनता क्या है? मंगलमय विधान के अनुसार स्वाधीनता साधक को दिव्य चिन्मय जीवन से अभिन्न करती है और पराधीनता देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदि में आबद्ध रखती है। इस दृष्टि से संकल्पों की पूर्ति में स्वाधीनता स्वीकार करना अपना जाना हुआ असत् है। इस असत् का त्याग किए बिना स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश सम्भव नहीं है। स्वाधीनता की माँग साधक की अपनी माँग है। इस माँग को संकल्प-पूर्ति की पराधीनता से मिटाया नहीं जा सकता। संकल्प-पूर्ति का सुख स्वाधीनता की माँग को कुछ काल के लिए भले ही दबा दे, किन्तु उसका नाश नहीं हो सकता। इतना ही नहीं, प्रत्येक संकल्प-पूर्ति के सुख का भोग नवीन संकल्प का जन्मदाता है। इस दृष्टि से अनेक संकल्पों की पूर्ति होने पर भी परिणाम में संकल्प की अपूर्ति ही शेष रहती है, कारण कि सभी संकल्प किसी के भी पूरे नहीं होते। अत: यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि संकल्प-पूर्ति में भी पराधीनता है।

स्वाधीनता की वास्तविक माँग को जगाने के लिए मंगलमय विधान से संकल्प की अपूर्ति का दर्शन होता है, किन्तु साधक सुखासक्ति के कारण संकल्प की अपूर्ति को महत्त्व नहीं देता, अपितु संकल्प-पूर्ति की

दासता को सुरक्षित रखने का प्रयास करता है। संकल्प-पूर्ति की दासता को बनाये रखना अपना जाना हुआ असत् है। असत् का संग रहते हुए उत्पन्न हुए असाधन का नाश और साधन की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है। सुख की दासता तथा दुःख का भय उत्पन्न हुआ असाधन है। इसका कारण एकमात्र संकल्प-पूर्ति में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना है, जो वास्तव में असत् है। असत् के त्याग में ही असाधन का नाश है। असाधन का नाश और साधन की अभिव्यक्ति युगपद् है।

पराधीनता का नाश और स्वाधीनता की अभिव्यक्ति तभी सम्भव होगी जब साधक स्वाधीनता के लिए सुख के प्रलोभन और दुःख के भय का सर्वांश में परित्याग करे। विधान के अनुसार दुःख से भयभीत न होने पर दुःख का पूरा-पूरा प्रभाव होता है, जिसके होते ही सुख का प्रलोभन स्वत: नाश हो जाता है। सुख के प्रलोभन का नाश होते ही संकल्प-पूर्ति में जीवन-बुद्धि नहीं रहती। इस दृष्टि से संकल्प की अपूर्ति का दुःख विकास का मूल है। दुःख के भय में सुख की दासता पोषित होती है, जिसके मिटाने के लिए दुःख की पुनरावृत्ति होती रहती है। सुख की दासता का नाश होने पर दुःख बुलाने पर भी नहीं आता। अत: दुःख से भयभीत होना अपना जाना हुआ असत् है। सुख की दासता ने बेचारे साधक को पराधीनता में आबद्ध किया और दुःख के भय ने सुख की दासता का नाश नहीं होने दिया। अतएव साधक के जीवन में सुख की दासता तथा दुःख के भय का कोई स्थान ही नहीं है।

संकल्पों की पूर्ति और अपूर्ति विधान के अधीन है। उनका सदुपयोग करने में साधक स्वाधीन है। प्रत्येक संकल्प की पूर्ति के अन्त में वह स्थिति अपने आप आ जाती है, जो संकल्प-उत्पत्ति से पूर्व थी, तो क्या संकल्प-पूर्ति का परिणाम वही नहीं हुआ जो संकल्प-उत्पत्ति से पूर्व था? इस दृष्टि से साधक को संकल्प-पूर्ति से क्या मिला? कुछ नहीं। इस रहस्य को जान लेने पर साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक संकल्प-पूर्ति में पराधीनता का दर्शन कर लेता है, जिसके करते ही संकल्प की अपूर्ति का भय नाश हो जाता है और संकल्प-उत्पत्ति से पूर्व की स्थिति में आस्था होने लगती है, किन्तु साधक

को वास्तविक स्वाधीनता का दर्शन उस स्थिति में भी नहीं होता, कारण कि स्वाधीनता का साम्राज्य सभी स्थितियों से अतीत है।

संकल्प की अपूर्ति, पूर्ति एवं निवृति से सम्बन्ध स्वीकार करना भी स्वाधीनता से विमुख होना है। स्वाधीनता अपने में है और सभी अवस्थाएँ "पर" में हैं। "पर" से सम्बन्ध स्वीकार करना अपना जाना हुआ असत् है। इस असत् के संग ने ही बेचारे साधक को पराधीनता में आबद्ध किया है। असत् का सङ्ग करते हुए उत्पन्न हुई पराधीनता नाश नहीं हो सकती और उसका नाश हुए बिना स्वाधीनता में प्रवेश नहीं हो सकता। "स्व" सभी अवस्थाओं से अतीत है। स्वाधीनता के पुजारी को सभी अवस्थाओं से सम्बन्ध-विच्छेद करना आवश्यक है। जिसके करते ही स्वत: उत्पन्न हुई पराधीनता मिट जायेगी। विधान के अनुसार पराधीनता उत्पन्न होती है, किन्तु स्वाधीनता अनुत्पन्न, शाश्वत, सनातन और अविनाशी है। इसी कारण स्वाधीनता की अभिव्यक्ति होती है, उत्पत्ति नहीं। उत्पत्ति का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता। स्वतन्त्र अस्तित्व उसी का होता है जो अनुत्पन्न हुआ है। अनुत्पन्न हुआ अपने को और उत्पत्ति को प्रकाशित करता है। अनुत्पन्न हुई स्वाधीनता की उत्कट लालसा उत्पन्न हुई पराधीनता की आसक्ति को खा लेती है और स्वाधीनता से अभिन्न कर देती है। इस दृष्टि से स्वाधीनता की माँग में ही पराधीनता का नाश निहित है। बेचारा साधक स्वाधीनता से निराश होने पर पराधीनता में आबद्ध होता है, जो उसका अपना अपनाया हुआ असत् है। अपने अपनाए हुए असत् के त्याग का दायित्व साधक पर है। जब साधक अपने दायित्व को पूरा कर देता है तब मंगलमय विधान से पराधीनता का नाश और स्वाधीनता की अभिव्यक्ति स्वत: हो जाती है।

अपने दायित्व को पूरा करने की क्षमता साधक को मिली है। इस दृष्टि से स्वाधीनता से निराश होना भूल है। स्वाधीनता से निराश होना असत् का सङ्ग है। उसका त्याग वर्तमान की वस्तु है। उसके लिए असमर्थता स्वीकार करना भी असत् का ही सङ्ग है। असत् के सङ्ग का साधक के जीवन में कोई स्थान नहीं है। असत् को असत्

जान लेना ही असत् से सम्बन्ध-विच्छेद का सुगम उपाय है। असत् का प्रकाशक सत् है। उसका संग ही सत्-संग है। असत् के सङ्ग से असाधन की उत्पत्ति और सत्-सङ्ग से साधन की अभिव्यक्ति स्वत: होती है। जिसकी अभिव्यक्ति स्वत: होती है उसमें साधक के प्रयास की अपेक्षा नहीं है। साधक का प्रयास एकमात्र जाने हुए असत् के त्याग में ही है। साधन की अभिव्यक्ति तो विधान के अधीन है।

जब तक साधक किसी अन्य के संकल्प में अपना संकल्प विलीन नहीं करता तब तक उसे पराधीनता में आबद्ध रहना ही पड़ता है। साधक अपने संकल्प में ही आप बँध गया है, यद्यपि उत्पन्न हुए संकल्पों से उसकी जातीय भिन्नता है। जिससे जातीय भिन्नता है, उससे सम्बन्ध-विच्छेद करना अत्यन्त सुगम है परन्तु पराधीनता को सहन करने से सम्बन्ध-विच्छेद करना दुर्लभ प्रतीत होता है। जिससे जातीय भिन्नता है उससे सम्बन्ध स्वीकार करना असत् का संग है। उत्पन्न हुए संकल्पों से असहयोग सत् का सङ्ग है। यदि साधक संकल्पों से सहयोग न करे तो वे अपने-आप मिट जाते हैं। अन्तर केवल इतना है कि आवश्यक तथा शुद्ध संकल्प पूरे होकर मिट जाते हैं और अनावश्यक तथा अशुद्ध संकल्प बिना ही पूरे हुए मिट जाते हैं। उत्पन्न हुए संकल्पों से तादात्म्य स्वीकार न करना जाने हुए असत् का त्याग है, जिसके करते ही असाधन का नाश और साधन की अभिव्यक्ति स्वत:होती है।

जब साधक का अपना कोई संकल्प नहीं रहता तब उत्पन्न हुए संकल्प उसे अपने से भिन्न प्रतीत होते हैं। उस प्रतीति का आदर करने पर उत्पन्न हुए संकल्पों से असहयोग बड़ी ही सुगमतापूर्वक हो सकता है। जब उत्पन्न हुए संकल्पों से असहयोग स्पष्ट रूप से हो जाता है तब संकल्पपूर्ति-अपूर्ति के परिणामस्वरूप सुख-दु:ख से भी साधक का सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, जिसके होते ही पराधीनता गलने लगती है। ज्यों-ज्यों पराधीनता गलती जाती है त्यों-त्यों स्वाधीनता की अभिव्यक्ति स्वत: होती जाती है। साधक पराधीनता को बनाये रखने में सर्वदा असमर्थ तथा परतन्त्र है, परन्तु स्वाधीनता प्राप्त करने में सर्वदा समर्थ तथा स्वाधीन है। स्वाधीनता अविनाशी

तत्व है। अविनाशी तत्व की विस्मृति होती है, उससे विमुखता होती है, उससे दूरी नहीं होती। स्वाधीनता की विस्मृति ने पराधीनता में जीवन-बुद्धि और स्वाधीनता की विमुखता ने पराधीनता में सत्यता उत्पन्न कर दी है, जिससे बेचारा साधक पराधीनता मिटाने में अपने को असमर्थ मान लेता है। उसकी यह असमर्थता जाने हुए असत् के त्याग से वर्तमान में ही मिट सकती है।

जब साधक में सुख-दुःख से अतीत के जीवन की जिज्ञासा जाग्रत होती है तब उसका अपना कोई संकल्प नहीं रहता। उत्पन्न हुई वस्तुओं की वास्तविकता का परिचय हो जाने पर वस्तु, व्यक्ति आदि में सत्यता तथा सुन्दरता जीवित नहीं रहती। जिसके न रहने पर संकल्पों से तादात्म्य नहीं रहता। साधक के तादात्म्य के बिना कोई भी संकल्प उसे अपने अधीन नहीं कर सकता। साधक का स्वीकार किया हुआ तादात्म्य ही उसे संकल्पों के अधीन कर देता है और फिर बेचारा साधक अपने संकल्प में आप बँधकर सुखी-दुःखी होता है। यद्यपि साधक की माँग सुख-दुःख में आबद्ध के कारण वह सुख-दुःख से अतीत के जीवन की जिज्ञासा को संकल्प-पूर्ति के प्रलोभन से आच्छादित कर लेता है, जो उसका अपना जाना हुआ असत् है। यह सभी साधकों को विदित है कि संकल्प पूर्ति से जो कुछ मिलता जीवन नहीं है उसमें जीवन बुद्धि असत् का सङ्ग है। इस दृष्टि से संकल्प-पूर्ति में जीवन-बुद्धि न रहने से सुख-दुःख से अतीत के जीवन की जिज्ञासा स्वत: जाग्रत होती है, जिसके होते ही साधक का अपना कोई संकल्प नहीं रहता और फिर वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश पाता है।

स्वाधीनता के साम्राज्य में नित्य-निवास की माँग साधक की अपनी माँग है। उसकी पूर्ति में बाधक है वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि की है। यह मान्यता वास्तव में अपना जाना हुआ असत् है, जिसके त्याग का दायित्व साधक पर है। असत् का स्पष्ट बोध असत् के त्याग में हेतु है। इस दृष्टि से साधक को असत् को जानने के लिए अथक अखण्ड प्रयास करना परम आवश्यक है। यह समस्या साधक की वर्तमान समस्या है। इसको हल किये

बिना किसी अन्य समस्या में उलझना स्वाधीनता के पुजारी के लिए सर्वथा त्याज्य है। मूल असत् का त्याग किये बिना किसी भी प्रकार असाधन का नाश तथा साधन की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है।

जब साधक निज विवेक के प्रकाश में यह स्वीकार करता है कि में देह नहीं हूँ, तब देह के सम्बन्ध से उत्पन्न कर्म, चिन्तन और स्थिति से उसका सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। देह के रहते हुए ही साधक देह के प्रभाव से रहित हो जाता है, जिसके होते ही निर्वासना आ जाती है और देह को अपना न मानने से निर्विकारता की अभिव्यक्ति होती है। निर्वासना तथा निर्विकारता साधन है। इस साधन की अभिव्यक्ति होते ही साधक स्वाधीनता के साम्राज्य में स्वत: प्रवेश पाता है।

असत् के संग का प्रभाव और सत् की लालसा जिसमें है वही साधक है। मंगलमय विधान के अनुसार असत् के संग का प्रभाव नाश होते ही सत् की लालसा स्वत: पूरी होती है। असत् का त्याग करने पर असत् के सङ्ग का प्रभाव स्वत: नाश होता है, जिसके होते ही सत् का सङ्ग तथा साधन की अभिव्यक्ति अपने आप होती है। साधन की अभिव्यक्ति होते ही साधक का अस्तित्व साधन से भिन्न नहीं रहता। इस दृष्टि से साधन जीवन और जीवन साधन हो जाता है। अतएव प्रत्येक साधक को असत् के त्याग द्वारा, सत्संग के लिए सर्वदा तत्पर रहना अनिवार्य है। सत्संग और साधन में ही साधक का जीवन है। साधक की प्रत्येक समस्या सत्संग द्वारा हल हो सकती है। पराधीनता का नाश और स्वाधीनता की अभिव्यक्ति सत्संग में ही निहित है। असत् का त्याग और सत् का सङ्ग करने में साधक सर्वदा समर्थ है। असत् का त्याग विवेक-सिद्ध है। इस दृष्टि से निज विवेक के प्रकाश में असत् को असत् जानना और उसका त्याग वर्तमान की ही वस्तु है। उसके लिए भविष्य की आशा प्रमाद है।

असत् के सङ्ग से साधक में असाधन की उत्पत्ति होती है। यह प्रभाव असत् का नहीं है, अपितु उसके सङ्ग का है। असत् का सङ्ग साधक ने किया है। इस दृष्टि से असाधन की उत्पत्ति में साधक की असावधानी ही हेतु है। भला पर-प्रकाश्य असत् कैसे साधक पर प्रभाव कर सकता है, यदि

साधक स्वयं उसका सङ्ग न करे? इसी कारण साधक पर असत् के त्याग का दायित्व है। असत् का परिचय तो सत् की जिज्ञासा जगाने में हेतु है। इतना ही नहीं, मंगलमय विधान के अनुसार असत् के ज्ञान में ही असत् की निवृत्ति है और असत् की निवृति में ही सत् की प्राप्ति है। अत: प्रत्येक साधक विवेक-विरोधी सम्बन्ध की त्याग कर पराधीनता के नाश और स्वाधीनता की अभिव्यक्ति में समर्थ है।

आसक्ति का अभाव और प्रेम की अभिव्यक्ति

विवेक-विरोधी विश्वास साधक का अपना जाना हुआ असत् है। उसका त्याग किए बिना साधन-रूप विश्वास की अभिव्यक्ति नहीं होती, जिसके बिना हुए विश्वासपात्र से न तो नित्य-सम्बन्ध ही सिद्ध होता है और न प्रेमास्पद में आत्मीयता ही जाग्रत होती है। आत्मीयता में अगाध अनन्त, नित-नव प्रियता निहित है। प्रियता रस की प्रतीक है। रस जीवन की माँग है। रस के अभाव में ही अनेक विकार उत्पन्न होते हैं। इस दृष्टि से नीरसता का नाश करना अत्यन्त आवश्यक है। प्रियता के अतिरिक्त रस का स्रोत अन्य कहीं नहीं है और प्रियता एकमात्र आत्मीयता से जाग्रत होती है। आत्मीयता नित्य-सम्बन्ध में और नित्य-सम्बन्ध विश्वास में निहित है। अतएव साधन-रूप विश्वास को सजीव तथा सिद्ध करने के लिए विवेक-विरोधी विश्वास का त्याग अनिवार्य है।

विकल्प-रहित विश्वास साधक का उसी के प्रति हो सकता है, जिसके सम्बन्ध में वह कुछ नहीं जानता। निज विवेक के प्रकाश में साधक इन्द्रिय-दृष्टि तथा बुद्धि-दृष्टि से जिसे देखता है उसमें उसका विकल्प-रहित विश्वास नहीं हो सकता। अत: विश्वास उसी में हो सकता है जिसको साधक ने इन्द्रिय-दृष्टि तथा बुद्धि-दृष्टि से देखा नहीं। अब यदि कोई यह कहे कि जिसको देखा ही नहीं उसमें विश्वास कैसे किया जाए? तो विचार यह करना है कि जिसको देखा है क्या उससे नित्य सम्बन्ध हो सकता है? जिससे नित्य-सम्बन्ध नहीं हो सकता उसका विश्वास क्या साधन-रूप

विश्वास है? देखे हुए में विश्वास करने से तो साधक के जीवन में अनेक विकार उत्पन्न हुए हैं। यह सभी साधकों को विदित है। वस्तु, व्यक्ति अवस्था, परिस्थिति आदि के विश्वास ने साधक को लोभ, मोह, दीनता, अभिमान, परिच्छिन्नता आदि दोषों में ही आबद्ध किया है, जिससे वह वास्तविक जीवन से विमुख हो गया है। इतना ही नहीं, जिससे उसकी जातीय तथा स्वरूप की एकता है उसकी विस्मृति हो गई है। इस कारण देखे हुए में विश्वास करना हितकर नहीं है, अपितु असत् का सङ्ग है जिसका त्याग परम आवश्यक है।

जिससे नित्य-सम्बन्ध नहीं रह सकता उसके सदुपयोग में साधक का अधिकार है, विश्वास में नहीं। वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता का सदुपयोग और व्यक्तियों की सेवा हो सकती है। प्राकृतिक विधान के अनुसार प्राप्त वस्तु सामर्थ्य योग्यता के सदुपयोग से आवश्यक वस्तु, सामर्थ्य योग्यता मिल सकती है। इनके विश्वास का साधक के जीवन में कोई उपयोग नहीं है। जिसका जीवन में उपयोग नहीं है वह सर्वथा त्याज्य है। व्यक्तियों को भी सेवा ही अपेक्षित है। कोई व्यक्ति किसी व्यक्ति में कितना ही विश्वास करे, किन्तु सेवा न करे तो उससे प्रसन्नता नहीं होती और न वह उसकी आवश्यकता ही अनुभव करता है। समस्त विश्व अपने अधिकार की पूर्ति में प्रसन्न होता है। सभी के अधिकारों की रक्षा ही वास्तविक सेवा है। जिसे साधक देखता है उसकी उसे सेवा करना है। सेवा करने से साधक में उदारता की अभिव्यक्ति होती है। उदारता आते ही दुःखियों को देख करुणा और सुखियों को देख प्रसन्नता स्वतः होने लगती है। इस दृष्टि से विश्व की सेवा अपेक्षित है, विश्वास नहीं।

इंद्रिय-जन्य तथा बुद्धि-जन्य परिवर्तनशील प्रतीति में विश्वास अपना जाना हुआ असत् है। उसका त्याग करते ही साधक में निर्विकारता तथा प्रतीति के प्रकाशक में अविचल श्रद्धा एवं विश्वास उदित होता है, जिसके होते ही साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक अपने विश्वासपात्र से नित्य-सम्बन्ध स्वीकार कर लेता है। यह नियम है कि जिसमें विश्वास नहीं होता उसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। परिवर्तनशील प्रतीति से सम्बन्ध-विच्छेद होते ही पराधीनता, जड़ता एवं अभाव का अन्त हो जाता है। कारण, प्रतीति के सम्बन्ध

ने ही बेचारे साधक को पराधीनता, जड़ता आदि में आबद्ध किया है। चिन्मय जीवन से अभिन्नता प्रतीति की असंगता में निहित है। सम्बन्ध-विच्छेद स्वीकार किए बिना असंगता सिद्ध नहीं होती और उसके हुए बिना चिन्मय जीवन से अभिन्नता नहीं होती। इस दृष्टि से परिवर्तनशील प्रतीति से सम्बन्ध-विच्छेद करने के लिए उसके विश्वास का त्याग परम आवश्यक है।

प्रत्येक साधक को शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि वस्तुओं की उत्पत्ति का ज्ञान भले ही हो, किन्तु इनसे अतीत जो जीवन है उस जीवन की उत्पत्ति का बोध किसी भी साधक को नहीं है। अनुत्पन्न हुए जीवन की माँग साधक की अपनी माँग है। अनुत्पन्न हुए जीवन की अप्राप्ति नहीं है, अपितु विस्मृति है, जो नित्य-सम्बन्ध स्वीकार करते ही स्वत: नाश हो जाती को खाकर प्रीति से अभिन्न हो जाती है। प्रीति स्वभाव से ही दूरी, भेद तथा भिन्नता को नहीं रहने देती। इस दृष्टि से वास्तविक जीवन से अभिन्न होने के लिए प्रीति की अभिव्यक्ति अनिवार्य है, जो प्रेमास्पद के विश्वास में निहित है।

वस्तु व्यक्ति आदि का विश्वास साधन-रूप विश्वास नहीं है। अत: उसका त्याग सभी साधकों के लिए अत्यन्त आवश्यक है। वस्तु, व्यक्ति आदि का विश्वास तो अनेक आसक्तियों का ही जन्मदाता है, जिनका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। आसक्तियों ने ही अनुरक्ति की माँग को शिथिल बनाया है। प्राकृतिक नियम के अनुसार जिन वस्तुओं में आसक्ति होती है वे वस्तुएँ तो नहीं रहतीं, पर आसक्ति उन वस्तुओं के न रहने पर भी रहती है, जिसने बेचारे साधक में प्रीति की अभिव्यक्ति नहीं होने दी। वस्तुओं के विश्वास में ही वस्तुओं की आसक्ति निहित है। वस्तु-विश्वास वस्तुओं से तादात्म्य कर देता है। वस्तुओं का तादात्म्य वस्तुओं की आसक्ति को पुष्ट करता है। वस्तुओं से तादात्म्य रखते हुए वस्तुओं की आसक्ति का नाश सम्भव नहीं है, जिसके बिना हुए प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश किसी भी प्रकार नहीं हो सकता। इस दृष्टि से प्रेम के पुजारी को वस्तुओं की आसक्ति का नाश करने के लिए वस्तुओं से असंग होना आवश्यक है।

विश्वास का उपयोग एकमात्र सम्बन्ध-स्वीकृति में है। इसके अतिरिक्त किसी अन्य कार्य-सिद्धि में

विश्वास का उपयोग करना विश्वास का दुरुपयोग है। विश्वास का दुरुपयोग ही विश्वास को निर्जीव बनाता है। विश्वास की सजीवता तभी सुरक्षित रहती है जब विश्वासी विश्वास का उपयोग विश्वासपात्र से आत्मीयता स्वीकार करने में ही करे। कामना-पूर्ति-निवृति में विश्वास का उपयोग करना विश्वास के महत्व को घटाना है। प्राकृतिक विधान के अनुसार कामना-पूर्ति कर्म सापेक्ष और कामना-निवृति विवेक-सिद्ध है। विश्वास की उपयोगिता उसी में की जाए जो विश्वास के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार से न हो सके। प्रेमास्पद से नित्य-सम्बन्ध विश्वास के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार से सम्भव नहीं है। अतएव साधक को विश्वास का उपयोग प्रेमास्पद से आत्मीयता स्वीकार करने में ही करना उपयुक्त है। प्रियता की जागृति में आत्मीयता के समान कोई अन्य साधन है ही नहीं। यदि यह कह दिया जाये कि आत्मीयता में ही प्रियता है, तो कोई अत्युक्ति नहीं है। प्रियता की जागृति श्रम-साध्य नहीं है। जिसकी जागृति श्रम-साध्य नहीं है, उसके लिए वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता आदि की अपेक्षा नहीं है। जिसके लिए वस्तु आदि की अपेक्षा नहीं है, उसकी प्राप्ति सभी साधकों को सुलभ है। इस दृष्टि से प्रियता की अभिव्यक्ति से निराश होना अपना जाना हुआ असत् है। अपने जाने हुए असत् का संग करना असाधन को जन्म देना है। असाधन की उत्पत्ति ने ही बेचारे साधक को साधन-तत्व से अभिन्न नहीं होने दिया। इस कारण प्रियता की जागृति से निराश होना भूल है। भूल को भूल जानते ही भूल का नाश स्वत: हो जाता है अथवा यों कहो कि असत् के ज्ञान में ही असत् के त्याग की सामर्थ्य निहित है। अपने जाने हुए असत् के त्याग में साधक असमर्थ नहीं है। सामर्थ्य होने पर भी सामर्थ्य का सदुपयोग न करना साधक की असावधानी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

विश्वासपूर्वक नित्य-सम्बन्ध स्वीकार करने पर आत्मीयता तभी सुरक्षित रह सकती है जब प्रेमी प्रेमास्पद से भिन्न किसी अन्य की सत्ता ही स्वीकार न करे और न प्रेमास्पद से कुछ माँगे। इतना ही नहीं, सभी ममताओं का अन्त आत्मीयता में हो जाए, अपने में अपना कुछ न रह जाए। प्रियता के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार की माँग न रहे। यहाँ तक कि

साधक का अस्तित्व ही प्रियता में परिवर्तित हो जाए यही आत्मीयता की पूर्णता है।

आत्मीयता किसी अभ्यास से सिद्ध नहीं होती, अपितु विश्वास से ही साध्य है। अन्य विश्वास, सम्बन्ध तथा चिन्तन के त्याग में ही विश्वास की सजीवता निहित है। जिसकी उपलब्धि कर्म तथा विवेक से सिद्ध है उसमें विश्वास करना भूल है। साधक को विश्वास एकमात्र उन्हीं में करना है जिन्हें वह विश्वास के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार से प्राप्त नहीं कर सकता। अभ्यास के लिए वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता की अपेक्षा है। जिसकी सिद्धि वस्तु आदि की अपेक्षा रखती है वह सभी के लिए सुलभ नहीं है, कारण कि सभी वस्तुएँ सभी को प्राप्त नहीं हैं। इस दृष्टि से श्रमयुक्त साधन व्यक्तिगत है। श्रम के द्वारा जो कुछ प्राप्त होता है, वह सदैव नहीं रहता, क्योंकि श्रम से उसकी प्राप्ति नहीं होती जो अनुत्पन्न हुआ है। अनुत्पन्न हुए की प्राप्ति में तो उसका विश्वास ही हेतु है। विश्वासी विश्वास से ही विश्वासपात्र को पाता है। विश्वासपात्र अपने विश्वास के अधीन है, इस दृष्टि से विश्वास विश्वासपात्र से भी कहीं अधिक महत्व की वस्तु है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने विवेक-विरोधी विश्वास का अन्त कर प्रेमास्पद के विश्वास को अपनाया है। विवेक-विरोधी विश्वास के त्याग में साधक का पुरुषार्थ हेतु है, किन्तु विश्वासपात्र के अविचल विश्वास में तो एकमात्र विश्वासपात्र की अहैतुकी कृपा ही हेतु है। प्रेमास्पद की कृपा का आश्रय ही विश्वासी साधकों का सर्वस्व है।

अभ्यास का महत्व कार्य-कुशलता में भले ही हो, परन्तु प्रेम के साम्राज्य में तो अभ्यास का प्रवेश ही सम्भव नहीं है, कारण कि अभ्यास की सिद्धि के लिए देह आदि की अपेक्षा रहती है। देहाभिमानी का किसी प्रकार भी प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश नहीं होता है। देह आदि की ममता का अन्त करने पर ही साधक प्रेमास्पद से सम्बन्ध स्वीकार कर सकता है। जिनके सम्बन्ध-मात्र में ही देहाभिमान गल जाता है, उनके प्रेम-प्राप्ति में भला देहादि की क्या अपेक्षा होगी? इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध है कि आत्मीयता विश्वास-साध्य है, अभ्यास सिद्ध नहीं है।

विवेक-विरोधी विश्वास का अन्त होने पर जब साधक प्रेमास्पद के

विश्वास को स्वीकार करता है तब उसमें मधुर स्मृति स्वत: जाग्रत होती है, किन्तु असावधानी के कारण साधक स्मृति का प्रभाव शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि पर देखने के लिए लालायित होने लगता है। उसका भयंकर परिणाम यह होता है कि जिन वस्तुओं की ममता का त्याग किया था उनसे पुन: ममता स्थापित हो जाती है, जिसके होते ही स्मृति में शिथिलता आ जाती है और फिर साधक अपनी विश्वासपूर्वक स्वीकार की हुई आत्मीयता में विकल्प पर बैठता है। साधन-निर्माण का प्रभाव शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि में देखने की अभिरुचि शरीर आदि की ममता को पोषित करने में हेतु है। इस प्रकार ममता का पुनर्जन्म भी तो असत् का सङ्ग है, जिसका त्याग अत्यन्त आवश्यक है। साधक का अधिकार साधन-निर्माण में है, उसके फल में नहीं। साधन का निर्माण एकमात्र जाने हुए असत् के त्याग में है, असाधन के नाश तथा साधन की अभिव्यक्ति में नहीं। असाधन का नाश तथा साधन की अभिव्यक्ति तो मंगलमय विधान के अधीन है, जो अपने आप होती है। जो वस्तु अपनी नहीं है उसको सुन्दर देखने की कामना ही तो ममता है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान नहीं है। साधक की आत्मीयता तो एकमात्र साध्य ही में है। समस्त ममताओं के नाश में ही आत्मीयता पोषित होती है। आत्मीयता का प्रभाव साध्य की प्रियता में है। प्रियता का प्रभाव शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि पर प्रकट होने से तो प्रियता में शिथिलता आती है, पर इस रहस्य को कोई विरले ही साधक जानते हैं। शरीर आदि की स्मृति मात्र भी साधक के लिए असह्य है, तो फिर उनमें विशेषता की अभिरुचि रखना आसक्ति के अतिरिक्त और क्या है? आसक्ति का नाश और प्रेम की अभिव्यति जाने हुए असत् के त्याग में निहित है।

यह सभी साधकों को विदित है कि ममता का नाश और पराधीनता का अन्त युगपद है। सर्वांश में पराधीनता का नाश होने पर चिन्मय जीवन से एकता स्वाभाविक है, कारण कि पराधीनता ने ही साधक को जड़ता में आबद्ध किया है। परन्तु प्रेमास्पद में अविचल आत्मीयता के बिना नित-नूतन प्रियता उदित नहीं होती, जिसके बिना हुए अगाध, अनन्त, नित-नव रस की अभिव्यक्ति सम्भव

नहीं है। आत्मीयता में विकल्प अपना जाना हुआ असत् है, जिसका त्याग अनिवार्य है। आत्मीयता के अतिरिक्त अपने लिए कोई अन्य साधन भी है, ऐसी सम्भावना भी आत्मीयता में विकल्प कर देती है। साधन वही सजीव होता है जो विकल्प-रहित हो। साधन की स्वीकृति से पूर्व साधन-निर्माण-काल में साधक चाहे कितना विकल्प करे, उससे क्षति नहीं होती। साधन का सम्बन्ध साधक की रुचि, योग्यता तथा सामर्थ्य से है। जिस साधन में इन सबका समर्थन हो वही साधन सिद्धिदायक है। ऐसे साधन की अभिव्यक्ति सत्संग में ही निहित है। सत्संग समस्त साधनों की भूमि है। सत्संग की उपलब्धि जाने हुए असत् के त्याग में निहित है।

प्रेमास्पद की आत्मीयता के अतिरिक्त यदि कोई और अपनी माँग है, तो वह आत्मीयता की सजीवता में बाधक है। प्रियता की अभिव्यक्ति में आत्मीयता से भिन्न कोई अन्य साधन नहीं है। इस रहस्य को जान लेने पर साधक समस्त प्रलोभनों का अन्त कर अभय हो जाता है, जिसके होते ही प्रेम की अभिव्यक्ति तथा आसक्तियों का अभाव स्वत: होता है। इस दृष्टि से आत्मीयता में ही समस्त विकास निहित है।

मूक-सत्संग और विश्राम की अभिव्यक्ति

जो अविनाशी है वही सत् है। उसका सङ्ग ही सत् का सङ्ग है। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक सर्वदा सत् का सङ्ग करने में स्वाधीन है। सत् कभी किसी से अलग नहीं हुआ, फिर भी अप्राप्त-सा प्रतीत होता है, यही आश्चर्य है। अविनाशी अप्राप्त हो ही नहीं सकता. उसकी विस्मृति तथा उससे विमुखता हो सकती है। सत् जब साधक को अप्राप्त प्रतीत होता है तब उसे प्राप्त क्या है? इस पर विचार करने से बड़ी ही सुगमतापूर्वक सत् का सङ्ग हो सकता है। सत् के सङ्ग में ही सत् की महिमा, सत् का प्रभाव और सत् की प्रियता निहित है। सत् की प्रियता असत् से विमुख कर सत् से अभिन्न करती है, पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जो असत् के भोगी नहीं हैं, अपितु सत् के जिज्ञासु हैं।

अविनाशी से देश-काल की दूरी सम्भव नहीं है। जिससे देश-काल की दूरी नहीं है, उसकी अभेदता श्रमसाध्य नहीं है। समस्त श्रम काम से उत्पन्न होते हैं। काम की उत्पत्ति अविवेक सिद्ध है। श्रम का अन्त करने के लिए प्रत्येक साधक को निज विवेक के प्रकाश में काम का अन्त करना होगा। आवश्यक कार्य, जो वास्तव में वर्तमान कार्य है, उसे काम का अन्त करने की दृष्टि से करना परम आवश्यक है, किन्तु उसके फल में लेश मात्र भी आस्था न रहे और करने का राग भी पोषित न हो। तभी कार्य के अन्त में साधक को मंगलमय विधान से अल्पकाल विश्राम मिलेगा कारण कि अनावश्यक कार्य संकल्प-विकल्प के रूप में प्रकट होगा, जो अपने आप आये हुए विश्राम को भंग कर देगा और साधक उन संकल्प-विकल्पों के प्रभाव से प्रभावित होकर अपने को विश्राम-प्राप्ति में असमर्थ मान लेगा। इस भयंकर भूल से बचने के लिए साधक को अनावश्यक कार्य का त्याग दृढ़तापूर्वक करना होगा। अनावश्यक कार्य वही है जिसका सम्बन्ध वर्तमान से न हो और जिसमें साधक की सामर्थ्य तथा विवेक का समर्थन न हो। जिसका सम्बन्ध वर्तमान से नहीं है और जिसके करने की सामर्थ्य साधक में नहीं है उस कार्य को साधक क्रियात्मक रूप तो दे ही नहीं सकता, केवल उसके करने का राग-मात्र ही साधक में अंकित रहता है, जिसका त्याग करना अनिवार्य है। कभी-कभी असावधानी से साधक विवेक-विरोधी कर्म कर बैठता है, जिसके करने से करने का राग नाश नहीं होता। इस दृष्टि से विवेक-विरोधी कार्य का त्याग भी अत्यन्त आवश्यक है। विवेक-विरोधी कार्य का त्याग करने पर आवश्यक कार्य को पूरा करने की सामर्थ्य स्वत: प्राप्त होती है। प्राकृतिक विधान की दृष्टि से मिले हुए का सदुपयोग आवश्यक कार्य है। आवश्यक कार्य पूरा करने में असमर्थता की गन्ध भी नहीं है और अनावश्यक कार्य किसी को करना नहीं है। इस दृष्टि से आवश्यक कार्य के अन्त में विश्राम का सम्पादन परम आवश्यक है।

उत्पन्न हुए संकल्प-विकल्पों से तादात्म्य ही विश्राम को भंग करने में मुख्य हेतु है। जब साधक उत्पन्न हुए संकल्प-विकल्पों से विवेकपूर्वक तादात्म्य तोड़ देता है तब वे संकल्प-

विकल्प निर्जीव हो जाते हैं। साधक असावधानी के कारण उत्पन्न हुए संकल्प-विकल्पों से भयभीत हो जाता है और उनका विरोध करने लगता है। ऐसा करने से अल्प-से-अल्प काल के लिए वे संकल्प दब से जाते हैं। उनके दबने-मात्र से ही साधक अपने में एक मिथ्या अभिमान का आरोप कर लेता है। उसका परिणाम बड़ा ही भयंकर होता है। दबे हुए संकल्प बार-बार उत्पन्न होते हैं। जब तक साधक उन्हें दबाता रहता है तब तक वे उत्पन्न होते रहते हैं। इस प्रकार का द्वन्द्व अन्त में साधक को विश्राम से निराश कर देता है। इतना ही नहीं, जिस काल में संकल्प बलपूर्वक दबा दिए जाते हैं उस काल में भी साधक को लेशमात्र भी विश्राम नहीं मिलता, अपितु मस्तिष्क की शक्ति का अधिकांश भाग व्यर्थ ही व्यय हो जाता है, जिससे बेचारा साधक अपने में असमर्थता का अनुभव करने लगता है और फिर हार मानकर विश्राम से निराश हो जाता है। यह साधक की स्वाभाविक स्थिति नहीं है। इस अस्वाभाविकता का अन्त करने के लिए आवश्यक कार्य को पूरा कर अनावश्यक कार्य को त्याग, विश्राम पाना आवश्यक है।

जब साधक का अपना कोई संकल्प नहीं रहता तब वह निर्भयतापूर्वक वर्तमान कार्य को पूरा कर निश्चिन्त हो जाता है। निश्चिन्तता सामर्थ्य की प्रतीक है। सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होने पर कर्तव्यपरायणता, असंगता एवं शरणागति स्वत: आ जाती है। साधक का अपना संकल्प उसे स्वाधीन नहीं होने देता। स्वाधीनता का अपहरण होते ही वस्तु, व्यक्ति आदि की दासता उत्पन्न हो जाती है, जिसके होते ही अनेक विकारों का जन्म हो जाता है। यद्यपि साधक की स्वाभाविक माँग निर्विकार होने की है, परन्तु साधक अपने संकल्प के अधीन होकर अपने को निर्विकारता से विमुख कर लेता है। निर्विकारता स्वरूप से अविनाशी है। उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है। उससे निराश होना भूल है। "अपना कोई संकल्प नहीं है" इस महामन्त्र को अपनाते ही साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक निर्विकारता से अभिन्न हो सकता है, यह निर्विवाद सत्य है।

जब साधक विवैकपूर्वक वस्तु व्यक्ति आदि की दासता से रहित होकर निस्संकल्पता को स्वीकार

करता है तब भी उसे संकल्प-विकल्पों का प्रवाह उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है। यह प्रवाह भुताभुत इच्छाओं का परिणाम है, और कुछ नहीं। साधक को इस प्रवाह से न तो भयभीत होना है और न सुख लेना है, अपितु उससे असहयोग करना है। असहयोग करते ही वह प्रवाह स्वतः नष्ट हो जाएगा, किन्तु थोड़ी-थोड़ी देर बाद साधक इसका निरीक्षण न करें। निरीक्षण करने से असहयोग में विकल्प हो जाएगा, जिसके होते ही प्रवाह से तादात्म्य उत्पन्न होगा, जो उसे नष्ट नहीं होने देगा। साधक पर दायित्व एकमात्र उत्पन्न हुए प्रवाह से असहयोग करने का ही है। जिसकी उत्पत्ति होती है उसका विनाश प्राकृतिक विधान के अनुसार अपने आप होता है, करना नहीं पड़ता। उत्पत्ति से सम्बन्ध-विच्छेद ही उसके मिटाने का सहज, सुगम उपाय है। प्रत्येक उत्पत्ति में सत्यता और सुन्दरता सम्बन्ध जोड़ने से ही प्रतीत होती है। जिस उत्पत्ति का विनाश साधक को अभीष्ट हो उससे सम्बन्ध-विच्छेद करना अनिवार्य है। उत्पन्न हुआ समस्त दृश्य सम्बन्ध-विच्छेद करते ही निर्जीव हो जाता है, यह निर्विवाद सत्य है।

शान्ति सजगता तथा सामर्थ्य को सुरक्षित रखती है। सजगता तथा सामर्थ्य से ही प्रत्येक कार्य सांगोपांग सम्पन्न होता है। इस दृष्टि से साधक को कार्य के आदि और अन्त में शान्ति को सुरक्षित रखना है। यह तभी सम्भव होगा जब कार्य की फलासति तथा उसके करने का राग साधक में न हो। कार्य करने की सार्थकता करने के राग की निवृति और दूसरों के अधिकार सुरक्षित रखने में है। मंगलमय विधान की दृष्टि से साधक को अपने लिए किसी भी कार्य की अपेक्षा नहीं है। प्रत्येक कार्य का सम्बन्ध विश्व की सेवा में निहित है। साधक को अपने लिए तो असंगता ही अपेक्षित है। जब प्रत्येक कर्तव्य-कर्म से ही साधक को असङ्ग रहना है तब अपने आप उत्पन्न हुए संकल्प-विकल्पों से तादात्म्य स्वीकार करने की तो कोई बात ही नहीं है। समस्त कार्यों का सम्पादन समष्टि शक्तियों के आश्रित है। साधक को तो केवल पवित्र भाव से प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना है। जब कार्य के आदि और अन्त में स्वभाव से ही शान्ति का सम्पादन होने लगे तब साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक चिर-

विश्राम से अभिन्न हो जाता है। चिर-विश्राम में समस्त विकास निहित हैं।

चिर-विश्राम साधक को सत् से अभिन्न और असत् से असङ्ग कर देता है। सत् से अभेद होने पर कुछ भी करना शेष नहीं रहता। असत् से असङ्ग होते ही समस्त विकार स्वत: नष्ट हो जाते हैं। इस दृष्टि से विश्रामपूर्वक सत् का सङ्ग अर्थात् मूक-सत्संग समस्त साधनो की भूमि है और समस्त साधन विश्राम में ही विलीन होते हैं, कारण कि सब कुछ करने पर वही प्राप्त होता है जो करने के आरम्भ से पूर्व था। समस्त साधनों की अभिव्यक्ति जिससे होती है उसी में समस्त साधन विलीन होते हैं। अनुत्पन्न हुए विश्राम से ही समस्त साधनों का प्रादुर्भाव होता है और समस्त साधन विश्राम से ही अभिन्न हो जाते हैं।

अविनाशी का सङ्ग किसी श्रम से साध्य नहीं है। इस कारण मूक-सत्संग ही सर्वोत्कृष्ट सत्संग है। पर यह रहस्य वे ही साधक जानते हैं, जिन्होंने सत् के सङ्ग को वर्तमान जीवन की वस्तु स्वीकार किया है। असत् के सम्बन्ध ने सत् से विमुख किया है। उसका त्याग विवेकसिद्ध है, श्रम-साध्य नहीं। असत् की कामना ही विश्राम को भंग करती है, जिसके होते ही सत् से दूरी तथा भेद प्रतीत होता है। वास्तव में तो सत् से दूरी तथा भेद सम्भव ही नहीं है, क्योंकि असत् भी सत् से ही प्रकाशित है। इतना ही नहीं, असत् की प्रतीति में भी सत् ही हेतु है। सत्तारूप से सर्वत्र सर्वदा सत् ज्यों-का-त्यों है। उससे अभिन्न होने में चिर-विश्राम ही सुगम साधन है। विश्राम के बिना किसी भी प्रकार सत् का सङ्ग सम्भव नहीं है। उसके बिना किसी भी साधक को न तो स्वाधीनता ही मिल सकती है और न साध्य के प्रति अगाध अनन्त नितनव प्रियता। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक के लिए मूक सत्संग अनिवार्य है।

असत् के संग का प्रभाव प्रकट हुए बिना नाश नहीं होता। श्रम-साध्य साधन उस प्रभाव को दबाता है, प्रकट नहीं होने देता। मूक-सत्संग उस प्रभाव को प्रकट करता है। यदि साधक सावधानीपूर्वक उत्पन्न हुए प्रभाव से सहयोग न करे तो वह अपने-आप मिट जाता है। इस दृष्टि से मूक-सत्संग के बिना निर्विकारता सम्भव नहीं है और उसके बिना चिरविश्राम, स्वाधीनता एवं प्रेम की अभिव्यक्ति

सर्वदा असम्भव है। मूक-सत्संग सहज तथा स्वाभाविक सत्संग है। उसके लिए किसी प्रकार के प्रयत्न की अपेक्षा नहीं है, अपितु अप्रयत्न ही वास्तविक प्रयत्न है।

श्रम की सार्थकता वर्तमान कार्य को विधिवत् क़रने में है, किन्तु वह कार्य साधक का अपना कार्य नहीं है, अपितु विश्व की सेवा है। सही काम करने से अपने आप सुन्दर समाज का निर्माण होता है और साधक कामरहित हो जाता है, जिसके होते ही वास्तविक जीवन की माँग सबल तथा स्थायी हो जाती है। जब एक ही माँग स्थायी हो जाती है तब उस माँग की पूर्ति अपने आप होती है। इस दृष्टि से श्रम का अन्त चिर-विश्राम में ही है। जो श्रम साधक को विश्राम से अभिन्न नहीं करता वह अनावश्यक श्रम है। उसका त्याग आवश्यक है। अनावश्यक श्रम के त्याग से आवश्यक श्रम समष्टि शक्तियों के सहयोग से स्वतः होने लगता है और फिर साधक में कर्तव्य-पालन का अभिमान भी शेष नहीं रहता। जब साधक में अकर्तव्य की उत्पत्ति नहीं होती और कर्तव्य का अभिमान नहीं रहता तब अप्रयत्न ही प्रयत्न रह जाता है, जो वास्तव में मूक-सत्संग है। सीमित अहम्भाव किसी-न-किसी गुण तथा दोष के आश्रित जीवित है। निर्दोषिता की उत्कट लालसा जब दोष को उत्पन्न नहीं होने देती तब गुण का अभिमान अपने-आप गल जाता है, जिसके गलते ही बेचारा अहम्, विश्राम, स्वाधीनता तथा प्रेम से अभिन्न हो जाता है। निर्दोषिता की उत्कट लालसा तभी जाग्रत होती है जब साधक को किसी प्रकार की भी पराधीनता सहन नहीं होती है। पराधीनता को सहन करते रहना ही साधक का प्रमाद, है। इस प्रमाद का अन्त मूक-सत्संग द्वारा बड़ी ही सुगमतापूर्वक हो जाता है। है' का संग श्रम-साध्य नहीं है। अत: मूक-सत्संग से ही "है" का संग साध्य है। मूक-सत्संग वर्तमान दशा का बोध कराने में अचूक मन्त्र है। जब साधक कुछ भी करने का संकल्प नहीं रखता तब अपने-आप वर्तमान वस्तुस्थिति का स्पष्ट तथा यथेष्ट बोध हो जाता है, जिसके होते ही निर्दोषता की उत्कट लालसा स्वत: जाग्रत होती है जो दोष-जनित सुख के राग को खाकर गुणों के अभिमान से रहित कर देती है और फिर अहम्भाव रूपी अणु का नाश हो जाता है।

सब कुछ करने का अन्त न करने में ही होता है। कुछ न करने का अर्थ आलस्य तथा अकर्मण्यता नहीं है, अपितु जो "है" उससे संग करने का उपाय कुछ न करना है। जिससे विभाजन हो ही नहीं सकता, दूरी हो ही नहीं सकती, उससे अभिन्न होने में कुछ न करना ही हेतु है। बस यही मूक-सत्संग है। मूक-सत्संग के बिना सत् का संग सम्भव नहीं है। असत् के त्याग की पूर्णता मूक-सत्संग में निहित है। असत् के विवेचन द्वारा असत् के त्याग के संकल्प की पूर्ति मूक-सत्संग में ही निहित है, कारण कि त्याग में ही समस्त प्रयत्न का अन्त है।

जिसे अपने लिए कुछ भी करना शेष नहीं है, वही वास्तव में कर्तव्यनिष्ठ हो सकता है। जब तक साधक को अपने लिए कुछ करना है तब तक सर्वांश में कर्तव्यपरायणता नहीं आती। अपने लिए कुछ करना नहीं है, यह तभी सम्भव होता है जब मूक-सत्संग के द्वारा साधक अपनी पूर्ति पाता है। इस दृष्टि से मूक-सत्संग से कर्तव्यपरायणता की अभिव्यक्ति होती है और विधिवत् कर्तव्य-पालन करने पर कुछ भी करना शेष नहीं रहता, तब भी अन्त में मूक-सत्संग ही रह जाता है। कर्तव्यनिष्ठ होकर मूक-सत्संग प्राप्त करना अथवा मूक-सत्संग के द्वारा कर्तव्यनिष्ठ होना साधक की अपनी रुचि के अधीन है। जो साधक असमर्थता का अनुभव करता है वह मूक-सत्संग द्वारा कर्तव्यनिष्ठ होता है और जो साधक मिली हुई सामर्थ्य का पवित्र भाव से सद्-व्यय करता है वह कर्तव्यनिष्ठ होकर मूक-सत्संग प्राप्त करता है। सामर्थ्य के सद्-व्यय करने का जब अभिमान गल जाता है तब अन्त में मूक-सत्संग सजीव होता है, कारण कि जो करना चाहिए उसके करने पर कर्ता अकर्ता होकर अनन्त से अभिन्न होता है। यही मूक-सत्संग की सजीवता है। करने की रुचि होने पर भी जब साधक वह नहीं कर पाता जो करना चाहिए तब अधीर होकर न करने की स्थिति में ही आता है, जिसमें आते ही आवश्यक सामर्थ्य प्राप्त होती है। इस दृष्टि से मूक-सत्संग सामर्थ्य का प्रतीक है।

भौतिकवाद की दृष्टि से कर्तव्यपरायणता, अध्यात्मवाद की दृष्टि से असंगता और आस्तिकवाद की दृष्टि से शरणागति ही अन्तिम प्रयास है। इन तीनों प्रयासों की पूर्णता मूक-सत्संग में निहित है। सामर्थ्य की

अभिव्यक्ति श्रम-साध्य नहीं है, अपितु श्रम-रहित होने में ही है। श्रम के द्वारा तो प्राप्त सामर्थ्य का सदव्यय होता है। असंगता की सिद्धि भी श्रम-साध्य नहीं है, कारण कि श्रम की उत्पत्ति किसी न किसी के सङ्ग से साध्य है। इस दृष्टि से असंगता के लिए भी मूक-सत्संग ही मुख्य उपाय है। जब साधक अपने में भली-भाँति असमर्थता का अनुभव कर लेता है तभी शरणागत होने का अधिकारी होता है। इस दृष्टि से जो कुछ नहीं कर पाता वही शरणागत होकर सिद्धि पाता है। अतएव सामर्थ्य के स्वाध्याय द्वारा कर्तव्यपरायणता तथा असंगता एवं शरणागति की पूर्णता मूक-सत्संग में ही है। संकल्पपूर्वक न करने का अर्थ मूक-सत्संग नहीं है, अपितु संकल्पों के त्याग में ही मूक-सत्संग है। कुछ न करने का संकल्प भी श्रम है। मूक-सत्संग श्रमसाध्य नहीं है। आवश्यक चेष्टा के अन्त में अपने आप जो स्थिति होती है उसी का सुरक्षित रहना मूक-सत्संग का आरम्भ है, किन्तु आवश्यक कार्य के अन्त में जो आगे-पीछे का चिन्तन होने लगता है वह अपने आप आए हुए विश्राम को आच्छादित कर देता है, अथवा कार्य के अन्त में जो क्षणिक सुख मालूम होता है उसका भोग भी मूक-सत्संग सिद्ध नहीं होने देता। आगे-पीछे का चिन्तन साधक के न चाहने पर भी होता है। जिसका होना अपने को अभीष्ट नहीं है,उससे असहयोग ही अपेक्षित है। अपने आप होने वाली दशा-विशेष को बलपूर्वक मिटाने का प्रयास सर्वथा त्याज्य है, कारण कि उसे बलपूर्वक मिटाया नहीं जा सकता। साधक उत्पन्न हुई अवस्था से जब असहयोग कर देता है तब उसका प्रभाव साधक पर नहीं रहता। सभी अवस्थाओं का प्रभाव नाश होते ही साधक मूक-सत्संग द्वारा अवस्थातीत जीवन से अभिन्न हो जाता है, जिसमें पराधीनता तथा परिच्छिन्नता की गन्ध भी नहीं है।

मूक-सत्संग सिद्ध होते ही 'करना' 'होने' मे और 'होना' है में विलीन हो जाता है, जिसके होते ही अमरत्व से अभिन्नता होती है। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक के लिए मूक-सत्संग परम आवश्यक है। प्रत्येक कार्य के आदि और अन्त में मूक-सत्संग हो सकता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार जो आदि और अन्त में है वही अखण्ड है। अतएव मूक-सत्संग

अखण्ड है। जो अखण्ड है वही अविनाशी है और उसी में जीवन है। जीवन की माँग मूक-सत्संग से साध्य है। जीवन की लालसा प्रत्येक साधक में स्वभाव से ही विद्यमान है। उसकी पूर्ति तभी सम्भव है जब साधक मूक-सत्संग के बिना किसी प्रकार भी न रह सके। श्रम-साध्य समस्त उपाय साधक को देहाभिमान में ही आबद्ध करते हैं। देहाभिमान रहते हुए काम, क्रोध आदि विकारों का नाश सम्भव नहीं है। मूक-सत्संग के द्वारा बड़ी ही सुगमतापूर्वक देहाभिमान गल जाता है, कारण कि श्रम की अपेक्षा न रहने पर देह आदि से सम्बन्ध बनाए रखना अनावश्यक सिद्ध हो जाता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार अनावश्यक वस्तुओं का नाश अपने आप हो जाता है। इस दृष्टि से देहाभिमान गलाने में भी मूक-सत्संग हेतु है।

मूक-सत्संग कोई अभ्यास नहीं है, अपितु सहज स्वभाव से ही सत् से अभिन्न होना है। श्रम तथा अभ्यास की अपेक्षा वास्तव में सत्संग के लिए नहीं है। अभ्यास तथा श्रम की आवश्यकता तो एकमात्र मिली हुई वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता के सद्व्यय में है। सत् में सभी का नित्य-निवास है। उससे अलग होना सम्भव नहीं है। जिससे अलग हो ही नहीं सकते उसका संग श्रम-साध्य नहीं है, अपितु सब प्रकार के श्रम से रहित होने पर ही सत् का सङ्ग सम्भव है। सत् में अविचल आस्था सत्संग की प्रेरणा देती है और सत् की लालसा असत् की कामनाओं को खाकर स्वत: सत् से अभिन्न करती है। मूक-सत्संग सत् की आस्था को सजीव करने में समर्थ है। सत् में अविचल आस्था साधक को असत् से असङ्ग करने में हेतु है। असत् से असङ्ग होते ही असत् का अपने आप सत् से अभेद हो जाता है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने सत्संग को ही सर्वोत्कृष्ट पुरुषार्थ स्वीकार किया है।

आवश्यक शक्तियों का प्रादुर्भाव मूक-सत्संग से स्वत: होता है। इस दृष्टि से समस्त असमर्थताओं का अन्त मूक-सत्संग में निहित है। असमर्थता का अन्त होते ही जो नहीं करना चाहिए उसकी उत्पत्ति ही नहीं होती और जो करना चाहिए वह मंगलमय विधान से स्वत: हो जाता है। इतना ही नहीं, कर्तव्य का अभिमान सदा के लिए गल जाता है। जिसके गलते ही समस्त भेद नष्ट हो जाते हैं।

भेद का नाश होते ही निश्चिन्तता, निर्भयता एवं आत्मीयता की अभिव्यक्ति होती है। निश्चिन्तता में चिर-विश्राम, निर्भयता में स्वाधीनता एवं आत्मीयता में प्रेम निहित है। इस दृष्टि से मूक-सत्संग सफलता की कुञ्जी है।

अनन्त का अनुपम आश्रय, अपने में अपनी प्रियता, असत् से विमुखता और सर्वात्मभाव मूक-सत्संग से ही सम्भव है। अनन्त का अनुपम आश्रय निरभिमानता का, अपने में अपनी प्रियता स्वाधीनता का, असत् से विमुखता चिर-विश्राम का और सर्वात्म-भाव कर्तव्य का प्रतीक है। निरभिमानता से अभिन्नता, स्वाधीनता से दिव्य चिन्मय जीवन, चिर-विश्राम से समस्त विकास और कर्तव्य से सुन्दर समाज का निर्माण स्वत: होता है।

संकल्प-जनित समस्त चेष्टाओं का अन्त कर स्वभाव से ही भीतर-बाहर से शान्त होना ही मूक-सत्संग है। अप्राप्त की कामना, मिले हुए का दुरुपयोग और नित्यप्राप्त में आस्था एवं प्रियता का न होना मूक-सत्संग में बाधक हैं। नित्य-प्राप्त का अर्थ अविनाशी तत्व है। मिले हुए का अर्थ उत्पन्न हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि है और उसी की कामना अप्राप्त की कामना है, कारण कि मिले हुए से नित्य सम्बन्ध नहीं है। जिससे नित्य सम्बन्ध नहीं है उसका आकर्षण ही कामना का जन्मदाता है। मिले हुए के दुरुपयोग ने ही कर्तव्य का अपहरण किया है। इस दृष्टि से मिले हुए का सदुपयोग, अप्राप्त की कामना का त्याग एवं नित्य-प्राप्त में अगाध अनन्त प्रियता मूक-सत्संग में हेतु है। मूक-सत्संग स्वाभाविक सत्संग है। उसमें अस्वाभाविकता की गन्ध भी नहीं है। अल्प काल का मूक-सत्संग भी सजगता प्रदान करने में समर्थ है। सजगता आते ही जड़त्व से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, जिसके होते ही पराधीनता स्वाधीनता में अभाव पूर्णता में और आसक्ति प्रीति में परिवर्तित हो जाती है, नीरसता खिन्नता, क्षोभ और असमर्थता की गन्ध भी नहीं रहती। इस दृष्टि से मूक-सत्संग में ही जीवन की सार्थकता निहित है। मूक-सत्संग सभी साधकों के लिए समान है। दार्शनिक भेद होने पर भी मूक-सत्संग में कोई अन्तर नहीं होता। जिस प्रकार भूमि प्रत्येक बीज को विकसित करने में समर्थ है उसी प्रकार मूक-सत्संग सभी

साधकों के विकास में समर्थ है। इस दृष्टि से मूक-सत्संग सभी साधकों को अपनाना अनिवार्य है।

जिस प्रवृत्ति का आरम्भ शान्ति से नहीं होता वह प्रवृत्ति सांगोपांग सम्पन्न नहीं होती और जिस निवृति का अन्त शान्ति में नहीं होता वह निवृति सजीव नहीं होती। प्रवृति और निवृति ही साधक के जीवन के दो पहलू हैं। निवृति से प्रवृत्ति की सामर्थ्य आती है और प्रवृति से मिली हुई सामर्थ्य का सद्व्यय होता है। मिली हुई सामर्थ्य के सद्व्यय से ही जीवन जगत् के लिए उपयोगी होता है और अभिमान-रहित निवृति से ही जीवन अपने लिए उपयोगी सिद्ध होता है। मंगलमय विधान के अनुसार प्रवृत्ति जगत् के लिए और निवृति अपने लिए है। अतएव प्रवृति और निवृत्ति को साधन-रूप सिद्ध करने के लिए मूक-सत्संग अपेक्षित है। प्रवृत्ति और निवृति से अतीत के जीवन में साधक का अहम् गलकर अनन्त की अनुपम प्रियता में परिवर्तित हो जाता है। यह भी मूक-सत्संग से ही सिद्ध है, कारण कि अहम् का नाश श्रम-साध्य नहीं है। श्रम के मूल में बीज-रूप से अपना सुख छिपा रहता है। मूक-सत्संग साधक को सुख की दासता और दुःख के भय से रहित कर देता है, जिसके होते ही अहम् अपने आप गल जाता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार अहम् सुख तथा दुःख के आश्रय से ही जीवित है। सुख-दुःख के आश्रय का नाश श्रम-साध्य नहीं है। इस कारण मूक-सत्संग से ही अहम् का नाश हो सकता है। अत: जीवन की पूर्णता, जो विश्राम, स्वाधीनता तथा प्रेम में निहित है, मूक-सत्संग से ही सिद्ध है।

सत्संग की महिमा असाधन के नाश और साधन की अभिव्यक्ति में है। इस दृष्टि से सत्संग सभी साधकों के लिए अनिवार्य है। उसके बिना किसी को साध्य की प्राप्ति सम्भव नहीं है। योग्यता, रुचि, सामर्थ्य के भेद होने पर भी मूक-सत्संग सभी के लिए समान है। मूक-सत्संग के द्वारा समस्त असाधनों का नाश हो सकता है और योग्यता, रुचि तथा सामर्थ्य के अनुरूप व्यक्तिगत साधन की अभिव्यक्ति भी हो सकती है। इतना ही नहीं समस्त साधन जिस साधन-तत्व से अभिन्न होते हैं,उसकी अभिव्यक्ति भी मूक-सत्संग में निहित है। अतएव मूक-सत्संग सभी साधकों का अपना सत्संग है, कारण कि मूक-सत्संग की सिद्धि 'पर' की

अपेक्षा नहीं रखती है। जिसके लिए 'पर' की अपेक्षा नहीं रहती वह सभी के लिए समान है। यदि मूक-सत्संग का सम्बन्ध किसी परिस्थिति विशेष से होता तो वह सभी के लिए समान न होता, परन्तु मूक-सत्संग के लिए तो किसी परिस्थिति-विशेष की अपेक्षा ही नहीं है। अत: साधक चाहे जिस परिस्थिति में हो, मूक-सत्संग स्वाधीनतापूर्वक हो सकता है।

मूक-सत्संग अभ्यास नहीं है, अपितु जीवन का सहज, स्वाभाविक एवं अविभाज्य अंग है। उसका कोई भी साधक त्याग नहीं कर सकता, किन्तु उसे सत्संग का रूप कोई विरले ही दे पाते हैं। इतना ही नहीं स्वाभाविक होने से जीवन के इस महत्वपूर्ण अंग पर दृष्टि ही नहीं जाती। प्रत्येक कार्य के आदि और अन्त में सभी को मूक होना पड़ता ही है। ऐसा कोई श्रम है ही नहीं जिसका आदि और अन्त विश्राम में न हो। श्रम और विश्राम के भेद को स्पष्ट रूप से जान लेने पर मूक-सत्संग स्वतः होने लगता है। सभी श्रम वास्तविक विश्राम के लिए हैं और विश्राम स्वाधीनता तथा प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए है। यह रहस्य खुलते ही साधक को विदित हो जाता है कि मूक-सत्संग अनुपम तथा अचूक उपाय है। जिज्ञासु में विचार, विश्वासी में विरह एवं कर्तव्यनिष्ठ में आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति मूक-सत्संग से अपने आप होती है। प्राकृतिक विधान के अनुसार समस्त साधन सत्संग में ही निहित हैं। सत्संग के बिना साधन का निर्माण किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। सत्संग की वह रूप रेखा, जो सभी साधकों को सहज तथा स्वाभाविक हो, मूक-सत्संग में ही निहित है।

सत्संग साधक के जीवन का वह महत्वपूर्ण अनिवार्य अंग है जिसका किसी भी हेतु से त्याग नहीं किया जा सकता। समस्त प्रवृत्तियों के आदि और अन्त में सत्संग अत्यन्त आवश्यक है। साधकों को यह भली-भाँति ज्ञात रहे कि मूक-सत्संग अभ्यास का रूप न बन जाए, श्रम की गन्ध भी न आने पाए। विश्राम की प्रियता से ही कार्य के अन्त में मूक-सत्संग स्वत: होने लगे और जिस माँग की पूर्ति के लिए मूक-सत्संग किया गया है उसी की पूर्ति अभीष्ट हो। असमर्थता, पराधीनता एवं आसक्तियों के नाश तथा सामर्थ्य, स्वाधीनता और प्रेम की माँग की पूर्ति में मूक-सत्संग की

अपेक्षा है। सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होने पर दोषों की उत्पत्ति ही नहीं होती और गुणों का अभिमान गल जाता है। स्वाधीनता दिव्य चिन्मय जीवन से और प्रेम अगाध अनन्त रस से अभिन्न कर देता है, जो सभी साधकों की अन्तिम माँग है। इस दृष्टि से मूक-सत्संग सभी के लिए सफलता की कुञ्जी है।

उपसंहार

चिर-विश्राम, स्वाधीनता और प्रेम सभी साधकों की अपनी माँग है, जिसकी पूर्ति कर्तव्यपरायणता, असंगता एवं आत्मीयता में निहित है। विवेक-विरोधी कर्म के त्याग में कर्तव्यपरायणता, विवेक-विरोधी सम्बन्ध के त्याग में असंगता एवं विवेक-विरोधी विश्वास के नाश में आत्मीयता निहित है। विवेक-विरोधी कर्म, सम्बन्ध तथा विश्वास साधक का अपना जाना हुआ असत् है। उसके संग से ही अकर्तव्य, असाधन तथा आसक्ति की उत्पत्ति हुई है। अतएव इन समस्त विकारों का अन्त करने के लिए असत् के संग के त्याग का दायित्व साधक पर है।

मंगलमय विधान के अनुसार दायित्व को पूरा करने में असमर्थता नहीं है, अपितु साधक सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है। वास्तविक माँग की विस्मृति में ही दायित्व की विस्मृति है। दायित्व का स्पष्ट बोध न होने के कारण साधक अपने को दायित्व पूरा करने में असमर्थ मान लेता है। वर्तमान वस्तुस्थिति का साधक पर ज्यों-ज्यों स्पष्ट तथा यथेष्ट प्रभाव होता जाता है त्यों-त्यों वास्तविक माँग की स्मृति जाग्रत होती जाती है। वास्तविक माँग की स्मृति जाग्रत होते ही साधक को अपने दायित्व का स्पष्ट बोध हो जाता है और फिर उसको पूरा करने में साधक अपने को स्वाधीन तथा समर्थ पाता है।

परिस्थिति के अनुरूप आवश्यक कार्य की पूर्ति और अनावश्यक कार्य की निवृत्ति होने पर साधक को स्वत: विश्राम मिलता है, जिसके मिलते ही दिव्य शक्तियों का प्रादुर्भाव होने लगता है। शक्तियों के प्रादुर्भाव से पराधीनता स्वाधीनता में, जड़ता चेतना में और अभाव पूर्णता में विलीन हो जाता है। इस दृष्टि से

कर्तव्यपरायणता में ही विश्राम निहित है, जो समस्त दिव्य शक्तियों की भूमि है। आवश्यक कार्य को पूरा करने की स्वाधीनता साधक को मिली है। आवश्यक कार्य वही है जिसके करने में निज विवेक तथा सामर्थ्य का समर्थन है। सामर्थ्य-विरोधी तथा विवेक-विरोधी कार्य अनावश्यक कार्य है। अनावश्यक कार्य के त्याग में ही आवश्यक कार्य की सिद्धि निहित है। अनावश्यक कार्य का त्याग न करना असत् का संग है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। अनावश्यक कार्यों को बनाए रखने से आवश्यक कार्य की विस्मृति होती है और आवश्यक कार्य न करने से अनावश्यक कार्यों की उत्पत्ति होती रहती है। इस कारण साधक को सावधानीपूर्वक वर्तमान कर्तव्य-कर्म लक्ष्य पर दृष्टि रखते हुए पवित्र भाव से करना अनिवार्य है।

विद्यमान राग की निवृत्ति के लिए सामर्थ्य तथा विवेक के अनुरूप साधक को सभी के अधिकारों की रक्षा करना है, परन्तु नवीन राग की उत्पत्ति न हो, उसके लिए उसे अपने अधिकार का त्याग करना है। अपने अधिकार का त्याग करते ही साधक राग तथा क्रोध से रहित हो जाता है। राग के अन्त में पराधीनता का और क्रोध के अन्त में विस्मृति का नाश निहित है। पराधीनता के नाश में ही स्वाधीनता की अभिव्यक्ति और विस्मृति के नाश में ही अखण्डस्मृति स्वत: होती है। स्वाधीनता चिन्मय जीवन से अभिन्न करने में और स्मृति प्रेम के प्रादुर्भाव में समर्थ है। इस दृष्टि से राग तथा क्रोध अपना जाना हुआ असत् है, जो दूसरों के अधिकार के अपहरण तथा अधिकार-लोलुपता से पोषित होता है और यही वास्तव में अकर्तव्य है। अकर्तव्य का त्याग जाने हुए असत् का त्याग है, जिसके करते ही स्वत: कर्तव्यपरायणता की अभिव्यक्ति होती है।

कर्तव्यपरायणता में चिर-विश्राम और उसी में स्वाधीनता की अभिव्यक्ति होती है। अकर्तव्य का अन्त करने में जो असमर्थता प्रतीत होती है उसका एकमात्र कारण पराधीनता में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना है। पराधीनता में असह्य वेदना का जाग्रत न होना, पराधीनता में जीवन-बुद्धि उत्पन्न करता है, जो अपना जाना हुआ असत् है, जिसके संग से साधक स्वाधीनता से निराश

होने लगता है। यद्यपि स्वाधीनता की माँग साधक की अपनी माँग है, परन्तु उससे निराश होने के कारण उसकी पूर्ति दुर्लभ प्रतीत होती है। स्वाधीनता सभी साधकों को सदैव मिल सकती है। यदि ऐसा न होता तो उसकी माँग ही न होती। माँग उसी की होती है जिसकी पूर्ति असम्भव न हो, अपितु सर्वदा सम्भव हो। जो सम्भव है उससे निराश है। इस असत् के संग ने ही साधक में स्वाधीनता से निराशा और पराधीनता में जीवन-बुद्धि उत्पन्न कर दी है।

उत्पन्न हुई वस्तु, अवस्था एवं परिस्थितियों से नित्य सम्बन्ध बनाए रखना सर्वदा असम्भव है और सभी अवस्थाओं से अतीत जो दिव्य जीवन है उससे अभिन्न होना सर्वदा सम्भव है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जो जाने हुए असत् के त्याग में सर्वदा तत्पर हैं। जाने हुए असत् का त्याग ही साधक का परम पुरुषार्थ है। स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश पाने के लिए विवेक-विरोधी सम्बन्ध का त्याग परम आवश्यक है। उसके बिना पराधीनता का नाश तथा स्वाधीनता की अभिव्यक्ति किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। जिससे जातीय तथा स्वरूप की भिन्नता है उससे नित्य-सम्बन्ध स्वीकार करना अपना जाना हुआ असत् है। उत्पन्न हुई वस्तुओं से साधक की जातीय तथा स्वरूप की एकता नहीं है। अत: उनकी ममता का त्याग सभी साधकों के लिए अत्यन्त आवश्यक है। साधक की जातीय तथा स्वरूप की एकता उसी से है जिसकी उसमें जिज्ञासा तथा प्रियता है। उत्पन्न हुई वस्तुओं में आसक्ति है, प्रियता नहीं। प्रियता अनुत्पन्न हुए अनन्त ही, में है। जिनमे आसत् आसतिक्तहै उनकी ममता का त्याग और जिसमें प्रियता है उसमें आत्मीयता स्वीकार न करना अपना जाना हुआ असत् है। इस असत् का त्याग करते ही साधक स्वाधीनता तथा प्रेम से अभिन्न हो जाता है; कारण कि विश्राम, स्वाधीनता और प्रेम इन तीनों से साधक की जातीय तथा स्वरूप की एकता है।

चिर-विश्राम

कर्तव्यपरायणता में, स्वाधीनता असंगता में और प्रेम आत्मीयता में निहित है। कर्तव्यपरायणता विश्व के लिए, असंगता अपने लिए और आत्मीयता अनन्त के लिए उपयोगी है। विश्राम, स्वाधीनता तथा प्रेम अपना जीवन है। इससे भिन्न जो कुछ है वह अपना नहीं है। जो अपना नहीं है उसमें

ममता असत् का संग है। जो अपना है उससे विमुख होना, निराश होना भी असत् ही का संग है। साधक के जीवन में असत् के संग का कोई स्थान ही नहीं है। अल्प से अल्प काल का असत् का संग बड़ी-से-बड़ी हानि में हेतु है। इस कारण असत् को जानते ही असत् का त्याग करना अत्यन्त आवश्यक है।

असत् का त्याग वर्तमान की वस्तु है। उसके करने में किसी परिस्थिति-विशेष की अपेक्षा नहीं है, अपितु असत् का ज्ञान ही असत् के त्याग में हेतु है। इस दृष्टि से अपने जाने हुए असत् के त्याग में लेशमात्र भी असमर्थता तथा परतन्त्रता नहीं है। सुख-लोलुपता ने विश्राम का और देहाभिमान ने स्वाधीनता का अपहरण किया है। कर्तव्यपरायणता सुख-लोलुपता का और विवेक-विरोधी सम्बन्ध का त्याग देहाभिमान का अन्त करने में समर्थ है। स्वाधीनता के साम्राज्य में ही प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। जिसे स्वाधीनता भी सन्तुष्ट नहीं कर पाती उसी में प्रेम का प्रादुर्भाव होता है। प्रेम अनन्त का स्वभाव है। उससे अभिन्न होने में ही साधन की पूर्णता है।

दर्शन और नीति

वास्तविक जीवन का रहस्य कुछ और ही है। जीवन दर्शन पर आधारित सिद्धान्त-(१) वर्तमान सबका निर्दोष है २) जो कुछ मिला है वह अपना नहीं है और अपने लिए नहीं है (३) अहम् और मम के नाश में जीवन की पूर्णता निहित है आदि-आदि को जीवन में कैसे चरितार्थ किए जाएँ, इसी मार्गदर्शन के लिए ***"दर्शन और नीति"*** *खंड लिखी गई है। इसमें प्रतिपादित दर्शन और नीति का अर्थ यह माना गया है कि दर्शन एक प्रकाश है और नीति उसकी क्रियात्मक रूप है। नीति दर्शन का व्यावहारिक प्रयोग है। अथवा यों कहो कि दर्शन के अनुरूप जीवन की उपलब्धि के लिए उसी का प्रयोगात्मक रूप 'नीति' है। यह नीतियाँ मानव-दर्शन से प्रतिपादित हैं और उसी पर आधारित हैं।*

प्रथम प्रकरण

प्राकृतिक नियमानुसार अपने दायित्व को पूरा करने की स्वाधीनता मानवमात्र को प्राप्त है।

मिली हुई स्वाधीनता का सद्व्यय न करना मानव की अपनी भूल है। स्वाधीनता का दुरुपयोग वही करता है, जो अपने दायित्व को पूरा करने में अपने को असमर्थ मान लेता है। यह मान्यता विवेक-विरोधी मान्यता है। विवेक का विरोध करने पर मानव में अमानवता की उत्पत्ति हो जाती है, जिसके होते ही जीवन में उत्तरोत्तर पराधीनता, जड़ता तथा अभाव की वृद्धि होती है, जो किसी को अभीष्ट नहीं है।

भूल को 'भूल' जान लेना भूल के नाश में हेतु है। जिस ज्ञान से भूल का ज्ञान होता है, वह ज्ञान नित्य प्राप्त है। उस नित्य प्राप्त ज्ञान के प्रकाश में इन्द्रिय-दृष्टि तथा बुद्धि-दृष्टि कार्य करती हैं। ज्यों-ज्यों मानव इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव से प्रभावित होता जाता है, त्यों-त्यों भूल दृढ़ होती जाती है। इन्द्रिय-दृष्टि के उपयोग और प्रभाव में एक बड़ा भेद है। इन्द्रिय-दृष्टि का उपयोग वर्तमान आवश्यक कार्य की सिद्धि में सहायक है और उस दृष्टि का प्रभाव नवीन राग की उत्पत्ति में हेतु है। राग रूपी भूमि में ही विवेक-विरोधी कर्म का जन्म होता है। यह नियम है कि जिसका जन्म होता है, उसकी मृत्यु स्वतः होती है। किन्तु जन्म का कारण रहते हुए नाश होने पर भी उसकी उत्पत्ति होती रहती है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि भूल का अन्त हुए बिना विवेक-विरोधी कर्म का सदा के लिए नाश नहीं हो सकता और उसका नाश हुए बिना जीवन जगत् के लिए उपयोगी सिद्ध नहीं होता। जो जीवन जगत् के लिए उपयोगी सिद्ध नहीं होता, उसकी माँग जगत् को नहीं है। जिस व्यक्ति की माँग जगत् को नहीं होती, उसमें जगत् की दासता उत्पन्न होती है। जगत् की दासता में आबद्ध प्राणी अपने कर्तव्य से च्युत हो जाता है। यद्यपि कर्तव्य का ज्ञान बीज रूप से उसमें विद्यमान रहता है; किन्तु जगत् की दासता कर्तव्य के ज्ञान का आदर नहीं करने देती। ऐसी भयंकर परिस्थिति में मानव को विधान की अधीनता स्वीकार करना अनिवार्य है।

विधान आरम्भ में भले ही रुचिकर न प्रतीत हो, किन्तु ज्यों-ज्यों उसमें आस्था दृढ़ होती जाती है, त्यों-त्यों अकर्तव्य का नाश और कर्तव्य की अभिव्यक्ति स्वतः होती जाती है। कर्तव्यपरायणता और विधान, इन दोनों का स्वरूप एक है। इस दृष्टि से जीवन और विधान में भेद नहीं है। जब तक जीवन और विधान में भिन्नता प्रतीत होती हो, तब तक समझना चाहिए कि कर्तव्य के साथ-साथ अकर्तव्य भी है। अकर्तव्य का सर्वांश में अभाव होते ही कर्त्ता, कर्तव्य और विधान में एकता हो जाती है। उस विधान को क्रियात्मकरूप देने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की नियमावली स्वभाव से ही मानव स्वीकार कर लेता है। बस, यही नीति है।

जो नीति जीवन और विधान की एकता में समर्थ नहीं है, वह नीति नहीं, अनीति है, उसका मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। जो विधान निज-ज्ञान से प्रकाशित नहीं है, वह विधान, 'विधान' नहीं है, अपितु किसी आसक्ति का प्रभाव है। आसक्ति के रहते हुए विधान का बोध नहीं होता। इसी कारण वीतराग होने पर ही विधान से अभिन्नता प्राप्त होती है।

नीति का क्रियात्मकरूप न्याय है। न्याय निर्दोषता का प्रतीक है। निर्दोषता के बिना जीवन की उपयोगिता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि दोष-युक्त जीवन की माँग न तो जगत् को है और न अपने को ही। कोई भी व्यक्ति सर्वांश में अपने को दोषी मानकर जीवित नहीं रहना चाहता और न कोई मानव सर्वांश में दोषी हो ही सकता है। यह नियम है कि निर्दोषता के आश्रय के बिना दोष रह नहीं पाता, कारण, कि दोष का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, अपितु गुणों के अभिमान से ही दोष पोषित होते हैं। इस दृष्टि से निर्दोषता को सुरक्षित रखना अनिवार्य है। अतः विधान-युक्त नीति का अपने पर शासन परम आवश्यक है। विधान से अनुशासित मानव को किसी अन्य शासन की अपेक्षा नहीं रहती।

अपने दोष का ज्ञान जिस ज्ञान में है, वही ज्ञान विधान का प्रतीक है। ज्ञान दोष का प्रकाशक है, नाशक नहीं। निर्दोषता की माँग दोष की नाशक है। निर्दोषता से निराश होना प्रमाद है। निर्दोषता की प्राप्ति वर्तमान की वस्तु है। उसके लिए भविष्य की आशा करना असावधानी है। दोष-

जनित सुख का राग ही दोषों की भूमि है। निर्दोषता की उत्कट लालसा दोष-जनित सुख के राग को खा लेती है। यद्यपि दोष-जनित सुख का राग मिटते ही वर्तमान निर्दोष हो जाता है, तो भी भूतकाल के दोषों की स्मृति उत्पन्न होती है। उसी के आधार पर व्यक्ति अपने को दोषी मानता है। यदि भूतकाल के दोषों को न दोहराने का दृढ़ संकल्प कर लिया जाए, तो वर्तमान की निर्दोषता का अनुभव होने लगता है। दोष को न दोहराना ही वास्तविक सर्वोत्कृष्ट न्याय है। वह न्याय प्रत्येक मानव अपने प्रति स्वाधीनता तथा सुगमतापूर्वक कर सकता है। यह नियम है कि पुनरावृत्ति न होने से जिसका नाश हो जाता है, उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता। जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, वही असत् है। असत् के संग से ही दोषों की उत्पत्ति होती है। इसी कारण असत् के त्यागमात्र से समस्त दोष सदा के लिए मिट जाते हैं। इस रहस्य को भलीभाँति जान लेने पर साधक निर्दोष होने से निराश नहीं होता। इतना ही नहीं, वह निर्दोषता को वर्तमान जीवन की वस्तु मानकर जाने हुए समस्त दोषों के परित्याग में समर्थ होता है।

न्याय की आवश्यकता निर्दोषता के लिए है, किसी के विनाश के लिए नहीं। न्याय के नाम पर किसी का विनाश करना, किसी को हानि पहुँचाना, दुःखीकर देना, पराधीन बना देना, असमर्थ बना देने का प्रयास करना और निन्दनीय मान लेना न्याय के रूप में घोर अन्याय है। इन दोषों से रहित न्याय किसी अन्य पर नहीं किया जा सकता, अपितु अपने ही पर हो सकता है। अपने पर न्याय करने की पद्धति प्रचलित हो जाने पर राष्ट्र आदि के रूप में किसी अन्य न्यायाधीश की अपेक्षा नहीं रहती। अपने पर किसी अन्य न्यायाधीश की आवश्यकता अपने प्रति न्याय न करने से होती है। कोई भी न्यायाधीश अन्य के प्रति यथेष्ट न्याय नहीं कर सकता, अर्थात् दोष के अनुरूप न्याय नहीं कर पाता। यही कारण है कि शासन-प्रणाली के द्वारा समाज में निर्दोषता की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। कितने आश्चर्य की बात है कि जिसकी माँग सभी को है, वही जीवन में नहीं है! जिसको लाने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रयोग किये जाते हैं, किन्तु सफलता नहीं होती। इस मौलिक समस्या पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि प्रत्येक

दोषी निर्दोष होने के लिए अपने द्वारा ही अपने प्रति न्याय कर सकता है।

अपने प्रति न्याय करने के लिए निज-विवेक के प्रकाश में अपनी वर्तमान वस्तुस्थिति का यथेष्ट अध्ययन करना होगा। अर्थात् हम अपनी दृष्टि में अपने को कैसा पाते हैं, इस बात को स्पष्टतः जानना होगा। अपनी दृष्टि में अपने को आदर के योग्य न पाना अपने दोष को जानना है। मानव को अपने जिस दोष का ज्ञान हो जाता है, उस दोष के मिटाने की उत्कट लालसा जाग्रत होना अनिवार्य है, तभी न्याय-युक्त जीवन हो सकता है अथवा यों कहो कि भूतकाल के दोषों को जानकर निर्दोष होने के लिए ही अपने प्रति न्याय करने की बात आती है।

न्याय-प्रियता के उदित होते ही किए हुए दोष को दोहराने की तो बात ही नहीं रहती, दोष-जनित सुख का राग मिटाने के लिए अपने-आप दुःखी होने की बात शेष रहती है। वह दुःख कितना हो, इसका ठीक-ठीक निर्णय यही है कि दुःख इतना अवश्य हो, जिससे दोष-जनित सुख का राग सदा के लिए मिट जाए। यह नियम है कि जिसके होने से व्यक्ति दुःखी हो जाता है, उसका न होना और जिसके न होने से व्याकुल हो जाता है, उसका होना स्वाभाविक है। अत: दोष के उत्पन्न होने की व्यथा और निर्दोषता-प्राप्ति की आकुलता मानव को निर्दोष बनाने में समर्थ है। किये हुए दोष के परिणाम में जब किसी अन्य के द्वारा न्याय किया जाता है, तब उतना ही दुःख नहीं दिया जाता, जितने से दोषी दोष-जनित सुख के राग से रहित हो जाए और उसके जीवन से दोष-युक्त प्रवृत्ति सदा के लिए मिट जाए। यह सभी को मान्य होगा कि दो व्यक्तियों की भी बनावट सर्वांश में एक नहीं है। इस कारण किसको कितने दण्ड से कितना दुःख होता है, इसका निर्णय कोई भी न्यायाधीश कर नहीं सकता। तो फिर किसी अन्य के द्वारा यथेष्ट न्याय सम्भव ही नहीं हो सकता और न्याय किये बिना निर्दोषता सुरक्षित नहीं रह सकती। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि प्रत्येक मानव को अपने प्रति स्वयं न्याय करना होगा।

न्याय का अर्थ किसी का विनाश करना नहीं है, अपितु किए हुए अपराध की पुन: उत्पत्ति ही न हो, यही न्याय की सफलता है। यह सफलता तभी प्राप्त होगी, जब व्यक्ति अपने पर अपना शासन करे। अपने दोष का

स्पष्ट ज्ञान उन्हीं को होता है, जो पर-दोष-दर्शन नहीं करते। इतना ही नहीं, यदि कोई स्वयं अपना दोष स्वीकार करे, तब भी वे यही कहते हैं कि 'तुम वर्तमान में तो निर्दोष ही हो। यदि भूतकाल में कोई भूल हुई है, तो उसे अब मत करना।" भूतकाल के दोषों के आधार पर वर्तमान की निर्दोषता में दोष का आरोप करना अपने प्रति अन्याय है। इसका अर्थ यह नहीं है कि भूतकाल की भूल का परिणाम परिस्थिति के रूप में अपने सामने नहीं आएगा, अवश्य आएगा। किन्तु भूतकाल के आधार पर वर्तमान की निर्दोषता में दोष का आरोप करना दोष-युक्त प्रवृत्ति को जन्म देना है। पर इस रहस्य को कोई बिरले ही विज्ञानवेत्ता जानते हैं। सर्वांश में कोई भी व्यक्ति कभी भी दोषी नहीं होता। तो फिर अपने को अथवा दूसरे को दोषी मानना क्या प्रमाद नहीं है? दोष की उत्पत्ति हुई, यह बात ठीक है, उसकी चिन्ता करना है, यह भी आवश्यक है। परन्तु आंशिक दोष के आधार पर अपने को अथवा दूसरे को सर्वांश में दोषी स्वीकार करना न्यायसंगत नहीं है। की हुई भूल की वेदना अनिवार्य है, न दोहराने का दृढ़ संकल्प भी परम आवश्यक है। वर्तमान में अपने को अथवा दूसरे को निर्दोष स्वीकार करना भी युक्तियुक्त है। यही वास्तव में न्याय है। न्याययुक्त जीवन से समाज में अपने प्रति न्याय करने की सद्भावना स्वत: जाग्रत होती है, जिसके होते ही, दोष को 'दोष' जानकर, उसे त्याग करने का सद्भाव स्वत: अभिव्यक्त होता है। किसी भय से दोष का ऊपर से त्याग भले ही हो जाए; दोष-जनित सुख का राग नाश नहीं होता। उसी का परिणाम यह होता है कि किसी को भय देकर निर्दोष नहीं बनाया जा सकता; कारण, कि भय स्वयं ही एक बड़ा दोष है।

प्राकृतिक विधान के अनुसार किये हुए का फल किसी के लिए अहितकर नहीं होता, अपितु दु:खद तथा सुखद होता है अथवा यों कहो कि व्यक्ति जो कुछ करता है, उससे सुख-दु:खयुक्त परिस्थिति उत्पन्न होती है। प्रत्येक परिस्थिति स्वभाव से ही परिवर्तनशील तथा अभावयुक्त है। जो अभावरहित तथा नित्य नहीं है, वह जीवन नहीं है। जो जीवन नहीं है, उससे न तो नित्य सम्बन्ध ही रह सकता है और न आत्मीयता ही हो सकती है। इस दृष्टि से सभी

परिस्थितियाँ ऊपरी भेद होने पर भी समान ही अर्थ रखती हैं। प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग का दायित्व मानव पर है, उसके परिवर्तन की लालसा निरर्थक है। लालसा तो वही सार्थक है, जो परिस्थितियों से अतीत के जीवन में प्रवेश करा दे और जो नित्य प्राप्त में आत्मीयता प्रदान कर, प्रियता की अभिव्यक्ति करने में समर्थ हो। परिस्थितियों से अतीत की लालसा की पूर्ति निर्दोषता में निहित है। अत: निर्दोषता को सुरक्षित रखने का दायित्व मानवमात्र पर है। दायित्व की पूर्ति और लक्ष्य की प्राप्ति युगपद है। अतः अपने प्रति न्याय करते ही निर्दोषता की अभिव्यक्ति, दायित्व की पूर्ति एवं लक्ष्य की प्राप्ति स्वतः हो जाती है।

द्वितीय प्रकरण

निज-विवेक सूर्य के समान और बल नेत्र के समान है। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से ही नेत्र यथेष्ट कार्य करता है, उसी प्रकार निज-विवेक के प्रकाश में प्राप्त बल का सद्व्यय होता है। परन्तु जब व्यक्ति बल को विवेक की अपेक्षा अधिक महत्व देने लगता है, तब बल का सदुपयोग नहीं हो पाता। उसका बड़ा ही भयंकर परिणाम यह होता है कि संघर्ष का जन्म हो जाता है। जो बल परस्पर में एकता के लिए मिला था, वह बल एक दूसरे के विनाश का हेतु बन जाता है। यद्यपि किसी को अपना विनाश अभीष्ट नहीं है, परन्तु फिर भी विवेक के अनादर तथा बल के अभिमान में आबद्ध होकर व्यक्ति विवेक-विरोधी कर्म करने लगता है।

विवेक-विरोधी कर्म के कारण व्यक्ति कर्तव्य से विमुख हो जाता है। कर्तव्य से विमुख होते ही जीवन में अधिकार-लालसा और दूसरों के कर्तव्य की स्मृति उत्पन्न होती है, अर्थात् जीवन में पराधीनता आ जाती है। पराधीनता के आते ही जड़ता तथा अभाव में आबद्ध हो जाना अनिवार्य है। इस दृष्टि से कर्तव्य की विस्मृति में ही समस्त संघर्ष निहित हैं।

मानव-जीवन में विवेक-विरोधी कर्म का कोई स्थान ही नहीं है; क्योंकि वह अपना जाना हुआ असत् है। अपने जाने हुए असत् के त्याग में

ही अकर्तव्य का नाश है। यह नियम है कि अकर्तव्य का नाश होते ही कर्तव्य-परायणता अपने-आप आ जाती है, जिसके आते ही संघर्ष सदा के लिए मिट जाते हैं और अनेक बाह्य भेद होने पर भी आन्तरिक एकता प्राप्त होती है। एकता में ही शान्ति, सामर्थ्य तथा स्वाधीनता निहित है। इस दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति, वर्ग, समाज तथा देश को आन्तरिक एकता प्राप्त करना अनिवार्य है।

आन्तरिक एकता के बिना बाह्य एकता कुछ अर्थ नहीं रखती। यदि बाह्य एकता का कोई विशेष मूल्य होता, तो एक ही मत, सम्प्रदाय और देश में परस्पर संघर्ष न होता। इतना ही नहीं, देखने में तो यहाँ तक आता है कि सहोदर भाई-बहिन, पति-पत्नी, पिता-पुत्र आदि में भी संघर्ष है। तो फिर किसी बाह्य एकता के आधार पर विश्व में संघर्ष नहीं होगा, ऐसी मान्यता केवल कल्पनामात्र प्रतीत होती है, वास्तविक नहीं।

संघर्ष का मूल आन्तरिक भिन्नता है, बाह्य नहीं। अब यह विचार करना होगा कि आन्तरिक भिन्नता क्या है? तो कहना होगा कि बाह्य भेदों के आधार पर प्रीति का भेद स्वीकार करना। जब तक अनेक भेद होने पर भी प्रीति की एकता को नहीं अपनाया जाएगा, तब तक आन्तरिक एकता सिद्ध न होगी और उसके बिना संघर्ष का अन्त सम्भव नहीं है।

प्रत्येक साधन-प्रणाली के मूल में दार्शनिक दृष्टिकोण होता है। प्रीति की एकता भी एक साधन-प्रणाली है। इसके मूल में दार्शनिक तत्व क्या है? समस्त विश्व एक हैं। उसमें स्वरूप की भिन्नता नहीं है; कारण, कि सारी सृष्टि एक ही धातु से निर्मित है। परन्तु इन्द्रिय-ज्ञान से उस एकता में अनेक प्रकार की भिन्नता का दर्शन होता है। जिस प्रकार किसी भी जल-कण को सागर से भिन्न नहीं कर सकते, अर्थात् प्रत्येक जल-कण जल-रूप ही है, उसी प्रकार किसी भी वस्तु तथा व्यक्ति को विश्व से विभक्त नहीं कर सकते। विश्व की दृष्टि से समस्त प्राणि-मात्र एक हैं। एक शरीर में भी प्रत्येक अवयव की आकृति तथा कर्म अलग-अलग हैं, किन्तु फिर भी शरीर के प्रत्येक अवयव में प्रीति की एकता है। कर्म में भिन्नता होने से प्रीति का भेद नहीं होता। इसके मूल में कारण

यही है कि समस्त शरीर एक है। इस बात में किसी का विरोध नहीं है। उसी प्रकार यदि विश्व की एकता में आस्था कर ली जाए, तो भाषा, मत, कर्म, विचार-धारा, पद्धति, आकृति, रहन-सहन आदि में भिन्न-भिन्न प्रकार का भेद होने पर भी प्रीति की एकता सुरक्षित रह सकती है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार तो भिन्नता एकता-सम्पादन के लिए साधनरूप है, परन्तु व्यक्तित्व के मोह तथा अपनी-अपनी मान्यता की आसक्ति के कारण जो भिन्नता एकता-सम्पादन के लिए मिली थी, वह आज संघर्ष का कारण बन गई है। ऐसी भयंकर परिस्थिति में मानव-समाज को इन्द्रिय-ज्ञान से प्रतीत होने वाली भिन्नता में एकता का दर्शन बुद्धि-दृष्टि से विवेक के प्रकाश में करना अनिवार्य है।

अनेकता में एकता का दर्शन करते ही उन सभी प्रवृत्तियों का स्वत: अन्त हो जाएगा, जिनसे निर्बलों के अधिकारों का अपहरण होता है। यह नियम है कि जो नहीं करना चाहिए, उसके न करने पर वह स्वतः होने लगता है, जो करना चाहिए। जिसके द्वारा किसी के अधिकार का अपहरण नहीं होता, उसके द्वारा दूसरों के अधिकार की रक्षा स्वत: होने लगती है। गतिशील जीवन में अवन्नती का निरोध होते ही उन्नति स्वत: होती है। उसी विकास का ह्रास होता है, जिसकी उत्पत्ति में किसी का विनाश निहित है।

किसी की अवन्नती के द्वारा प्राप्त की हुई उन्नति अवन्नती ही है। आरम्भ में भले ही ऐसा प्रतीत होता है कि किसी की हानि में किसी का लाभ है, पर परिणाम में तो यही सिद्ध होगा कि किसी की हानि से उत्पन्न हुआ लाभ एक बड़ी हानि की तैयारी है। इसी भूल से दो देशों में, दो वगों में, दो व्यक्तियों में, दो मतों, सम्प्रदायों एवं विचार-धाराओं में परस्पर संघर्ष होता रहता है। यद्यपि सभी की माँग उन्नति की है, किन्तु उन्नति के नाम पर प्रीति के स्थान पर संघर्ष को जन्म देते हैं। जिस बल का उपयोग निर्बलों के विनाश में किया जाता है, यदि उसी बल का उपयोग निर्बलों के विकास में किया जाए, तो क्या उन्नति न होगी? अवश्य होगी। परन्तु बल के अभिमानी बल का सदुपयोग न करके उसका दुरुपयोग कर बैठते हैं।

बल का दुरुपयोग करते ही विरोधी शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है। उसका परिणाम यह होता है कि जो अपने को सबल मानता था, वही निर्बल हो जाता है और फिर उसके प्रति वही होने लगता है, जो उसने अन्य के प्रति किया था। इस प्रकार परस्पर में उन्नति के नाम पर संघर्ष होते रहते हैं, जो वास्तव में अवन्नती के हेतु हैं।

जब समस्त विश्व एक दृश्य है, तो जिस ज्ञान से सृष्टि की प्रतीति होती है, वह ज्ञान भी एक है। यदि ऐसा न होता तो, न तो विश्व की एकता सिद्ध होती और न उसके द्रष्टा की, और न यह सिद्ध होता कि सर्व का ज्ञाता एक है। सर्व के ज्ञान ने अपने ज्ञाता को नहीं जाना, अपितु समस्त विश्व को अपने ही ज्ञान से प्रकाशित किया और अपने ही किसी एक अंश में संमस्त सृष्टि को स्थान देकर भिन्न-भिन्न प्रकार की रचना की। रचना के आधार पर विज्ञान-वेत्ताओं ने सृष्टि के उपयोग की अनेक पद्धतियाँ निर्मित कीं और उनका आश्रय लेकर भिन्न-भिन्न प्रकार के भोगों का सम्पादन किया; किन्तु वे भोग के भयंकर परिणाम से अपने को न बचा सके। ज्यों-ज्यों भोग-सामग्री का सम्पादन करते रहे, त्यों-त्यों भोग की रुचि सबल तथा स्थाई होती रही और ज्यों-ज्यों भोग की रुचि सबल होती गई त्यों-त्यों दीनता, अभिमान, पराधीनता आदि दुर्बलताएँ भी बढ़ती गई। उन दुर्बलताओं की व्यथा से व्यथित होने पर अनन्त के मंगलमय विधान से जो प्रकाश मिला, उससे विश्व के प्रकाशक की ओर दृष्टि गई। उधर जाते ही वह प्रकाशक की प्रीति हो गई। उसी की अभिव्यक्ति जब बाह्य जीवन पर हुई, तब अनेक भेद होने पर भी प्रीति की एकता स्वत: परस्पर में रस प्रदान करने लगी, जिसको पाकर भोग की रुचि का नाश हो गया और फिर प्रीति और प्रीतम से भिन्न की सत्ता ही न रही।

उस प्रीतम ने अपने को छिपाया, किन्तु अपने मंगलमय विधान से मानव को विवेक प्रदान किया, जिसके प्रकाश में बुद्धि-दृष्टि तथा इन्द्रिय-दृष्टि कार्य करती हैं। निज-विवेक मंगलमय विधान का प्रतीक है। जो मानव मिले हुए बल का विवेक के प्रकाश में उपयोग करते हैं, उन्हें कर्तव्यपरायणता प्राप्त होती है और उनका जीवन जगत् के लिए उपयोगी

सिद्ध होता है। इस दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट नीति वही है, जिससे व्यक्ति का जीवन समाज के लिए उपयोगी सिद्ध हो। जिसका जीवन जगत् के लिए उपयोगी सिद्ध होता है, उसका जीवन अपने लिए तथा अनन्त के लिए भी उपयोगी सिद्ध होता है। जब तक मानव विश्व से प्राप्त वस्तु को व्यक्तिगत मानता है, तब तक उसका जीवन जगत् के लिए उपयोगी सिद्ध नहीं होता; क्योंकि प्राप्त वस्तुओं की ममता उसकी उदारता को आच्छादित कर, उस बेचारे को लोभ, मोह आदि विकारों में आबद्ध कर देती है। उसका परिणाम यह होता है कि वह अप्राप्त वस्तुओं की कामनाओं में उलझ जाता है, जिससे प्रत्येक कार्य के अन्त में अपने आप आने वाली शान्ति भंग हो जाती है। शान्ति के भंग होने से आवश्यक सामर्थ्य का सम्पादन नहीं हो पाता, अर्थात् असमर्थता आ जाती है। जिसके आते ही जो करना चाहिए, वह कर नहीं पाता और जो नहीं करना चाहिए, उसे कर बैठता है, जिसमें प्रीति होनी चाहिए, उसमे प्रीति नहीं होती और आसक्ति नहीं रहनी चाहिए, उसमें आसक्ति हो जाती है। इतना ही नहीं, प्राकृतिक विधान के अनुसार जो स्वत: हो रहा है, उससे वह असहयोग नहीं कर पाता, जिसके किए बिना जो नित्य प्राप्त है, उसमें प्रीति नहीं होती। अथवा यों कहो की उससे योग नहीं होता अथवा उसका बोध नहीं होता,जिससे सब कुछ प्रकाशित है।

जो हो रहा है, उसे कोई रोक नहीं पाता, उसके न होने की बात सोचता भले ही रहे। असहयोग के बिना अनुकूलता की दासता और प्रतिकूलता का भय नाश नहीं होता और उसका बोध भी नहीं होता, जिसकी सत्ता से सब कुछ हो रहा है।

असहयोग का अर्थ द्वेष तथा घृणा नहीं है। जिससे अपना कोई प्रयोजन नहीं है, उससे विमुख होना ही असहयोग है। अपना प्रयोजन किससे नहीं है? जिससे जीवन उपयोगी सिद्ध न हो। जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, उसके सहयोग से जीवन उपयोगी सिद्ध नहीं होता। स्वतन्त्र अस्तित्व किसका नहीं है? जो हो-होकर मिट रहा है। यही 'हो रहा है' का अर्थ है।

विश्व की वस्तु को व्यक्तिगत मान लेना विवेक-विरोधी मान्यता है। इस मान्यता से न तो अपना ही विकास होता है और न सुन्दर समाज का

निर्माण ही। इस विवेक-विरोधी मान्यता का मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। इस मान्यता का अन्त होते ही व्यक्ति समाज के अधिकार का पुज रह जाता है और समाज व्यक्ति की सेवा का क्षेत्र बन जाता है। सेवा, व्यक्ति और समाज में वास्तविक एकता स्थापित करने में समर्थ है। सेवा का मूल मन्त्र है-उदारता, जो करुणा और प्रसन्नता के स्वरूप में प्रकट होकर व्यक्ति और समाज में अनुपम अभिन्नता उत्पन्न कर देती है। समाज उदार व्यक्तियों के बिना कभी अपने को सुन्दर नहीं पाता। सुन्दर समाज को राष्ट्र की आवश्यकता नहीं होती। मिले हुए बल के दुरुपयोग से ही राष्ट्र की आवश्यकता का अनुभव हुआ है। बल का दुरुपयोग विवेक के अनादर में निहित है। अत: विवेकपूर्वक बल का सदुपयोग करने मात्र से ही संघर्ष का अन्त हो सकता है। इस दृष्टि से बल की अपेक्षा विवेक को अधिक महत्त्व देना अनिवार्य है। बल का उपयोग अपने अथवा दूसरों के संकल्प की पूर्ति में ही होता है। अपने संकल्प की पूर्ति का सुख नवीन संकल्प को जन्म देता है और दूसरों के संकल्प की पूर्ति करने के राग' की निवृत्ति में हेतु है। जिसे संकल्प-पूर्ति में जीवन-बुद्धि अनुभव नहीं होती, उसे किसी भी बल की अपेक्षा नहीं रहती। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह निर्बल हो जाता है, अपितु उसका प्रवेश बल से अतीत के जीवन में हो जाता है। बल का सदुपयोग एकमात्र निर्बलों की सेवा में ही है, भोग में नहीं।

सेवा भोग की रुचि को खा जाती है और सेवक के आवश्यक संकल्प उसके निर्विकल्प होने पर भी स्वतः पूरे हो जाते हैं, क्योंकि उसका अपना कोई संकल्प नहीं है। जिसका अपना कोई संकल्प है, वह सेवा नहीं कर सकता। यदि कोई यह कहे कि बल का उपयोग अपनी रक्षा में है। तो यह बात भी विवेक-विरोधी है; कारण, कि बल के द्वारा उससे अपनी रक्षा नहीं हो सकती, जिसमें समान बल है अथवा अधिक बल है। अत: यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि बल की अपेक्षा न अपनी रक्षा में है और न अपने विकास में। बलपूर्वक किया हुआ भोग ह्रास का हेतु है, विकास का नहीं। बल का सदुपयोग एकमात्र निर्बलों की आदर पूर्वक सेवा में ही है

और बल का सम्पादन भी बल के सदुपयोग में ही निहित है। बल का सदुपयोग तभी सम्भव होगा, जब मानव यह स्वीकार करे कि मिला हुआ बल निर्बल की धरोहर मात्र है, अपना नहीं है; क्योंकि अपने लिए बल की अपेक्षा ही नहीं है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार बल का अत्यन्त अभाव किसी भी व्यक्ति के जीवन में नहीं है, अर्थात् कुछ-न-कुछ बल सभी को मिला है। यदि ऐसा न होता, तो जीवन में कुछ भी करने का प्रश्न ही उत्पन्न न होता। जब मानव कुछ कर सकता है, तभी करने का प्रश्न उत्पन्न हुआ है। मिले हुए बल का भोग में व्यय करने से बल का ह्रास और परिणाम में अभाव, सेवा में व्यय करने से आवश्यक बल की अभिव्यक्ति और परिणाम में चिर-विश्राम है। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि मिला हुआ बल सेवा के लिए है, अपने लिए नहीं। अपने लिए तो एकमात्र चिर-विश्राम ही अपेक्षित है। चिर-विश्राम के सम्पादन के लिए ही सब कुछ करने का प्रश्न है और यही अपने पर दायित्व है। विश्राम का अपहरण किसी अन्य के द्वारा नहीं होता, अपितु अपने ही प्रमाद से होता है। बेचारा बल का अभिमानी विर-विश्राम नहीं पाता। चिर-विश्राम उसी को मिलता है, जिसके जीवन में प्राप्त बल का दुरुपयोग और अप्राप्त बल की कामना नहीं है।

आज मिले हुए बल के दुरुपयोग तथा अप्राप्त बल की कामना ने मानव को 'मानव नहीं रहने दिया, अर्थात् उसे विद्यमान मानवता से विमुख कर दिया है। बल का दुरुपयोग रोकने के लिए राष्ट्र, मत, सम्प्रदाय आदि का प्रादुर्भाव हुआ। किन्तु अपने पर अपने विवेक का शासन न रहने से कोई भी पद्धति सर्वांश में सफल न हुई। ऐसी दशा में यह अनिवार्य हो जाता है कि प्रत्येक मानव को निज-विवेक के प्रकाश में ही मिले हुए बल का सदुपयोग करना है, अर्थात् अपने प्रति स्वयं को ही न्याय करना परम आवश्यक है। इसके बिना न तो बल का सदुपयोग ही हो कता है और न वर्तमान निर्दोषता ही सुरक्षित रह सकती है। इतना ही नहीं किए हुए बल के दुरुपयोग का प्रभाव भी नहीं मिट सकता, जिसके बिना मिटे व्यर्थ-चिन्तन का नाश नहीं होता, उसके हुए

बिना निश्चिन्तता तथा निर्भयता की अभिव्यक्ति नहीं होती। निश्चिन्तता के बिना चिर-विश्राम कहाँ? और चिर-विश्राम के बिना वास्तविक जीवन में प्रवेश ही नहीं हो सकता। निर्भयता के बिना कर्तव्य को 'कर्तव्य' जानकर उसका पता। किसी भय से बुराई न करने पर भी बुराई का नाश नहीं होता, क्योंकि बुराई-जनित सुख का राग अंकित रहता है। किसी प्रलोभन से प्रेरित होकर किया हुआ कर्तव्य-कर्म चिर-विश्राम न देकर कर्तृत्व के अभिमान तथा फलासक्ति में ही आबद्ध करता है। अतः अकर्तव्य को 'अकर्तव्य' और कर्तव्य को 'कर्तव्य' जानकर ही मानव कर्तव्य-परायण होकर चिर-विश्राम पाता है।

चिर-विश्राम में ही मानव के उद्देश्य की पूर्ति निहित है; कारण, कि विश्राम प्राप्त होने पर वास्तविक जीवन से अभिन्नता स्वतः हो जाती है। पर यह तभी सम्भव होगा, जब मानव निज-विवेक के प्रकाश में ही मिले हुए बल का सदुपयोग करने की नीति को अपनाए। अतएव समस्त अभावों का अभाव एवं संघर्ष का अन्त करने के लिए बल की अपेक्षा विवेक को अधिक महत्व देना अनिवार्य है।

तृतीय प्रकरण

न्याय की सफलता निर्दोषता की अभिव्यक्ति में है और जिस पद्धति द्वारा ऐसे न्याय को चरितार्थ किया जाता है, वही सुन्दर नीति है। वह न्याय, न्याय ही नहीं है, जो अपराधी को निरपराध बनाने में समर्थ न हो। न्याय से किसी का ह्रास नहीं होता, अपितु विकास ही होता है। न्याय भिन्नता को अभिन्नता में परिवर्तित कर पूर्ण होता है, अर्थात् न्याय दो को एक करता है, तभी न्याययुक्त जीवन से शान्ति की स्थापना होती है। इस दृष्टि से न्याय मानव-जीवन का मुख्य अंग है।

न्याययुक्त प्राणियों से किसी के अधिकार का अपहरण नहीं होता, क्योंकि न्याय कर्तव्य की प्रेरणा देता है। कर्तव्य का फल विद्यमान राग की निवृत्ति है, किसी अन्य वस्तु की प्राप्ति नहीं। कर्तव्यनिष्ठ प्राणी के जीवन में कर्तव्य का ही महत्व है। यह नियम है कि विद्यमान राग-निवृत्ति के बिना न्याय को प्रेम में परिणत करने की

सामर्थ्य ही नहीं आती। जो न्याय प्रेम में विलीन नहीं होता, वह भेद का अन्त करने में समर्थ नहीं है। भेद का अन्त हुए बिना न तो संघर्ष का ही नाश होता है और न शान्ति की स्थापना ही होती है। शान्ति के बिना सामर्थ्य की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है और सामर्थ्य के बिना स्वाधीनता सुरक्षित नहीं रहती, जो सभी को अभीष्ट है।

पारस्परिक भिन्नता ही परस्पर में वैमनस्य और संघर्ष को जन्म देती है। भिन्नता का एकमात्र कारण अपने अधिकार और दूसरे के कर्तव्य पर दृष्टि रखना है। यद्यपि किसी का अधिकार ही किसी का कर्तव्य है, परन्तु अपने अधिकार को सुरक्षित रखने में स्वाधीनता नहीं है, अपितु अस्वाधीनता है दूसरों का अधिकार सुरक्षित रखने में। स्वाधीनता-सम्पादन का साधन भी स्वाधीन है। इस कारण अपने अधिकार पर दृष्टि रखना भूल है। वास्तव में तो अधिकार कर्तव्य का दास है। कर्तव्यनिष्ठ प्राणी की दृष्टि अपने अधिकार पर नहीं रहती, अपितु दूसरों के अधिकार पर रहती है। अधिकार की स्मृति कर्तव्य की विस्मृति में हेतु है। कर्तव्य की विस्मृति ही अकर्तव्य को जन्म देती है, जिसका मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। अधिकार की पूर्ति में नवीन राग और अपूर्ति में क्षोभ तथा क्रोध की उत्पत्ति होती है, जिसके उत्पन्न होते ही उद्देश्य की विस्मृति अपने आप हो जाती है। उद्देश्य को भूलते ही कर्तव्य का ज्ञान आच्छादित हो जाता है। इस दृष्टि से अधिकार लालसा ह्रास का मूल है।

अधिकार-लालसा का अन्त होते ही राग तथा क्रोध का नाश हो जाता है। क्रोध-रहित होते ही क्षमाशीलता, उदारता, स्नेह, निर्वैरता आदि दिव्य-गुणों की अभिव्यक्ति स्वतः होती है और राग-रहित होते ही स्वाधीनता अपने आप आ जाती है, जिसके आते ही अनुकूलता की दासता तथा प्रतिकूलता का भय अपने आप मिट जाता है और पक्षपात की गन्ध भी नहीं रहती। उसके न रहने से वाणी में सत्यता आ जाती है। उसका निर्णय सभी के लिए सदा हितकर सिद्ध होता है, जो वास्तविक न्याय है। अधिकार-लालसा में आबद्ध प्राणी कभी न्यायाधीश नहीं हो सकता। यही कारण है कि परस्पर समझौता होने पर भी एकता नहीं होती। संघर्ष कुछ काल के लिए दब भले ही जाए, उसका

नाश नहीं होता। दबा हुआ संघर्ष अनेक रूप धारण कर प्रकट होता रहता है। जिस प्रकार किसी वृक्ष का मूल तथा बीज बने रहने पर वृक्ष बार-बार उगता ही रहता है, उसी प्रकार अधिकार-लालसा रहते हुए संघर्ष की उत्पत्ति होती ही रहती है।

अधिकार-लालसा का नाश होने पर अपना अस्तित्व ही न रहेगा, उद्देश्य की पूर्ति ही न होगी, निर्वाह होना भी दुर्लभ हो जाएगा, अथवा निर्वाह नहीं होगा-ये सभी बातें निर्मूल हैं। अधिकार का त्याग असंगता और अभिन्नता प्रदान करता है। असंगता दिव्य-जीवन से और अभिन्नता परम प्रेम से अभिन्न कर देती है, जो मानवमात्र की माँग है। इतना ही नहीं, अधिकार का त्याग विपक्षी में कर्तव्य की भावना जाग्रत करता है। यह नियम है कि भाव-शुद्धि में ही कर्म की शुद्धि निहित है। कर्म सीमित और भाव असीम है। भाव के अनुरूप कर्म भाव में संजीवता लाता है और शुद्ध भावना कर्म को शुद्ध बनाती है। अधिकार के त्याग से ही परस्पर एकता और समाज में कर्तव्यपरायणता का प्रादुर्भाव होता है। इस दृष्टि से अधिकार-त्याग ही सुन्दर समाज के निर्माण में हेतु है।

अधिकार-लालसा से रहित प्राणी को किसी भी परिस्थिति में किसी से भी भय नहीं होता और न उससे किसी को भय होता है। भय का आदान-प्रदान अधिकार-लोलुप प्राणियों में ही होता है। भय-युक्त जीवन किसी को प्रिय नहीं है। प्राकृतिक विधान के अनुसार अधिकार-रहित प्राणियों की रक्षा स्वतः होती है और अधिकार-अपहरण करने वालों का नाश अवश्यम्भावी है। इस मंगलमय विधान का आदर करने पर दूसरों के अधिकार की रक्षा और अपने अधिकार के त्याग की अभिरुचि स्वत: जाग्रत होती है, जो विकास का मूल है। इस दृष्टि से अधिकार की अपेक्षा कर्तव्य को ही महत्व देना है अथवा यों कहो कि कर्तव्य में ही अपना अधिकार है। अधिकार-लालसा से युक्त कर्तव्य केवल व्यापार मात्र है अथवा यों कहो कि पशुता है। अधिकार-शून्य कर्तव्य ही कर्तव्य है। जो मानव अधिकार त्याग कर कर्तव्य का पालन करते हैं, वे न्याय को प्रेम में विलीन कर सर्वोत्कृष्ट उद्देश्य को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं, यह निर्विवाद सत्य है।

चतुर्थ प्रकरण

अपने को अथवा दूसरों को बुरा समझने का एकमात्र कारण भूतकाल की घटनाओं के आधार पर वर्तमान की निर्दोषता को आच्छादित कर देना है। क्योंकि कोई भी व्यक्ति सर्वांश में कभी भी बुरा नहीं होता और न सभी के लिए बुरा होता है। बुराई उत्पत्ति-विनाश-युक्त है, नित्य नहीं। जो नित्य नहीं है, उससे नित्य सम्बन्ध सम्भव नहीं है। ऐसी दशा में अपने को अथवा दूसरों को सदा के लिए बुरा मान लेना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

वर्तमान सभी का निर्दोष है, यह सभी का अनुभव है। जब हम अपने किसी भी दोष की चर्चा करते हैं, तब यह मानना ही पड़ता है कि वह दोष भूतकाल का है। वर्तमान में तो किए हुए दोष की स्मृति संघर्ष का नाश ही। वैर-भाव के समान और कोई अपना वैरी नहीं है, जिसकी उत्पत्ति दूसरों को बुरा समझने से होती है। अतः किसी को बुरा समझना अपना बुरा करना है। यदि मानव निर्दोष होना चाहता है, तो उसे अपने को और दूसरों को वर्तमान में निर्दोष मानना ही पड़ेगा; क्योंकि यह विवेक-सिद्ध है।

भूतकाल के दोषों की स्मृति ने ही वर्तमान की निर्दोषता को ढक दिया है। यदि भूतकाल की स्मृति के आधार पर किए हुए दोष को न दोहराने का महाव्रत ले लिया जाए, तो स्मृति से असहयोग करने की सामर्थ्य आ जाती है और अपने में से अपराधी-भाव का विनाश हो जाता है, जिसके होते ही वर्तमान की निर्दोषता का स्पष्ट बोध हो जाता है और फिर उसका प्रभाव शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि पर स्वतः होने लगता है। इतना ही नहीं, उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति निर्दोषता से युक्त होने लगती है, जिससे समाज में निर्दोषता विभु हो जाती है। उसके न चाहने पर भी उसे आदर तथा प्यार मिलने लगता है, क्योंकि निर्दोषता की माँग मानवमात्र को है। उसका जीवन दोष-युक्त प्राणियों को निर्दोष बनाने में पथ-प्रदर्शन करता है।

अपनी निर्दोषता को सुरक्षित रखने के लिए दूसरों को दोषी न

मानना अनिवार्य है। प्राकृतिक नियम के अनुसार किसी को बुरा समझना सबसे बड़ी बुराई है; क्योंकि किसी को बुरा समझने का परिणाम उसकी वर्तमान निर्दोषता में बुराई की दृढ़ स्थापना करना है। किसी को बुरा मानना बुराई को व्यापक कर देना है। की हुई बुराई सीमित है, असीम नहीं। किन्तु किसी को बुरा मानकर तो बुराई की उत्तरोत्तर वृद्धि ही करना है। किसी का बुरा चाहना बुराई करने की अपेक्षा कहीं अधिक बुराई है, और किसी को बुरा समझना बुरा चाहने की अपेक्षा भी कहीं अधिक बुराई है। इस कारण किसी को बुरा समझने के समान और कोई बुराई हो ही नहीं सकती। जो किसी को बुरा समझता है, उसके जीवन में से अशुद्ध संकल्पों का नाश ही नहीं होता। अशुद्ध संकल्पों की उत्पत्ति अशुद्ध कर्म को जन्म देती है। अतः दूसरे को बुरा समझकर कोई भी व्यक्ति अशुद्ध कर्म से बच नहीं सकता। इस दृष्टि से दूसरों को बुरा समझना अपने को बुरा बनाने में मुख्य हेतु है। किसी को बुरा समझने का किसी भी मानव को कोई अधिकार नहीं है। इतना ही नहीं, यहाँ तक कि कोई स्वयं ही अपनी बुराई स्वीकार करे, तब भी उससे उसकी वर्तमान निर्दोषता की चर्चा करते हुए उसे यह विश्वास दिलाना चाहिए कि वर्तमान सभी का निर्दोष है। हाँ, यह अवश्य है कि वर्तमान की निर्दोषता को सुरक्षित रखने के लिए किये हुए दोषों का त्याग अनिवार्य है।

जब मानव अपनी और दूसरों की वर्तमान निर्दोषता को स्वीकार कर लेता है, तब उसे भूतकाल में किये हुए दोषों को त्याग करने में बड़ी ही सुगमता हो जाती है। यह नियम है कि जिसमें से अपराधी भाव का अन्त हो जाता है, उसमें निर्दोषता की अभिव्यक्ति स्वत: होने लगती है। अर्थात् निर्दोषता का प्रभाव उसके शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि पर होने लगता है और फिर उसके दैनिक जीवन से समाज में निर्दोषता फैलने लगती है। निर्दोषता की स्वीकृति में ही निर्दोषता की व्यापकता विद्यमान है। इस रहस्य को जान लेने पर मानवमात्र बड़ी ही सुगमता पूर्वक निर्दोषता से अभिन्न हो सकता है।

अब यदि कोई यह कहे कि अपने को निर्दोष मानने से तो मिथ्या अभिमान की उत्पत्ति होगी, जो स्वयं बहुत बड़ा दोष है। पर बात ऐसी नहीं

है। अभिमान की उत्पत्ति तो तब होगी, जब अपने को निर्दोष और दूसरों को दोषी मानें। जिसने सभी की निर्दोषता स्वीकार की है, उसमें समता की अभिव्यक्ति होगी, अभिमान की नहीं। समता योग है, अभिमान भोग है। यह सभी को मान्य होगा कि भोग की सिद्धि विषमता में है, समता में नहीं। अपने को दोषी और दूसरों को निर्दोष तथा दूसरों को दोषी और अपने को निर्दोष मानना विषमता है। विषमता का नाश सभी में निर्दोषता की स्थापना करते ही स्वत: हो जाता है। विषमता के नष्ट होते ही भोग 'योग' में विलीन हो जाता है। योग सामर्थ्य का प्रतीक है। सामर्थ्य के आते ही जो नहीं करना चाहिए, उसकी उत्पत्ति ही नहीं होती और जो करना चाहिए, वह स्वत: होने लगता है अथवा यों कहो कि दोष की उत्पत्ति ही नहीं होती और निर्दोषता जीवन में ओत-प्रोत होकर अपने आपको स्वयं प्रकाशित करने लगती है। निर्दोषता की माँग जीवन की माँग है। इस माँग को किसी भी प्रकार मिटाया नहीं जा सकता। जिसको मिटाया नहीं जा सकता, उसकी पूर्ति अनिवार्य है। भूतकाल के किए हुए दोषों के आधार पर वर्तमान की निर्दोषता को अस्वीकार करना दोषों को जन्म देना है और वर्तमान की निर्दोषता को स्वीकार करना दोषों के अस्तित्व को ही समाप्त कर देना है।

वर्तमान की निर्दोषता को स्वीकार किए बिना किसी के जीवन में निर्दोषता की अभिव्यक्ति हो ही नहीं सकती। यह सभी का अनुभव है कि सर्वांश में तो कोई अपने को दोषी मानता ही नहीं। गुण और दोष-युक्त स्वीकृति सभी में स्वभाव से ही होती है। दोष की स्वीकृति भूतकाल की घटनाओं के आधार पर और गुणों की स्वीकृति स्वभाव-सिद्ध होती है। यदि मानव अपने में से किए हुए दोषों के त्याग का महाव्रत लेकर केवल स्वभाव-सिद्ध निर्दोषता को स्वीकार करे, तो गुण-दोष-युक्त द्वंद्वात्मक स्थिति का नाश हो जाता है, जिसके होते ही अहम्-भाव रूपी अणु सदा के लिए मिट जाता है और फिर एकमात्र निर्दोषता ही निर्दोषता रह जाती है, जो पहले भी थी, अब भी है और सदैव रहेगी ही।

जो नष्ट होती है, वह निर्दोषता नहीं है। जो सदैव रहती है, वही निर्दोषता है। दोषों की उत्पत्ति होती है। निर्दोषता अनुत्पन्न है। देहाभिमान के

कारण अनुत्पन्न निर्दोषता पर व्यक्ति दोषों का आरोप कर बैठता है। देहाभिमान अविवेक-सिद्ध है, वास्तविक नहीं। निर्दोषता की माँग कामनाओं को खाकर स्वतः देहाभिमान को नष्ट कर देती है। इस दृष्टि से निर्दोषता की माँग में ही निर्दोषता की प्राप्ति निहित है।

देहाभिमान के कारण किए हुए दोषों के आधार पर नित्य-प्राप्त निर्दोषता से दूरी तथा भेद स्वीकार कर, बेचारा व्यक्ति अपने को दोषी मान लेता है। उसका परिणाम यह होता है कि निर्दोष काल में भी भूतकाल के दोषों की स्मृति से भयभीत होकर अपने को दोषी मान लेता है और निर्दोष होने की लालसा को पूरा करने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रयास करता है। किन्तु अपने को दोषी मानने के कारण उसके प्रयास निषफल होते हैं। अपने को दोषी मान लेने पर दोषयुक्त प्रवृत्ति में स्वाभाविकता और निर्दोषता में अस्वाभाविकता मानने लगता है। परन्तु जब निज-विवेक के प्रकाश में वर्तमान वस्तुस्थिति का अध्ययन करता है, तब उसे यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि जिन दोषों की स्मृति आ रही है, वे भूतकाल में किए थे।

यह सभी का अनुभव है कि अपराध करने पर जब उसे भय होता है, तब उसमें स्वभाव से ही यह संकल्प उत्पन्न होता है कि 'अब मैं भूल नहीं करूंगा'। इस स्वाभाविक प्रेरणा से यह सिद्ध हो जाता है कि अपराध करने से पूर्व व्यक्ति निरपराध था और अब भी निरपराध रहना चाहता है। आदि और अन्त में निर्दोषता ही निर्दोषता है। मध्य में उत्पन्न किये दोषों के आधार पर आदि और अन्त में सदैव रहने वाली निर्दोषता मिट नहीं सकती। यदि किसी प्रकार निर्दोषता मिट जाती, तो जीवन में उसकी माँग ही न होती। किन्तु निर्दोषता की माँग मानव-मात्र के जीवन में रहती है।

अब यदि कोई यह कहे कि निर्दोषता तो थी ही, तो फिर दोषों की उत्पत्ति ही क्यों हुई? इस समस्या पर विचार करने से ऐसा विदित होता है कि समस्त दोषों की उत्पत्ति का कारण विवेक-विरोधी कर्म, सम्बन्ध तथा विश्वास को अपनाना है, जो वास्तव में जाने हुए असत् का संग है। असत् के संग से ही अकर्तव्य की उत्पत्ति होती है, किन्तु प्राकृतिक विधान के अनुसार

अकर्तव्य के अन्त में स्वभाव से ही कर्तव्य की माँग जाग्रत होती है। इससे यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि व्यक्ति ने जाने हुए असत् को अपनाकर अकर्तव्य को जन्म दिया है। यदि जाने हुए असत् का त्याग कर दिया जाय, तो सदा के लिए अकर्तव्य का नाश अपने आप हो जाता है। अकर्तव्य का नाश हो जाने पर ही उसके कारण का यथेष्ट ज्ञान होता है। अकर्तव्य के रहते हुए उसके कारण का ज्ञान सम्भव नहीं है।

जाने हुए असत् का त्याग करने पर सत् का संग स्वत: हो जाता है, जिसके होते ही निर्दोषता समस्त दोषों को खाकर स्वयं प्रकट होती है। इस दृष्टि से असत् के त्याग और सत् के संग में ही निर्दोषता की अभिव्यक्ति निहित है। अभिव्यक्ति उसी की होती है, जो स्वरूप से सर्वदा विद्यमान है और निवृत्ति उसकी होती है, जिसका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। यदि दोषों का स्वतंत्र अस्तित्व होता, तो वे कभी नष्ट नहीं होते और निर्दोषता का यदि स्वतंत्र अस्तित्व न होता, तो उसकी माँग ही न होती। दोषों को मिटाने की और निर्दोषता को सुरक्षित रखने की आवश्यकता सभी अनुभव करते हैं।

अब यदि कोई यह प्रश्न करे कि जब असत् के संग से ही दोषों की उत्पत्ति होती है, तो असत् के संग का कारण क्या है? तो यह कहना पड़ेगा कि जिसका कोई और कारण हो, उसे कारण नहीं कहते। कारण कहते ही उसे हैं, जिसका कोई कारण न हो। कारण के नाश होने पर यदि उसके कार्य का नाश न हो, तब किसी अन्य कारण की खोज का प्रश्न होता है। किन्तु जब कारण के नाश होते ही कार्य का नाश हो जाए, तब किसी अन्य कारण की खोज करना क्या स्वयं दोष नहीं है? जाने हुए असत् का त्याग करने पर यदि निर्दोषता की अभिव्यक्ति न होती, तब तो यह प्रश्न बन सकता था कि असत् के संग का कारण क्या है?

यह सभी को मान्य होगा कि असत् के संग से तो समस्त विकार उत्पन्न होते हैं। ऐसा कोई विकार है ही नहीं कि जिसके मूल में असत् का संग न हो। असत् को 'असत् जानना ही उसके नाश का साधन है। जिस ज्ञान से असत् का ज्ञान होता है, वह ज्ञान असत् का कारण नहीं हो सकता। असत् का कारण भी असत् ही है, कोई अन्य नहीं। यदि असत् का कारण कोई

नित्य है, तो असत् का नाश ही सम्भव न होगा। तो फिर जाने हुए असत् के त्याग और सत् के संग की सिद्धि ही न होगी और उसके सिद्ध हुए बिना समस्त दोषों का अन्त न होगा। दोषों के नष्ट हुए बिना निर्दोषता की माँग पूरी नहीं होगी। इस दृष्टि से असत् के संग के कारण की खोज सर्वथा निर्मूल है अथवा यों कहो कि असत् के संग के कारण की खोज करना ही असत् है।

जब यह निर्विवाद सिद्ध हो गया कि जाने हुए असत् के त्याग में ही सफलता निहित है, तब भूतकाल की घटनाओं के आधार पर किसी को वर्तमान में दोषी मानना असत् का संग करना है, जो असिद्धि में हेतु है। जब मानव सभी को वर्तमान में निर्दोष मान लेता है, तब उसमें दोष की स्वीकृति ही नहीं रह जाती, जिसके न रहने से द्वेष का सर्वदा के लिए नाश हो जाता है, जिसके होते ही स्वभाव से ही एकता आती है। एकता आ जाने पर निर्वैरता स्वाभाविक है। वैर-भाव का अन्त होते ही हिंसा उत्पन्न नहीं होती, अर्थात् प्रत्येक प्रवृत्ति अहिंसात्मक भाव से होने लगती है अथवा यों कहो कि जीवन अहिंसा से परिपूर्ण हो जाता है। उसके द्वारा किसी का ह्रास नहीं होता, अपितु सभी का विकास होता है। क्षमाशीलता तो स्वभाव से ही आ जाती है। जो किसी को अपराधी नहीं मानता है, उसमें सबकी आत्मीयता हो जाती है। उसके प्रेम को पाकर अपराधी, अपराध से रहित हो जाता है। इस प्रकार उसके पवित्र जीवन से सुन्दर समाज का निर्माण तथा अनेक भेद होने पर भी परस्पर में स्नेह की एकता स्वत: फलती है, जो समस्त संघर्षों का अन्त करने में समर्थ है।

समस्त संघर्षों का मूल एकमात्र यह है कि व्यक्ति, वर्ग, समाज, देश अपने दोष को भूल कर दूसरे के दोष पर दृष्टि रखते हैं। उसकी प्रतिक्रिया यह होती है कि विपक्षी में भी दोष देखने की दृष्टि उत्पन्न हो जाती है। दोनों ही पक्ष अपना-अपना दोष देखना भूल जाते हैं और सारी योग्यता विपक्षी के दोष देखने में लग जाती है। उसका भयंकर परिणाम यह होता है कि अपने-अपने विपक्षी को दोषी मानकर उसे नष्ट-भ्रष्ट करने के लिए अथवा उसे निर्बल बनाकर अपने अधीन करने के लिए अनेकों प्रकार के दोष स्वयं करने लगते हैं। इस प्रकार दोषों का आदान-प्रदान इतना बढ़ जाता है कि अपने-अपने कर्तव्य की

विस्मृति हो जाती है। कर्तव्य की विस्मृति अकर्तव्य को जन्म देती है। प्राकृतिक विधान के अनुसार अकर्तव्य अपना तथा दूसरों का विनाश ही करता है। अकर्तव्य में किसी का हित नहीं है, अपितु सबका अहित है। अकर्तव्य के आधार पर किया हुआ बाह्य विकास भयंकर ह्रास का जन्मदाता है। पर यह रहस्य वे ही जान पाते हैं, जो निर्दोषता के पुजारी हैं।

यदि मानव-समाज संघर्ष का अन्त करना चाहता है, तो उसे विवश होकर सभी का वर्तमान निर्दोष स्वीकार करना होगा। क्योंकि इसके बिना जीवन में से प्रतिहिंसा का भाव नष्ट नहीं होगा। उसके नष्ट हुए बिना शान्ति का सम्पादन नहीं होगा। शान्ति के बिना सामर्थ्य की अभिव्यक्ति न होगी और उसके बिना स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश न होगा। स्वाधीनता के बिना प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग सम्भव नहीं है। यह नियम है कि प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में ही उत्कृष्ट परिस्थिति तथा परिस्थितियों से अतीत के जीवन में प्रवेश निहित है। इस कारण प्रतिहिंसा का अन्त करना अनिवार्य है।

यदि व्यक्ति, वर्ग, समाज तथा देश अपने-अपने दोष को जानने का प्रयास करें, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक वर्तमान की निर्दोषता को सुरक्षित रखते हुए परस्पर में स्नेह का आदान-प्रदान हो सकता है। स्नेह वह महत्वपूर्ण तत्व है, जो बल का दुरुपयोग नहीं करने देता है। बल का दुरुपयोग न करने पर किसी के अधिकार का अपहरण नहीं होता। इतना ही नहीं, स्नेहयुक्त जीवन में अपने अधिकार की गन्ध भी नहीं रहती। जब दूसरों के अधिकार सुरक्षित होते हैं और अपने में अधिकार-लालसा नहीं रहती, तब जीवन के उद्देश्य की पूर्ति अपने आप हो जाती है, अर्थात् सुन्दर समाज का निर्माण तथा अपना कल्याण हो जाता है, यह निर्विवाद सत्य है।

उद्देश्य-पूर्ति के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि वर्तमान की निर्दोषता पर सदैव आस्था रखी जाए और बड़ी ही सावधानी पूर्वक भूतकाल के दोष का त्याग भी कर दिया जाए। दोष-जनित सुखभोग की रुचि का अन्त करना ही दोष का त्याग है। सुख-भोग की रुचि ही मानो समस्त दोषों का मूल है। भोग्य वस्तुओं का विनाश

और भोगने की शक्ति का ह्रास होने पर भी यदि भोग की रुचि का नाश नहीं होता, तो इससे बढ़कर कोई और असावधानी नहीं हो सकती।

प्राकृतिक नियम के अनुसार असावधानी ही व्यक्ति को मृत्यु की ओर ले जाती है और सावधानी ही अमरत्व से अभिन्न करती है। इस कारण असावधानी का मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। ज्यों-ज्यों जीवन में अपने जाने हुए का प्रभाव होता जाता है, त्यों-त्यों असावधानी स्वयं मिटती जाती है। असावधानी का अन्त होते ही जीवन में स्वत: सजगता आ जाती है, जिसके आते ही कर्तव्यपरायणता, असगता एवं आत्मीयता की अभिव्यक्ति होती है। कर्तव्यपरायणता जगत् के लिए, असंगता अपने लिए और आत्मीयता अनन्त के लिए उपयोगी सिद्ध होती है। ऐसे अनुपम जीवन का निर्माण जिस विधान से हुआ है अथवा जिसने किया है, वह न जाने कितना सुन्दर है ! अनन्त सौन्दर्य की माँग जीवन की माँग है। उससे निराश होना, उसमें अविचल आस्था न रखना ही अपनी भूल है। अपनी भूल मिटाने का दायित्व अपने पर ही है। अब यदि कोई यह कहे कि अपनी भूल मिटाने का साधन क्या है? तो यह कहना पड़ेगा कि निज-ज्ञान के प्रकाश में भूल को 'भूल जान लेना ही भूल मिटाने का सुगम, सहज तथा अनुपम उपाय है।

भूल से उत्पन्न हुई असावधानी और असावधानी से उत्पन्न एवं पोषित दोषों को मिटाने में अपने को असमर्थ स्वीकार करना और नित्य प्राप्त, स्वतः सिद्ध निर्दोषता से निराशा होना मानव-जीवन का घोर अनादर है। मानव अपने जीवन का अनादर आप करता है। यह नियम है कि जो अपना आदर नहीं करता, उसका कोई आदर नहीं करता। अपने आदर का अर्थ दूसरों का अनादर नहीं है, अपितु दूसरों के अनादर से तो अपना ही अनादर होने लगता है; क्योंकि जो किसी को भी दोषी मानता है, वह स्वयं निर्दोषता नहीं हो सकता। अपनी निर्दोषता सुरक्षित रखने के लिए सभी में निर्दोषता का दर्शन करना होगा। सर्वत्र, सर्वदा सभी में निर्दोषता का दर्शन अपनी निर्दोषता को सबल तथा स्थाई बनाने का सर्वोत्कृष्ट साधन है।

दोष अनेक नहीं हैं, एक ही है; किन्तु परिस्थिति-भेद से अनेक प्रकार का प्रतीत होता है। अब विचार

यह करना है कि वह कौन सा मूल दोष है, जो भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न प्रकार का प्रतीत होता है। सुख का प्रलोभन तथा दुःख का भय ही मूल दोष है। सुख के न रहने पर भी सुख का प्रलोभन रह जाता है और दुःख से पूर्व ही दुःख का भय आक्रमण करने लगता है। जो हमारे बिना रह सकता है, क्या हम उसके बिना नहीं रह सकते? अवश्य रह सकते हैं। परन्तु सुख-लोलुपता हमें असमर्थ बना देती है। दुःख के भय से सुख-लोलुपता पुष्ट होती है। प्राकृतिक नियमानुसार सुख-लोलुपता का नाश करने के लिए ही दुःख आता है। दुःख का आज तक किसी ने आह्वान नहीं किया। उसका न आना ही सभी को अभीष्ट है, किन्तु फिर भी दुःख क्यों आता है? इस पर मानव विशेष ध्यान नहीं देता, अपितु दुःख से भयभीत हो जाता है। जो अपने आप आया है, वह मंगलमय विधान से आया है। विधान किसी के लिए भी अहितकर नहीं होता, अपितु सभी के लिए हितकर होता है। परन्तु यह बात वे ही जान पाते हैं, जो अपनी रुचि के विरुद्ध होने पर भी विधान का आदर करते हैं।

मंगलमय विधान से आए हुए दुःख का पूरा प्रभाव हो जाने पर सुख का प्रलोभन स्वतः नष्ट हो जाता है, जिसका नाश होते ही किसी भी दोष की उत्पत्ति नहीं होती। सुख के प्रलोभन में आबद्ध व्यक्ति, वर्ग तथा देश दूसरों के प्रति वह कर बैठते हैं, जो नहीं करना चाहिए। जो नहीं करना चाहिए, वही दोष है। इस दृष्टि से सुख के प्रलोभन के नष्ट होने में ही समस्त दोषों का नाश निहित है।

सुख का प्रलोभन अविवेक से उत्पन्न होकर दुःख के भय से पोषित होता है। दुःख के प्रभाव से विवेक की जागृति होती है और उसके होने से अविवेक नष्ट हो जाता है। अतएव मंगलमय विधान से आये हुए दुःख का प्रभाव सुख के प्रलोभनों को खाकर स्वतः सदा के लिए मिट जाता है। इस दृष्टि से मानव-जीवन में दुःख के भय से भयभीत होने का कोई स्थान ही नहीं है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार सुख के भोगी को दुःख भोगना ही पड़ता है। दुःख से बचने का एकमात्र उपाय यही है कि आए हुए सुख का भोग न किया जाए, अपितु उसका सदुपयोग किया जाए और आए हुए

दुःख से भयभीत न होकर उसका पूरा-पूरा प्रभाव होने दिया जाए। सुख का सदुपयोग करने पर और दुःख का पूरा-पूरा प्रभाव होने पर अपने आप सुख के प्रलोभन का नाश हो जाता है, जिसके होते ही भूतकाल के दोषों को न दोहराना अत्यन्त सुगम हो जाता है और फिर वर्तमान की निर्दोषता स्वतः सुरक्षित हो जाती है।

भूतकाल की सुखद तथा दुःखद घटनाओं का प्रभाव किस में अंकित है? इस समस्या पर विचार करने से यह विदित होता है कि जो सुख-दुःख का भोगी है, उसी में करने वाली तथा होने वाली घटनाओं का प्रभाव अंकित होता है, जो स्मृति के रूप में प्रकट होकर वर्तमान की निर्दोषता, शान्ति एवं सरसता को आच्छादित कर देता है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि सुख तथा दुःखका भोगी कौन है? जो सुख का भोगी है, उसी को दुःख भोगना पड़ता है। सुख के भोगी की खोज करने से यही पता चलता है कि जो पराधीनता में जीवन-बुद्धि स्वीकार करता है, वही सुख का भोगी है। यद्यपि पराधीनता किसी को भी स्वभाव से प्रिय नहीं है और न उसकी माँग ही है, परन्तु देहाभिमान में आबद्ध प्राणी पराधीनता में ही जीवन-बुद्धि स्वीकार कर लेता है, जो अविवेक सिद्ध है। अविवेक निज-विवेक के आदर से मिट सकता है। इस दृष्टि से प्राप्त विवेक का अनादर ही समस्त विकारों का मूल है। विवेक का आदर किए बिना न तो प्राकृतिक विधान का आदर हो सकता है और न देहाभिमान ही गल सकता है। प्राकृतिक विधान का आदर बिना किए इस सत्य पर आस्था नहीं होती कि जो हो रहा है, उसमें सभी का हित निहित है और उसके हुए बिना प्राप्त परिस्थिति का आदर तथा उत्साहपूर्वक सदुपयोग नहीं हो पाता, जिससे न तो उत्कृष्ट परिस्थिति ही प्राप्त होती है, न परिस्थितियों से अतीत के जीवन में ही प्रवेश होता है। नीति वही सार्थक सिद्ध होती है, जो प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग कराने में समर्थ हो। ऐसा कोई कर्तव्य हो ही नहीं सकता, जिसका सम्बन्ध अप्राप्त परिस्थिति से हो। जिस किसी को जो कुछ करना है, वह प्राप्त परिस्थिति में ही हो सकता है।

भूतकाल की घटनाओं के अर्थ को अपनाकर घटनाओं को

भूलना अनिवार्य है। प्रत्येक घटना का अर्थ पथ-प्रदर्शन कर सकता है, क्योंकि घटना का अर्थ विवेकयुक्त होता है। जो कुछ हो रहा है, वह मंगलमय विधान से हो रहा है और जो कुछ करना है, वह विवेकपूर्वक करना है। मंगलमय विधान और विवेक, इन दोनों में जातीय एकता है। निज-विवेक व्यक्तिगत विधान है और प्राकृतिक-विधान है, समष्टि-विधान'। व्यष्टि और समष्टि में जातीय तथा स्वरूप की एकता है। इस दृष्टि से निज-विवेक के प्रकाश में किया हुआ कर्म अनन्त के मंगलमय विधान के अनुरूप ही होता है।

जो हो रहा है, उसका आदर न करने से अन्तर्संघर्ष और प्राप्त परिस्थिति का विवेकपूर्वक सदुपयोग न करने से बाह्य संघर्ष उत्पन्न होता है। अथवा यों कहो कि मिले हुए का आदर न करने से अन्तर्संघर्ष और उसका सदुपयोग न करने से बाह्य संघर्ष उत्पन्न हुआ है। प्राप्त परिस्थिति को साधन-सामग्री जान लेने से परिस्थिति में जीवन-बुद्धि नहीं रहती। उसके न रहने से अन्तर्संघर्ष मिट जाता है और कर्तव्यपरायणता से बाह्य संघर्ष नष्ट हो जाता है। कर्तव्यनिष्ठ वही हो सकता है, जो अपनी तथा दूसरों की वर्तमान निर्दोषता पर ही दृष्टि रखता है, अर्थात् भूतकाल की घटनाओं के आधार पर वर्तमान की निर्दोषता को आच्छादित नहीं करता, अपितु किए हुए दोषों के त्याग का महाव्रत लेकर निर्दोष होकर दूसरों की निर्दोषता सुरक्षित रखने के लिए वैर-भाव से रहित प्रीतिपूर्वक परस्पर में सद्भावनाओं का आदान-प्रदान करता है। परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि उसी मानव की नहीं होती, जो निज-विवेक के प्रकाश में जीवन के उद्देश्य का निर्णय करने में समर्थ होता है, कारण, कि परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि उन्हीं व्यक्तियों की होती है, जो जीवन के उद्देश्य पर विचार नहीं करते। उद्देश्य उसे नहीं कहते, जिसका वर्तमान जीवन से सम्बन्ध न हो, अर्थात् मानव-मात्र उद्देश्य-पूर्ति में स्वाधीन तथा समर्थ है। उद्देश्य-रहित जीवन मानव-जीवन नहीं है। उद्देश्य वही हो सकता है, जो अविनाशी हो, क्योंकि जिसको पाकर कुछ और पाना शेष रहता है, वह उद्देश्य नहीं होता। इसी कारण उद्देश्य की पूर्ति प्रत्येक परिस्थिति के सदुपयोग से हो सकती है, क्योंकि उससे देश-काल की दूरी नहीं है। उद्देश्य-पूर्ति में ही समस्त

संघर्षों का नाश है। निर्दोषता से अभिन्न होने पर ही मानव निर्दोषता को सुरक्षित रख सकता है और निर्दोषता के सुरक्षित होने पर ही कर्तव्य-परायणता, असंगता एवं आत्मीयता की अभिव्यक्ति होती है। अतः भूतकाल की घटनाओं के आधार पर अपने को अथवा दूसरों को दोषी मानना भूल है। इस भूल का अन्त करने पर ही अन्तर्बाह्य संघर्ष नष्ट हो सकते हैं, यह निर्विवाद सत्य है।

पंचम प्रकरण

प्राकृतिक नियम के अनुसार दो व्यक्ति भी सर्वांश में समान रुचि, योग्यता, सामर्थ्य के नहीं होते और न परिस्थिति ही समान होती है। देश-काल के भेद से भी रहन-सहन आदि में भेद होता है; किन्तु मानवमात्र के वास्तविक उद्देश्य में कोई भेद नहीं होता। इस उद्देश्य की एकता के आधार पर ही मानव-समाज ने मानवमात्र के साथ एकता स्वीकार की है। इस अन्तः एकता के आधार पर प्रीति की एकता को स्वीकार न करना और अपने ही विचार, विश्वास तथा अपनी ही सामाजिक, सांस्कृतिक प्रणाली एवं अपने ही मत, सम्प्रदाय तथा वाद का आग्रह करना और उससे भिन्न का अनादर करना भी अनेक प्रकार के संघर्ष का कारण है।

प्राप्त योग्यता, रुचि एवं सामर्थ्य के द्वारा ही उद्देश्य की पूर्ति होती है। अन्तर केवल इतना होता है कि मिले हुए के सदुपयोग में उद्देश्य की पूर्ति और दुरुपयोग में उद्देश्य की अपूर्ति होती है। मिले हुए के सदुपयोग में न तो पराधीनता ही है और न असमर्थता। इस दृष्टि से मानवमात्र उद्देश्य-पूर्ति में सर्वदा स्वाधीन है। परन्तु मानव जब अनेक भेद होने पर भी एक ही प्रकार से सभी को उद्देश्य-पूर्ति का आग्रहपूर्वक पाठ पढ़ाता है और अपनी प्रणाली से भिन्न का विरोध करता है, तब मानव विकास के नाम पर एक नवीन संघर्ष को जन्म देता है। उद्देश्य-पूर्ति के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के उपाय भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिए हो सकते हैं। अत: एक ही प्रकार के उपाय का आग्रह करना उपाय में

आसक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। आसक्ति के रहते हुए किसी भी उपाय से उद्देश्य की पूर्ति सम्भव नहीं है। उपाय की आसक्ति में उद्देश्य की विस्मृति हो जाती है। इस प्रमाद से मानव-समाज की बड़ी ही क्षति हुई है।

इस भयंकर क्षति का अन्त करने के लिए यह अनिवार्य है कि व्यक्तिगत उपाय, अर्थात् अपनी-अपनी रुचि, योग्यता और सामर्थ्य के अनुरूप अपनाई हुई विचारधारा, साधन-प्रणाली, सिद्धान्त एवं मान्यता आदि द्वारा अपने को सुन्दर बनाएँ। यह नियम है कि सुन्दरता का प्रभाव स्वभाव से ही मानव-समाज को आकर्षित करता है; किन्तु सर्वांश में नहीं, अथवा यों कहो कि सुन्दरता प्राप्त करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति अपने ढंग से अग्रसर हो सकता है। किन्तु किसी भी प्रणाली को सर्वांश में दो व्यक्ति भी अपना नहीं सकते। इस कारण व्यक्तिगत साधन की स्वाधीनता में भिन्नता का जो दर्शन होता है, वह प्राकृतिक है, काल्पनिक नहीं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रत्येक साधन-प्रणाली सिद्धि देने वाली नहीं है।

असफलता का एकमात्र कारण तो असाधनयुक्त साधन है। असाधनरहित प्रत्येक साधन से उद्देश्य की पूर्ति होती है। अब विचार यह करना है कि असाधन क्या है? जाने हुए असत् का त्याग बिना किए कोई भी प्रणाली सिद्धि देने वाली नहीं हो सकती। अत: जाने हुए असत् का संग ही समस्त असाधनों का मूल है। इस दृष्टि से सत्संग द्वारा असाधन की निवृत्ति होने पर जिस साधन की अभिव्यक्ति स्वत: होती है, उसी से सिद्धि होती है। असाधन का त्याग करने से पूर्व बेचारा व्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रणालियों को अपनाने का प्रयास करता है, किन्तु किसी भी पद्धति का सर्वांश में न तो अनुसरण ही कर पाता है और न सिद्धि ही पाता है।

किसी व्यक्ति का विध्यात्मक साधन क्या है? उसका निर्णय किसी अन्य की तो कौन कहे, वह बेचारा स्वयं भी उस समय तक नहीं कर सकता, जब तक विवेक-विरोधी कर्म, सम्बन्ध तथा विश्वास का त्याग न करे। असत् के त्याग द्वारा सत् का संग ही साधन-निर्माण में हेतु है। अपने जाने हुए असत् के त्याग का दायित्व अपने ही पर है। अतः अपने द्वारा अपने जाने

हुए असत् का त्याग कर सत्संगपूर्वक सभी मानव विधिरूप साधन का निर्माण कर सकते हैं।

संघर्ष का नाश करने के लिए अपने जाने हुए का अपने पर प्रभाव परम आवश्यक है। क्योंकि जाने हुए के प्रभाव से ही असत् का त्याग होता है। असत् के त्याग करने की बात सभी के लिए सदैव उपयोगी तथा अनिवार्य है। असत् के त्याग में मानवमात्र एक है। जो व्यक्ति, वर्ग, समाज तथा देश अपने जाने हुए असत् का त्याग नहीं कर सकता, वह न तो अपना ही विकास कर पाता है और न उसके द्वारा किसी अन्य का हित हो सकता है। अपने और दूसरों के हितार्थ असत् का त्याग अनिवार्य है; कारण, कि असत् का त्याग करने पर ही अपनी मान्यता तथा प्रणाली का अनुसरण और दूसरों की मान्यताओं तथा पद्धतियों का आदर स्वभाव से ही हो सकता है। परस्पर में आदर का आदान-प्रदान होने पर स्नेह की वृद्धि और संघर्ष का अन्त अपने आप हो जाता है। अपनी पद्धति में विशेषता और दूसरों की पद्धति में न्यूनता का दर्शन करना भेद तथा संघर्ष को जन्म देना है। यदि कोई रोगी यह कहे कि मेरी औषधि ही सभी रोगियों की औषधि है, तो क्या यह निर्णय विवेकयुक्त है? कदापि नहीं। एकता आरोग्य में है, उपचार में नहीं। रोग-भेद होने पर औषधि-भेद होना अनिवार्य है। हाँ, यह अवश्य है कि सभी रोगी आरोग्य प्राप्त करना चाहते हैं। सबकी माँग एक है। इस कारण हम सब में स्नेह की एकता रहना परम आवश्यक है। इसी प्रकार पद्धतियों तथा मान्यताओं में भिन्नता और लक्ष्य में एकता अनिवार्य है।

लक्ष्य में एकता होने से हम सब एक हैं। किन्तु रुचि, योग्यता तथा सामर्थ्य में भेद होने से लक्ष्य-प्राप्ति की पद्धति में भेद है। पद्धति-भेद होने पर प्रीति का भेद स्वीकार करना प्रमाद है, जो संघर्ष का मूल है। प्रीति की एकता भेद का जन्म नहीं होने देती। भेद का नाश होने पर सीमित अहम्-भाव अपने आप गल जाता है। भेद स्वार्थ-भाव को जन्म देकर अहम्-भाव को पुष्ट करता है। प्रीति स्वार्थ-भाव को खाकर अहम्-भाव को नष्ट करती है और सभी को नित-नव रस प्रदान कर अपने को अथवा अन्य को कृतकृत्य करती है। इस दृष्टि से कर्म की भिन्नता होने पर भी प्रीति की एकता ही

वास्तविक एकता है। कर्म की एकता तो प्राकृतिक नियम के अनुसार सर्वांश में दो व्यक्तियों की भी सम्भव नहीं है और प्रीति की एकता सभी के साथ सम्भव है। जो सम्भव नहीं है, उसका मानव-जीवन में कोई स्थान नहीं है और जो सम्भव है, उसका सम्पादन मानवमात्र के लिए अनिवार्य है। अत: प्रीति के सम्पादन के लिए ही मानव-जीवन मिला है। प्रीति पाने में कोई भले ही अपने को परतन्त्र पाता हो, किन्तु प्रीति देने में तो प्रत्येक मानव सर्वदा स्वाधीन है।

अब यदि कोई यह कहे कि प्रीति का सम्पादन कैसे हो? तो यह कहना पड़ेगा कि अचाह तथा आत्मीयता ही प्रीति का उद्गम है। चाहरहित वही मानव हो सकता है, जो मिली हुई वस्तु को व्यक्तिगत नहीं मानता और आत्मीयता की अभिव्यक्ति उसी के जीवन में होती है, जो अनेकता में एकता का दर्शन करने में समर्थ है। निज-विवेक के प्रकाश में इन्द्रिय-दृष्टि से अनेकता और बुद्धि-दृष्टि से एकता भासती है। अपने लक्ष्य का निर्णय होने पर इन्द्रिय-दृष्टि का उपयोग और बुद्धि-दृष्टि का प्रभाव स्वतः होने लगता है। प्रभाव के अनुरूप भाव की जागृति होती है और भाव के अनुरूप कर्म का सम्पादन होता है। यह नियम है कि जिस भाव से कर्म किया जाता है, कर्ता का अस्तित्व कर्म के अन्त में उसी भाव में विलीन हो जाता है। इस प्रकार विभिन्न कर्म एक ही भाव में विलीन हो जाते हैं। तब इन्द्रिय-दृष्टि की अनेकता में बुद्धि-दृष्टि की एकता का स्पष्ट दर्शन होने लगता है। जब बुद्धि-दृष्टि का प्रभाव इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव को अपने में विलीन कर लेता है, तब बुद्धि-दृष्टि सम हो जाती है। उसके सम होते ही निज-विवेक के प्रकाश में अनेकता-एकता का भेद गल जाता है और फिर अपने लक्ष्य में ही अधिक नित-नव प्रियता उदत होती है जो स्वभाव से ही रस रूप है।

जब तक किसी व्यक्ति, वर्ग तथा समाज में रस की कमी, अर्थात् नीरसता नहीं उत्पन्न होती, तब तक वह काम से पीड़ित नहीं होता। काम की पूर्ति में नवीन राग और अपूर्ति में क्षोभ तथा क्रोध अपने आप उत्पन्न हो जाते हैं। राग पराधीनता में तथा क्षोभ विस्मृति में आबद्ध करता है। पराधीनता अधिकार-लालसा को और विस्मृति अधिकारों के अपहरण की

प्रवृत्ति को जन्म देती है, जिससे परस्पर में भिन्न-भिन्न प्रकार के संघर्ष उत्पन्न हो जाते हैं। बाह्य दृष्टि से संघर्षों का कारण आर्थिक अभाव तथा राजनैतिक पराधीनता प्रतीत होती है, पर अन्तर्दृष्टी से संघर्ष का मूल नीरसता, अर्थात् प्रीति का अभाव ही है। यदि मानव संघर्ष को समूल नष्ट करना चाहता है, तो उसे प्रीति के साम्राज्य में प्रवेश करना होगा। उसके बिना कोई भी प्रयोग सफल नहीं हो सकता। बलपूर्वक संघर्ष मिटाया नहीं जा सकता, अपितु कुछ काल के लिए दबाया जा सकता है। दबा हुआ संघर्ष बड़ा ही भयंकर रूप धारण करके प्रकट होता है। सबल पक्ष निर्बल पक्ष को अपने अधीन कर कुछ काल के लिए शान्ति की बाह्य स्थापना भले ही कर ले, किन्तु निर्बल पक्ष की आन्तरिक व्यथा कालान्तर में बल सम्पादन कर नवीन संघर्ष को जन्म देती है। अत: यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि जब तक अन्तबाह्य नीरसता तथा अभाव का अभाव नहीं होगा, तब तक संघर्ष का नाश नहीं हो सकता।

अन्तबाह्य नीरसता तथा अभाव व्यक्तिगत रूप से अपने में प्रतीत होता है और उसका कारण दूसरों को समझा जाता है। भला, क्या वह भी जीवन है, जिसकी सरसता तथा पूर्णता का कारण कोई और हो ! जिसका कारण कोई और होता है, उसकी पूर्ति कभी नहीं होती। नीरसता तथा अभाव यदि अपना उत्पन्न किया हुआ नहीं है, तो उसका नाश ही नहीं हो सकता। अपनी भूल को दूसरों में देखना .अपने में नीरसता तथा अभाव को जन्म देना है। जब अपने में नीरसता आदि विकारों का जन्म हो जाता है, तब यही प्रतीत होने लगता है कि दूसरों ने बल के दुरुपयोग के द्वारा हमें असमर्थ बना दिया है। बड़े-से-बड़ा, सबल-से-सबल व्यक्ति, वर्ग तथा समाज उस समय तक हमें असमर्थ नहीं बना सकता, जब तक हम मिले हुए बल का दुरुपयोग तथा विवेक का अनादर नहीं करते।

जो व्यक्ति, वर्ग तथा समाज निर्बलों की सेवा नहीं करता और विवेक-युक्त विधान के अधीन नहीं रहता, वही असमर्थ होता है अथवा यों कहो कि विवेक के अधीन बल का उपयोग न करने पर असमर्थता आती है। यह विवेक-सिद्ध है कि बाह्य भिन्नता अभिन्नता-सम्पादन का साधन है, परन्तु जाने हुए असत् को अपना कर भिन्नता को प्रीति-भेद में बदल लेते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि प्रीति आसक्ति का रूप धारण कर एकता को छिन्न-भिन्न कर देती है,

जिसके होते ही संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। जब तक मानव-समाज उद्देश्य की एकता के आधार पर प्रीति की एकता और योग्यता, रुचि तथा सामर्थ्य की भिन्नता के आधार पर पद्धति की भिन्नता को नहीं अपनाएगा, तब तक संघर्ष का नाश न होगा और उसके नष्ट हुए बिना शान्ति, सामर्थ्य तथा स्वाधीनता की अभिव्यक्ति न होगी। स्वाधीनता के बिना दिव्य-चिन्मय जीवन से अभिन्नता एवं परम प्रेम का प्रादुर्भाव सम्भव नहीं है। अतः प्रेम के साम्राज्य को प्राप्त किए बिना समस्त संघर्षो का नाश होना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है।

षष्ठ प्रकरण

प्राकृतिक नियमानुसार प्राणियों को वस्तुओं की माँग है, सिक्के की नहीं। आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन शारीरिक और बौद्धिक श्रम तथा प्राकृतिक मूल पदार्थों के द्वारा ही होता है। किसी सिक्के से किसी भी वस्तु का उत्पादन नहीं होता। किन्तु जब समाज में सिक्के का महत्व श्रम से अधिक हो जाता है, तब व्यक्तियों में सिक्का-संग्रह करने की रुचि उत्पन्न होती है और ज्यों-ज्यों संग्रह बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों व्यक्ति में आलस्य, विलास तथा अभिमान का जन्म होता जाता है, जिसके होते ही अकर्मण्यता, पराधीनता और परिच्छिन्नता में प्राणी आबद्ध हो जाता है।

सिक्के का महत्व बढ़ने से और श्रम का महत्व घट जाने से एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को अपने अधीन मानने लगता है। जब व्यक्ति अपने को किसी व्यक्ति के अधीन पाता है, तब उसमें हीनपरिज्ञान (Inferiority complex) उत्पन्न होता है और जो अपने अधीन किसी व्यक्ति को मानता है, उसमें मिथ्या अभिमान उत्पन्न होता है। दीनता तथा अभिमान के उत्पन्न हो जाने पर परस्पर में आत्मीयता नहीं रहती, जिसके न रहने से प्रियता की अभिव्यक्ति नहीं होती।

सिक्के का आविष्कार आवश्यक वस्तुओं के आदान-प्रदान में सुविधा रहे, इस दृष्टि से हुआ होगा। किन्तु आज उसने अपना प्रभाव ऐसा जमाया कि साधारण व्यक्तियों की तो कौन कहे, बड़े-बड़े कलाकार, विज्ञानवेत्ता और साहित्यिकों को भी

अपने अधीन कर लिया है। यदि सिक्के का महत्व न रहे, तो मानव-समाज में से आलस्य, विलास एवं अकर्मण्यता तो बहुत ही कम हो जाए। आज श्रमी वर्ग भी श्रम के महत्व से दूर है। वह भी उसके बदले में बोनस लेकर ही प्रसन्न होता है। सिक्के के महत्व ने मजदूर और महाजन दोनों ही को पागल बना दिया है। ऐसी भयंकर परिस्थिति में यदि परस्पर एकता का संचार करना है, तो सिक्के से श्रम का महत्व बढ़ाना होगा। श्रम का महत्व बढ़ाने का अर्थ यह नहीं है कि श्रम के बदले में अधिक सिक्के प्राप्त करना ही स्वभाव बना लिया जाए। श्रम के महत्व का अर्थ है कि व्यक्ति किसी न किसी आवश्यक वस्तु के उत्पादन में ही प्राप्त सामर्थ्य तथा योग्यता व्यय करे। वस्तुओं का सम्पादन करने पर भी इस बात का ध्यान रहे कि वस्तुओं के बदले में सिक्के का संग्रह नहीं करना है। समाज का वह वर्ग जो वस्तुओं का उत्पादन नहीं कर सकता-बालक, रोगी आदि-उन्हें आवश्यक वस्तुएँ अपने आप ही देने का विधान बना लिया जाए, तभी श्रम का वास्तविक महत्व बढ़ सकता है। श्रम को सिक्के में बदलने से श्रम का महत्व नहीं बढ़ता। सिक्के के आधार पर एक देश दूसरे देश को विनाश की सामग्री देकर एक स्थाई विद्रोह की भावना को जन्म देता है। यदि सिक्के का महत्व मानव के जीवन से मिट जाए, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक परस्पर एकता स्थापित हो सकती है। वस्तुओं के उत्पादन के साधन प्राकृतिक नियमानुसार व्यक्तिगत नहीं हैं। तो फिर उत्पादित वस्तुएँ व्यक्तिगत कैसे हो सकती हैं? अर्थात् नहीं हो सकतीं। वस्तु व्यक्ति की सेवा के लिए है, केवल अपने सुख-भोग के लिए ही नहीं। जीवन में रस की माँग है। सुख-भोग का रस व्यक्ति को पराधीनता तथा जड़ता में आबद्ध करता है और सेवा का रस मानव को उत्तरोत्तर स्वाधीनता तथा चिन्मयता की ओर अग्रसर करता है। इस दृष्टि से सेवा सुख-भोग की रुचि को खाकर व्यक्ति और समाज में वास्तविक एकता स्थापित करने में समर्थ होती है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार किसी भी वस्तु का मूल्य कोई ऑक नहीं सकता। वही वस्तु देश-काल के भेद से अधिक तथा कम मूल्य की मान ली जाती है। यदि वस्तु का अपना कोई मूल्य होता, तो यह विषमता न होती।

मूल्य है वस्तु की आवश्यकता तथा सिक्के के संग्रह में, जिस प्रकार मानव-समाज विद्युत-उत्पादनकम्पनी को सिक्का देकर उसका मनमाना व्यय करता है और कम्पनी अवसर पाकर मूल्य बढ़ाती रहती है। यदि विद्युत का उद्गम सूर्य अपनी रुचि के अनुसार मूल्य माँगना आरम्भ कर दे, तो कौन व्यक्ति, वर्ग तथा समाज ऐसा होगा, जो उसे चुका सके? प्राकृतिक नियम तो ऐसा है कि जो वस्तु जितनी ही अधिक उपयोगी होती है, उतनी ही सुगमता से प्राप्त होती है। जैसे, रत्नों की अपेक्षा स्वर्ण तथा चाँदी, चाँदी से अन्न, अन्न से जल, जल से प्रकाश, प्रकाश से वायु और वायु से आकाश उत्तरोत्तर सुगमतापूर्वक स्वतः ही प्राप्त होते हैं। इस प्राकृतिक विधान का आदर करने पर यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि जीवनोपयोगी वस्तुएँ अमूल्य हैं, उनका कोई मूल्य चुका नहीं सकता। असमर्थता-काल में आवश्यक वस्तु विधान के अनुसार स्वत: प्राप्त होती है। इस दृष्टि से रोगी और बालक के विकास के लिए सभी उत्पादक वर्गों तथा देशों को उत्पादित वस्तु आदर पूर्वक भेंट करना चाहिए। ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है, जो कभी असमर्थ न रहा हो और उसका पोषण तथा शिक्षण समाज के श्रम तथा प्राकृतिक वस्तुओं के द्वारा न हुआ हो। वही व्यक्ति जब उत्पादन करने के योग्य हो जाता है, तब उत्पादित वस्तुओं को अपनी मान लेता है और उसके बदले में सिक्के के संग्रह में लग जाता है। इस प्रमाद का बड़ा ही भयंकर परिणाम हुआ है।

श्रमी वर्ग यदि श्रम के बदले में उदारता का सम्पादन करे, तो उससे उत्पादित वस्तुएँ उन्हें भेंट हो सकती हैं, जो उत्पादन नहीं। कर सकते। इसका बड़ा ही सुन्दर परिणाम यह होगा कि जब वह वर्ग, जिसे उदारतापूर्वक वस्तुएँ भेंट की गई थीं, समर्थ होगा, तब उसके स्वभाव में भी उत्पादित वस्तुओं को भेंट करने की सद्भावना जाग्रत होगी, जिससे प्रेरित होकर परम्परा में उदार-चरित मानव उत्पन्न होते रहेंगे। जिस वर्ग तथा समाज में सच्चरित्र व्यक्तियों की उत्पत्ति अधिक होती है, वह वर्ग तथा समाज उदार तथा व्यापक हो जाता है। इतना ही नहीं, वह किसी अन्य वर्ग तथा समाज से शासित नहीं रहता, कारण, कि राष्ट्र-प्रणाली की माँग

समाज को तभी होती है, जब मानव-समाज उत्पादित वस्तु योग्यता, सामर्थ्य का उदारतापूर्वक सद्व्यय नहीं करता। उदारता व्यक्ति में करुणा तथा प्रसन्नता की अभिव्यक्ति करती है। करुणा सुख-भोग की रुचि को और प्रसन्नता नीरसता को खा लेती है। सुख-भोग की रुचि का तथा नीरसता का नाश होते ही जीवन में निर्विकारता आ जाती है, जिसके आते ही दिव्य-चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जाती है और पारस्परिक संघर्ष सदा के लिए मिट जाता है। इस दृष्टि से श्रमी वर्ग को उदारता अपना लेना अनिवार्य है।

अब यदि कोई यह कहे कि उदारता तो उन्हें अपनानी चाहिए, जिन्होंने सिक्कों का संग्रह किया है। यह बात स्थूल दृष्टि से तो ठीक ही मालूम होती है। परन्तु यदि हम गम्भीरतापूर्वक विचार करें, तो यह स्पष्ट विदित होता है कि संग्रही के आस-पास जो श्रमी वर्ग है, उसने भी सिक्के के महत्व को ही अपना लिया है, तभी वह बहुत से साथियों के अधिकारों का अपहरण संग्रही द्वारा कराता रहता है। यदि श्रमी वर्ग में उदारता आ जाए, तो संग्रही बेचारा विवश होकर संग्रह का सदुपयोग करने लगे। अपने-अपने पद को सुरक्षित रखने के लिए शारीरिक तथा बौद्धिक श्रमी संग्रही के अधीन हो जाते हैं। यह श्रमी वर्ग का प्रमाद है।

इसका अर्थ कोई यह न समझे कि यह विचारधारा तो संग्रही को निर्दोष सिद्ध करती है। पर बात ऐसी नहीं है, क्योंकि संग्रह ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों संग्रही की चेतना जड़ता से आच्छादित होती जाती है। संग्रही की अपेक्षा श्रमी में चेतना अधिक नियम के अनुसार अपने विकास का साधन है। पर इस रहस्य को कोई बिरले तत्वदर्शी ही जानते हैं।

न माँगने का अर्थ भूखा, नंगा रहकर मर जाना नहीं है। न माँगने का अर्थ है-देने वाले की प्रसन्नता के लिए आवश्यक वस्तु स्वीकार करना अथवा यों कहो कि अधिकार-लालसा से रहित कर्तव्यनिष्ठ होना। कर्तव्य का ज्ञान मानवमात्र के निज-विवेक में विद्यमान है। विवेक-विरोधी कर्म के त्याग से ही श्रम का महत्व बढ़ सकता है और श्रम का महत्व बढ़ने से ही सिक्के का महत्व घट सकता है, जिसके घटते ही संग्रह की रुचि मिट सकती है और आलस्य, अकर्मण्यता तथा विलास का अन्त हो सकता है,

जिसके होते ही शरीर और विश्व में, व्यक्ति और समाज में, दो वर्गों में, दो देशों में वास्तविक एकता हो सकती है।

स्वाधीन व्यक्तियों के प्रादुर्भाव से ही समाज में स्वाधीनता सुरक्षित रहती है। स्वाधीन समाज न तो किसी से भयभीत होता है और न किसी को भय देता है। भयभीत समाज ही युद्ध-सामग्री का संग्रह करता है। यदि श्रमी वर्ग युद्ध की भावना में सहयोग न दे, तो युद्ध-सामग्री ज्यों-की-त्यों, जहाँ-की-तहाँ रखी रहेगी, उसका कोई उपयोग न होगा। परस्पर का संघर्ष युद्ध-सामग्री के बल पर नहीं रोका जा सकता। मानव में यदि विद्यमान मानवता का विकास हो जाए, तो संघर्ष का नाश हो सकता है। इस दृष्टि से प्रत्येक मानव पर मिली हुई वस्तु योग्यता तथा सामर्थ्य के सदुपयोग का दायित्व है। कर्तव्यपरायणता कर्तव्यनिष्ठ व्यक्तियों के जीवन से व्यापक होती है। उसे वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा नहीं फलाया जा सकता। भयभीत समाज कभी भी संघर्ष का अन्त नहीं कर सकता। निर्भयता की अभिव्यक्ति तभी होती है, जब अपने अधिकार के त्याग और दूसरों के अधिकार की रक्षा में तत्परता बनी रहे। अतः यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति, वर्ग, समाज तथा देश अपने-अपने बल का दूसरे व्यक्ति, वर्ग, समाज तथा देश के हित में व्यय करें और विनाशकारी सामग्री का उत्पादन न करें।

श्रमी वर्ग सिक्के को प्रलोभन से रहित होकर विनाशकारी वस्तुओं के उत्पादन से असहयोग कर अपने श्रम द्वारा जीवनोपयोगी वस्तुओं का उत्पादन करें, किन्तु उन्हें व्यक्तिगत न मानें। ऐसे साधक ही व्यक्ति और समाज की एकता का दर्शन कर श्रम के महत्व से सिक्के का महत्व घटाकर, संग्रह की भावना को मिटाकर, शान्ति की स्थापना द्वारा परस्पर एकतापूर्वक संघर्ष का नाश कर सकते हैं। यह निर्विवाद सत्य है।

सिक्के की उपयोगिता एकमात्र सुविधापूर्वक वस्तुओं के आदान-प्रदान में है। वास्तव में तो जीवन में सिक्के की कोई आवश्यकता ही नहीं है। जीवन में आवश्यकता वस्तु की है। परन्तु जब मानव-समाज वस्तु का महत्व व्यक्ति से अधिक मान लेता है, तभी व्यक्ति का निर्माण रुक जाता है। व्यक्ति को स्वयं सुन्दर बनने के

लिए वस्तुओं का महत्व व्यक्तियों से कम करना होगा, अर्थात् सिद्धान्त रूप से यह बात माननी होगी कि वस्तु व्यक्ति के विकास के लिए है। जब जीवन में वस्तु से व्यक्ति का महत्व अधिक हो जाता है, तब निर्लोभता की अभिव्यक्ति होती है, जिसके होते ही प्राकृतिक नियम के अनुसार वस्तुओं का अभाव मिट जाता है। यह भौतिक विज्ञान का नियम है। पर आज इस नियम पर सर्व साधारण की दृष्टि ही नहीं जाती। उसका बड़ा ही दुष्परिणाम हुआ है। निर्लोभता प्रकृति का वह विधान है, जो आवश्यक वस्तुओं को अपने आप उत्पन्न करता है। इसका अनुभव मानवमात्र कर सकता है। यह ऐसी बात नहीं है, जिसका अनुभव प्रयोग सिद्ध न हो। निर्लोभता आते ही प्राप्त वस्तुओं का उपयोग व्यक्तियों की सेवा में स्वभाव से ही होने लगता है, संग्रह की रुचि का जन्म ही नहीं होता और न वस्तुओं में ममता ही होती है। अप्राप्त वस्तुओं की कामना की तो कौन कहे, लोभरहित होते ही वस्तुओं से अतीत के जीवन में प्रवेश हो जाता है, अर्थात् निर्लोभता मानव को विवेकयुक्त जीवन से अभिन्न कर देती है। इस दृष्टि से वस्तु से व्यक्ति को अधिक महत्व देना हितकर ही सिद्ध होता है।

व्यक्ति से वस्तु को अधिक महत्व देने से व्यक्तियों में वस्तुओं की दासता उत्पन्न होती है। वस्तुओं की दासता वस्तुओं का सदुपयोग नहीं करने देती और न विवेक का आदर ही रहता है। विवेक का अनादर होते ही अविवेक की उत्पत्ति हो जाती है और फिर अकर्तव्य का जन्म हो जाता है। अकर्तव्य ही परस्पर संघर्ष का कारण है। संघर्ष से वस्तु और व्यक्ति दोनों ही का विनाश होता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार वस्तुओं की उत्पत्ति व्यक्तियों के हितार्थ होती है। उन वस्तुओं का महत्व व्यक्तियों से अधिक कर देना मंगलमय विधान का हनन करना है। विधान का विरोध किसी के लिए भी कभी भी हितकर सिद्ध नहीं होता। अतः वस्तु से व्यक्ति को अधिक महत्त्व देना अनिवार्य है।

वस्तुओं की दासता से रहित मानव न तो वस्तुओं का दुरुपयोग ही करता है और न वस्तुओं के आश्रय के आधार पर अपना महत्व मानता है, क्योंकि वस्तु-युक्त होने से व्यक्ति का महत्व नहीं है। व्यक्ति का महत्व विवेकवित् होने में निहित है। इस दृष्टि

से विवेकी मानव को अविवेकियों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्व देना है। इतना ही नहीं, अविवेकी मानव, मानव के भेष में अमानव है। अमानव को पशु कहना पशु की निन्दा है। कारण, कि पशु में विवेक जाग्रत नहीं है, इससे उस पर विवेकी होने का दायित्व नहीं है। किन्तु मानव मात्र में विवेक जाग्रत है, इस कारण उस पर दायित्व है कि वह विवेक का अनादर न करे, अर्थात् प्रत्येक वर्ग, समाज तथा देश का वही मानव आदरणीय है, जो विवेकी है। व्यक्ति के महत्व को इतना न बढ़ा दिया जाए कि अपने मत, सम्प्रदाय, वर्ग तथा देश का अविवेकी मानव भी अन्य मत, सम्प्रदाय, वर्ग और देश के विवेकी के समान मान लिया जाए। अनेकों अविवेकियों की अपेक्षा एक विवेकी कहीं उच्चकोटि का मानव है। इतना ही नहीं, विवेकी कोई भी हो, उसके परामर्श को आदर देना और अन्य की तो कौन कहे, अविवेकी माता-पिता, नेता आदि की भी बात को न मानना हितकर सिद्ध होता है। अनेक घटनाओं से ऐसा अनुभव हुआ है। इस कारण विवेकवित् होने पर ही व्यक्ति आदरणीय है।

यह नियम है कि जब तक जीवन में विवेक का साम्राज्य रहता है, तब तक जाने हुए असत् के त्याग की सामर्थ्य नष्ट नहीं होती। प्राकृतिक नियमानुसार जाने हुए असत् के त्याग में ही समस्त विकास निहित है। इस दृष्टि से मानवमात्र को विवेक का आदर करना है। विवेक वह प्रकाश है, जिसमें बुद्धि-दृष्टि द्वारा मानव इन्द्रिय-दृष्टि पर विजय प्राप्त करता है। विवेक के प्रकाश से बुद्धि में सामर्थ्य आती है और फिर वह अनावश्यक और अशुद्ध संकल्पों को पूरा करने का समर्थन नहीं करती, जिससे अनावश्यक और अशुद्ध संकल्प पूरे हुए बिना अपने आप मिट जाते हैं और आवश्यक एवं शुद्ध संकल्प पूरे होकर मिट जाते हैं, जिनके मिटते ही बुद्धि भगवती विश्राम पाती है और प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में निर्विकल्पता सुरक्षित रहती है। निर्विकल्पता से असंग होना भी विवेक-सिद्ध ही है। निर्विकल्पता से असंग होते ही वास्तविक स्वाधीनता प्राप्त होती है। इस दृष्टि से उत्तरोत्तर विकास की ओर अग्रसर करने में विवेक ही मुख्य साधन है।

विवेक का महत्व सत्य की ओर अग्रसर होने में है, विवाद में नहीं। विवेक साधन है, साध्य नहीं। साधन का अनुसरण सिद्धिदाता है, किन्तु साधन की ममता साधन के रूप में असाधन है। साधन की ममता से रहित होने में ही साधन की पूर्णता निहित है। अत: विवेक का महत्व व्यक्ति से बहुत ऊँचा है। परन्तु विवेक का उपयोग सत्य की खोज में है, विवेकी कहलाने में नहीं। विवेकी कहलाने की रुचि में विवेक का अनादर है। इस कारण विवेक से भी अपने साध्य को अधिक महत्व देना है, क्योंकि साध्य में अगाध, अनन्त, नित-नव प्रियता ही मानव की वास्तविक माँग है। अतः सिक्के से वस्तु वस्तु से व्यक्ति, व्यक्ति से विवेक और विवेक से अपने साध्य को अधिक महत्व देना है। उद्देश्य-पूर्ति तथा संघर्ष का अन्त एवं शान्ति की स्थापना करने के लिए यह क्रम स्वीकार करना प्रत्येक मत, सम्प्रदाय, वर्ग, समाज तथा देश के व्यक्तियों के लिए अनिवार्य है।

सप्तम प्रकरण

अपने गुण और पराये दोष देखने से पारस्परिक एकता सुरक्षित नहीं रहती। गुण, अभिमान को और दोष, भेद को जन्म देता है। अभिमान, परिच्छिन्नता में और भेद, अविश्वास में आबद्ध कर देता है। परिच्छिन्नता अनेक आसक्तियों को और अविश्वास अकर्तव्य को उत्पन्न करता है। इस दृष्टि से अपने गुण तथा पराये दोष देखने से भी संघर्ष का जन्म होता है। गुण किसी व्यक्ति विशेष की वस्तु नहीं है, अपितु अनन्त का स्वभाव है। दोष का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, अपितु प्रमाद का परिणाम है। प्रमाद जाने हुए के अनादर से उत्पन्न होता है, इस कारण वह अपना ही बनाया हुआ दोष है। अपने बनाए दोष को मिटाने का दायित्व अपने ही पर है। जब तक दोषी स्वयं निर्दोष होना नहीं चाहता, तब तक उसे किसी भी भय तथा प्रलोभन से निर्दोष नहीं बनाया जा सकता । यद्यपि निर्दोषता की माँगा मानवमात्र में स्वाभाविक है, परन्तु पर-दोष-दर्शन से निज-दोष की व्यथा इतनी दब जाती है कि निर्दोषता के लिए उतनी व्याकुलता ही नहीं होती, जितनी

आवश्यक है। प्राकृतिक नियमानुसार व्याकुलता की अग्नि में सभी दोष भस्म हो जाते हैं। पर इस रहस्य को वे ही विचारशील जानते हैं, जिन्होंने पर-दोष-दर्शन का त्याग कर अपने प्रमादजन्य दोषों का दर्शन किया है। अपने दोषों का दर्शन करते ही दोषों से भिन्नता स्वतः हो जाती है। यह नियम है कि उत्पन्न हुई सभी निर्बलताओं से यदि विवेकपूर्वक भिन्नता स्वीकार कर ली जाए, तो वे स्वत: नष्ट हो जाती हैं। इस प्रकार अपने दोषों का नाश होते ही गुणों का अभिमान अपने आप गल जाता है। अर्थात् जब दोष उत्पन्न नहीं होते, तब गुणों का भी भास नहीं होता।

दोष-जनित वेदना को दबाने के लिए व्यक्ति अपने को गुणों के अभिमान में आबद्ध कर लेता है, परन्तु गुणों का अभिमान अनेक दोषों को जन्म देता है। इस कारण गुणों का अभिमान समस्त दोषों की भूमि है।

गुणों का अभिमान रहते हुए सर्वांश में निर्दोषता की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है। कारण, कि गुणों का अभिमान पर-दोष-दर्शन कराने में हेतु है। पर-दोष-दर्शन करते हुए निज-दोष का यथेष्ट ज्ञान नहीं होता और न दोष-जनित वेदना ही जाग्रत होती है, जिसके हुए बिना निर्दोषता से अभिन्नता नहीं हो सकती। इस दृष्टि से दोषों को बनाए रखने में पर-दोष-दर्शन ही मुख्य हेतु है। 'पर' की सेवा की जा सकती है और "पर" की ममता का त्याग हो सकता है। पर की सेवा विद्यमान राग की निवृत्ति में साधन रूप है और 'पर' की ममता का त्याग होने पर नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होती। इस दृष्टि से पर-सेवा और पर की ममता का त्याग मानवमात्र को राग-रहित करने में समर्थ है। राग-रहित होते ही समस्त विकास अपने आप होने लगते हैं। अत: अपने गुण तथा पराए दोष देखने का मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। पर-दोष-दर्शन का त्याग किए बिना निर्दोषता के साम्राज्य में प्रवेश ही नहीं हो सकता। गुणों को अपना मानना मिथ्या अभिमान को बढ़ाना है, जो अविवेक-सिद्ध है।

विवेक-दृष्टि से अपने में अपना कुछ नहीं है। सभी वस्तुएँ विश्व की हैं, अपनी नहीं। और वस्तुओं से अतीत जो जीवन है, उसमें अहम् की गन्ध भी नहीं है। यह रहस्य स्पष्ट होते ही समस्त वासनाओं का नाश हो जाता है। निर्वासना आते ही समस्त दिव्य

गुणों की अभिव्यक्ति स्वत: होती है। कोई भी गुण पुरुषार्थ-सिद्ध नहीं है और न किसी कर्म का ही फल है। कर्म का परिणाम परिस्थिति है, जो विधान से निर्मित है। कर्म-सामग्री कर्म का फल नहीं है, क्योंकि सामग्री की प्राप्ति होने पर ही कर्म की सिद्धि हो सकती है। जो कर्म का कारण है, वह कर्म का कार्य नहीं हो सकता। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि अपने में अपना कुछ नहीं है। निज-विवेक के प्रकाश में यह जान लेने पर कि अपने में अपना कुछ नहीं है, निरभिमानता आ जाती है, जिसके आते ही निर्विकारता तथा निर्भरता स्वत: आ जाती है।निर्विकारता आते ही जीवन जगत् के लिए और निर्भरता आते ही जीवन अनन्त के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। इस प्रकार निरभिमानता में ही समस्त विकास निहित हैं।

गुणों के अभिमान के आधार पर उत्पन्न हुआ भेद, प्रीति को व्यापक नहीं होने देता, जिसके न होने से कर्तव्यपरायणता नहीं आती। प्रीति की व्यापकता के बिना अकर्तव्य का नाश कदापि नहीं हो सकता। कारण, कि प्रीति जिसमें होती है, उसके प्रति वह कभी प्रवृत्तियों का नाश कर देती है। यह नियम है कि अहितकर प्रवृत्तियों के नाश में ही सर्वहितकारी प्रवृत्ति निहित है। इस दृष्टि से कर्तव्यपरायणता के लिए प्रीति की व्यापकता अनिवार्य है। प्रीति व्यापक तभी हो सकती है, जब मानव की अपने गुणों तथा पराये दोषों पर दृष्टि न रहे।

अभिमान से उत्पन्न हुई परिच्छिन्नता मानव को वस्तु व्यक्ति आदि के आश्रय से रहित नहीं होने देती। निराश्रय के बिना न तो पराधीनता का ही नाश होता है और न व्यक्तित्व के मोह का ही अन्त हो सकता है। पराधीनता तथा व्यक्तित्व के मोह में आबद्ध प्राणी गुण तथा दोष के द्वंद्व से रहित नहीं हो पाता। इस कारण परिच्छिन्नता का अन्त करना अनिवार्य हे। परिच्छिन्नता विश्व की सेवा तथा अनन्त की प्रीति में ही विलीन हो सकती है। अपने गुण और पराये दोष न देखने पर ही सेवा तथा प्रीति की अभिव्यक्ति होती है। अत: अपने गुण तथा दूसरों के दोष देखना संघर्ष का मूल है। इस प्रमाद को अपनी भूल जानकर उसका नाश करना अनिवार्य है, तभी समस्त संघर्षा का नाश एवं शान्ति की स्थापना तथा परस्पर स्नेह

की एकता सुरक्षित रह सकती है, यह निर्विवाद सत्य है।

प्राकृतिक नियमानुसार निर्दोषता मानव की अपनी माँग है। उसी की पूर्ति के लिए वर्तमान जीवन का उपयोग है। निज-दोष-दर्शन की सामर्थ्य मानवमात्र को मिली है। जब व्यक्ति को उस मिली हुई सामर्थ्य से अपनी वर्तमान वस्तुस्थिति में किसी दोष का दर्शन होता है, तब वह स्वभाव से ही क्षुब्ध तथा भयभीत हो जाता है। यह नियम है कि क्षोभ क्रोध को और क्रोध विस्मृति को उत्पन्न कर देता है और फिर बेचारा प्राणी अपने दोष के भय से भयभीत होकर दोष देखने वाली सामर्थ्य का प्रयोग दूसरे पर करने लगता है। जब वह अपने दोष का आरोप दूसरे पर कर लेता है, तब उसे अपने में अपने प्रति ग्लानि कम हो जाती है, जिसके होते ही अपने किसी न किसी गुण को देखकर दोष-जनित दुःख तथा भय को दबा देता है। यद्यपि दबा हुआ दुःख तथा भय मिटने के लिए अनेक रूपों में प्रकट होता रहता है। पर गुणों का अभिमानी प्राणी बार-बार प्रकट हुए भय तथा दुःख को दबाता ही रहता है। इस अन्तः संघर्ष में जीवन यों ही निकल जाता है। जब मानव सजगतापूर्वक पर-दोष-दर्शन से अपने को विमुख कर लेता है, तब जो सामर्थ्य निज-दोष जानने के लिए मिली थी, उसका उपयोग अपने ही जीवन पर होने लगता है। फिर साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक गुणों के अभिमान से रहित होकर निर्दोष-तत्व से अभिन्न हो जाता है। इस प्रकार अन्तः संघर्ष का अन्त करने पर उसके बाह्य जीवन में भी स्नेह की ही अभिव्यक्ति होती है, जिससे उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति पारस्परिक एकता सुरक्षित रखने में साधनरूप हो जाती है। अतः अपने गुण तथा पराये दोष न देखना ही संघर्ष का अन्त करने में मुख्य साधन है।

अष्टम प्रकरण

दोषयुक्त जीवन के प्रभाव से प्रत्येक व्यक्ति भलीभाँति परिचित है। यदि ऐसा न होता, तो अपने प्रति होनेवाली बुराई का ज्ञान ही न होता। जिसे यह प्रतीति नहीं है कि मेरे साथ किसी ने बुराई की है, उसके जीवन में

भेद का जन्म ही नहीं होता और उसके हुए बिना न तो किसी से सुख की आशा होती है और न दुःख का भय। सुख की आशा ने जीवन में पराधीनता को जन्म दिया और पराधीनता में आबद्ध प्राणी की दृष्टि दूसरों के कर्तव्य पर ठहर गई। उसका परिणाम यह हुआ कि अपने कर्तव्य की विस्मृति हो गई। समस्त विकार विस्मृति से ही पोषित होते हैं। इस दृष्टि से सजगता मानव-जीवन की अमूल्य निधि है।

अपने सुख-दुःख का कारण दूसरों को मानना भूल है। इस भूल के आधार पर अपने कर्तव्य का निर्णय करना सम्भव नहीं है। जो नीति कर्तव्य के निर्णय में समर्थ न हो, उसकी मानव-जीवन में कोई आवश्यकता ही नहीं है। नीति वही सार्थक होती है, जो अपने को कर्तव्यनिष्ठ बनाने में समर्थ हो। अनन्त के विधान से निर्मित निज-विवेक के विरुद्ध कोई भी कार्य करना अनीति है, नीति नहीं। विवेक-विरोधी कर्म ने ही परस्पर में भेद, भिन्नता तथा संघर्ष को जन्म दिया है।

अत: जो रूढ़िगत प्रथा विवेक-विरोधी कर्म के लिए किसी प्रलोभन तथा भय से प्रेरित करती है, वह सर्वथा त्याज्य है, उसी का नाम अनीति है। अनीति का त्याग किये बिना जीवन में नीति का अनुसरण सम्भव नहीं है। इसी कारण अपने प्रति होने वाली बुराई किसी अन्य के प्रति नहीं करना है। अब यदि कोई यह कहे कि क्या अपने प्रति होने वाले अन्याय तथा अत्याचार का विरोध नहीं करना चाहिए? यदि अन्यायी अपने से सबल है, तब आप उसका विरोध बलपूर्वक कर ही नहीं सकते। यदि विपक्षी अपने से निर्बल है, तब आप अपनी रक्षा करते हुए उसके प्रति न्याय तथा प्रेम-युक्त व्यवहार कर ही सकते हैं। अत: यह प्रश्न ही नहीं बनता कि अन्याय का उत्तर न्याय तथा प्रेम से नहीं दिया जा सकता।

अन्याय का अन्त न्याय तथा प्रेम से ही हो सकता है। अन्याय की प्रतिक्रिया यदि अन्याय पूर्वक की जाय, तो अन्याय का ही आदान-प्रदान होता रहता है, जो स्थाई संघर्ष तथा भेद का पोषण करता है। इस कारण अन्याय का उत्तर अन्याय से नहीं देना है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि यदि अपने प्रति अन्याय करने वाले में अपने से बाह्य बल अधिक है, इस कारण उसके मन की बात पूरी करने के लिए अपने मन को दबा दें, अथवा बदल दें।

अन्यायकर्ता कितना ही सबल हो, उससे भयभीत नहीं होना है, उसके प्रस्ताव को स्वीकार नहीं करना है। यहाँ तक कि प्रसन्नता और धीरजपूर्वक अपने प्राणों तक की आहुति देकर अन्याय की अस्वीकृति का परिचय देना है। इस दृष्टि से अन्याय का विरोध तो करना है, किन्तु किसी के प्रति अन्याय नहीं करना है। अपनी रक्षा की भावना में किसी के विनाश का भाव नहीं रखना है। अपनी रक्षा करने के लिए सदैव सजग रहना है और बाह्य बल का अपने अन्तजीवन में भय नहीं रखना है, अपितु त्याग तथा प्रेम के द्वारा अपने को सुरक्षित रखना है। त्याग तथा प्रेम के समान और कोई बल नहीं है। त्याग देहाभिमान का नाश करने में और प्रेम अनन्त से अभिन्न करने में समर्थ है। देहाभिमान गल जाने पर बड़े से बड़ा शक्तिशाली बल के प्रयोग द्वारा उस पर शासन नहीं कर सकता। इस दृष्टि से त्यागपूर्वक अपने को अन्यायी के शासन से मुक्त करना है और प्रीतिपूर्वक उसके अन्याय का नाश करना है।

सर्वांश में कोई भी व्यक्ति अन्यायी नहीं होता और सभी के लिए कोई अन्यायी नहीं होता और सर्वदा कोई अन्याय नहीं करता। सभी को किसी न किसी अंश में न्याय तथा प्रेम को अपनाना ही पड़ता है। सर्वांश में जीवन न्याय तथा प्रेमयुक्त हो जाए, यही वास्तविक अनुपम नीति है।

मानव अपने प्रति दूसरों से जिस भलाई की आशा करता है, वही भलाई उसे बिना किसी प्रलोभन तथा भय के दूसरों के प्रति करनी है। इससे सुन्दर कोई भी कर्तव्य-विज्ञान नहीं हो सकता। कर्तव्य-विज्ञान अपने को स्वाधीन तथा समाज को सुन्दर बनाने का मूल मन्त्र है। कर्तव्य-विज्ञान की दृष्टि से दूसरों के प्रति किया हुआ कई गुना अधिक अपने प्रति स्वतः हो जाता है, यह प्राकृतिक विधान से सिद्ध है। इस रहस्य को भलीभाँति जान लेने पर किसी के प्रति किसी भी परिस्थिति में बुराई करने का कोई स्थान ही नहीं रहता।

बुराई की प्रतिक्रिया से व्यथित होकर मानव-समाज ने बलपूर्वक बुराई को रोकने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के राष्ट्रों की कल्पना की और राष्ट्र द्वारा आशिक बुराई का दमन भी हुआ। राष्ट्र के बल से निर्बल और सबल एक स्थान में रहने लगे, किन्तु व्यक्ति के जीवन में से बुराई का

सर्वांश में नाश नहीं हुआ, यह सभी को विदित है। इस अनुभूति के आधार पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि बुराई की उत्पत्ति जिसमें होती है, उसी को बुराई का नाश करना है। इस प्रथा को सजीव बनाने के लिए मानव-समाज में अनेक मत, सम्प्रदाय आदि का प्रादुर्भाव हुआ। किन्तु योग्यता, रुचि, सामर्थ्य का भेद होने से कोई भी मत, सम्प्रदाय आदि मानवमात्र के लिए सर्वांश में उपयोगी सिद्ध नहीं हुआ। एक-एक मत के मानने वाले करोड़ों व्यक्ति हुए। उन्होंने मत के बाह्य रूप को कार्यान्वित भी किया, परन्तु सर्वांश में दोषों का अन्त मानव-समाज से नहीं हुआ। इसका कारण एकमात्र यही विदित होता है कि जब तक मानव अपने जाने हुए दोष को त्याग कर निर्दोषता की स्थापना नहीं करेगा, तब तक राष्ट्र, मत तथा सम्प्रदाय मानव-समाज को सर्वांश में निर्दोष नहीं बना सकते।

इसका अर्थ यह नहीं है कि राष्ट्र तथा मत, सम्प्रदाय ने जो प्रकाश दिया वह ठीक नहीं है। परन्तु मानव ने अपने जीवन से राष्ट्र अर्थात् न्याय और मत, सम्प्रदाय, अर्थात् प्रेम को प्रकट नहीं किया, उसे दूसरों की बात मानकर अपनाया। उसका परिणाम यह हुआ कि राष्ट्र अपना तो है, पर उसका विधान नहीं मानेंगे, अपने मत, सम्प्रदाय का विरोध अपने ही जीवन से करेंगे। अथवा यों कहो कि राष्ट्र तथा मत-सम्प्रदाय अपने जीवन से अलग की वस्तु बन गई। यह नियम है कि जो जीवन में नहीं है, वह न तो विभु हो सकता है और न नित्य, और न वह उद्देश्य की पूर्ति में ही समर्थ होता है। इस दृष्टि से प्राप्त विवेक के प्रकाश में मानवमात्र को अपने प्रति न्याय करने के लिए जीवन में से ही राष्ट्र का निर्माण और सभी से प्रेम करने के लिए जीवन ही में से अपने मत, सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव करना होगा।

जो अपने प्रति न्याय करता है, वह किसी अन्य से शासित नहीं होता, कारण, कि अपने प्रति न्याय अपने को निर्दोष बनाने में समर्थ है। निर्दोषता पर किसी का शासन नहीं रहता, क्योंकि निर्दोषता की माँग सभी को है। जिसकी माँग सभी को है, उसके अधीन सभी को होना पड़ता है। उस पर कोई शासन नहीं करता। अत: निर्दोषता के अधीन समस्त विश्व रहता है।

अनेकता में एकता का, भेद में अभेद का, भिन्नता में अभिन्नता का दर्शन करने के लिए एवं नित-नव रस के आदान-प्रदान के लिए प्रेम की माँग मानवमात्र को है। जिस प्रकार राष्ट्र का प्रतीक न्याय है, उसी प्रकार मत, सम्प्रदाय का प्रतीक प्रेम है। किसी पद्धति का राष्ट्र हो, उससे न्याय की ही और कोई भी सम्प्रदाय हो, उससे प्रेम की ही आशा की जाती है। सारांश यह है कि न्याय और प्रेमयुक्त जीवन की माँग सभी को है। न्याय वही सार्थक सिद्ध होता है, जो अपने प्रति किया जाए और प्रेम वही सजीव होता है, जो विभु हो। जो किसी सीमा में आबद्ध है वह प्रेम नहीं और जो अन्य के प्रति किया जाता है वह न्याय नहीं। सर्वांश में अन्याय का अन्त होते ही न्याय स्वतः प्रेम में विलीन हो जाता है और वस्तु अवस्था एवं परिस्थितियों की सीमा को पार कर जो प्रेम विभु हो जाता है, वही वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति में समर्थ होता है। अथवा यों कहो कि प्रेम के सम्पादन में ही जीवन की पूर्णता निहित है। प्रेम की माँग सभी को है। प्रेम से किसी की तृप्ति नहीं होती, कितना ही हो, कम ही प्रतीत होता है। इस दृष्टि से प्रेम भी अनन्त ही है। अतः प्रेम की प्राप्ति में ही जीवन की सार्थकता निहित है।

निर्दोष जीवन में ही प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। इस दृष्टि से न्याय प्रेम का ही सहयोगी साधन है। परन्तु न्याय का उपयोग मानव अपने ही प्रति करने में सर्वांश में सफल होता है। न्याययुक्त जीवन से अपने प्रति न्याय करने की भावना स्वत: समाज में फैलती है। ज्यों-ज्यों अपने प्रति न्याय-प्रियता सबल तथा स्थाई होती है, त्यों-त्यों बाह्य शासन से मुक्ति होती जाती है। इस दृष्टि से प्रत्येक मानव को अपने प्रति न्याय करना अनिवार्य है। जिस प्रकार औषधि रोग को खाकर स्वयं नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार न्याय अन्याय को खाकर स्वत: प्रेम में विलीन हो जाता है। मानव होकर किसी अन्य के द्वारा शासित रहना मानव-जीवन का बड़ा अनादर है। इस अनादर का अन्त करने के लिए न्याय-प्रियता को अपना लेना अनिवार्य हे।

किसी भी प्रणाली का राष्ट्र क्यों न हो, जब तक मानव-समाज अपने लिए न्याय-प्रियता को नहीं अपनाएगा, तब तक निर्दोषता की अभिव्यक्ति नहीं होगी और उसके हुए बिना जीवन सर्वात्म-भाव से परिपूर्ण न

होगा। सर्वात्म-भाव के बिना वैर-भाव का नाश सम्भव नहीं है और उसके नष्ट हुए बिना अन्तर्बाह्य संघर्ष मिट नहीं सकते। संघर्ष का नाश हुए बिना शान्ति, सामर्थ्य तथा स्वाधीनता सुरक्षित रह नहीं सकती। स्वाधीन जीवन में ही प्रेम की अभिव्यक्ति हो सकती है। जिसे अपने लिए किसी भी वस्तु, व्यक्ति आदि की अपेक्षा है, उसका प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश ही नहीं हो पाता। वस्तुओं के सदुपयोग और व्यक्तियों की सेवा द्वारा जब मानव अपने को वस्तु-व्यक्ति की दासता से मुक्त कर लेता है, तभी निर्दोषता प्राप्त कर प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश करने का अधिकारी होता है।

अपने द्वारा अपनी की हुई भूल मिटाने के लिए अपने को जो दण्डित करता है, उसी का नाम न्याय है। न्याययुक्त जीवन बनाने के लिए अपने पर अपने बल का उपयोग करना पड़ता है। उसी का नाम तप है। तप, से असमर्थता नष्ट होती है, जिसके नष्ट होते ही अकर्तव्य की उत्पत्ति नहीं होती और कर्तव्यपरायणता स्वभाव से ही आ जाती है, जिसके आते ही समस्त दोष अपने आप गल जाते हैं और निर्दोषता से अभिन्नता हो जाती है। यही न्याय की पूर्णता है॥

निर्दोषता से अभिन्न होने पर यदि प्रेम की माँग, अर्थात् उसकी भूख नहीं जगी, तो निर्दोषता में सजीवता नहीं रहेगी, अर्थात् शून्यता आ जाएगी। इस कारण निर्दोषता की सार्थकता प्रेम की प्राप्ति में ही है। न्याय निर्दोषता प्रदान कर सकता है, किन्तु सभी के प्रति अभेदता करने में समर्थ नहीं होता। भेद और भिन्नता का नाश प्रेम के द्वारा ही सम्भव है। इसी कारण प्रत्येक सम्प्रदाय का उद्देश्य प्रेम ही है। व्यक्ति जिसकी सत्ता स्वीकार करता है, उसे उसी का प्रेम प्राप्त करना है और उसी के काम आना है। अपने अधिकार के त्याग का पाठ प्रेम पढ़ाता है और दूसरों के अधिकार देने की बात न्याय सिखाता है। दूसरों के अधिकार दे डालने पर ही अपने अधिकार के त्याग की सामर्थ्य आती है। अधिकार दिये बिना अपने अधिकार को माँगना न्याय नहीं है और अधिकार देने पर अधिकार माँगना प्रेम नहीं है। प्रेमी वही हो सकता है, जिसमें अधिकार की गन्ध भी नहीं है, इसी कारण प्रेम विभु हो जाता है। अधिकार-लालसा के रहते हुए प्रेम की

अभिव्यक्ति ही नहीं होती। सभी सम्प्रदायों में किसी न किसी ढंग से अधिकार-त्याग की ही बात बताई गई है। उसके बिना सर्वांश में सत्य, अहिंसा आदि का प्रादुर्भाव भी नहीं हो सकता। उसके हुए बिना वास्तविक एकता हो ही नहीं सकती और न संघर्ष ही नष्ट हो सकता है। इस दृष्टि से समस्त मत और सम्प्रदायों की अन्तिम परिणति प्रेम में ही होती है। समस्त प्रयास सत्य और अहिंसा के सम्पादन में और सत्य-अहिंसा का उपयोग प्रेम की प्राप्ति में ही निहित है। इस दृष्टि से समस्त मत, सम्प्रदायों की परावधि प्रेम में है। न्याय दोषों को और प्रेम भेद को खाकर निर्दोषता तथा अभेदता प्रदान कर कृतकृत्य करने में समर्थ होता है। बस, यही जीवन की सफलता है।

नवम प्रकरण

अनन्त की अहैतुकी कृपा से मानव-जीवन का निर्माण हुआ है, क्योंकि विवेकयुक्त जीवन ही मानव-जीवन है। इस जीवन में अपने लिए कुछ भी करने की बात नहीं है, यह इसकी महिमा है। पर जब व्यक्ति जीवन के महत्व को भूल जाता है, तब पराधीनता, जड़ता और अभाव आदि में आबद्ध होकर स्वाधीन होने पर भी अनेक प्रकार की विवशताओं में अपने को जकड़ लेता है और फिर वस्तु व्यक्ति, अवस्था आदि की कामनाओं में अपने को बाँध लेता है। जो जीवन जगत् और जगत् के प्रकाशक के लिए उपयोगी था, वह जीवन अपने लिए अन्य का आश्रय खोजता है, किन्तु उसे किसी से भी कुछ मिलता नहीं। व्यक्ति जिन कामनाओं में जीवन-बुद्धि करता है, वे सभी कामनाएँ पूरी नहीं होतीं और जो कामनाएँ पूरी होती हैं, उनका सुख नवीन कामनाओं को जन्म देता है। वस्तुस्थिति ज्यों-की-त्यों रहती है। ऐसी भयंकर परिस्थिति में जब मानव निज-विवेक के प्रकाश में अपनी ओर देखता है, तब उसे कोई भी वस्तु ऐसी नहीं प्रतीत होती, जो उसके काम आ जाए। तब वह मिली हुई वस्तुओं को विश्व की धरोहर जान कर विश्व की सेवा में व्यय कर लेता है और उसके बदले में किसी प्रकार की आशा नहीं करता। तब उसकी पराधीनता अपने-आप नष्ट हो जाती है, जिसके होते ही वह अपने

जीवन को अपने लिए उपयोगी पाता है। परन्तु यह रहस्य वे ही मानव जान पाते हैं, जो अपने ज्ञान से अपनी ओर देखते हैं।

ज्ञान किसी कर्म का फल नहीं है, कारण, कि बिना ज्ञान के कर्मानुष्ठान सिद्ध नहीं होता। जो कर्म की सिद्धि में हेतु है, वह कर्म का कार्य नहीं हो सकता। इतना ही नहीं, जिस सामग्री से कर्म सम्पन्न होता है, वह सामग्री भी कर्मानुष्ठान से पूर्व ही प्राप्त होती है। ज्ञान तथा कर्म-सामग्री जिसकी देन है, उस दाता को कोई भले ही न जाने, पर यह तो सभी को मान्य है कि जो कुछ मिला है, वह व्यक्तिगत नहीं है।

बाह्य दृष्टि से भी यह निर्विवाद सिद्ध है कि जिस आहार से शरीर का निर्माण होता है, वह आहार विश्व की उन शक्तियों से मिलता है, जो व्यक्तिगत नहीं हैं। इससे यह तो स्पष्ट ही है कि शरीर और विश्व में स्वरूप की एकता है। विभिन्न रचना के कारण गुणों की भले ही भिन्नता हो, किन्तु विश्व से किसी भी वस्तु का विभाजन नहीं हो सकता। कोई वस्तु ऐसी नहीं है, जो विश्व के साम्राज्य से अलग की जा सके। इस दृष्टि से उत्पन्न हुई प्रत्येक वस्तु विश्व की ही सम्पत्ति है। व्यक्ति प्रमादवश विश्व से उत्पन्न हुई वस्तु को अपनी मानता है, पर विश्व को अपना नहीं मानता। इस विवेक-विरोधी मान्यता ने एकता में अनेकता को जन्म दिया है। उसका परिणाम यह हुआ है कि समष्टि-सृष्टि के अन्तर्गत एक व्यक्तिगत सृष्टि प्रतीत होने लगी है। उस प्रतीति को सत्य मान लेने से दो व्यक्तियों, वर्गों एवं देशों में संघर्ष उत्पन्न हो गया है। उसका अन्त करना मानवमात्र के लिए अत्यन्त आवश्यक है। किन्तु वस्तु विशेष की तो कौन कहे, समस्त विश्व मिल कर भी मानव की वास्तविक माँग को पूरा करने में समर्थ नहीं है। विश्व जिसके प्रकाश से प्रकाशित है, उसकी जिज्ञासा और विश्व से उत्पन्न हुए पदार्थों की कामना किसमें है? इसकी खोज करना अनिवार्य है।

जिसकी ममता किसी वस्तु में नहीं है और जिसने किसी व्यक्तित्व में अपने को आबद्ध नहीं किया है, उसे विश्व के साम्राज्य की किसी भी वस्तु तथा व्यक्ति की कामना नहीं है। अब यदि कोई यह कहे कि किसी भी वस्तु की ममता क्या विवेक-सिद्ध है? कदापि नहीं। क्योंकि प्रत्येक वस्तु

समस्त विश्व के साथ एक है। विश्व की ममता से पूर्व वस्तु की ममता प्रमाद है और कुछ नहीं। यदि समस्त विश्व अपना है, तब भी कामना उत्पन्न नहीं हो सकती, क्योंकि प्राप्त की कामना नहीं होती। यदि कोई भी वस्तु अपनी नहीं है, तब भी कामना नहीं हो सकती। अत: यह स्पष्ट विदित होता है कि कामनाओं की उत्पत्ति अविवेक-सिद्ध है। निज-विवेक का आदर करते ही वस्तु व्यक्ति आदि की कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं, जिनके नष्ट होते ही मिली हुई वस्तु अवस्था, परिस्थिति तथा समस्त विश्व से असंगता प्राप्त होती है। उस असंगता में क्या जीवन है? उसका अनुभव असंग होने से पूर्व सम्भव नहीं है। किन्तु असंग होना मानवमात्र के लिए सम्भव है। मानव की यह स्वाधीनता प्राकृतिक नियमानुसार सुरक्षित है। प्राप्त स्वाधीनता का सदुपयोग न करने में ही पराधीनता निहित है। स्वाधीनता का सदुपयोग न करने और पराधीनता में ही जीवन-बुद्धि स्वीकार कर लेने से व्यक्तित्व का मोह उत्पन्न हुआ है। इस दृष्टि से पराधीनता के लिए मानव-जीवन नहीं है। मानव-जीवन में जो कुछ पराधीनता है, वह अपनी ही भूल है। भूल जाने हुए की होती है। जिसे नहीं जानते, उसकी भूल नहीं होती। इस दृष्टि से अपने जाने हुए का प्रभाव अपने पर न होने से ही विश्व की वस्तुओं में ममता और व्यक्तित्व का मोह उत्पन्न हुआ है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार वस्तुओं की ममता तथा व्यक्तित्व का मोह उत्पन्न होने पर भी जिज्ञासा की भूख सुरक्षित है। कामनापूर्ति के प्रलोभन से जिज्ञासा में शिथिलता भले ही आ जाय, किन्तु उसका नाश नहीं होता। वर्तमान वस्तुस्थिति में ज्यों-ज्यों सन्देह बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों जिज्ञासा सबल तथा स्थाई होती जाती है। जिस काल में मानव वास्तविकता बिना जाने किसी प्रकार भी चैन से नहीं रहता, उसी काल में समस्त कामनाओं की निवृत्ति और जिज्ञासा की पूर्ति हो जाती है। यह अनन्त का मंगलमय विधान है।

जिज्ञासा का प्राकट्य अल्प ज्ञान में होता है। जिज्ञासा उसी के सम्बन्ध में होती है, जिसके सम्बन्ध में कुछ न कुछ जानकारी है। अल्प ज्ञान को ही अज्ञान कह सकते हैं। उससे भिन्न अज्ञान जैसी कोई वस्तु नहीं है। यदि कोई ज्ञान के अभाव को अज्ञान मानता है, तो उसकी यह मान्यता

युक्ति-युक्त नहीं है, कारण, कि अज्ञान को व्यक्ति स्वयं स्वीकार करता है। स्वीकृति उसकी नहीं होती, जिसके सम्बन्ध में कुछ भी जानकारी नहीं है। अत: यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान का अभाव अज्ञान नहीं है, अपितु अल्प ज्ञान ही अज्ञान है।

अल्प ज्ञान का प्रकाशन स्वत: सिद्ध नहीं हो सकता, किसी विशेष ज्ञान से ही हो सकता है। जिस ज्ञान से अल्प ज्ञान का प्रकाशन होता है, वह ज्ञान स्वयं-प्रकाश है। स्वयं-प्रकाश से ही अपना और अपने से भिन्न का प्रकाशन होता है। उस स्वय-प्रकाश से ही मानव को विवेक रूपी प्रकाश मिला है।

जब मानव मिले हुए विवेक के प्रकाश में इन्द्रिय तथा बुद्धि दृष्टि से विश्व के साम्राज्य को देखता है, तब उसमें अनेक प्रकार के सन्देह उत्पन्न होते हैं। सन्देह की वेदना बीज रूप से विद्यमान जिज्ञासा को पुष्ट करती है। जिज्ञासा अल्प ज्ञान के आधार पर आधारित कामनाओं को खा लेती है। कामनाओं के नष्ट होते ही इन्द्रिय-दृष्टि बुद्धि-दृष्टि में विलीन हो जाती है और बुद्धि-दृष्टि विश्व से विमुख होकर निज-विवेक के प्रकाश में विलीन हो जाती है। विवेक का प्रकाश वस्तुओं की ममता और व्यक्तित्व के मोह से उत्पन्न हुए अंधकार को नष्ट कर देता है, जिसके नष्ट होते ही पराधीनता, जड़ता तथा अभाव का अभाव हो जाता है और फिर मानव-जीवन विश्व तथा विश्व के प्रकाशक के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। इस पवित्रतम उद्देश्य की पूर्ति मानवमात्र प्राप्त परिस्थिति में कर सकता है।

यद्यपि मानव-जीवन का आरम्भ पराधीनता से होता है, परन्तु उसकी पूर्णता स्वाधीनता में निहित है। बालक का जन्म होते ही उसे अल्प ज्ञान के आधार पर यही प्रतीत होता है कि जो कुछ प्रतीत होता है, वह मेरे काम आयेगा। बालक के शरीर का ज्यों-ज्यों विकास होता जाता है, त्यों-त्यों बालक अपने शिक्षण एवं पोषण के लिए दूसरों की आवश्यकता अनुभव करता है। इतना ही नहीं, शरीर युवक तथा युवती के रूप में परिणत होने पर भी विकसित शरीर और सम्पादित शिक्षा के उपयोग के लिए अनुकूल कार्य तथा परिस्थिति की आवश्यकता अनुभव करता है। इससे यह स्पष्ट ही हो जाता है कि जब तक प्राणी की रुचि अपने को ज्ञान, विज्ञान तथा कलाओं

द्वारा सुन्दर बनाकर सुख-भोग के आदान-प्रदान की है, तब तक पराधीनता ही पराधीनता रहती है। प्राकृतिक विधान के अनुसार जब उसे पराधीनता में अभाव तथा बन्धन एवं जड़ता का ही अनुभव होता है, तब स्वाधीनता की लालसा जाग्रत होती है। स्वाधीनता किसी परिस्थिति द्वारा सम्भव नहीं है और न किसी वस्तु, व्यक्ति, अवस्था के आश्रय से मिल सकती है। इस अनुभूति के आधार पर मानव वस्तु, व्यक्ति, अवस्था आदि से अतीत के जीवन की खोज करता है, यही वास्तविक जिज्ञासा है। उस जिज्ञासा को कामना-पूर्ति-अपूर्ति के सुख-दुःख से दबाना अथवा उसे शिथिल बना देना भूल है। इस भूल का ज्ञान जिस ज्ञान से होता है, उस ज्ञान में भूल मिटाने का ज्ञान भी विद्यमान है। वह ज्ञान अनन्त की ओर से मानव को स्वयं मिलता है। उस ज्ञान के प्रकाश में ही मानव को कर्तव्य का निर्णय करना है। कर्तव्य का सम्बन्ध प्राप्त परिस्थिति से है। किसी अप्राप्त परिस्थिति के आधार पर किसी भी कर्तव्य का निर्णय नहीं किया जा सकता। प्रत्येक परिस्थिति में कर्तव्य का पालन हो सकता है। कर्तव्य से च्युत होने के लिए मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। किसी भी मानव को सामर्थ्य तथा विवेक-विरोधी कार्य नहीं करना है। पर जिस कार्य में सामर्थ्य तथा विवेक का विरोध न हो, उसका करना अनिवार्य है। मिली हुई सामर्थ्य का सदुपयोग विवेक रूपी विधान के अधीन करना ही कर्तव्य है। कर्तव्य का सम्बन्ध विश्व के साथ है। अपने लिए किसी भी मानव को कोई ऐसा कार्य नहीं करना है, जिसका सम्बन्ध उत्पत्ति-विनाशयुक्त वस्तुओं से हो। अपने प्रति तो मानव को केवल यही करना है कि विश्व की वस्तुओं में जो उसने ममता कर ली है, उसका अन्त कर डाले, अर्थात् ममता-रहित हो जाए। ममता के नष्ट होते ही निर्विकारता अपने आप आ जाती है, जिसके आते ही मानव अपने आप उस जीवन से अभिन्न हो जाता है, जिस जीवन में पराधीनता, जड़ता तथा अभाव नहीं है। उसी जीवन में उसके प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, जिससे मानव को सब कुछ मिला है। उसे कोई माने, अथवा न माने, वह दाता तो सभी को सर्वदा अपना ही जानता है। सच तो यह है कि जो हमारे जानने में आता है, वह हमारा नहीं है और जिसे

हम नहीं जानते हैं, पर वे हमें जानते हैं, वे ही हमारे हैं, उनमें आत्मीयता और जिसे हम बुद्धि तथा इन्द्रिय दृष्टि से जानते हैं, उसकी ममता का त्याग ही मानव को अपने लिए अभीष्ट है।

ममता-रहित होते ही प्रत्येक कर्म विश्व की सेवा हो जाता है और अपने में अपनी आत्मीयता स्वत: प्रकट होती है। सेवा मानव-जीवन को विश्व के लिए, ममता का त्याग अपने लिए और ममता-रहित आत्मीयता अनन्त के लिए उपयोगी सिद्ध करती है। सेवा सुन्दर समाज के निर्माण में, त्याग अपने कल्याण में तथा आत्मीयता से उत्पन्न हुई प्रियता अनन्त को रस प्रदान करने में हेतु है। इस प्रकार यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि मानव-जीवन का आरम्भ पराधीनता से होता है और उसके विकास की परावधि स्वाधीनता में होती है। स्वाधीन जीवन से विश्व और विश्व के प्रकाशक को रस मिलता है। यह मंगलमय विधान है। जिससे इस विधान की अभिव्यक्ति होती है, उसी अनन्त की अहैतुकी कृपा से मानव-जीवन निर्मित है। पर यह रहस्य वे ही विचारशील जानते हैं, जिन्होंने मानव-जीवन का स्पष्ट दर्शन किया है।

दशम प्रकरण

व्यक्तिगत जीवन की ओर जब मानव प्राप्त विवेक के प्रकाश में बुद्धि-दृष्टि से देखता है, तब उसे अपने में असमर्थता का बोध होता है। असमर्थता का ज्ञान सामर्थ्य की आवश्यकता है। असमर्थता ने ही अन्तर-द्वन्द्व और बहिर-द्वन्द्व उत्पन्न कर दिये है। यदि असमर्थता न होती, तो विवेक-विरोधी कर्म में प्रवृत्ति ही न होती और न व्यर्थ-चिन्तन ही होता। व्यक्ति को जो करना चाहिए, वह हो नहीं पाता और जो नहीं करना चाहिए, उसे वह विवश होकर कर बैठता है। यह विवशता असमर्थता सिद्ध करती है। जिस प्राप्त सामर्थ्य का व्यय वर्तमान कर्तव्य-कर्म में करना चाहिए, उसे न करके व्यक्ति विवेक-विरोधी कार्य करने लगता है, जिसके करने से अपने में अपराधी-भाव उत्पन्न हो जाता है। यही अन्तर्द्वन्द्व है। इतना ही नहीं, जिसमें चित्त सदा के लिए लग जाना चाहिए, उसमें लगता नहीं और जिससे

हट जाना चाहिए, उससे हटता नहीं। यद्यपि हटाने और लगाने का प्रयास मानव न जाने कब से कर रहा है, किन्तु अभी तक यह समस्या हल नहीं हुई। इसके हल न होने का मुख्य कारण यह है कि व्यक्ति असमर्थता का नाश किए बिना ही समस्या हल करने का असफल प्रयास करता है।

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि असमर्थता का नाश करने के लिए क्या करना अनिवार्य है। मिली हुई सामर्थ्य के दुरुपयोग से असमर्थता उत्पन्न होती है। असमर्थता सामर्थ्य का अभाव नहीं है, अपितु सामर्थ्य की न्यूनता है। प्राकृतिक नियमानुसार अल्प सामर्थ्य का सदुपयोग करने पर आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति स्वतः हो जाती है। इस दृष्टि से प्रत्येक मानव असमर्थता का अन्त कर आवश्यक सामर्थ्य की उपलब्धि में सर्वदा समर्थ है।

जिस व्यक्ति को अल्प सामर्थ्य का सदुपयोग करना है, उसे भूतकाल की घटनाओं के आधार पर अपने को दोषी नहीं मानना चाहिए और न किसी अन्य को दोषी समझना चाहिए। प्राकृतिक नियमानुसार भूतकाल सभी का सदोष और वर्तमान निर्दोष है। भूतकाल की सदोषता की व्यथा से व्यथित होकर वर्तमान की निर्दोषता में आस्था स्वीकार करना अनिवार्य है। निर्दोषता में आस्था स्वीकार करते ही निर्दोषता के प्रति स्वत: प्रियता जाग्रत होती है और वह फिर दोषों का जन्म ही नहीं होने देती। निर्दोषता की प्रियता ही निर्दोषता को सुरक्षित रखने में समर्थ है।

यद्यपि निर्दोषता की प्रियता बीज रूप से मानव-मात्र में विद्यमान है, परन्तु दोष -जनित सुख की दासता ने निर्दोषता की प्रियता को विकसित नहीं होने दिया। उसका बड़ा ही भयंकर परिणाम हुआ है कि मानव मिली हुई सामर्थ्य का सदुपयोग न करके उसका दुरुपयोग करने लगा है, जिससे उत्तरोत्तर असमर्थता ही बढ़ती जाती है। असमर्थता का अन्त करने के लिए वर्तमान की निर्दोषता में अविचल श्रद्धा, और दोष-जनित सुख के प्रलोभन का त्याग, अनिवार्य है।

वर्तमान की निर्दोषता के आधार पर अपने में से अपराधी-भाव का नाश बड़ी ही सुगमतापूर्वक हो सकता है। इसके होने पर दोषों की उत्पत्ति ही नहीं होती और उसके हुए बिना प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग स्वतः

होने लगता है, जिसके होते ही उत्तरोत्तर आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति अपने आप होती है। आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होते ही विवेक-विरोधी कर्म अपने आप मिट जाते हैं, जिनके मिटते ही आवश्यक कार्य अपने आप पूरे हो जाते हैं। इतना ही नहीं, कार्य के अन्त में चित्त स्वभाव से ही उसमें लग जाता है, जिसमें लगना चाहिए और उससे अपने आप हट जाता है, जिससे हटना चाहिए। इस प्रकार अन्तर्द्वन्द्ध अपने आप मिट जाता है।

अब यदि कोई यह कहे कि जो व्यक्ति सब प्रकार से असमर्थ हो जाए, अर्थात् अल्प सामर्थ्य का भी सदव्यय न कर सके, तो उसका अन्तर्द्वन्द्ध कैसे नष्ट होगा? सर्वांश में असमर्थता प्राणों के रहते हुए नहीं आती और सर्वांश में मिली हुई सामर्थ्य का दुरुपयोग कोई भी व्यक्ति नहीं कर पाता। इस दृष्टि से अल्प सामर्थ्य के सदुपयोग में मानव असमर्थ नहीं है। अपने को असमर्थ मान लेना प्रमाद है। वास्तविक असमर्थता में तो अनन्त सामर्थ्य निहित है। सीमित सामर्थ्य के अभिमान में आबद्ध होने से ही मानव सर्व-समर्थ से विमुख हुआ है। जो वास्तव में कुछ नहीं कर सकता, उसे कुछ न करने से ही सब कुछ प्राप्त होता है, यह मंगलमय विधान है। असमर्थता में सहयोग स्वत: प्राप्त होता है। प्रत्येक मानव को वही करना है, जिसे वह कर सकता है। जो कुछ नहीं कर सकता, उसके द्वारा कोई बुराई भी नहीं हो सकती। बुराई की उत्पत्ति न होने पर भलाई अपने आप होने लगती है, अर्थात् समस्त दोषों के त्याग में निर्दोषता निहित है। क्या कोई मानव यह भी नहीं कर सकता कि की हुई भूल को पुन: न दोहराए? जो ऐसा करने के लिए भी इन्कार करे, तो समझना चाहिए कि वह बुराई को बुराई जान कर करता है। उसे अपना भला अभीष्ट नहीं है। जिसे अपना बुरा अभीष्ट नहीं है, वह किसी के साथ बुराई नहीं करता। जो किसी के साथ बुराई नहीं करता, उसका भला अपने आप हो जाता है। इस मंगलमय विधान को जो अपना लेता है, उसका विकास अवश्य होता है। अन्तर-द्वन्द्व मिटाने के लिए यह अनिवार्य है कि अपने दु:ख का कारण किसी और को मत समझो और किसी से सुख की आशा मत करो। ऐसा करने से अन्तर्द्वन्द्ध अपने आप मिट जाता है। सुख की आशा से

ही समस्त दुःख उत्पन्न होते हैं। पराये दुःख से दुःखी होने पर ही सुख की आशा गलती है। प्राकृतिक नियम के अनुसार अपने दुःख से दुःखी उन्हीं को होना पड़ता है, जो पराए दुःख से दुःखी नहीं होते। दूसरों के दुःख से दुःखी हुए बिना किसी का भी दुःख नहीं मिट सकता, यह प्राकृतिक विधान है।

अब यदि कोई यह कहे कि पराए दुःख से दुःखी होना अनिवार्य क्यों है? तो कहना होगा कि प्राकृतिक नियम के अनुसार शरीर विश्व से और व्यक्ति समाज से अभिन्न है। जो व्यक्ति समाज के दुःख से दुःखी नहीं होता, उसकी समाज से अभिन्नता नहीं होती, जिसके न होने से व्यक्तित्व का मोह दृढ़ हो जाता है। व्यक्तित्व का मोह व्यक्ति को निरन्तर दीनता तथा अभिमान की अग्नि में जलाता है। इस कारण पराए दुःख से दुःखी होने पर ही व्यक्तित्व का मोह गल सकता है, जिसके गलने पर ही दुःख का अन्त हो सकता है।

पराए दुःख का अर्थ क्या है? अपने से अधिक दुःखियों को देखकर सुख भोगने में जो असमर्थ है तथा जिसे दूसरों का सुख प्रसन्नतापूर्वक सहन होता है, वही पराए दुःख से दुःखी होता है। पर -पीड़ा से पीड़ित प्राणी निज-पीड़ा से सर्वदा मुक्त है। इस रहस्य को भलीभाँति जान लेने पर अन्तर-द्वन्द्व अपने आप मिट जाता है। अन्तर्द्वन्द्व मिटते ही अनावश्यक तथा अशुद्ध संकल्प नष्ट हो जाते हैं और आवश्यक तथा शुद्ध संकल्प स्वत: पूरे हो जाते हैं। संकल्प-पूर्ति के सुख का भोग न करने पर अपने आप निर्विकल्पता की अभिव्यक्ति होती है। निर्विकल्पता में ही शान्ति तथा सामर्थ्य निहित है। निर्विकल्पता मानवमात्र को प्राप्त हो सकती है। अतः सामर्थ्य को सम्पादन में मानव स्वाधीन है।

अब यदि कोई यह कहे कि सामर्थ्य का स्वरूप क्या है? बहुत से सामान का संग्रह करना और बहु संख्यक जन-बल सम्पादित करना तथा ज्ञान, विज्ञान और कलाओं से व्यक्तिगत जीवन को सुन्दर बनाना एवं समाज में उच्च स्थान तथा पद विशेष को प्राप्त कर लेना एक बड़ी भारी सामर्थ्य है-ऐसा मान लेना सामर्थ्य के वास्तविक स्वरूप को न जानना है। सामर्थ्य की अभिव्यक्ति जिस व्यक्ति, वर्ग, समाज तथा देश में हो जाती है, वह व्यक्ति, वर्ग समाज तथा देश किसी व्यक्ति, वर्ग, समाज तथा देश के

अधिकारों का अपहरण नहीं करता, अर्थात् उसके द्वारा सम्पादित वस्तु आदि के बल का दुरुपयोग नहीं होता।

इस दृष्टि से सामर्थ्यशाली वही है, जो बल का दुरुपयोग तथा विवेक का अनादर नहीं करता और जिसकी प्रसन्नता किसी और पर निर्भर नहीं रहती एवं जो सभी के लिए उपयोगी तथा हितकर सिद्ध होता है। जिससे कभी किसी का अहित नहीं होता, वही सामर्थ्यवान है। वास्तविक सामर्थ्य मानव को उत्तरोत्तर पराधीनता से स्वाधीनता और जड़ता से चिन्मयता की ओर अग्रसर करती है, यह निर्विवाद सत्य है।

अन्तर-द्वन्द्व मिटाने में मानव बहिर-द्वन्द्व मिटाने की अपेक्षा अपने को अधिक स्वतन्त्र अनुभव करता है; कारण, कि बहिर-द्वन्द्व तब उत्पन्न होता है, जब कुटुम्बी, पड़ौसी, वर्ग, देश और विश्व के लोग अपने-अपने मन की बात पूरी कराते हैं और परिस्थिति प्रतिकूल होती है। मानव दूसरों के मन की बात पूरी करने में जितना स्वाधीन है, उतना अपने मन की बात दूसरों के द्वारा पूरी कराने में स्वाधीन नहीं है। प्राकृतिक विधान से निर्मित प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में जितनी स्वाधीनता है, उतनी उसके परिवर्तन में नहीं है।

परन्तु जब व्यक्ति इस बात पर विचार नहीं करता कि जिस कार्य में स्वाधीनता नहीं है, उसकी आशा न करे और जिसमें स्वाधीन है, उसको उदारतापूर्वक कर डाले, तब बेचारा बहिर्द्वन्द्ध में आबद्ध हो जाता है। उसका बड़ा ही भयंकर परिणाम यह होता है कि उसे दूसरों के कर्तव्य और अपने अधिकार की स्मृति तथा दूसरों के अधिकार और अपने कर्तव्य की विस्मृति हो जाती है। वह बेचारा इतना विवश हो जाता है कि सदैव अपने दुःख का कारण दूसरों को ही मानता रहता है। यह सोच ही नहीं पाता कि मेरे द्वारा भी दूसरों को दुःख होता है। जिस दुःख का कारण हम दूसरों को मानेंगे, वह दुःख भला कभी मिट सकता है? कदापि नहीं। दुःखी का दुःख तभी मिट सकता है, जब वह अपने दुःख का कारण किसी और को न माने। अत: बहिर्द्वन्द्ध मिटाने के लिए यह अनिवार्य है कि मानव यह स्वीकार करे कि मेरे दुःख का कारण कोई दूसरा हो ही नहीं सकता। इस स्वीकृति के बिना बहिर्द्वन्द्ध मिटाने की योग्यता का सम्पादन नहीं होगा। जब मानव

अपने दुःख का कारण किसी और को नहीं मानता, तब वह क्रोध-रहित हो जाता है। क्रोध-रहित होते ही उसे अपने कर्तव्य की स्मृति आती है, जिसके आते ही उसके द्वारा दूसरों के अधिकार सुरक्षित होने लगते हैं। यह नियम है कि जिससे जिसके अधिकार सुरक्षित होते हैं, वह उसके अधीन हो जाता है अथवा यों कहो कि परस्पर एकता हो जाती है और स्नेह उदित होता है। ऐसा होते ही विपक्षी में भी कर्तव्य परायणता आ जाती है। इतना ही नहीं, ज्यों-ज्यों स्नेह का आदान-प्रदान बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों अपने-अपने अधिकार की विस्मृति होती जाती है, जिसके होने से पराधीनता स्वत: मिटती जाती है। सर्वांश में पराधीनता का नाश होते ही द्वंद्वातीत जीवन में प्रवेश हो जाता है।

क्रोध का नाश होते ही कर्तव्य की स्मृति के साथ-साथ मानव में क्षमाशीलता की अभिव्यक्ति भी होती है। क्षमाशीलता अपने प्रति होने वाले अन्याय को भुला देती है। इतना ही नहीं, ज्यों-ज्यों क्षमाशीलता सबल तथा स्थाई होती जाती है, त्यों-त्यों प्रतिहिंसा की भावना स्वत: गलती जाती है, जिसके गलते ही वैर भाव की गंध भी नहीं रहती। निर्वैरता के आते ही निर्भयता, समता, मुदिता आदि दिव्य गुणों की अभिव्यक्ति स्वत: हो जाती है।

प्रतिकूल परिस्थिति भी व्यक्ति के जीवन में बहिर्द्वन्द्व उत्पन्न कर देती है। भोग की रुचि है, भोगने की शक्ति भी है, पर भोग्य वस्तु नहीं है। इस दशा में व्यक्ति खीझ उठता है और परिस्थिति से संघर्ष करने की बात सोचता है। इस बात को भूल जाता है कि परिस्थिति जिस विधान से निर्मित है, वह विधान सभी के लिए हितकर है। यद्यपि भोग में प्रवृत्ति होने पर भोगने की शक्ति का ह्रास और भोग्य वस्तु का विनाश अपने आप हो जाता है। इतना ही नहीं, भोग-प्रवृत्ति के अन्त में बेचारा भोगी पराधीनता, जड़ता एवं अभाव में ही आबद्ध हो जाता है। परन्तु उसकी दृष्टि भोग के परिणाम पर नहीं जाती। यह नियम है कि जब तक भोगी, भोग के परिणाम को नहीं अपनाएगा, तब तक न तो अनुकूल परिस्थिति ही आएगी और न परिस्थितियों से अतीत के जीवन में प्रवेश ही होगा। जो विधान मानव को भोग-वासना से रहित करने के लिए प्रतिकूल परिस्थिति उपस्थित करता है,

उसी विधान से मानव को विवेक भी मिला है। यदि मानव निज-विवेक के प्रकाश में बुद्धि-दृष्टि से प्राप्त परिस्थिति को देखे, तो उसे यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि कोई भी परिस्थिति जीवन नहीं है, अपितु प्रत्येक परिस्थिति उत्पत्ति-विनाश-युक्त है। परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि न रहने पर प्रत्येक परिस्थिति का समान अर्थ हो जाता है।

अब यदि कोई यह कहे कि परिस्थिति जीवन नहीं, तो क्या है? क्या जीवन उसे कहते हैं, जो पर-प्रकाश्य हो तथा जिसका स्वतंत्र अस्तित्व न हो? क्या कोई ऐसी परिस्थिति है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व हो अथवा स्वयंप्रकाश हो? तो यह मानना ही पड़ेगा कि ऐसी कोई परिस्थिति नहीं है। फिर परिस्थितियों को जीवन मानना प्रमाद के अतिरिक्त और क्या हो सकता है?

प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक विधान के अनुसार साधन—सामग्री के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यदि मानव विवेकपूर्वक प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग कर डाले, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक वह सभी परिस्थितियों से अतीत दिव्य-चिन्मय जीवन से अभिन्न हो सकता है। इस दृष्टि से प्राप्त परिस्थिति को ही सर्वोत्कृष्ट परिस्थिति जानकर उसका आदरपूर्वक स्वागत करते हुए उसके सदुपयोग में तत्पर होने से परिस्थितिजन्य द्वंद्व मिट सकता है।

अन्तर् और बहिर्द्वंद मिटने पर समस्त जीवन सुख-शान्ति एवं स्वाधीनता से परिपूर्ण हो जाता है। आवश्यक संकल्पों की पूर्ति से सुख और अनावश्यक संकल्पों की निवृत्ति से शान्ति और शान्ति से असंग होने पर स्वाधीनता की अभिव्यक्ति होती है। अन्तर और बाह्य— द्वंद्व ने ही सुख-शान्ति तथा स्वाधीनता का अपहरण किया है। इस दृष्टि से अन्तर और बाह्य- द्वंद्व को मिटाना अत्यन्त आवश्यक है। मिली हुई सामर्थ्य के सदुपयोग से, अपने दुःख का कारण किसी और को न मानने से, अनावश्यक कार्य का त्याग और आवश्यक कार्य को पूरा करने से व्यक्ति व्यर्थ-चिन्तन से रहित होता है, जिसके होते ही अन्तर्बाह्य द्वंद्व स्वत: नष्ट हो जाते हैं, यह निर्विवाद सत्य है।

जिस प्रकार मानव को असमर्थता का अन्त करना अभीष्ट है, उसी प्रकार पराधीनता का नाश करना भी उसकी अपनी स्वाभाविक माँग है।

स्वाभाविक माँग उसी को कहते हैं, जिसकी पूर्ति अनिवार्य तथा अवश्यम्भावी हो। स्वाधीनता का अर्थ सुख-भोग नहीं है। सुख-भोग की सिद्धि पराधीनता के बिना नहीं होती। यह सभी को मान्य होगा कि संकल्प-पूर्ति में ही सुख की अनुभूति होती है। जिन साधनों से संकल्प पूरा होता है, उन साधनों की दासता में व्यक्ति को आबद्ध होना ही पड़ता है। अत: यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि सुख का भोग व्यक्ति को पराधीन बना देता है। सुख के प्रलोभन में ही नवीन संकल्पों की उत्पत्ति निहित है। यद्यपि सुख प्राकृतिक नियम के अनुसार अपने आप नष्ट हो जाता है, तथापि सुख का प्रलोभन नवीन संकल्प को उत्पन्न कर प्राणी को उसी स्थिति मे आबद्ध कर देता है, जो संकल्प-पूर्ति से पूर्व और संकल्प उत्पत्ति के पश्चात् थी। चाहे कितने ही संकल्प पूरे क्यों न हो जाएँ संकल्प-पूर्ति का सुख नवीन संकल्प को जन्म देकर बेचारे प्राणी को संकल्प-अपूर्ति के दु:ख में ही बाँध देता है। इस दृष्टि से संकल्प-पूर्ति मानव-जीवन की वास्तविक माँग नहीं है। सभी संकल्पों की पूर्ति प्राकृतिक नियमानुसार सम्भव नहीं है। इस कारण भी संकल्प-पूर्ति मानव-जीवन का उद्देश्य नहीं हो सकता। किन्तु स्वाधीनता की माँग तो मानव में स्वाभाविक है। ज्यों-ज्यों पराधीनता की वेदना सबल तथा स्थाई होती जाती है, त्यों-त्यों स्वाधीनता की लालसा उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है। जिस काल में स्वाधीनता की लालसा सर्वांश में विकसित हो जाती है, अर्थात् मानव जब पराधीनता को किसी भी प्रकार सहन नहीं कर सकता, तब पराधीनता सदा के लिए स्वत: मिट जाती है। पराधीनता उसी समय तक जीवित रहती है, जिस समय तक व्यक्ति स्वाधीनता के बिना रह सकता है। स्वाधीनता की माँग पराधीनता को खा लेती है, यह निर्विवाद सत्य है।

अब यदि कोई यह कहे कि पराधीनता का नाश और स्वाधीनता की अभिव्यक्ति क्या वर्तमान जीवन की वस्तु है? नि:सन्देह स्वाधीनता सर्वकाल में मिल सकती है, उसके लिए किसी अन्य वस्तु व्यक्ति आदि की अपेक्षा नहीं है। प्रतिकूल से प्रतिकूल परिस्थिति में भी स्वाधीनता प्राप्त हो सकती है। स्वाधीनता के लिए मानव को विवेक-विरोधी सम्बन्ध का त्याग करना है। अब विचार यह करना

है कि विवेक-विरोधी सम्बन्ध क्या है? जिससे देश-काल की दूरी हो सकती है, उससे सम्बन्ध स्वीकार करना ही विवेक-विरोधी सम्बन्ध है। उत्पन्न हुई कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जिससे नित्य सम्बन्ध रह सके। नित्य सम्बन्ध उसी से हो सकता है, जिससे न तो देश-काल की दूरी हो और न जिसकी उत्पत्ति हुई हो। जिसकी उत्पत्ति नहीं होती, उसका विनाश भी नहीं होता। जो नाशरहित है, वह कभी भी अप्राप्त नहीं है, अर्थात् नित्य प्राप्त है। नित्य प्राप्त की खोज करने पर पराधीनता अपने आप मिट जाती है। अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि नित्य प्राप्त की खोज किस प्रकार की जाए। जिससे नित्य सम्बन्ध नहीं है, उससे असहयोग करने पर, जो नित्य प्राप्त है, उससे योग हो जाता है, जिसके होते ही पराधीनता स्वाधीनता में विलीन हो जाती है। जिससे असहयोग करना है, उसकी ममता का त्याग अनिवार्य है। किसी को भला और बुरा मानकर उसकी ममता मिटाना सम्भव नहीं है। ममता उसी की मिट सकती है, जिसको भला अथवा बुरा न मानें। किसी को भला-बुरा समझना उससे सम्बन्ध जोड़ना है। अन्तर केवल इतना है कि भला समझकर रागपूर्वक और बुरा समझकर द्वेषपूर्वक सम्बन्ध होता है। स्वाधीनता का पुजारी न तो किसी को भला मानता है और न बुरा। अब यदि कोई यों कहे कि जब भला और बुरा प्रतीत होता है, तब उसे क्यों न मानें? इस समस्या पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि कामना-पूर्ति के प्रलोभन से ही कोई भला और कोई बुरा प्रतीत होता है। कामनायुक्त प्राणी किसी के विषय में यथार्थ निर्णय नहीं कर सकता और कामना-रहित होने पर विवेक-विरोधी सम्बन्ध अपने आप नष्ट हो जाता है, जिसके मिटते ही स्वाधीनता की अभिव्यक्ति स्वत: हो जाती है।

सुख का प्रलोभन ही दु:ख के भय को जन्म देता है और फिर पराधीनता अपने आप आ जाती है। सुख का प्रलोभन मिटते ही दु:ख का भय अपने आप नष्ट हो जाता है। पराधीनता व्यक्ति को जड़ता में आबद्ध करती है और स्वाधीनता दिव्य-चिन्मय जीवन से अभिन्न करती है। पराधीनता को सहन करना अकर्तव्य को जन्म देना है और स्वाधीनता के बिना किसी भी प्रकार से चैन से न रहना समस्त विकारों को नष्ट

करने का मुख्य साधन है। इस दृष्टि से स्वाधीनता की लालसा में ही निर्विकारता निहित है। इसी कारण स्वाधीनता मानवमात्र की स्वाभाविक माँग है। स्वाभाविक माँग से निराश होना और अस्वाभाविक कामनाओं को सहन करना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। प्रमादरूपी अन्धकार विवेक-रूपी प्रकाश से सदा के लिए मिट सकता है। विवेक अनन्त के मंगलमय विधान, से मानवमात्र को प्राप्त है। जाने हुए का प्रभाव विवेक का आदर करने में सहायक है। अत: ज्यों-ज्यों मानव अपने ज्ञान से अपने को प्रकाशित करता जाता है, त्यों-त्यों प्रमाद अपने आप नष्ट होता जाता है। ज्ञान का प्रकाश ही वास्तविक प्रकाश है। ज्ञान के प्रकाश में ही स्वाधीनता का निवास है। स्वाधीनता के बिना अमरत्व की प्राप्ति सम्भव नहीं है। अमर जीवन ही जीवन है। जन्म और मृत्यु का प्रवाह जीवन नहीं है। इसी कारण मानवमात्र को मृत्यु अभीष्ट नहीं है।

यह नियम है कि जिसका जन्म होता है, उसकी मृत्यु अनिवार्य है। अब विचार यह करना है कि जन्म क्यों होता है? वस्तु व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति आदि के द्वारा सुख का भोग करने से ही जन्म होता है। जन्म किसका होता है? जो पराधीनता में जीवन-बुद्धि स्वीकार करता है, उसी का जन्म होता है। पराधीनता में जीवन-बुद्धि स्वीकार करने से प्राणी जन्म-मरण आदि के दु:ख में आबद्ध रहता है। ज्यों-ज्यों दु:ख का प्रभाव सबल तथा स्थाई होता जाता है, त्यों-त्यों पराधीनता नष्ट करने की लालसा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। जिस काल में लालसा पराधीनता-जनित सुख-भोग की कामनाओं को सर्वांश में खा लेती है, उसी काल में स्वाधीनता की माँग पूरी हो जाती है, जिसके होते ही जन्म-मरण से रहित दिव्य-जीवन से अभिन्नता हो जाती है। इस दृष्टि से स्वाधीनता वर्तमान जीवन की माँग है। स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए किसी बाह्य संग्रह की अपेक्षा नहीं है, अपितु प्राकृतिक नियम के अनुसार जो वस्तुएँ प्राप्त हैं, उनकी ममता का त्याग और जो वस्तुएँ अप्राप्त हैं, उनकी कामना का त्याग अनिवार्य है। प्राप्त वस्तुओं की ममता का नाश होते ही निर्विकारता और अप्राप्त वस्तुओं की कामना से रहित होते ही निर्विकल्पता की अभिव्यक्ति स्वत: होती है। निर्विकारता आ जाने पर कर्तव्य

परायणता स्वतः आ जाती है, जिसके आते ही विद्यमान राग की निवृत्ति और सुन्दर समाज का निर्माण स्वतः हो जाता है। निर्विकल्पता योग की भूमि है। यदि निर्विकल्पता से सम्पादित शान्ति में रमण न किया जाए, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक योग की प्राप्ति होती है। योग स्वाधीनता का प्रतीक है। योग की अभिव्यक्ति होने पर नवीन राग उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि योग भोग की वासनाओं को खा लेता है। निर्विकारता तथा निर्विकल्पता से मानव राग-रहित हो जाता है। राग-रहित होते ही वास्तविकता का बोध तथा अनुराग की अभिव्यक्ति स्वतः होती है। योग सामर्थ्य तथा स्वाधीनता का और बोध नित्य जीवन का एवं अनुराग अनन्त रस का प्रतीक है अथवा यों कहो कि योग, बोध तथा प्रेम में ही सामर्थ्य, स्वाधीनता, जीवन एवं अनन्त रस निहित हैं। योग, बोध तथा प्रेम की प्राप्ति में ही व्यक्तिगत जीवन की सफलता निहित है। इसी कारण मानवमात्र योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति में सर्वदा समर्थ है। इस रहस्य को भली भाँति जान लेने पर मानव-जीवन का वास्तविक सौन्दर्य स्पष्ट हो जाता है।

एकादश प्रकरण

प्राकृतिक नियमानुसार व्यक्ति और समाज में एकता है। व्यक्ति समाज के अधिकारों का पुंज और समाज व्यक्ति का कार्य क्षेत्र है। जिस प्रकार शरीर और विश्व में विभाजन नहीं हो सकता, उसी प्रकार व्यक्ति और समाज में विभाजन नहीं हो सकता। सुन्दर व्यक्तियों से सुन्दर समाज और सुन्दर समाज से ही सुन्दर व्यक्तियों का निर्माण होता है। यद्यपि वातावरण का भी व्यक्ति पर बड़ा गहरा प्रभाव होता है, परन्तु सुन्दर व्यक्ति के द्वारा वातावरण में भी सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होती है। जिस प्रकार भूमि, जल, वायु आदि से प्रत्येक बीज अपने स्वभावानुसार ही विकास पाता है, उसी प्रकार व्यक्ति अपने स्वभावानुसार ही समाज से पोषित होता है। इस दृष्टि से व्यक्ति और समाज में पारस्परिक एकता है। सुन्दर समाज की माँग प्रत्येक व्यक्ति की स्वाभाविक माँग है। किन्तु सुन्दर

व्यक्तियों से ही समाज में सुन्दरता व्यक्त होती है। इस कारण सुन्दर व्यक्तियों के निर्माण में ही सुन्दर समाज का निर्माण निहित है। प्राकृतिक विधान के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने को सुन्दर बनाने में स्वाधीन है। व्यक्ति की जो माँग है, उसी के अनुरूप उसका जीवन और जीवन के अनुसार ही समाज का निर्माण हो जाता है। ज्यों-ज्यों सौन्दर्य की माँग सबल तथा स्थाई होती जाती है, त्यों-त्यों असुन्दरता नष्ट होती जाती है। असुन्दरता के नाश में ही सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होती है। इस दृष्टि से सौन्दर्य की माँग में ही सुन्दरता निहित है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि व्यक्ति का सौन्दर्य क्या है? जिस व्यक्ति के द्वारा समाज के अधिकार अपहृत नहीं होते और जो स्वयं अधिकार-लालसा से रहित है, वही सुन्दर है। अब विचार यह करना है कि व्यक्ति समाज के अधिकारों का अपहरण क्यों करता है? व्यक्ति समाज को अपने से भिन्न मानने पर समाज के अधिकारों का अपहरण कर अपने को सबल बनाने का प्रयास करता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार दूसरों के अधिकारों का अपहरण करने पर व्यक्ति स्वयं निर्बल हो जाता है और फिर वह अपने कर्तव्य तथा दूसरों के अधिकारों को भूल जाता है। उसका परिणाम यह होता है कि न तो वह स्वयं ही सुन्दर हो पाता है और न उसके द्वारा सुन्दर समाज का निर्माण ही होता है।

सुन्दर समाज के निर्माण का दायित्व मानवमात्र पर है, किसी वर्ग विशेष पर नहीं। जब व्यक्ति कर्तव्य - च्युत हो जाता है, तभी समाज में भिन्न-भिन्न प्रकार के विप्लव मचते हैं। परिस्थितियों की उत्पत्ति प्राकृतिक विधान से होती है, किन्तु प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग का दायित्व मानव पर ही है। प्रतिकूल तथा अनुकूल परिस्थिति के होने से उसके सदुपयोग में कोई अन्तर नहीं होता। परिस्थिति सुखमय हो अथवा दुःखमय हो, कर्तव्य निष्ठ प्राणी दोनो ही का सदुपयोग कर अपने को तथा समाज को सुन्दर बनाने में समर्थ होता है। इतना ही नहीं, कर्तव्य निष्ठ मानव का जीवन विधान बन जाता है। उसके पीछे करोड़ों व्यक्ति चलने का प्रयास करते हैं। इस दृष्टि से व्यक्ति का जीवन समाज के लिए उपयोगी सिद्ध होता है।

सामाजिक जीवन में व्यक्ति का बड़ा ही ऊँचा स्थान है। एक-एक व्यक्ति के द्वारा समाज में क्रान्ति हुई है, हो सकती है और होती रहेगी। अब विचार यह करना है कि व्यक्ति और समाज में जो एकता है, वह कैसे सुरक्षित रह सकती है। उसके लिए व्यक्तियों को प्राकृतिक नियम के अनुरूप एक नीति निर्धारित करनी होगी। वह नीति ही समाज का नेतृत्व करेगी। उस निर्धारित नीति को जीवन द्वारा समाज के समक्ष रखना होगा। बलपूर्वक नीति का पालन कराने से नीति हृदयंगम नहीं होती। उसके न होने से व्यक्ति और समाज के बीच में एक गहरी खाई बन जाती है, अर्थात् भेद उत्पन्न हो जाता है। उसका परिणाम बड़ा ही भयंकर होता है। जानते हुए भी व्यक्ति मान नहीं पाता और मानते हुए भी कर नहीं पाता। यह असमर्थता मानव ने अपने आप जीवन में उत्पन्न की है, अपना ह्रास अपने आप किया है। प्राकृतिक नियम के अनुसार जब तक मानव समस्त विश्व के प्रति आत्मीयता स्वीकार न करेगा, तब तक उत्पन्न हुई निर्बलता नष्ट न होगी। जब तक प्राणी अपने को व्यक्तित्व, कुटुम्ब, वर्ग, जाति और देश की ममता में आबद्ध रखता है, तब तक उसका जीवन विश्व के लिए उपयोगी सिद्ध नहीं होता। कारण, कि सीमित ममता अनेक आसक्तियो को उत्पन्न कर बेचारे प्राणी को कर्तव्य से च्युत कर देती है। उसी का दुष्परिणाम यह हुआ है कि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का, एक वर्ग दूसरे वर्ग का और एक देश दूसरे देश का विनाश करने में अपना महत्व मानता है अथवा यों कहो कि किसी की निर्बलता को अपना बल मानकर अपना सर्वनाश कर लेता है।

किसी की निर्बलता को अपना बल मानना अनीति है। अपितु प्राप्त बल को निर्बलों की धरोहर मानना, वास्तविक सुन्दर नीति है। इस नीति को अपनाते ही व्यक्ति, वर्ग, देश आदि के समस्त संघर्ष नष्ट हो जाएँगे और एक अनुपम शान्ति एवं स्नेह की स्थापना होगी।

इस सुन्दर नीति का अनुसरण करने के लिए व्यक्ति को सर्व प्रथम सर्वात्मभाव अपनाना पड़ेगा। सबके हित में ही अपना हित निहित है, अन्य की रक्षा में ही अपनी रक्षा है, दूसरों का विकास ही अपना विकास है। इतना ही नहीं, दूसरों की

अवन्नती से अपनी अवन्नती अवश्यम्भावी है। प्राकृतिक विधान के अनुसार यही कर्तव्य विज्ञान है।

कौटुम्बिक जीवन सामाजिक जीवन का एक अल्प क्षेत्र है। इस अल्प क्षेत्र में व्यक्ति क्रियात्मक प्रयोगों द्वारा अपने को कर्तव्य निष्ठ बनाने में समर्थ होता है। जिन नियमों के पालन करने से एक कुटुम्ब में सौन्दर्य आता है, उन्हीं नियमों का अनुसरण करने पर विश्व में सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होती है। कर्म सीमित होने पर भी यदि कर्ता का भाव असीम है, तो विश्व में सद्भावनाओं का प्रसार हो जाता है। सद्भावनाएँ कर्म को सुन्दर और कर्म की सुन्दरता सद्भावनाओं को सजीव बनाने में समर्थ होती है। इस दृष्टि से प्रत्येक कुटुम्ब का विकास समाज के विकास में हेतु है। व्यक्ति का विकास कुटुम्ब के विकास में और कुटुम्ब का विकास समाज के विकास में साधन रूप हो जाता है।

जिस व्यक्ति के द्वारा किसी का अनादर तथा तिरस्कार नहीं होता एवं जो दुःखियों को देख करुणित तथा सुखियों को देख प्रसन्न होता है, उसकी माँग समाज को सदैव रहती है। इतना ही नहीं, उसका जीवन मानव-समाज के हृदय पर अविचल साम्राज्य स्थापित कर लेता है और यह नीति चरितार्थ हो जाती है कि व्यक्ति के विकास में ही समाज का विकास निहित है। प्राकृतिक नियम के अनुसार तो सभी अपने हैं अथवा अपने प्राण भी अपने नहीं हैं, वे भी उसी के हैं, जिसकी सारी सृष्टि है। यदि कोई यह कहे कि सृष्टि का कोई मालिक है- इस मान्यता पर मेरा विश्वास नहीं है। फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि प्राण मेरे नहीं हैं, जगत् के हैं। जितनी प्रियता अपने प्राणों में है, उतनी प्रियता जगत् में रखना वास्तविक नीति है। जिसमें प्रियता होती है, उसका विनाश अभीष्ट नहीं होता, अपितु उसके विकास में ही अभिरुचि होती है।

किसी को निन्दनीय मानने से यह प्रतिक्रिया होती है कि मानने वाले में उन दोषों का जन्म हो जाता है, जिनसे उसका जीवन स्वयं निन्दनीय बन जाता है। किसी को बुरा समझना किसी भी बुराई से कम बुराई नहीं है, अपितु सभी बुराइयों से बड़ी भयंकर बुराई है। किसी को बुरा न समझने का अर्थ यह नहीं है कि आप उसे श्रद्धास्पद बना लें। उसका अर्थ केवल इतना है कि उसे सर्वांश में दोषी न

मानें और उसकी वर्तमान निर्दोषता पर अपनी दृष्टि रखें। उससे ऐसा व्यवहार करें कि वह स्वयं अपने दोष को भलीभाँति जान ले और उसे न दोहराने के लिए वह स्वयं दृढ़तापूर्वक तत्पर हो जाए। नीति वही सार्थक है, जो दोषों के नष्ट करने में और निर्दोषता की अभिव्यक्ति में सहायक है। समस्त दोषों की उत्पत्ति अविवेक सिद्ध है, स्वभाव सिद्ध नहीं। अविवेक निज-विवेक का अनादर है और कुछ नहीं। निज-विवेक का आदर करते ही अपने कर्तव्य का बोध व्यक्ति को स्वयं हो जाता है। विवेकपूर्वक निर्णीत कर्तव्य के पालन की सामर्थ्य मानव में विद्यमान है; कारण, कि जिस मंगलमय विधान से उसे विवेक मिला है, उसी से कर्तव्य -पालन की सामर्थ्य भी मिली है। वास्तविक विधान कहते ही उसको हैं, जिसके पालन में मानव सर्वदा स्वाधीन है। व्यक्तिगत जीवन द्वारा कौटुम्बिक जीवन में शान्ति तथा स्नेह का संचार करना तभी सम्भव होगा, जब परस्पर अपनी-अपनी भूल स्वीकार करने में कुटुम्ब के किसी भी सदस्य को संकोच न हो और भूल को 'भूल' स्वीकार कर लेने पर उसे क्षमा कर दिया जाए, अर्थात् उसे निर्दोष मान लिया जाए। किसी को दोषी ठहराने का प्रयास न करके यह प्रयास किया जाए कि वह स्वयं अपने दोष को प्रकट करने में समर्थ हो जाए। अपने द्वारा अपने दोष को जान लेने पर दोष-जनित वेदना स्वत: जाग्रत होती है और वह दोष-जनित सुख के राग को नष्ट कर देती है, जिसके नाश होते ही दोष की उत्पत्ति ही नहीं होती।

इस दृष्टि से अपनी ओर से किसी में दोष का आरोप न करना ही निर्दोषता की अभिव्यक्ति में हेतु है। पर इस नीति को वे ही मानव स्वीकार कर सकते हैं, जो अपने प्रति न्याय और दूसरों के प्रति क्षमा करने में ही विश्वास रखते हैं। जो व्यक्ति अपने प्रति क्षमा और दूसरों के प्रति न्याय करते हैं, वे अपने में उत्पन्न हुए दोषों को पोषित करते हैं और दूसरों में भी दोषों को जन्म देते हैं। इस अनीति से न तो व्यक्ति ही सुन्दर हो सकता है और न परिवार तथा समाज ही। दोष-रहित होने के लिए किए हुए दोष को स्वीकार करना अचूक उपाय है। अपने को दोषी मानना और किए हुए दोष का त्याग कर निर्दोषता की स्थापना न करना, निर्दोष होने का उपाय नहीं है। किए हुए दोष का त्याग करने पर कोई

अपने को भले ही दोषी माने, उससे क्षुभित होना भूल है अथवा यों कहो कि क्षुभित तथा क्रोधित होना नवीन दोष को जन्म देना है। भूतकाल के दोष का त्याग और निर्दोषता की स्थापना वर्तमान को सरस तथा भविष्य को उज्ज्वल बनाने में समर्थ है। इस दृष्टि से नीति वही सफल होती है, जो वर्तमान की नीरसता को खाकर भविष्य को उज्ज्वल बना सके। इस नीति को वे ही मानव अपनायेंगे, जो दोषी को दुःख न देकर उसे निर्दोष बनाने में आस्था रखते हैं। जो अपराधी को दण्ड देने में ही प्रसन्न होते हैं, वे अपने को और अपराधी को दोषी बनाए रखने में सहयोग देते हैं। इस अनीति का मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

नीति को क्रियात्मक रूप देना असीम नहीं हो सकता; किन्तु नीति के अनुरूप भाव असीम हो सकता है। सभी को आदर तथा प्यार देना भाव है, कर्म नहीं। आदर और प्यार की भूख प्राणी मात्र को स्वाभाविक है। सभी को आदर तथा प्यार देने में मानवमात्र समर्थ है। अब यदि कोई यह कहे कि यदि किसी में वे दिव्यगुण हैं ही नहीं, जिनसे प्रेरित होकर आदर तथा प्यार दिया जाए। तो इस समस्या पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि सर्वांश में कभी भी कोई दोषी नहीं है और जब वर्तमान सभी का निर्दोष है, तो क्या इस दृष्टि से सभी को आदर तथा प्यार नहीं दिया जा सकता? अर्थात् अवश्य दिया जा सकता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार आदर तथा प्यार की भूख उसी समय तक रहती है, जिस समय तक व्यक्ति सर्वांश में निर्दोष नहीं है। जिनमें हमारी ममता नहीं है, उन प्राणियों को जब आदर और प्यार दिया जाता है, तब वे आदर और प्यार-जनित रस को पाकर दोष-जनित सुख का त्याग करने में समर्थ होते हैं। इस दृष्टि से प्राणीमात्र आदर तथा प्यार का पात्र है। यदि कोई यह जानकर भी आदर तथा प्यार देने में अपनी असमर्थता अनुभव करता है, तब उसे कम से कम किसी का अनादर तथा तिरस्कार न करने वाली नीति को तो स्वीकार कर ही लेना चाहिए। सर्वांश में निर्दोषता आ जाने पर तो किसी से आदर तथा प्यार पाने की माँग ही नहीं रहती। कारण, कि निर्दोष जीवन से तो सभी को सतत आदर तथा प्यार मिलता ही रहता है। इतना ही नहीं,

उसमें तो देने का अभिमान भी शेष नहीं रहता।

जिससे सभी को सर्वदा सब कुछ मिल रहा है, उसे कोई क्या दे सकता है? उसके जीवन का तो सभी को अनुसरण करना पड़ता है। इस दृष्टि से आदर तथा प्यार के पात्र वे ही हैं, जिन्हें उसकी भूख है। भूख उन्हीं को है, जो सर्वांश में निर्दोष नहीं हैं।

जिस प्राणी को भूमि आश्रय देती है, जल प्यास बुझाता है, सूर्य प्रकाश देता है, वायु श्वास लेने देती है तथा आकाश अवकाश देता है, भला वह मानव के आदर तथा प्यार का पात्र नहीं है? अर्थात् अवश्य है। किसी का अनादर तथा तिरस्कार न करने से आदर तथा प्यार देने की सामर्थ्य स्वतः आ जाती है। प्राकृतिक नियम के अनुसार जिससे किसी का अहित नहीं होता, उसी का जीवन सर्वहितकारी सिद्ध होता है। जिस व्यक्ति से किसी की हानि नहीं होती, वही दूसरों के लिए लाभप्रद सिद्ध होता है। यह मंगलमय विधान है।

व्यक्तिगत जीवन सुन्दर हो जाने पर पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन भी सुन्दर हो जाता है, क्योंकि व्यक्ति से ही परिवार तथा समाज आशा रखता है। प्रत्येक व्यक्ति पर यह दायित्व है कि जिस कार्य के करने में उसकी सामर्थ्य तथा विवेक का विरोध न हो और किसी के अधिकार का अपहरण न हो, उस कार्य को अवश्य पूरा कर दे। इसी नीति को अपना लेने पर कर्तव्य-परायणता आ जाती है, जिसके आते ही अकर्तव्य स्वत: नष्ट हो जाता है। जिस कार्य के करने में सामर्थ्य का विरोध हो, किन्तु विवेक का समर्थन हो, उस कार्य से जिसका सम्बन्ध है, उसके प्रति सद्भावना रखना अनिवार्य है और करुणित होकर क्षमा माँगना आवश्यक है। जिस कार्य में विवेक का विरोध हो और करने की सामर्थ्य हो, उस कार्य को तो किसी भी हेतु से करना नहीं है; क्योंकि विवेक-विरोधी कर्म ही अकर्तव्य है, जिसका मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। कर्तव्य का मूल है-सर्वहितकारी भाव, जिसकी अभिव्यक्ति अनेक भेद होने पर भी एकता स्वीकार करने पर ही होती है। अत: सर्वात्मभाव की स्वीकृति में ही कर्तव्य-परायणता निहित है।

द्वादश प्रकरण

भौतिक दृष्टि से समस्त विश्व एक जीवन है; अध्यात्म दृष्टि से सब अपना ही स्वरूप है, आस्तिक दृष्टि से प्रेमास्पद से भिन्न कुछ है ही नहीं। दार्शनिक भेद होने पर भी जीवन में कोई भेद नहीं है। इस कारण प्रत्येक व्यक्ति अपने को सुन्दर बनाने में सर्वदा समर्थ है। जिसके जीवन में से दूसरों के अहित की भावना सर्वांश में नष्ट हो गई है, उसका जीवन सभी के लिए उपयोगी होता है, यह निर्विवाद सिद्ध है। दर्शन, सम्प्रदाय, मत, एवं वाद भिन्न-भिन्न प्रकार के होने पर भी मानव मात्र का उद्देश्य एक है। साधन-भेद होने पर साध्य में भेद स्वीकार करना साधन को ही साध्य मान लेना है। साधन का कुछ भाग प्रत्येक मानव का अलग-अलग है और कुछ भाग ऐसा है, जो सफलता के लिए सभी को अपनाना अनिवार्य है। जो भाग सभी के लिए अनिवार्य है, उसके पूरा करने में सभी सर्वदा समर्थ तथा स्वाधीन हैं। अपने अहित की आशा कोई भी किसी से नहीं करता। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी के अहित की भावना किसी भी मानव को नहीं करना है। जब तक प्राणी किसी का बुरा नहीं चाहता, तब तक अशुद्ध संकल्पों की उत्पत्ति ही नहीं होती। तो फिर अकर्तव्य में प्रवृत्ति हो ही कैसे सकती है? अर्थात् कदापि नहीं हो सकती। अकर्तव्य के त्यागी के लिए किसी को बुरा न समझना, यही महामन्त्र है। किसी को बुरा न समझने से विश्व की सेवा और अपनी शुद्धि स्वतः हो जाती है। शुद्धता की अभिव्यक्ति होने पर जीवन सभी के लिए उपयोगी सिद्ध होता है।

सामाजिक जीवन में विद्रोह की उत्पत्ति तभी होती है, जब परस्पर स्नेह की एकता सुरक्षित नहीं रहती। प्राकृतिक नियमानुसार स्नेह के आदान-प्रदान की भूख मानव-मात्र को है। परन्तु ऊपरी भेद होने के कारण जब मानव में असहनशीलता, संकीर्णता, दुराग्रह आदि विकार उत्पन्न हो जाते हैं, तब स्नेह की भूख होने पर भी स्नेह का आदान-प्रदान असम्भव हो जाता है। इस भूल का अन्त करना अनिवार्य है। अपनी-अपनी विचारधारा की ममता को लेकर प्राणी वह भी करता है, जो

करना चाहिए और वह भी कर बैठता है जो नहीं करना चाहिए। अकर्तव्य के साथ-साथ किया हुआ कर्तव्य वास्तव में अकर्तव्य ही है। अकर्तव्य के नष्ट होने पर अल्प-से-अल्प कर्तव्य भी शान्ति, सामर्थ्य एवं स्वाधीनता को सुरक्षित रखने में समर्थ है। इतना ही नहीं, अकर्तव्य के त्याग में ही प्राणी का पुरुषार्थ निहित है। अकर्तव्य का अन्त होते ही अनन्त के मंगलमय विधान से कर्तव्य-परायणता स्वत: आ जाती है। उसके लिए कोई विशेष प्रयत्न अपेक्षित नहीं रहता। जो नहीं करना चाहिए, उसका न करना ही मुख्य पुरुषार्थ है। अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या नहीं करना चाहिए? इस समस्या पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि दर्शन, सम्प्रदाय, मत एवं वाद आदि मान्यताओं के आधार पर परस्पर प्रीति का भेद करना अकर्तव्य है। इतना ही नहीं, शासन-प्रणाली, धर्म, संस्कृति, भाषा, प्रान्त तथा देश की भिन्नता के आधार पर भी पारस्परिक एकता सुरक्षित न रखना अनीति है। इस अकर्तव्य तथा अनीति के रहते हुए सुन्दर समाज का निर्माण सम्भव नहीं है। सुन्दर समाज के निर्माण का दायित्व एकमात्र मानव-समाज पर ही है।

निज-विवेक के प्रकाश में जीवन रहने से अनेकता में एकता का दर्शन बड़ी ही सुगमतापूर्वक हो सकता है। जितनी मान्यताएँ हैं वे कर्तव्य और अकर्तव्य की प्रतीक मात्र हैं। जिन मान्यताओं से अकर्तव्य की उत्पत्ति होती है, वे सभी के लिए त्याज्य हैं और जो मान्यताएँ कर्तव्य को जन्म देती हैं, वे सभी के लिए मान्य हैं। जिस प्रकार भाषा का भेद होने पर अर्थ का भेद नहीं होता, उसी प्रकार कर्तव्य को प्रेरित करने वाली मान्यताओं में भेद होने पर भी पारस्तविक जीवन में जिसकी सभी को माँग है, कोई भेद नहीं रहता। भेद से अभेद की ओर तथा असत्य से सत्य की ओर एवं अकर्तव्य से कर्तव्य की ओर उत्तरोत्तर अग्रसर होने में ही सभी का हित निहित है। विधान की अधीनता में ही स्वाधीनता है। निज-विवेक ही विधान का प्रतीक है। इस कारण विवेकयुक्त जीवन ही मानव-जीवन है। विवेक-विरोधी बात चाहे अपने देश, वर्ग अथवा जाति की ही क्यों न हो, उसका त्याग ही करना है। विवेक-विरोधी कार्य किसी भी परिस्थिति में

करना हितकर नहीं है। किसी के विकास के लिए किसी का ह्रास करना विवेक-विरोधी कार्य है। कर्तव्य - विज्ञान की दृष्टि से जिस विकास के मूल में किसी का विनाश है, उसका परिणाम विनाश है, विकास नहीं। इस कारण विवेकी जन किसी के अहित में किसी के हित का दर्शन नहीं करते। सेवा चाहे जिसकी की जाए, पर क्षति किसी की भी न की जाए। बल निर्बल की सेवा के लिए मिला है। उसका उपयोग निर्बलों की रक्षा में ही करना है। ममता के आधार पर बहु संख्यक सामर्थ्यशाली व्यक्ति अल्प–संख्यक और निर्बलों को क्षति पहुँचाते हैं, यह बड़ी ही अनीति की बात है। सबल के संपर्क में रहने वाले निर्बल को निर्भयता प्रदान करना ही सबलता का सदुपयोग है। जिस व्यक्ति, वर्ग, समाज तथा देश से दूसरे व्यक्ति, वर्ग, समाज तथा देश को भय होता है, तो समझना चाहिए कि भय देने वाला पक्ष विश्व में विद्रोह तथा संघर्ष को जन्म दे रहा है। भय देना अथवा भयभीत होना भूल है। इस भूल से प्रत्येक मानव को रहित होना अनिवार्य है। प्राकृतिक नियम के अनुसार भयभीत उन्हीं को होना पड़ता है, जो अपने से निर्बलों को भय देते हैं। भय-रहित होकर दूसरों को अभय करना मंगलमय नीति है।

समस्त प्रकार के भय का कारण एकमात्र भेद है। अनेक प्रकार के बाह्य-भेद होने पर भी स्नेह की एकता भेद में अभेद का दर्शन कराने में समर्थ है। मानव को जितनी वस्तुएँ मिली हैं, उनमें सबसे निकट जो वस्तु है, वह है उसका शरीर तथा विचारधारा। प्राकृतिक नियम के अनुसार शरीर का विश्व से विभाजन नहीं हो सकता। इस दृष्टि से शरीर विश्वरूपी सागर की एक नन्हीं सी बूंद है। उस शरीर की ममता ने विश्व की आत्मीयता का हनन किया है। उसका बड़ा ही भयंकर परिणाम यह हुआ है कि प्रीति की एकता पर दृष्टि नहीं रही। प्रत्येक विचारधारा के मूल में विचारक का दर्शन है। किसी भी दार्शनिक दृष्टिकोण से यह सिद्ध नहीं है कि समस्त विश्व एक नहीं है। तो फिर सुख-लोलुपता के कारण सर्वात्मभाव की उपेक्षा कर, संकीर्णता में आबद्ध होना प्रमाद के अतिरिक्त और क्या है? जिस प्रकार प्रत्येक वस्तु इन्द्रिय-दृष्टि से अलग-अलग दिखाई देती है, उसी प्रकार व्यक्तिगत विचारों में भी भेद प्रतीत होता है। किन्तु प्रत्येक विचारधारा की उपयोगिता जिस

उद्देश्य की पूर्ति के लिए है, वह उद्देश्य एक है। उद्देश्य की पूर्ति हो जाने पर किसी प्रकार की भिन्नता नहीं रहती। अब यदि कोई यह कहे कि वह उद्देश्य क्या है? तो विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि वह उद्देश्य है- प्रेम। यदि व्यक्ति अपनी-अपनी विचारधारा के अनुसार अपने जीवन में प्रेम का सम्पादन कर सके, तो उसकी विचारधारा उसके लिए उपयोगी सिद्ध हो सकती है और प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश पाने से उसका जीवन सभी के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकता है। प्रेम किसी मत, सम्प्रदाय, वर्ग, समाज और देश की सीमा में आबद्ध नहीं किया जा सकता। जो प्रेम किसी सीमा में आबद्ध है, वह प्रेम ही नहीं है, अपितु ममता है, मोह है, आसक्ति है, जिसमें आबद्ध होने से किसी का हित नहीं है, अपितु सभी का अहित ही है। अत: यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि जो नीति प्रेम को विभु बनाने में समर्थ नहीं है, वह सर्वथा त्याज्य है।

प्रेम का प्रादुर्भाव उन्हीं में होता है, जो अपने को समस्त आसक्तियों से मुक्त कर लेते हैं। कर्तव्य रूप आसक्तियों से वही मुक्त हो सकता है, जो कर्तव्य निष्ठ होकर अपने को सुन्दर बनाने में समर्थ है। अपने से भिन्न के सुधार की बात कह कर समाज पर शासन करना उसमें उच्च स्थान पाना, उसको अपनी खुराक बनाना एवं दो व्यक्तियों में, दो वर्गों में, तथा दो देशों में भेद उत्पन्न को हानि पहुँचाना है। गुरु, नेता और शासक बनकर दूसरों के सुधार की बात वे ही लोग करते हैं, जो सुधार के नाम पर सुख-भोग में प्रवृत्त होते हैं। जगत् का गुरु, नेता तथा शासक वही हो सकता है, जो अपना गुरु, नेता तथा शासक है। सच्चे गुरु के पीछे समस्त विश्व स्वत: चलता है। उसे विश्व के पीछे दौड़ना नहीं पड़ता। सच्चे नेता के पीछे समाज की प्रगति स्वत: होती है। उसे समाज में संगठन बनाकर संघर्ष नहीं करना पड़ता। शासक वही उपयोगी सिद्ध होता है, जिसके विधान को दोषी स्वयं मानने के लिए तत्पर हो जाए। अब विचार करो कि ऐसा गुरु, नेता और शासक कौन है? ऐसा गुरु वही हो सकता है, जिसका जीवन साधन-तत्व से अभिन्न है। ऐसे गुरु को उपदेश करने की आवश्यकता नहीं होती। ऐसा महापुरुष कहीं हो, उसे कोई जाने, न जाने, माने, न माने, फिर भी उसके जीवन से समस्त विश्व को प्रकाश मिलता है। जिस प्रकार हिमालय से अनेक नदियाँ निकलकर

भूमि को हरा-भरा बनाती हैं, उसी प्रकार जो वास्तव में जगत् का गुरु है, उससे प्रेम की अविच्छिन्न धारा निकलकर विश्व में चिर-शान्ति की स्थापना करती है और आनन्द की गंगा लहराती है। पर इस रहस्य को वे ही जान पाते हैं, जो समस्त ममताओं से रहित, देहाभिमान को गलाकर, प्रेम के अधिकारी हो गये हैं।

अनन्त सौन्दर्य का स्रोत अनन्त है और वह अनन्त सभी का है। पर अपनी बनाई हुई परिच्छिन्नता का अन्त होने पर ही अनन्त से अभिन्नता प्राप्त होती है। वह अभिन्नता जिसे प्राप्त है, वही जगत् का गुरु है। इस प्रकार का गुरु-पद मानवमात्र को मिल सकता है। परन्तु कब? जब वह निज-विवेक के प्रकाश में अपने जीवन को बुद्धि-दृष्टि से देखकर विवेक-विरोधी कर्म, सम्बन्ध तथा विश्वास का अन्त कर, सब प्रकार से निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाए।

इन्द्रियों को मन के और मन को बुद्धि के अधीन करना ही अपने पर अपना नेतृत्व करना है। जो बुद्धिमान प्राणी अपने मन को समझा-बुझाकर अपनी बुद्धि के अधीन नहीं कर सकता, उसे दूसरों को समझाने-बुझाने का कोई अधिकार नहीं है। बौद्धिक बल से निर्बल बुद्धि को दबाना और संगठन के बल पर समाज में स्थान पाना, ऐसा नेतृत्व समाज में संघर्ष को जन्म देता है। पर यह बात उस समय तक समझ में नहीं आती, जब तक विपक्षी से पराजित होकर स्वयं पराधीन नहीं हो जाता। पराधीन होने पर जिसे पराधीनता का कारण अपनी भूल मालूम होती है, वह अपने पर अपना नेतृत्व करने का अधिकारी होता है और जब वही प्रकाश उसके जीवन से समाज को मिलता है, तब समाज अपने-आप उसे अपना नेता मान लेता है। ऐसे नेताओं से प्रत्येक व्यक्ति, वर्ग एवं समाज को पथ-प्रदर्शन मिलता है। किसी वर्ग का पक्ष लेकर उस वर्ग के दुःख का कारण किसी अन्य वर्ग को बता कर और किसी प्रकार का प्रलोभन दिखा कर वर्ग का संगठन करना और बौद्धिक बल से दूसरे वर्ग के विनाश की योजना बनाना, परस्पर में संघर्ष को जन्म देना है। इस प्रकार के नेतृत्व से कभी-भी सुन्दर समाज का निर्माण नहीं होता। शासक के रूप में जब तक मानव अपने पर अपना शासन नहीं करेगा, तब तक जीवन में उत्पन्न हुए दोषों का नाश नहीं होगा और निर्दोषता की अभिव्यक्ति भी नहीं होगी। अपने पर

अपना शासन वही कर सकता है, जिसमें तप का बल हो और जो अपने दोष की वेदना से दुःखी हो, पर-दोष-दर्शन का जिसे अवकाश न हो और निर्दोषता के लिए जो सतत व्याकुल हो, वही अपने पर अपना शासन कर सकता है। अपने पर अपना शासन का फल है कि जीवन निर्विकार हो जाए। निर्विकार जीवन से समाज में निर्विकारता की लालसा जाग्रत होती है और फिर निर्विकार प्राणी का जीवन समाज के लिए विधान बन जाता है, अर्थात् समाज यथाशक्ति उसका अनुसरण करने लगता है। उसके परामर्श से समाज दैनिक जीवन की समस्याओं को हल करने लगता है। इस प्रकार अपने पर अपना शासन करने से भी जीवन जगत् के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। बलपूर्वक दोषों का निवारण करना, शासन करना है। समझ-बूझकर दोषों का त्याग करना, नेतृत्व करना है। असत् को 'असत् जानकर उससे असहयोग करना अपना गुरु आप बनना है। इसी दृष्टि से प्रत्येक मानव अपना शासक, नेता तथा गुरु हो सकता है और फिर वह किसी अन्य से शासित नहीं होता और न उसे किसी बाह्य गुरु तथा नेता की अपेक्षा रहती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि उसके द्वारा राष्ट्र, नेता तथा गुरुजनों के अधिकारों का अपहरण होता है। जिससे किसी के अधिकार का अपहरण होता है, वह अपना शासक, नेता तथा गुरु नहीं हो सकता। जो अपना शासक, नेता तथा गुरु है, वह सभी की आदर तथा प्यार पूर्वक यथोचित यथाशक्ति सेवा एवं पूजा करता है अथवा यों कहो कि ऐसे महामानव की माँग सभी की रहती है और उसकी अपनी कोई माँग नहीं रहती।

मानव-जीवन का सबसे सुन्दर चित्र यही है कि जिस जीवन की माँग सभी को हो और उसकी अपनी कोई माँग न रहे, अर्थात् जो कामरहित होकर सही काम करता है एवं चिर-विश्राम तथा अमरत्व से अभिन्न होकर प्रेम के साम्राज्य में निवास करता है। सुन्दर मानव से ही सुन्दर समाज का निर्माण होता है, यह निर्विवाद सत्य है।

जीवन पथ

*आपने अनुभव किया होगा कि किसी भी दर्शन में आपकी समस्त आवश्यकताएँ नहीं अँटतीं। एक दर्शन-विशेष कुछ दूर तक आपको दृष्टि देता है और आगे अपनी आँखों देखने को छोड़ देता है, निर्धारित पथ थोड़ी दूर तक आपको मार्ग देता है और आगे अपने पैरों चलने को बाध्य करता है। तब आप प्रायः बेसाथी और बेसामान होने की अकिञ्चनता से त्रस्त हो उठते हैं। पर इसे अकिञ्चनता में जगने वाले निज-विवेक के प्रकाश में ही दर्शन की परिणति और जीवन का निर्माण होता है। यहीं वास्तविक जीवन का पथ खुलता है। इस स्वाध्याय-दर्शन का, जो अपने परिपार्श्व में सर्वथा मौलिक है, विवेचन करने एवं वास्तविक जीवन में एक अन्तर्दृष्टि पाने के लिए इस **"जीवन-पथ"** है।*

जीवन असत से सत की ओर।

मेरे निज स्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा भाई और बहन!

संकल्प का उद्गम-स्थान अपने व्यक्तित्व की स्वीकृति में है। जगत् क्या है? हम क्या हैं? प्रभु क्या है? जगत क्या है, यह प्रश्न जगत में नहीं है। प्रभु क्या है? यह प्रश्न प्रभु में नहीं है। यह प्रश्न जिसमे है उसका नाम अहम्, हम। इसका अर्थ कोई भाई यह न समझ बैठे कि यहां मैं शास्त्रीय आत्मा या जीव के अर्थ में अहम् आता है, उसका विरोध करता हूं। किसी ने आत्मा कहा, किसी ने ब्रह्मा कहा। दो ही बातें आपने सुनी होंगी शास्त्रों में, तीसरी बात नहीं सुनी होगी। शंकर दर्शन ने ब्रह्म कह दिया, वैष्णव, जैन आदि ने आत्मा कह दिया। लेकिन हम और आप आत्मा होकर कोई प्रश्न करते हैं क्या? या बह्म अथवा शरीर होकर कोई शरीर होकर कोई प्रश्न करते हैं क्या आप प्रश्न नहीं कर पाते, क्योंकि शरीर और विश्व का विभाजन हो ही नहीं सकता। शरीर सर्वकाल में विश्व के ही साथ रहेगा, क्योंकि उसी का ही एक अंग है। जैसे कोई कहे कि जल मे से लहर को अलग कर दो तो उसका मतलब यह हुआ कि जल मे से जल को अलग कर दो। तो जल मे से जैसे जल कभी अलग नहीं होता, वैसे विश्व से शरीर कभी अलग नहीं होता। किसी भी रूप में स्थूल शरीर, स्थूल विश्व से अलग नहीं होता, सूक्ष्म शरीर सूक्ष्मजगत् से अलग नहीं होना, कारण शरीर कारण जगत् से अलग नहीं होता। लेकिन वह कौन सा देवता है जो यह कहता है कि शरीर मेरा, जो यह कहता है कि संदेह मुझमें, जो यह कहता है कि प्रभु की आवश्यकता मुझको? उसको आप शरीर से नहीं मिला सकते, उसको आप आत्मा से नहीं मिला सकते, न उसको आप ब्रह्म कह सकते हैं। लेकिन जैसा कि मैने आरंभ में आपसे निवेदन किया था, हम लोगों के जीवन में कोई न कोई स्वीकृति रहती है और उतना ही भाग स्वीकृतिकर्ता के विचार का विषय नहीं रहता, क्योंकि वह सुना हुआ है, जाना हुआ नहीं। यह नियम है कि विकल्परहित श्रवण ज्ञान जैसा भासित होता है।

आज प्रातः कि चर्चा में यह विषय रखा गया था सत्संग की दृष्टि से, सिखाने की दृष्टि नहीं, समझाने की दृष्टि से नहीं। ईमानदारी की बात यह है कि मैं समझाने की दृष्टि से नहीं बोलता हूं। यह तो हमारी पूजा है। मैं यह मानकर नहीं बोलता हूं कि मैं समझता हूं, आप नहीं समझते। मैं यह मानकर बोलता हूं कि आप के स्वरूप में मेरे प्यारे प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर मेरे बोलने के राग को निवृत्ति करते हैं। हमारा ही संकल्प हमारी दुर्दशा करता है, आप सच मानिए। आप जानते हैं कि मेरा नाम शरणानंद है, मैं शरणागत हूं। फिर भी ईश्वरवाद का लेशमात्र भी प्रचारक नहीं हूं। क्यों नहीं हूं? मुझे अपमान मालूम होता है प्रभु का, कि मै यह कहूं कि आप उनको मान लीजिए। आप सोचिए तो सही, कि क्या हमारे प्रभु इतने घटिया हो गए हैं कि हम कहें कि आप प्रभु को मान लीजिए! यह मेरा मत नहीं है। हालांकि लोग यही समझते होंगे कि ईश्वर का प्रचार करते होंगे। अगर आपको कोई भी अपना मालूम होता है तो माफ कीजिए ईश्वर को हमारे लिए रहने दीजिए। अगर आप बिना किसी साथी के अकेले रह सकते हैं तब भी आप आनंद से रहिए। प्रभु हमारे आपके ही रूप में आपसे मिलेंगे।

प्रभु का यह स्वभाव है कि वे भौतिकवादी के लिए जगत् के रूप में अवतरित होते हैं, विश्व प्रेम प्रदान करते हैं, शांति प्रदान करते हैं, आदर प्रदान करते हैं। इसमें कोई संदेह की बात नहीं और अंत में दुःख-निवृत्ति भी कर देते हैं। आप ऐसा मत सोचिए कि ईश्वर ऐसा है कि जो उसको मानाता है उसका तो दुःख नाश करता है और जो उसको नहीं मानता है उसका दुःख नाश नहीं करता है। ऐसा ईश्वर नहीं है और होगा तो किसी का कोई 'पर्सनल' ईश्वर होगा। आप उसका मानिए, मत मानिए, जानिए, मत जानिए, पर वह आपको मानता है और जानता है। इसमें मुझको संदेह नहीं है। तो जब हम अपना कोई संकल्प रखते हैं तो हमारा संकल्प किसी में आत्मीयता नहीं होने देता। आप गंभीरता से विचार करें। संकल्प आत्मीयता नहीं होने देता और जब आत्मीयता नहीं होती तो आप देखेंगे कि कभी जीवन में प्रियता नहीं जगती और जब प्रियता

नहीं जगती तो जीवन में रस की अभिव्यक्ति नहीं होती। क्या किसी भाई का अनुभव है कि प्रियता न हो और रस की अनुभूति हो? और नीरसता हो और काम से पीड़ित न हो? है ऐसा अनुभव किसी का?

आप जानते है कि कभी हम लोगों में प्रियता थी। सन् 1609, 1616 और 1629 में कितनी प्रियता थी। लोग जंगलों में और एकांत में व्यथित होते थे कि क्या कभी वह दिन होगा जब भारत माता विदेशियों से आजाद होंगी। उनके मन में यह बात नहीं थी कि हम मिनिस्टर बनेंगे, हम डिटेक्टर बनेंगे। और वे उस बात को जानते थे कि एक अंग्रेज को मार देने से अंग्रेजी शासन नहीं हटेगा, लेकिन उस आजादी के प्यार को जगाने के लिए जवानों ने जवानी छोड़ दी। मुझे मालूम है राम प्रसाद बिस्मिल की दादी कचहरियों में पैसे मांगती फिरती थी। भैया, जब आजादी के साथ आत्मीयता स्थापित करने के लिए जवानी का सुख निछावर करना पड़ा, अर्थात् अपना व्यक्तिगत संकल्प तोड़ना पड़ा, तो आस्तिक दृष्टि से प्रभु में आत्मीयता जोड़ने के लिए आध्यात्म दृष्टि से सर्वात्मभाव के लिए और भौतिकवाद की दृष्टि से 'वसुधैव कुटुम्बकम' कहो, 'समस्त विश्व एक' कहो, उसके लिए क्या हम अपना व्यक्तिगत संकल्प नहीं तोड़ सकते हैं? ये बड़ी-2 बातें हुई। छोटी बात सोचो। पति-पत्नि के बीच की बात सोचो। दो मित्रों के बीच की बात सोचो। पिता-पुत्र के बीच की बात सोचो। अपना संकल्प रखकर क्या कोई स्त्री पति के प्रति आत्मीयता रख पायी? अपना संकल्प रखकर कोई पिता पुत्र के प्रति आत्मीयता रख पाया? विचार करो, अपना संकल्प अपना कितना बाधक है! मित्र के लिए मित्र नहीं होने देता, पिता के लिए पुत्र नहीं होने देता, भगवान के लिए भक्त नहीं होने देता, जिज्ञासु के लिए तत्त्व-ज्ञान नहीं होने देता। कौन सी ऐसी बाधा है जो आपके संकल्प ने आपको साथ नहीं उत्पन्न कर दी?

आपका यदि यही सत्य हो कि आपका संकल्प किसी के साथ भी आपको एक होने देगा, तो मै पहला आदमी हूंगा जो यह कहे कि अपना ही संकल्प जीवन है और जो भैया किसी के साथ एक नहीं होने देता है, न जगत के साथ एक होने देता है, न जगतपति

के साथ एक होने देता है, न निज स्वरूप से एक होने देता है, न परस्पर में एकता स्थापित होने देता है, न परस्पर में विश्वास स्थापित होने देता है, क्या उसका भी जीवन मे कोई स्थान है? गंभीरता से विचार करें। हम अपनी दशा से घबरा नहीं जाएं। भयभीत होकर निराश न हो जाएं। यह न सोच बैठें कि अरे भैया हम कैसे संकल्प रहित हो सकते हैं। मैं सच कहता हूं जिसका कोई अपना संकल्प रहा है वही न संकल्प रहित होगा। अच्छा भैया बताओं, पराधीन स्वाधीन होगा कि स्वाधीन स्वाधीन होगा? दुःखी दुःख से रहित होगा कि जो दुःखी है ही नहीं वह दुःख से रहित होगा? विचार करें। हमने और आपने अपने कुछ संकल्प बना रखे हैं। हम आपको क्या बताएं। आजकल एक रोग लगा है रोग, बड़ा भंयकर रोग दूसरों के संबंध में राय काम करने का। हमसे लोगों ने कहा कि क्या आप अमुक बाबू के यहां सत्संग करेंगे? कयों भैया वह आदमी नहीं है क्या? उनसे लोग कहते हैं तुम किस रोग में फंस गए भाई? यानि लोग यह सोच नहीं सकते कि मनुष्य में जो छिपी हुई मानवता है, न जाने कब जग जाए।

क्या आप सत्य से दूर हो सकते हैं? कभी नहीं हो सकते। या सत्य आपसे दूर हो सकता है? कभी नहीं हो सकता। लेकिन लोगों ने एक राय कायम कर ली है। जो देखा, अधूरी दृष्टि से। अधूरी दृष्टि मालूम है किसे कहते हैं? इन्द्रिय दृष्टि लगाई, बुद्धि दृष्टि नहीं लगाई, बुद्धि दृष्टि लगाई, विवेक नहीं लगाया। अधूरी दृष्टि के आधार पर फैसला दे देते हैं। फैसला मत दो बाबू गंभीरता से विचार करो। और विचार इस बात का करो कि आपको अपना संकल्प किसी से एक नहीं होने देता। सभी संकल्प पूरे हो जायें, यह आपके वश की बात नहीं और भगवान न करें कि सभी संकल्प पूरे हो जाएं किसी के। और संकल्प पूरे हो जाने पर आपको जीवन मिल जाए, यह आपके वश की बात नहीं।

आप गंभीरता से विचार करें, संकल्प है क्या चीज? कोई हमारे काम आ जाए। कोई सोचेगा, अगर कोई सुंदर स्त्री मिल जाती तो जीवन कृतकृत्य हो जाता। कोई सोचेगा कि अमुक पद मिल जाता, तो जीवन

कृतकृत्य हो जाता। यह गलत नहीं है। किसी को सुंदर स्त्री न मिली हो यह बात नहीं है। मैं ऐसे संकल्प का विरोधी नहीं हूँ, जीवन देखकर चलता हूँ। हम वही संकल्प लेकर चलते है जिसका पूरा हुआ है। हमारा क्यों नहीं पूरा हुआ, इतनी ही न बात है? ऐसा तो नहीं है कि किसी को सुंदर स्त्री मिली ही न हो। ऐसा भी तो नहीं है कि किसी को सुंदर पति ही नहीं मिला हो। ऐसा भी नहीं है किसी को सपूत पुत्र न मिले हों। ऐसा भी नहीं है कि किसी को वास्तविक मित्र न मिला हो, पद न मिला हो। प्रश्न यह है कि जिसका संकल्प पूरा हुआ, वह संकल्प से रहित हुआ क्या? वह पराधीनता से रहित हुआ क्या? सच पूछिए तो सृष्टि का रचयिता कोई हो और कैसा ही हो, पर इतना ईमानदार मालूम होता है मुझको, इतनी समता है उसमें, कि महाराज! जीवन में अनेक भेद होने पर भी अर्थ में एकता, अर्थात् परिस्थिति भेद होने पर भी वास्तविकता में एकता है। हम समझते हैं कि जो सम्मान किसी भी देश के प्रधानमंत्री को मिलता है, वह हमको नहीं मिला, लेकिन जब वे लोग स्वयं अपनी दृष्टि में अपने को देखते हैं तो अयोग्य पाते हैं, असफल पाते हैं, असमर्थता का अनुभव करते हैं। हम सोचते हैं कि जो पद उन्हे मिला, वह हमे मिल जाएगा, तो ना जाने हम कितने सुखी तथा महान् हो जाऐंगे! यह केवल दिमागी कोतूहल है मेरे भाई।

यह दिमागी कोतूहल है कि किसी भी परिस्थिति विशेष की प्राप्ति से हम वह हो जाऐंगे जो हम आज नहीं है। सरकार यही रहेंगे, यही। अंतर यही होगा कि आप तीन बटा चार न लिखकर पिचहत्तर बटा सौ लिखिएगा। इतना ही अंतर होगा और दीनता की अग्नि जरा कम होगी, तो अभिमान की अग्नि जल उठेगी। यह संभव है कि दीनता की अग्नि बुझ जाए, क्योंकि दीन पर करुणा आती है लोगों को। पर क्या यह संभव है कि अभिमान की अग्नि से बिना जले बच जाए? यह संभव नहीं है, वह जलेगा ही। इसका अर्थ आप यह न लगा लीजिए कि लोग जिसे आवश्यकता कहते हैं मै उसको आवश्यकता नहीं कहता हूं। मैं तो आवश्यकता के अर्थ में एक वचन लेता हूं, आवश्यकताएं नहीं लेता हूं। यह मेरी व्यक्तिगत बात

है। आप आवश्यकता का नाम लेते हैं तो जनाब आपकी आवश्यकता यही है कि आप किसी की आवश्यकता हो। यह मानव-जीवन का कलंक है कि उसकी कोई आवश्यकता हो। लेकिन किसी भी आवश्यकता हो किसी भी रूप में हो? जिसमें आप के विवेक का, आपकी सामर्थ्य का समर्थन हो। जब हम भगवान के सामने जाते हैं तब भी हम इस आदत को काम में लाते हैं और आशा करते है कि वे हमारे संकल्प को पूरा करें। जब हम गुरु के सामने जाते हैं तो हम आशा करते है कि वे हमारे संकल्प को पूरा करेंगे। यह जो हमारा रोग है वह मानव जीवन की घोर निंदा है। घोर अपमान है। मानव जीवन का ही हम गुरु के सामने जाएं और सोचे कि गुरु महाराज हमारा संकल्प पूरा करें, हम प्रभु के सामने जाएं और सोचे के प्रभु हमारा संकल्प पूरा करें, हम जगत् के सामने जाएं और कहे कि हे जगत् देवता! आप हमारा संकल्प पूरा करें।

यह रोग तब तक रहेगा जब तक जड़त्व में अहम् बुद्धि रहेगी, कारण, कि देहाभिमान ही काम का प्रतीक है और काम की पूर्ति-अपूर्ति में ही राग तथा क्रोध की उत्पत्ति है जो विनाश का मूल है और जहां आपने यह निर्णय लिया कि हे प्यारे, तेरा संकल्प पूरा हो! तब देहाभिमान का नाश और चिन्मय जीवन से अभिन्नता स्वतः हो जाएगी। आप सोचें कि हे पड़ोसी, तेरे मन की बात पूरी हो! हे दोस्त, तेरे मन की बात पूरी हो! हे प्रियजनों, तुम्हारे मन की बात पूरी हो! साधक जिस समय अपने संकल्प को छोड़ देता है, वह दासता से रहित होकर योगवित् होता है, योगवित्। उसी का अर्थ पूर्ववत्ता ने मानव सेवा संघ के दृष्टिकोण से 'विश्राम' के नाम से कहा है कि और जिस समय साधक योग का भोग नहीं करता है, तत्त्ववित होता है, उसकी को पूर्ववक्ता ने विश्राम, स्वाधीनता और प्रेम के नाम से अपनी मांग बताया है। ये हमारी मांग है। मैने तो यह नहीं कहा था कि मुझे तो यह मालूम हो जाए कि जीवन का स्वरूप क्या है! जो हमारी मांग है वही आपके जीवन का स्वरूप है। आपका जीवन है 'विश्राम' आपका जीवन है स्वाधीनता। आपका जीवन है प्रेम। चाहे उस प्रेम को अध्यात्मवाद की दृष्टि से आत्मा के साथ मिला दो,

भौतिकवाद की दृष्टि से विश्व से मिला दो, आस्तिकवाद की दृष्टि से प्रभु से मिला दो। लेकिन आपका जीवन प्रेम है। आप में प्रेम नहीं है, प्रेम ही आपका जीवन है।

यह नहीं कि आज मुझमें राग है, कल मुझमें अनुराग होगा। राग जाएगा आपको त्याग कर, प्रेम आपका हो जाएगा। राग के जाते ही आपका नाश कर जाएगा। राग में आप हैं, प्रेम में आप नहीं है। पराधीनता में आप है, स्वाधीनता में आप नहीं है। श्रम में आप है, विश्राम में आप नहीं है। यहां आप का अर्थ है व्यक्तित्व का मोह। साधक अपनी जो एक व्यक्तिगत सत्ता महसूस करता है कि 'हम', वह 'हम' क्या है? पराधीनता, श्रम और आसक्ति का पूंज, लेकिन वह पराधीनता, श्रम और आसक्ति का पूंज होते हुए भी क्या है? आसक्ति क्या है? प्रेम की मां। पराधीनता क्या है? स्वाधीनता की मांग, स्वाधीनता की मांग प्रेम की मांग है आपका वर्तमान जीवन, जिसे आप परिस्थितियों की दीवारों में आबद्ध देखते हैं और कुछ नहीं है। अब हम उस मांग को किसी व्यक्ति के आश्रित, किसी परिस्थिति के आश्रित, किसी अवस्था के आश्रित ही पूरा करने की सोचते हैं और प्राप्त परिस्थिति की अपेक्षा अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन करते हैं। ऐसा न करके प्राप्त परिस्थिति का पूजा-बुद्धि से, साधन बुद्धि से, कर्तव्य - बुद्धि से उपयोग करें। पूजा-बुद्धि का अर्थ क्या है? अगर रोटी खाना भगवान की पूजा का अर्थ नहीं है, तो माफ कीजिये, माला जपना भी पूजा नहीं है और यदि माला फेरना पूजा है तो शौच जाना भी पूजा है। आप सोचते होंगे कि तीन घन्टे जो माला फेरते हैं वह तो पूजा है, फिर इक्कीस घण्टे क्या करेंगें? यदि पूजा है तो प्रत्येक प्रवृत्ति पूजा है। यदि साधन है तो प्रत्येक प्रवृत्ति साधन है। नहीं तो भैया, जब तक किसी प्रवृत्ति-विशेष का नाम साधन है और किसी प्रवृत्ति - विशेष का नाम असाधन है तब सब असाधन है। परन्तु सब असाधन कहने का अधिकार मुझको नहीं है, क्योंकि सर्वांश में असाधन कभी रहता नहीं। इसलिए यह कहने की बात नहीं है। परन्तु आंशिक असाधन रहते हुए साधन,जो जीवन है,वह दूर ही रहता है।

इसलिए भाई, अपना सकंल्प समस्त असाधनों का मूल है, वह असत् है। क्यों असत् है? भाई, एक तो पूरा नहीं होता, इसलिए असत् है। तो अपना संकल्प रखना अपने जाने हुए असत् का संग है। और मैं ऐसा मान बैठा हूँ, चाहे वह व्यक्तिगत सत्य मानकर सबके लिए असत्य भले ही हो, किन्तु भैया, व्याख्यान में तो अपना परिचय होता है, मैं ऐसा मान बैठा हूँ कि अपने जाने हुए असत् का संग रहते हुए जो बल पूर्वक साधन किया जाता है, वह साधन कालान्तर में भले ही फलदायक हो, वर्तमान में सिद्धिदायक नहीं है। इसलिए यदि आज हमें और आपको अपने-अपने दृष्टिकोण से, मेरे दृष्टिकोण से नहीं, अपने -अपने विवेक के प्रकाश में यह मालूम होता है कि अपना संकल्प रखना कुछ अर्थ नहीं रखता, तो इसका जीवन में कोई स्थान नहीं है। यह मानव-जीवन का कलंक है, क्योंकि अपना संकल्प ही अपने को दास बनाता है, दूसरों से शासित कराता है और अपना संकल्प ही दूसरों पर शासन कराता है। हम ऐसा चाहते हैं। हम बाप बन कर कहते हैं कि लड़का ऐसा करे। अरे, बाप बने थे लड़के को प्यार करने के लिए कि लड़के पर शासन करने के लिए? पति बन कर आप कहते हैं कि पत्नी ऐसा करे। तो क्या उसके मन नहीं है? क्या वह बेमन की है कि अपने मन को मिला दे? अरे, बनते हो पुरूष और स्त्री के मन में मन को नहीं मिला पातें, तो काहे के पुरूष हो! वह नारी है, तुम नारीदास हो। आप विचार करो, बनते हो मित्र, और मित्र के मन में अपने मन को नहीं मिला पाते! अगर नहीं मिला पाते, तो भगवान् के मन में भी अपने मन को नहीं मिला पाते।

संसार है क्या? भगवान् से मिलने की ट्रेनिंग। जो संसार में ठीक से रह लेता है,ढ़ंग से रह लेता है वह भगवान् से अच्छी तरह मिल सकता है। बल्कि मैं तो कहूँ कि अगर वह भूल भी जाता है तो भगवान् आकर मिल लेते हैं। अगर आप परिस्थिति का ठीक उपयोग कर सकते हैं पूजा-बुद्धि से, तो आपको भगवान् की याद नहीं करनी पड़ेगी, भगवान् आपको याद करेगा। अगर आप अपनी परिस्थिति का ठीक उपयोग कर लेते हैं साधन-बुद्धिसे, तो आपको सिद्धि का आह्वान

नहीं करना पड़ेगा, सिद्धि आपका आह्वान करेगी। यदि आप अपनी परिस्थिति का ठीक कर्तव्य-बुद्धि से उपयोग कर लेते है, जो आपमें धर्म का अवतरण होगा आपका धर्मात्मा बनने का प्रयास नहीं करना पड़ेगा। लेकिन यह सब होगा कब? जब अपना संकल्प न हो तो तब। अब यह सोचिए कि आप अपने संकल्प को रखकर धर्म से दूर होना पसन्द करते हैं? सिद्धि से दूर होना पसंद करते हैं? प्रभू से अलग रहना पसंद हैं? प्रियजनों से भेद रखना पसन्द करते हैं? अगर आप सोचते हों कि आपके संकल्प का इतना मूल्य है कि प्रियजनों में भेद बना रहे,जगत से अलग बने रहे, विश्राम से वंचित रहें, तो इतना मँहगा संकल्प आप रख पाते हो? स्वप्न में या जागृति में? यानी किसी भी कीमत पर आप अपना संकल्प नहीं रख सकते। सोचिए तो सही, उनके सिखाने के कितने ढ़ंग हैं! यानी किसी भी भाई को, किसी भी बहन को स्वाधीनता नहीं दी कि वह हर समय अपना संकल्प रख सके। अरे भाई, पागल किसे कहते हैं? जो संकल्प में अटका रहे, वही तो पागल है; इसलिए आप कहते हो न,कि बिजली का शॉक दे दो। क्यों? संकल्प से छूट जाये, दिमाग ठीक हो जाय। आप विचार करें भौतिक दृष्टि से आप विचार करें, आस्तिक दृष्टि से आप विचार करें, जीवन की प्रत्येक समस्या की दृष्टि से आप विचार करें।

आपको भोजन करने में सबसे अधिक रस कब मिलता है? मूल्य देकर किए हुए भोजन से भूख ना किसी में आपको खिलाने की तीव्र अभिरुचि जाग्रत कर देती है, तब उस भोजन में जो रस आपको मिलता है, उसे आप अनुभव करें अपने जीवन में। अरें, आपकी कौन कहे, रघुनाथ जी भूल सके शबरी के बेरों को! क्यों? क्यों नहीं भूल सके, शबरी का संकल्प था कि गुरु ने कहा है एक दिन प्रभु आएँगे। तो जब प्रभु आएँगें, तो मैं अपने प्रिय को अपने हाथ से खिलाऊँगी। प्रेम क्या है? अपनी आसक्तियों को निछावर कर देना है। मैं सत्य कहता हूँ; किसी से आपको प्रेम हो जाय और आप में कोई विकार रह जाय, तो आप हमको फाँसी लगा दें। किसी से प्रेम तो हो जाय; और प्रेम होगा कब? जब आप पसंद करेंकि किसी का दिल, हमारे दिल हो जाय;

यानी किसी का जो दिल है,वही हमारा दिल है। हमारे दिल में किसी का दिल न मिलता हो, पर हम किसी के दिल में दिल मिलाते ! उसके लिए आप तैयार तो हो जायँ कि अब हम किसी कि मन में अपना मन मिला दें। और दुनिया में अगर कोई ऐसा साथी न मिले, तो सुने हुए प्रभु के मन में मन मिला लें। और यहां मिल जाय,तो यहाँ मिला लें। लेकिन जिस समय आप किसी के मन में मन मिला लेंगे, उसी समय चित्त चेतन में और चेतन अनन्त में मिल जाएगा।

॥ हरिः ॐ॥

प्रभु में प्रियता।

मेरे निज स्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा भाई और बहन!

आत्मीयता में ही प्रियता है और प्रियता ही भक्ति-रस है। वह ऐसा अनुपम रस है जिसकी माँग भगवान को भी है, भक्त को भी। शक्ति और मुक्ति की जो बात है, यह व्यक्ति का विकसित स्वरूप है और भक्ति की जो बात है वह प्रभु के लिए है। अब आप सोचिए कि तो जीवन प्रभु के लिए उपयोगी है वह जीवन कितना मूल्यवान है, कितना अनुपम है! उसका वर्णन किसी भी भाषा में सम्भव नहीं है। अब विचार यह करना है कि आत्मीयता के मुख्य अंग क्या हैं। पहला अंग है 'आस्था'। आस्था का अर्थ है ''प्रभु हैं''। कैसे हैं, कहाँ हैं, हम नहीं जानते। यह जानना बिलकुल जरूरी भी नहीं है। इतना जानना पर्याप्त है कि ''प्रभु है''। उसके बाद अपने ही आप जहाँ आस्था में दृढ़ता आयी कि 'श्रद्धा' जगती है, करनी नहीं पड़ती। बहुत गम्भरीता से विचार करें। इस पथ में आस्था करनी पड़ती है, श्रद्धा नहीं करनी पड़ती। श्रद्धा स्वतः जगती है। जब श्रद्धा जगती है तब विश्वास हो जात है। यही श्रद्धा की कसौटी है। जिसमें श्रद्धा होती है, उसमें विश्वास होता है बस, इस पथ की जो पूर्णता है वह आत्मीयता में है। अब वह आत्मीयता जब आपने स्वीकार कर ली, तब आप अपने ऊपर इतनी दया करें कि उस आत्मीयता का प्रभाव जो आप शरीर में, इन्द्रियों में, मन में,

बुद्धि में देखना चाहते हैं,वह न देखें। क्यों? उसका प्रभाव देखने से आत्मीयता ममता के रूप में बदल जायेगी। इसलिए तन चाहे जैसा हो, मन चाहे जैसा हो, प्राण चाहे जैसे हों, वे तो प्यारे प्रभु के हैं, आपके नहीं हैं, और किसी भी दार्शनिक दृष्टि से नहीं हैं। तो जो चीज अपनी नहीं है वह आस्तिकों की दृष्टि में प्रभु की है और अध्यात्मवादियों की दृष्टि में वह मायामात्र हैं और भौतिकवादी की दृष्टि में वह विश्व की है। कौन-सी चीज आपकी है? तो सोचिए कि प्रभु आपके हैं। उनके होते हुए तन, मन और बुद्धि में बहुत विकार दिखाई देते हैं तो भाई, विकार तो इसलिए दिखाई देते हैं कि आप उनको अपना मानते हैं।

जानते तो हैं आप यह कि वे हमारे नहीं है, इस बात में तो संदेह नहीं है। अगर वे हमारे होते तो बुढ़ापे को रोक लेते, रोग का रोक लेते, सुख को सुरक्षित रख लेते, दुःख न आने देते। प्रत्येक भाई का, प्रत्येक बहन का यह अनुभव है। वे इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि जो करना चाहते हैं, जिसे कर सकते हैं उसे कर नहीं पाते। देखिए, उसे करने का प्रश्न नहीं है जिसे आप कर नहीं सकते। कर सकते हैं और कर नहीं पाते, यह दशा है। यह दशा साधक को अपनी असमर्थता से परिचित कराती है। यह बड़ा भारी सत्य है महाराज ! कि अपनी असमर्थता के ज्ञान में किसी समर्थ की आस्था स्वतः आती है और यदि नहीं आती है तो आपका असमर्थता से परिचय नहीं है। तो सामर्थ्य का सद्व्यय कीजिए। यह भी एक पथ है और एक स्वतंत्र पथ है। सामर्थ्य का सद्व्यय और असमर्थता की व्यथा दोनों से आप एक ही जीवन में प्रवेश पायेंगे! लेकिन भाई, कभी तो असमर्थता से व्यथित और कभी आप यह रस लेते हैं कि हमने वह किया जो हमें करना चाहिए, यह द्वन्द्व मत रखिये। निश्चिंत हो जाइए एक बात पर। यदि आप सामर्थ्य का सद्व्यय कर सकते हैं तो हमारे प्रभु आपके भूतकाल को नहीं देखेंगें और वर्तमान के आधार पर ही आप न चाहो, तो भी अपना लेंगे। चाहने पर अपना लेना, यह प्रभुका अपमान करना है। मेरे विश्वास के अनुसार वे उनको पहले अपना लेते हैं जो उनको नहीं मानते है और उन्हें पीछें अपनाते हैं जो उन्हें मानते हैं। यह उनका एक स्वभाव है। क्यों ऐसा स्वभाव है? इसलिए कि जो प्रभु को नहीं मानते है वह वस्तुओं की

सत्ता मानता है, योग्यता की सत्ता मानता है, परिस्थितियों की सत्ता मानता है, अवस्थाओं की सत्ता मानता है। तो प्रभु अपने दुलारे को, अपने प्यारे को वस्तुओं के अधीन देखते हैं, तो वे बड़ी ही तीव्रता के साथ उसको अपनाने के लिए आकुल हो जाते हैं, जो सचमुच उन्हें नहीं मानता। हमसे भूल क्या होती है कि कभी प्रभु को मानते हैं और कभी जगत् को मानते हैं। यह बड़ी भारी भूल होती है।

मेरा तो आपसे निवेदन है कि आप इस बात से डरिये मत। आप पूरी कोशिश इस बात की करें कि प्रभु किसी न किसी प्रकार हमारे पास न आने पावें। यह मत कोशिश कीजिए कि हमारा उनसे सम्बन्ध हो जाय। कोशिश कीजिए कि हम उनको अपने जीवन में से निकाल कर फेंक दे। सच मानिए, जैसे-जैसे आप प्रभु को निकालने की कोशिश करेंगे,वैसे-वैसे प्रभु आप में घुसते चले जायेंगे। आप कहेंगे कि ऐसी बात कहते हैं! भाई देखो तो जरा, कौन-सा क्षण था आपके जीवन में, जब आपने अपने से सबल की सत्ता को स्वीकार न किया हो? आप ऐश्वर्य से बचे हैं? कौन-सा क्षण था आपके जीवन में, जब आपने ईश्वर सत्ता को स्वीकार न किया हो? तो आप निरन्तर ऐश्वर्य का आह्वान कर रहे हैं। प्यार का आह्वान कर रहे हैं। लेकिन नाम उनका बदल रहे हैं- व्यक्तियों के रूपर में वस्तुओं के रूप में, परिस्थितियों के रूप में। आप ऐश्वर्य की आशा करतें हैं, आप माधुर्य की आशा करते है; और अगर नहीं करते हैं, तो मैं आपसे पूछता हूँ कि कौन ऐसा माई का लाल है जिसको ऐश्वर्य ने न खींचा हो? अगर ऐश्वर्य ने खींचा है तो आप कैसे कहते हैं कि आपने ईश्वर को छोड़ दिया है? विचार करो, गंभीरता से विचार करो कि आपमें सामर्थ्य है ईश्वर को छोड़ने की? और ईश्वर में सामर्थ्य है आपको छोड़ने की? तो यह दूसरी बात है कि आप कहें कि हे प्यारे! तुम एक सुन्दर स्त्री के रूप में आओ, देखों प्यारे! बँगले के रूप में आओ, पद के रूप में आओ।

यह तो आपकी दशा है कि हे प्यारे! अब तो निर्विकल्पता के रूप में आओ, कि हे प्यारे! अब तो समता के रूप में आओ, कि हे प्यारे! अब तो कर्तव्यपरायणता के रूप में आओ। कौन-सा क्षण है आपके जीवन में, जब कि आह्वान नहीं है, किसी की पुकार नहीं है? भाई, वह उसी की पुकार है।

उसकी पुकार को आप अपने देहाभिमान से युक्त स्वभाव मे रँगते हैं, इतनी-सी बात है। अगर आपकी सचमुच शरणागत होना है, तो प्रयास इस बात का करो कि यदि हम ईश्वर को भूल जाते तो अच्छा था। भूल जाते उनको, न मानते तो बहुत अच्छा था! सच कहता हूँ, आपने जहाँ प्रभु को भूलने का प्रयास किया कि आप में अखंड स्मृति जाग्रत होगी। लेकिन करते हैं आप क्या? प्रभु के स्मरण का प्रयास आप करते हैं तब आपको जगत् का चिन्तन होता है? जगत् का चिन्तन आपको जगत् का कार्य करते हुए कभी नहीं होता। जगत का स्मरण हुआ पूजा के समय, क्योंकि आपने प्रभु से दूरी, भिन्नता तथा विस्मृति को स्वीकार कर लिया। गम्भीरता से सोचिए, तभी न आप प्रभु का चिन्तन करते हैं, किन्तु अपने आप जगत् का चिन्तन होता है। और क्या किया, कि आपने अपने आप होने वाले जगत् के चिन्तन के अस्तित्व को स्वीकार कर लिया। गम्भीरता से विचार करें, जगत् की स्मृति को सत्ता देकर आप प्रभु का ध्यान करना चाहते हैं, जो सर्वदा असम्भव है।

दया करें अपने पर, और ध्यान का प्रयत्न छोड़ दें, तब ध्यान अपने आप ही हो जाएगा। इसका अर्थ उल्टा मल लगा लेना। ध्यान करना छोड़ें उसका, जिसमें ममता है। देखिए न, आपके सामने ध्यान करने का प्रश्न कब आता है? ध्यान करने का प्रश्न तब आता है जब आप को किसी और का, अर्थात जो आपका प्रेमास्पद नहीं है उसका ध्यान होता है। अरे भैया, जब प्रभु का ध्यान छूट गया, तब जगत् का ध्यान क्यों करते हो? आप कहेंगें, करते नहीं हैं, होता है बड़ी सुन्दर बात है। जिसके तुम कर्ता नहीं उसके तुम भोक्ता क्यों बनते हो, अरे बुद्धिमान ठहरे न! ये बुद्धिमान लोग होते हैं जो ध्यान करने बैठते हैं। आसन बिछायें, वेदमंत्र पढ़े, कलमा पढ़े, न जाने क्या-क्या पढ़ें। तो मेरा निवेदन यह था कि जिसका ध्यान हो रहा है उसका ध्यान न करने का प्रयास कर रहे हैं। तो किसका ध्यान हो रहा है? बोले, जिसका नहीं चाहते। वह हो रहा है जो आप नहीं चाहते। तो बिना चाहे जो हो रहा है उसके भोक्ता क्यों बनते हो भैया? उसका समर्थन और विरोध क्यों करते हो भैया? यदि आप नहीं चाहते हैं संकल्प-विकल्प, तो आप होने वाले

संकल्प-विकल्प का समर्थन क्यों करते हैं, उससे क्यों सुख लेते हैं? आप निर्विकल्पता का आह्वान क्यों करते हो? तो यह जो आप करते हो, उसे आप छोड़ दो।

मैंने तो सवेरे भी कह दिया, और अब भी कहता हूँ कि मैं तो ईश्वरवादी बनाने का प्रयास नहीं करूँगा। क्यों? मैं तो ईश्वरवादी तब बनता जब मुझे आप ईश्वरवादी मालूम न होते या दूर मालूम होते, ना मैं प्रयास करता कि आप ईश्वरवादी बनें। मैं तो ऐसा मानता हूँ और ऐसा जानता भी हूँ कि आप ईश्वर से अलग हैं नहीं, हो सकते नहीं; कभी होंगे नहीं। इसलिए भाई, जो बिना चाहें हो रहा है उसके साथ आप सहयोग करते हैं। कैसे सहयोग करते हैं? कभी तो विरोध करके, कभी समर्थन करके। गंभीरता से विचार करें; निर्विकल्पता कभी नाश होती है क्या? आप विचार करो, बहुत स्थूल बुद्धि से भी सोचो। उत्पन्न हुए संकल्प का नाश होते हुए देखा होगा। अच्छा भाई, कोई सिद्ध कर सकता है कि निर्विकल्पता कभी नाश हुई क्या? देखिए, बड़े रहस्य की बात है। अविनाशी का स्वाधीनता का तुम नाश कर सकते हो? प्रेम का तुम नाश कर सकते हो? कदापि नहीं कर सकते; वह तो नहीं है। जो विकल्प करने की बात है उसको छोड़ दो।

एक बार आस्तिक बुद्धि से स्वीकार लो कि 'वह है।' मजाक उड़ाओ भगवान का कि हमने तुम्हारे मन में संकल्प-विकल्प देखे, कि हमने तुम्हारी बुद्धि में विवशता देखी,कि हमने तुम्हारे तन में रोग को देखा। क्यों देखा, कि हम इस बात को जानते हैं कि ये चीजें हमारी नहीं हैं, यह तन और मन हमारा नहीं हैं और हमारे लिए नहीं है, बुद्धि हमारी नहीं है और इस बात को मानते है कि प्रभु हमारे हैं, किन्तु जानते नहीं है। भाई, बिना जाने को क्यों मानते हो? मैं आपसे पूछता हूँ कि जाने हुए को मानने का कहाँ प्रश्न आता है? बन्धुओ, बहुत गम्भीरता से विचार करो। जाने हुए को मानने का प्रश्न नहीं है। क्यों? अगर आप असत्य को असत्य जानते हैं तो असत्य की निवृति हो जाती है।अगर आप सत्य को सत्य जानते हैं तो सत्य की प्राप्ति हो जाती है। मानने का प्रश्न है उसके सम्बन्ध में, जिसके सम्बन्ध में आप कुछ नहीं जानते हो। और नहीं जानते हो किसके सम्बन्ध में? तो कहना पड़ता है प्रभु के सम्बन्ध में। आजकल जानने का अर्थ

लगा लिया है लोगों ने 'श्रवण', किन्तु सुने हुए को हम मान लेते हैं कि हम जानते हैं? सुना हुआ जाना हुआ नहीं होता ; चाहे कुरान से सुना हो, चाहे पुराण से; चाहे बाइबिल से सुना हो, चाहे वेद से। सुना हुआ जो कुछ है, वह जाना हुआ नहीं है। और जाना हुआ जो कुछ है सरकार, वह माना हुआ नहीं है। विचार करो; क्या जाना हुआ है? प्रत्येक अवस्था, प्रत्येक वस्तु सतत परिवर्तनशील है, अथवा यों कहो कि स्थिति -रहित है। करो स्थिति सिद्ध इन्द्रियगोचर की। जिसे तुम जानते,करो उसकी स्थिति सिद्ध! बाबू नहीं कर सकते। जिसे तुम मानते हो, उस माने हुए की स्थिति जरा मिटा तो दो। अर्थात आस्था की स्थिति अस्वीकृति के बिना नाश नहीं होती। लेकिन आप जानते हैं, चीनी यह बात मान लेते कि हम चीनी नहीं हैं, तो झगड़ा खत्म। अमरीकी यह बात मान लेते कि हम अमरीकन नहीं हैं, तो झगड़ा खत्म। हिन्दुस्तानी यह मान लेते कि हम हिन्दुस्तानी नहीं हैं, तो झगड़ा खत्म। यानी, आपने माने हुए को आप अस्वीकृति के बिना मिटा नहीं सकते।

इन्द्रियगोचर की तो आप स्थिति और उसका स्वतंत्र अस्तित्व ही नहीं सिद्ध कर सकते और माने हुए का आप मिटा नहीं सकते। आस्था में कितना बल है, श्रद्धा में कितना बल हैं, विश्वास में कितना बल है कि माने हुए को मिटाने की सामर्थ्य आपमें नहीं है और इन्द्रियगोचर को स्थिर रखने की सामर्थ्य आपमें नहीं है। अगर हो तो कोई भाई बतायें! बड़े से बड़ा दार्शनिक हो, बड़े से बड़ा विज्ञान-वेत्ता हो। बड़े से बड़े विज्ञान-वेता के सामने यह प्रश्न हैकि वह कृपा करके जाने हुए की स्थिरता सिद्ध कर दे। और बड़े से बड़े तार्किक के सामने यह प्रश्न है कि वह माने हुए की स्थिति को जरा मिटा तो दे। तो माना हुआ मिटता नहीं और जाना हुआ स्थिर है नहीं, दोस्तो! तो परवाह क्या है? अगर माना हुआ मिट जाता है तो सचमुच एक समस्या आ जाती। यदि जाना हुआ स्थिर हो जाता तो सचमुच एक समस्या हो जाती। जाना हुआ स्थिर नहीं है, तो उसे अपना मत मानों, अर्थात उसकी ममता का त्याग करो; और सुना हुआ मिट नहीं सकता है, अतः प्रभु में आत्मीयता स्वीकार करो। आत्मीयता सजीव कब होगी? जब अपने पास अपनी करके कोई वस्तु नहीं तो,एक तो यह बात। और दूसरी बात यह कि 'वे चाहे जैसे

हैं, अपने है; किन्तु उनसे कुछ चाहिए नहीं। आप यह बात मत सोचिए कि प्रभु को मुक्ति, शक्ति देना कठिन है।

तुम केवल यही कह सकते हो कि हे प्यारे! तुम अपने हो, तुमसे और कुछ नहीं चाहिए। क्यों नहीं चाहिए? क्योंकि अपनेपन से बढ़कर भी कोई और चीज होती, तो हम जरूर माँगते। अपनेपन में है अगाध प्रियता, और प्रियता से प्यारे को रस मिलता है; और किसी प्रकार रस नहीं मिलता। इसलिए हमें अपनत्व से भिन्न कुछ नहीं चाहिए, जिससे आपकी आत्मीयता सुरक्षित रहे। अपने में अपना करके वास्तव में न पहले कुछ था, न अब कुछ है। जब अपना करके अपने पास कुछ नहीं है, तो असंगता स्वतः आ गयी। और उनसे कुछ नहीं चाहिए, तो आत्मीयता सुरक्षित एवं सजीव हो गई। आत्मीयता में ही अगाध, अनन्त नित-नव प्रियता, है जो वास्तव में जीवन हैं।

॥ हरिः॥

मिले हुए का सदुपयोग।

मेरे निज स्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा भाई और बहन!

किसी भी साधक को किसी भी अप्राप्त वस्तु, सामर्थ्य और योग्यता की आवश्यकता नहीं हैः परन्तु मिले हुए का दुरुपयोग नहीं करेंगे, इस निर्णय की सभी को आवश्यकता है। हम अपनी बात को अपनी बात मान लें कि जो हमे मिला है उसका दुरुपयोग नहीं करेंगे और जो नहीं मिला है, उसे नहीं मांगेंगे, क्योंकि जो दाता है वह हमसे अधिक जानता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं केवल ईश्वरवादियों की बात कहता हूं। आप ईश्वादी हो अनिश्वरवादी, भौतिकवादी हो या अध्यात्मवादी, इससे कोई हानि नहीं होती। क्योंकि एक बात सभी के लिए समान है। कौन सी बात? जो मिला है वह किसी का दिया हुआ है, अपना नहीं है। दूसरी बात है कि वह अपने लिए नहीं हैं। जो भी आपका मिला है वह न आपका है, न आपके लिए है। किसी का दिया हुआ है और किसी के लिए है। तो जिसके लिए है उसी का नाम जगत् है और जिसका दिया हुआ है, आस्तिक भाषा में उसी का नाम ईश्वर है। तो जिस भाई को, जिस बहन का जो मिला है, वह प्रभु

का दिया हुआ है और वह जगत् के लिए है। फिर अपने लिए क्या है? भैया अपने लिए तो प्रभु है। अपने को प्रभु से क्या मिलेगा, यह तो बात कोई ज्यादा मूल्यवान नहीं है। अपने से प्रभु को मिलेगी आत्मीयता, प्रियता, आस्था और विश्वास। ये सारी बातें साधक से साध्य को मिलती हैं। तो क्या ये साधक की अपनी वस्तु है? बोले, नहीं-नहीं, साध्य ने दी है, इसलिए कि हम ये तुम्हे दिये देते हैं, तुम हमें देना। फिर हम तुम्हारे दिये हुए से अपने को कृतकृत्य मानेंगे। ऐसा साध्य को क्यों सूझा? यह तो वे ही जाने, अपने को पता नहीं। पर बात मेरी दृष्टि से अक्षरशः सत्य है।

आपके ऊपर कितना दायित्व रह गया? अगर दिये हुए को यानि मिले हुए को अपना मान कर दोगे, तो उसक बदले में बहुत सा मिलेगा और उन्ही का मान कर दोगे, तो स्वयं वे मिलेंगे। इतनी सी बात है भाई। है तो मिला हुआ। किससे मिला हुआ है? तो जिसकी आपने सत्ता स्वीकार की। अगर जगत् की सत्ता स्वीकार की, तो जगत् से मिला है, प्रभु की सत्ता स्वीकार की, तो प्रभु से मिला है।

आपको जो मिला है उसका आप दुरुपयोग नहीं करेंगे। क्या यह बात आपको असंभव मालूम होती है? जो मिला है उसका आप दुरुपयोग नहीं करेंगे, यह निर्णय करना अगर असंभव नहीं है तो यह निणय भविष्य के लिए नहीं छोड़ना है। इस निर्णय में किसी और का आश्रय नहीं लेना है। स्वयं के द्वारा ही यह निर्णय कर लेना है कि हमे जो कुछ मिला है, उसका हम दुरुपयोग नहीं करेंगे। इस निर्णय के पश्चात् भी यदि दुरुपयोग कर बैठे, तो अपने को असमर्थ मान कर उससे व्यथित होना बहुत आवश्यक है। साधक के जीवन में जो असमर्थता है वह इस अर्थ में नहीं है कि जो उसे करना चाहिए था, वह कर नहीं सकता। इस अर्थ में होना चाहिए कि जो उसे करना चाहिए था, वह कर नहीं सकता। इस अर्थ में होनी चाहिए कि जो उसे करना चाहिए था वह उसने किया नहीं है, वह बेचारा देख नहीं सकता। यह नहीं, इस प्रकार की असमर्थता साधक के जीवन में नहीं आती है। साधक के जीवन में इस प्रकार की असमर्थता है कि जिसे वह कर सकता है, नहीं किया। सच पूछिए तो वही शरणागति का अधिकारी है।

लेकिन आजकल आप जानते हैं कि शरणागति के लिए उत्साह दिया जाता है, शरण्य की महिमा गा कर। जैसे, कोई कामुक पुरूष से कहे कि अमुक स्त्री की नाक बड़ी अच्छी है, उसकी आंखे सुंदर हैं, उसके कान बड़े अच्छे हैं, उसकी वाणि में बड़ा रस है। क्यों? उसके मन में इस वर्णन से उसकी कामना तीव्र हो जाए। यह आजकल की प्रथा है, परंतु वास्तव में यह अपने प्यारे का अपमान है। आप विचार करें। गंभीरता से विचार करें।

अपनी असमर्थता की व्यथा यदि हमें शरणागत् नहीं कर सकती और सामर्थ्य का सद्व्यय यदि हमें असंगता नहीं दे सकता, तो क्या वास्तव में शरणागति होगी भी? क्या वास्तव में असंगता होगी? यदि मिले हुए का दुरुपयोग आप नहीं रोक सकते, तो क्या आप में कर्तव्यपरायणता आएगी? कदापि नहीं। तो मिले हुए का हम दुरुपयोग नहीं करेंगे, इस निश्चय के बाद कर्तव्यपरायणता आप चाहोगे तो आ जाएगी, ना चाहोगे तो आ जाएगी। लेकिन एक बात और विशेष आएगी। कौन सी बात? यह की उस कर्तव्यपरायणता का अभिमान नहीं बनेगा। आप कहें कि यह क्यों नहीं कहते कि हम तो मिले हुए का सदुपयोग करेंगे। यह क्यों कहे कि दुरुपयोग नहीं करेंगे। यदि आप कहें कि हम मिले हुए का सदुपयोग करेंगे, तो कर्तव्यपरायणता के आधार पर आपका सीमित अहम् जीवित रहेगा, यह क्षति होगी। इसलिए यह मत सोचिए कि हम सत्य बोलेंगे। पर यह सोचिए कि हम झूठ नहीं बोलेंगे। यह मत सोचिए कि हम किसी की सेवा करेंगे। पर यह सोचिए कि हम किसी को हानि नहीं पहुंचाएंगे। यह मत सोचिए कि हम किसी को आदर देंगे, पर यह सोचिए कि हम किसी का अनादर नहीं करेंगे। यह मत सोचिए कि हम किसी का भला करेंगे, यह सोचिए कि हम किसी का बुरा नहीं करेंगे। क्यों? इसलिए कि निषेधात्मक जो निर्णय होता है उसमें सामर्थ्य की शिक्षा नहीं होती, उसका अभिमान नहीं होता। इसलिए आप यदि विश्राम चाहते हैं, तो चाहे साधन हो विश्राम, चाहे साध्यरूप हो, विश्राम उसी को मिलेगा जो मिले हुए का दुरुपयोग नहीं करेगा। उसको जरूर विश्राम मिलेगा। वह चाहे तो मिले, न चाहे तो मिले।

आप विचार कीजिए, जिस समय आपने यह निर्णय कर लिया कि हम मिले हुए का दुरुपयोग नहीं करेंगे, उसी समय दो स्थितियां आपके सामने आ जाएंगी, या तो सद्व्यय होने लगेगा या विश्राम मिलेगा। तो जब सद्व्यय होने लगे तब सजगता रखनी होगी कि यह मत मान बैठिए कि हमने किया था। क्यों? आपने दुरुपयोग न करने का निर्णय किया, आपने सद्व्यय करने की प्रतिज्ञा नहीं की है। तो, जब सद्व्यय होने लगे तब उसका अभिमान मत कर बैठना। इससे क्या लाभ होगा? तो भैया फल कौन मांगता है? जो कुछ करता है। जब कुछ किया ही नहीं, तो फल क्यों मांगोगे? निष्कामता आ जाएगी कि नहीं? फलासक्ति मिट जाएगी कि नहीं? आप विचार करें। आप कुछ तब मांगते हैं, जब करने के बाद आप कहते कि हमने कुछ किया है, उसका फल दीजिए। किन्तु जब आपने कुछ किया ही नहीं, तब आपको फल मांगने का क्या अधिकार है? देखिए, जहां करने का कुछ अभिमान नहीं मालूम होता, वहां फल में आसक्ति भी नहीं मालूम होती, फल की आशा भी नहीं होती, फल का चिन्तन भी नहीं होता और जब करने का अभिमान रहता है तब फल का चिन्तन भी रहता है। फल की आसक्ति भी रहती है। इसलिए जो वर्तमान कर्तव्य-कर्म आपने किया, अगर उसके करने के अन्त में उसकी स्मृति आती है अथवा उसके फल की स्मृति होती है, अथवा भविष्य के काम का स्मरण आता है बिना आश्रम काल के, तो समझना चाहिए कि सद्व्यय करने का अभिमान है और जिसको सत्य बोलने का अभिमान है वह चाहे युधिष्ठिर ही क्यों न हो, कभी न कभी झूठ अवश्य बोलेगा।

आप सोचिए, भगवान श्यामसुंदर को क्या सुझा! आज तक आपने किसी से नहीं सुना होगा, हमने तो किसी कथावाचक से नहीं सुना कि युधिष्ठिर झूठ बोले। यह सुना कि कृष्ण बड़ा नटखट था, युधिष्ठिर से झूठ बुलवा लिया। यही न कहते हैं सब लोग? कोई नहीं कहता कि युधिष्ठिर झूठ बोले। जरा सोचिए तो, उस नटखट का नटखटपन तो देखिए। अगर पांडवों से यह बात पूछी जाए कि भैया! यह बताओ कि विजय-कामना तुम्हारे मन में थी कि नहीं, तो कोई इन्कार कर सकता है? पांडव कह सकते हैं कि हम विजय नहीं चाहते थे, मैं आपसे पूछता हूं कि कामना के

रहते हुए कोई सत्य का अनुसरण कर सकता है? यह प्यारे श्याम-सुंदर की महिमा देखो। हाय, कलंक अपने ऊपर और विजय दूसरे को! विचार करो, ऐसा दोस्त मिलेगा दुनिया में जो कलंक अपने ऊपर ले और कामना-पूर्ति तुम्हारी करें? तो, हमारे प्यारे इस ढंग से काम करते हैं और आपके पास कुछ था ही नहीं हजरत, मिला था और उसका सदुपयोग करने के लिए विवेकरूपी विधान भी मिला था। विधान आपके पास और उसका अपमान करते हैं। अगर अभिमान करें तो कोई ऐसा जज नहीं जो फाँसी का हकदार न हो जाए। अगर जज लिखता है कि मैने फाँसी दी, तो बदले में उसे फाँसी मिलेगी कि नहीं? अगर मैजिस्ट्रेट लिखता है कि मैने सजा दी तो उसके बदले में उसे सजा मिलनी चाहिए कि नहीं? लेकिन हर मजिस्ट्रेट जानता है कि पावर सरकार की है मेरी नहीं है, कानून सरकार का है मेरा नहीं है। सरकार की दी हुई पावर से, सरकार के दिए हुए विधान से वह काम कर देता है। इसलिए मजिस्ट्रेट अपराधी नहीं होता।

उसी प्रकार हमें और आपको वस्तु मिली है, योग्यता मिली है, सामर्थ्य मिली है, विवेकरूपी विधान मिला है और प्रभु ने उसके उपयोग करने की पूरी स्वाधीनता दी है। तो यदि हम यह निर्णय कर लें कि मिले हुए का दुरुपयोग नहीं करेंगे, तो आप सच मानिए, कर्तव्य-परायणता का अवतरण होगा आपके जीवन में और यह जो कर्तव्यपरायणता है, मालूम है वह क्या है? यह भौतिक जगत की साधना है। कर्तव्य-परायणता के दो फल है- करने के राग की निवृत्ति और सुंदर समाज का निर्माण। इसलिए जब मानव के हृदय में कर्तव्य-परायणता की अभिव्यक्ति होती है, तो उसे राष्ट्र की आवश्यकता नहीं रहती है। यह पहचान है और जिस समाज को राष्ट्र की आवश्यकता रहती है तो उस समाज के बारे में समझना चाहिए कि कर्तव्यपरायणता से बहुत दूर है, चाहे उसने बढ़िया सड़के बना दी हो, चाहे सबको खाना दे दिया हो, सामान दे दिया हो पर कर्तव्य से बहुत दूर है। उसका परिणाम मालूम है क्या होगा? दो देशों में, दो दलों में, दो व्यक्तियों में संघर्ष होगा। राष्ट्र के द्वारा शांति की स्थापना संभव नहीं है।

इसलिए भाई, विश्राम में जीवन है, विश्राम ही जीवन है। दोनो ही

बातें ठीक हैं। ''विश्राम में जीवन है, विश्राम ही जीवन है'', यदि यह पाठ हमें याद हो जाए, यदि इस पाठ को स्वीकार कर लें, तो विश्राम मिल सकता है। आप जानते है, विश्राम में कोई पराधीन नहीं है। क्यों? आप जो कुछ करते हैं उसके पूर्व और उसके अंत में क्या विश्राम नहीं था? बोलने के अंत में क्या विश्राम नहीं है? तो विश्राम अप्राप्त नहीं है भाई। विश्राम तो प्राप्त ही है। अब उस प्राप्त विश्राम में आपकी आस्था कितनी है, आपकी श्रद्धा कितनी है, आपकी आत्मीयता कितनी है, आपका विश्वास उसमें कितना है! किसमें? जो विश्राम प्राप्त है, उसमें। इस दृष्टि से हम मिले हुए का दुरुपयोग नहीं करेंगे, यह हम सबके लिए अनिवार्य है, अत्यंत आवश्यक है।

अब आगे सोचिए कि जब सदुपयोग होने लगे, तब उसका अभिमान मत करना कि हमने किया है। उससे क्या होगा कि किए हुए फल की जो आसक्ति थी, किए हुए फल का जो चिंतन होता था, वह नाश हो जाएगा अपने आप। तो जहां किए हुए के फल की आसक्ति नाश हो गई, किए हुए का चिंतन नाश हो गया, वहां अल्पकाल के लिए विश्राम आ जाएगा और फिर जो कार्यक्रम अनन्त के विधान से निश्चित है उसकी उत्पत्ति होगी और उसकी पूर्ति होकर उसकी निवृत्ति होगी। इस प्रकार प्रत्येक कार्य के आदि और अंत में विश्राम मिलेगा। उसी विश्राम मेंसे भौतिकवादी को शक्ति अर्थात् सामर्थ्य और अध्यात्मवादी को मुक्ति और आस्तिकवादी को भक्ति मिलेगी। अथवा यों कहो कि उस विश्राम में सामर्थ्य, असंगता और विरह की जागृति होगी। विरह की जागृति में प्रेम का प्रादुर्भाव है। असंगता ही स्वाधीनता की जननी है और सामर्थ्य ही कर्तव्य की प्रतीक है। इस दृष्टि से जीवन कर्तव्यपरायणता, असंगता और शरणागति से युक्त होगा। विश्राम योगानंद है, स्वाधीनता निजानंद है और 'वह' प्रेमानंद है। इस प्रकार हम सब का जीवन योगानंद, निजानंद और प्रेमानंद से अभिन्न होगा, यह निर्विवाद सत्य है।

॥ हरिः ॥

मानव जीवन का महत्व।

मेरे निज स्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा भाई और बहन!

सच बात तो यह है कि मैं कोई नई बात बताने नहीं आया हूं जिसे आप लोग नहीं जानते हैं। आपकी जानी हुई बातों को ही आपकी सेवा में निवेदन करना है। सबसे पहली बात तो यह है कि आज जो हम अपने जीवन का मूल्यांकन करते हैं उसका आधार क्या है? किस पैमाने से नापते हैं? यह सबसे पहली बात है आपको अपने जीवन का महत्व किसके आश्रित मालूम होता है? इस पर विचार करें। यदि किसी वस्तु विशेष के आश्रित हम और आप जीवन का मूल्यांकन करते हैं तो वह महत्व अपने जीवन का न होकर किसी वस्तु का हो जाता है। यदि किसी परिस्थिति के आश्रित हम अपने जीवन का मूल्यांकन करते हैं तो वह महत्व किसी परिस्थिति का हुआ और किसी अवस्था विशेष के आश्रित यदि हम अपने जीवन का मूल्यांकन करते हैं तो महत्व अवस्था का हुआ, अपना नहीं हुआ। तो हमसे सबसे बड़ी भूल यह हुई कि हम अपने जीवन के महत्व को भूल गए। उदाहरण लीजिए। जब अपना देश विदेशियों के आधीन था तब हम लोग यह सोचते थे कि विदेशी साम्राज्य के चले जाने के बाद हम न जाने कितने सुंदर हो जाएंगे। ऐसा मैं सोचता था और यहां जो लोग बैठे हैं उनमें से कुछ मित्रों को तो मै जानता हूं, संभव है वे भी सोचते होंगे, परंतु परिस्थिति बदल गई और सौन्दर्य के साम्राज्य में प्रवेश नहीं हुआ। क्या यह बात आज हम लोगों से छिपी है? जीवन के छोट-छोटे कार्यों में देखिए। कुछ लोग सोचते हैं कि अमुक व्यक्ति के मिल जाने से हमारे जीवन का मूल्य ठीक हो जाएगा, अमुक वस्तु के मिल जाने से हमारे जीवन का मूल्य ठीक हो जाएगा, अमुक पद के मिल जाने से हम अपने को ठीक कर लेंगे।

ऐसा सोचकर अप्राप्त वस्तु का, अप्राप्त व्यक्ति का, अप्राप्त परिस्थिति का, अप्राप्त अवस्था का चिंतन करते हैं, किन्तु इस बात पर विचार नहीं करते कि जो मूल्य नहीं है, क्या वह भी मूल्य है? कदापि नहीं। आप गंभीरता से विचार करें, गहरी नींद में हम सभी अपनी परिस्थितियों से अलग होते हैं और उस समय आप यह नहीं कह सकते हैं कि हम लोग दुःखी हैं। इतना ही नहीं आप यह भी नहीं कह सकते हैं कि हम लोग सुषुप्ति

के बिना रह सकते हैं। आप बड़ी से बड़ी परिस्थितियों का, बड़े से बड़े प्यारे व्यक्तियों का परित्याग कर देते हैं गहरी नींद के लिए, जिसमें जड़ता का दोष है। अगर कहीं ऐसी नींद आ जाए जिसमें जड़ता का दोष न हो और वस्तु, व्यक्ति, देश, काल अवस्था का आश्रय न हो, तो क्या वह मूल्य आपका मूल्य नहीं होगा? अवश्य होगा। इसलिए भाई, प्रत्यके देश व वर्ग के व्यक्ति को सबसे पहले यह बात सामने रखनी चाहिए कि जब हम बे सामान और बे साथी के होंगे तब जीवन होगा, या नहीं। यदि आपका निर्णय मेरा निर्णय नहीं आपकी यह बनाए कि जीवन होगा, ना जीवन मिल सकता है और यदि आपका निर्णय यह बताए कि जब हम बे सामान के होंगे तो जीवन नहीं होगा तो सरकार! जीवन मिल ही नहीं सकता। किस भाई का किस बहन का यह अनुभव नहीं है कि प्यारे से प्यारा साथी सदैव के लिए साथी नहीं है, प्यारी से प्यारी वस्तु सदैव के लिए अपनी नहीं है? कौन इस बात को नहीं जानता? क्या यह बात मानव मात्र की अपनी बात नहीं है? देखिए, लोगों को भ्रम होता होगा कि मानव-सेवा-संघ क्या बिमारी चली। मानव-सेवा-संघ का अर्थ क्या है? मानव का अपना संघ। मानव-सेवा-संघ की बात क्या है? मानव की अपनी बात।

मैं तो लोगों से कहता हूं कि जो लोग मानव-सेवा-संघ की बात को नहीं मानते वे मानों अपनी बात नहीं मानते। विचार करें, ठंडे दिमाग से सोचों कि यदि बिना साथी और बिना सामान का आपका जीवन नहीं है, तो सरकार! जीवन ही नहीं है और वह एक कल्पना नहीं है, एक भावना नहीं है, वास्तविकता है। आप उसका अनुभव अभी कर सकते हैं, अभी-अभी। मिले हुए कि ममता के त्याग से कर सकते हैं। इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि आप मिले हुए को गंगा में डाल दें। इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि आप मिले हुए का सदुपयोग न करें। केवल इतनी सी बात है कि मिले हुए को अपना न माने। क्यों? क्यों अपना न मानिए?

आप ही सोचिए, हमको सत्संग के लिए यह हॉल मिला है। क्या इसको हम अपना मान सकते हैं? कहना पड़ेगा कि अपना मानते ही कान पकड़ के निकाल दिए जाएंगे और उपयोग करने में कोई आपत्ति नहीं आएगी। क्यों? आप लोग अपनी

इस बात को नहीं मानेंगे? क्या भविष्य पर छोड़ेंगे, धीरे-धीरे करेंगे? सोचे और विचारें। यह बात धीरे-धीरे करने की नहीं है। यह बात भविष्य पर छोड़ने की नहीं है। यह बात किसी और के द्वारा नहीं होगी। यह बात आपको मेरे भाई, अभी-अभी करनी होगी और यदि नहीं करेंगे तो मालूम है क्या दुर्दशा होगी? तब यह दुर्दशा होगी कि आपके जीवन में अप्राप्त परिस्थितियों का, अप्राप्त वस्तुओं का, अप्राप्त व्यक्तियों का चिन्तन होगा, चिन्तन। उससे आपकी सांइस नहीं रोक सकती, उसे आपका पद नहीं रोक सकता, उसे आपका साहित्य नहीं रोक सकता, उसे आपका बैंक अकाउंट नहीं रोक सकता, डिग्रियां नहीं रोक सकती जनाब, डिग्रियां उस चिंतन को और आप जानते हैं, जो उन अप्राप्त परिस्थितियों का चिंतन करता है, वह प्राप्त परिस्थिति का स्वागत नहीं कर सकता है। जो बेटा लगता है वह बुरा लगता है, अच्छा मिलता नहीं, जो लुगाई मिली है वह बुरी लगती है, अच्छी मिलती नहीं। जो मकान मिला है वह अच्छा लगता नहीं और बढ़िया मिलता नहीं। जो योग्यता मिली है वह पसंद नहीं, आगे बढ़ती नहीं।

सोचो जीवन को सामने रखकर। मैने भैया जीवन का अध्ययन किया है। विद्या का नहीं किया है। सोचो तो, हमसे सबसे बड़ी भूल क्या हुई? अपने महत्व को भूलें और दूसरी भूल मालूम है क्या हुई? जो परिस्थिति हमें मिली थी या मिली है उसका न तो स्वागत किया और न सदुपयोग किया। यह बड़ी भारी भूल है। यह मामूली भूल नहीं है। आज बड़े-बड़े नीतिज्ञ हिंदुस्तान को अमेरिका के समान सम्पन्न देखना चाहते हैं, रूस के समान समर्थ देखना चाहते हैं और लंदन के समान नीतिज्ञ देखना चाहते हैं।

मैं पूछता हूं कि अमेरिका में सी.आई.डी. है कि नहीं, न्यायालय है कि नहीं, फौज है कि नहीं, दूसरे देशों के साथ विद्रोह है कि नहीं? कौन सी बात अमेरिका में ऐसी है कि जो हिंदुस्तान में नहीं है? आप कहेंगे बढ़िया मकान नहीं है, अधिक सामान नहीं है, अच्छे हस्पताल नहीं है। ठीक रहने वाले पागल हैं या बुद्धिमान? बुरा मत मानना। मैं अमेरिकन को पागल नहीं कहता हूं। किसी देश के रहने वालों को पागल नहीं कहता है। अगर रहने वाले बुद्धिमान है तो लड़ाई के सामान से किसकी रक्षा होगी? मैं

पूछता हूं आपसे। विचार करों। गंभीरता से विचार करो कि लड़ाई का सामान नाश के काम आएगा कि विकास में, क्या कोई भी सबल अधिक बल पर विजयी होगा? कदापि नहीं। समान बल पर विजयी होगा? कदापि नहीं। किस पर विजयी होगा, निर्बल पर। तो बल से निर्बल को डराने वाला देश, क्या विकसित देश कहलाएगा? मानव-सेवा-संघ इस विकास का घोर विरोध करता है।

मानव-सेवा-संघ कहता है कि देखो, विकसित मानव, विकसित समाज वह है, जो किसी का शासक न हो और न किसी से शासित हो। जो वर्ग किसी वर्ग का शासक है, जो व्यक्ति किसी व्यक्ति का शासक है अथवा जो व्यक्ति किसी व्यक्ति से शासित है वह वर्ग, व्यक्ति या देश विकसित नहीं है। वह अधूरा जीवन है। तो आप कहेंगे कि क्या संभव हो सकता है कि हम किसी से शासित न हों? तो यह सर्वदा संभव है। हम किसी के शासक न हो सर्वदा संभव है। तो यह असंभव नहीं है। कब? देखो, कितनी सरल बात है, मिले हुए का हम दुरुपयोग न करें तब। यह नहीं कि हमारे पास यह नहीं है, हमारे पास वह नहीं है। अजी, हम पढ़े-लिखे लोगों से सुनते हैं कि राईट्स चाहिए, यह मिलना चाहिए, वह मिलना चाहिए। जो मिल पाया उसका तो उपयोग नहीं कर पाए, देवता! और मिलेगा तो और सर्वनाश करोगे। मिले हुए का दुरुपयोग न करें, आप शासित नहीं रह सकते किसी के। सुने हुए में अश्रद्धा न करें, आप शासित नहीं रह सकते किसी के जाने हुए का अनादर न करें, आप शासित नहीं रह सकते किसी के और मिले हुए का दुरुपयोग करते हुए, जाने हुए का अनादर करते हुए, सुने हुए में अश्रद्धा रखते हुए आप सदा दासता में आबद्ध रहेंगे, रहेंगे, रहेंगे और जब आप दासता में आबद्ध होंगे तो मालूम है आप क्या करेंगे? जो किसी की दासता में बंधा है वही किसी को दास बनाने के प्रयास में लगा है। जो देश किसी दूसरे देश पर अधिकार करना चाहता है वह देश किसी की दासता में आबद्ध है, जो वर्ग किसी वर्ग को दास बनाना चाहता है वह वर्ग किसी वर्ग की दासता में आबद्ध है और वह दासता जिसमें आप और हम आबद्ध है, उस दासता को दूसरा नहीं मिटाएगा। सच बात तो यह है कि दूसरा बता भी नहीं पाएगा, मिटाना तो और बात।

इसलिए मेरे भाइयों, धीरज के साथ, ठंडी तबियत से एक बार इस पर विचार करो कि आपका अपना महत्व क्या है! वस्तु के महत्व से आप अपरिचित नहीं है, व्यक्ति के महत्व से आप अपरिचित नहीं है, पदों के महत्व से आप अपरिचित नहीं है, ज्ञान-विज्ञान, के और कलाओं के महत्व से आप से आप अपरिचित नहीं है। आप अपरिचित हैं तो सिर्फ अपने महत्व से। आप जानते हैं आपका महत्व क्या है? आपका महत्व है कि आप जगत् के लिए-बिल्कुल ईमानदारी की बात है-बिल्कुल उपयोगी हो सकते हैं। यह महत्व किसी परिस्थति का नहीं है, यह महत्व किसी अवस्था का नहीं है, यह महत्व किसी वस्तु का नहीं है, यह महत्व किसी वर्ग विशेष का नहीं है, यह महत्व किसी पद्धति विशेष का नहीं है। यह आपका महत्व है। आप इतने सुंदर हैं! आप कहेंगे, कैसे? सीधी बात है। एक बात बताओ भैया! जिस संसार को आप देखते हैं उसमें दो चीजें दिखाई देती हैं, किसी के संबंध में यह निर्णय करते हो कि यह सुखी है और भैया! किसी के संबंध में यह निर्णय करते हो कि यह दुःखी है। तीसरी चीज दिखाई दी है किसी को? मैं पूछता हूं जल्दी बता दो। देर करोगे तो नहीं सुनूंगा। सुखी और दुःखी के अतिरिक्त कोई और चीज देखी है आपने जगत् में? इसका मतलब है कि आप बताना नहीं चाहते हैं या आपने स्वीकार कर लिया है। अच्छा एक बात आपसे हम पूछें कि जब आपकी दृष्टि सुखी पर पड़े और आप उसे देख करके प्रसन्न हो जाएं, सच ईमानदारी से बताओ कि वह सुखी तुम्हारी आवश्यकता अनुभव करेगा कि नहीं? या जब कोई आपको सुखी देखता है और प्रसन्न होता है, तब यह आपको प्यारा लगता है या नहीं? अनुभव करो। ऐसे ही यदि आपकी दृष्टि किसी दुःखी पर पड़े और आपका हृदय करुणित हो जाए, तो दुःखी आपकी आवश्यकता अनुभव करेगा कि नहीं? लोग सेवा के नाम पर भोग करते हैं। भैया, भूल न करना।

जब हमारा देश आजाद हुआ, तब एक बार कांस्टीट्यूशन हाउस, देहली में राजेन्द्र बाबू ने कुछ मित्रों के साथ मिलकर मुझसे बातें की। मैने कहा बाबू जी! सेवा का अन्त त्याग में होना चाहिए, मिनिस्ट्री में नहीं। कहने लगे, ऐसे आदमी कहाँ से आयें? मैंने कहा, अपने को मान लें, आप हो

जायँ। तो वे हँस गए, हम भी हँस गए। आप सोचिए, आप सेवा का नाम लेते हैं और पद से अपना नाम अंकित करते हैं। क्या वह कभी सेवक हो सकता है ईमानदारी से,तो अपने प्राणों को भी अपना मानता हो? त्रिकाल में भी नहीं हो सकता। माफ कीजिए। जिसके प्राण अपने हैं; जिसका मन अपना है, वह सेवक नहीं। जिसकी योग्यता अपनी है, वह सेवक नहीं; तो फिर बाहरी वस्तुओं की तो बात ही दूसरी है। तो सेवक कौन हो सकता है? जिसके हृदय दुःखियों को देख कर करुणित हो जाय, सुखियों को देख कर जिसका चित्त प्रसन्न हो जाय।

मैं आपसे पूछता हूँ कि क्या वह सेवा मुझ जैसा भिखारी नहीं कर सकता? कौन ईमानदार व्यक्ति कह सकता है कि हम सेवा करने में पराधीन हैं? लोग सोचते हैं कि धन होगा, तो सेवा करेंगे अरे, तन है उससे तो करते नहीं। बहुत से लोगों ने क्या सोचा मालूम हैं? कि जब हम सरकार हो जायेंगें तो सेवा करेंगे। अरे घर मे लुगाई की नहीं की। बाप बनकर बेटे की नहीं की, भाई बनकर भाई की नहीं की। सरकार बनकर देश की करोगे? भोग करोगे भोग! रोग और शोक में फंसोगे, नहीं बच सकते। चैन से नहीं मर सकते दोस्त। इसलिए भाई, यदि सेवा करना है, तो दुःखियों का दुःख हृदय करुणा से भर लो। मालूम है, क्या मिलेगा इसका फल? आपके जीवन में सुख-भोग की रुचि नहीं रहेगी। और जिसके जीवन मे सुख-भोग की रुचि नहीं रहती वह करता क्या है? वह मिले हुए का दुरुपयोग नहीं करता। जब मिले हुए का का दुरुपयोग नहीं किया, सुख भोग की रुचि नाश हो गयी, तो मिले हुए के सदुपयोग से सबल और निर्बल में, दुःखी और सुखी में, दो वर्गों मे दो देशों में, दो व्यक्तियों में एकता आ जायेगी कि नहीं? अगर एकता आने पर भी लड़ाई के समान की जरूरत होगी? क्या एकता आ जाने पर न्यायशाला खोली जायेगी? विचार करो, गम्भीरता से विचार करो।

जो समाज राष्ट्र की आवश्यकता का अनुभव करता है वह समाज कम से कम मानव-समाज तो नहीं है। इसलिए भाई, मानव समाज पर यह कंलक है कि हमारे ऊपर किसी का शासन हो, हमारा किसी पर शासन हो। यह मिटाना होगा और इसे प्रत्येक भाई,बहन स्वाधीनता पूर्वक

मिटा सकते हैं। एक वक्ता ने अपने भाषण में कहा कि जो चीज जीवन में आ जाती है वह विभु हो जाती है। इस बात का इन्तजार मत करो कि कोई और आयेगा। और उसके द्वारा समाज का पुनर्निमाण होगा। बहुत से लोगों का यह भी भ्रम हैं कि कोई आयेगा अपूर्व पुरूष। अजी भाई! आप जितने अपूर्व हैं उससे ज्यादा अपूर्व कोई और नहीं आयेगा। लेकिन आपने अपनी अपूर्वता पर, महता पर दृष्टि नहीं रखी। इसलिए भाई, यह कार्य प्रत्येक भाई व बहन को अपने द्वारा अपनी रुचि से, अपना समझ कर करना है कि हम दुःखी को देखकर करुणित जरूर होगें और सुखी को देखकर प्रसन्न जरूर होंगे। आप कहें कि हमारे जीवन में करुणा और प्रसन्नता नहीं है, तो आपको किसी को देखने को अधिकार नहीं है। अगर आप सेवा नहीं कर सकते, तो आप संसार को नहीं देख सकते। चले जाओ इन्द्रियदृष्टि से, बुद्धि-दृष्टि से परे। वह भी साधन है। मानव-सेवा-संघ किसी की स्वाधीनता का अपहरण नहीं करता।

अगर आप दुःखी को करुणित और सुखी को देखकर प्रसन्न नहीं हो सकते, तो सभी दृष्टियों से अतीत, अनन्त में नित वास करो। तब क्या होगा? तब भी मिले हुए की ममता नहीं रहेगी, तब दुरुपयोग की रुचि नहीं रहेगी। तो या तो जगत को देखों अथवा मत देखों, परन्तु देखों और करुणा न जगे, देखों और प्रसन्नता न हो, तो भाई, यह अमानवता की बात है। तो इस अमानवता का अन्त प्रत्येक देश के प्रत्येक भाई बहन को, अभी करना है।

हाँ एक बात जरूर है। यह जो करुणा आपकी जगे या प्रसन्नता आपकी जगे, तो उसका आश्रय क्या हो? उसका आश्रय वही हो, जो आपका दर्शन हो जो आपका दृष्टिकोण हो। अगर आपके दृष्टिकोण में जगत की सत्ता है, तो विश्व के नाते ही करुणित हो जाओ और विश्व के नाते ही प्रसन्न हो जाओ। अगर आपका दर्शन आध्यात्मवादी है तो आत्मा के नाते करुणित हो जाओ, आत्मा के नाते प्रसन्न हो जाओ। तब आपको गति मिलेगी ही। अगर आपकी दृष्टि ईश्वरवादी है, तो प्रभु के नाते करुणित हो जाओ, प्रभु के नाते प्रसन्न हो जाओ। आपको प्रभु का प्रेम मिलेगा। तो आपको मिलेगा क्या? प्रेम, प्रेम मिलेगा।

आप जानते हैं, प्रेम में एक विलक्षणता है और वह विलक्षणता यह है कि उसका आरंभ कहीं से हो, पर वह विभु हो जाता है। एक तो यह विलक्षणता है और दूसरी विलक्षणता क्या है कि प्रेम ही एक ऐसा तत्व है जिसकी कभी निवृत्ति नहीं होती, जिसकी कभी क्षति नहीं होती है और जिसकी कभी पूर्ति नहीं होती। क्यों? निवृत्ति काम की होती है, पूर्ति जिज्ञासा की होती है और प्राप्ति प्रेम की होती है। तो पूर्ति, क्षति और निवृत्ति से रहित जो प्रेम-तत्व है, वह प्रेम तत्व अगाध, अनन्त रस का प्रतीक है। रस किसी परिस्थिति में नहीं है, रस किसी वस्तु और व्यक्ति में नहीं है। रस है प्रियता में और प्रियता है आत्मीयता में और आत्मीयता है स्वीकृति में, आस्था में। तो आपने जगत् में आस्था की, तो कोई आपत्ति नहीं है, अपने में अपनी आस्था की, तो कोई आपत्ति नहीं है, प्रभु में आस्था की, तो कोई आपत्ति नहीं है, आपने जिस में आस्था स्वीकार की, उसी का प्रेम आपको मिलेगा। परन्तु कब मिलेगा? जब प्रत्येक प्रवत्ति-यह नहीं कि कोई एक प्रवत्ति-उसी के नाते होगी। उसी के नाते हो, उसी के लिए हो और अपने लिए किसी प्रकार की कोई आशा न हो। बोले, क्यों? यदि प्रेम तत्व से बढ़कर कोई वस्तु होती, तो मैं पहला आदमी था, जो कहता कि जो कुछ करो, वह किसी के बदले की आशा से करो।

लेकिन जब मैं इस बात को जानता हूं कि प्रेम-तत्त्व में जो रस है वह कहीं भी किसी में नहीं है। तो फिर प्रेम-तत्त्व की जो प्राप्ति है, वह किए हुए बदले में कुछ भी मांगने से नहीं होती और न करने के राग की निवृत्ति होती है और जब करने के राग की निवृत्ति नहीं होती, तो कुछ भी करने के लिए उत्पन्न हुए शरीर की आवश्यकता होती है, उत्पन्न हुई योग्यता की आवश्यकता होती है, उत्पन्न हुई वस्तुओं की आवश्यकता होती है, व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। तो जब तक जीवन में करने का राग है, तब तक वस्तु-अवस्था-परिस्थिति की दासता है और जब तक उनकी दासता है, तब तक अपने मूल्य का ज्ञान नहीं है, महत्व का ज्ञान नहीं है। अपने महत्व की विस्मृति में सर्वनाश है। इसलिए भाई! आज इस बात की आवश्यकता है कि हम मानव-जीवन का महत्व जाने, परिस्थितियों का सदुपयोग करें। इसका अर्थ कोई भाई

यह न समझ बैठे कि मैं किसी दुःखमय परिस्थिति को चाहता हूं, ऐसा न समझ लें। लेकिन मैं एक आपसे निवेदन कर दूं कि यदि हम और आप मिली हुई परिस्थिति का स्वागत नहीं कर सकते, आदरपूर्वक उसका सदुपयोग नहीं कर सकते, उसमें से जीवन-बुद्धि नहीं हटा सकते, अप्राप्त वस्तु के चिंतन को नहीं छोड़ सकते, तो सच मानिए, न भौतिक विकास होगा, न सद्गति होगी और न प्रेम की प्राप्ति होगी और यदि आप और हम प्राप्त परिस्थिति का आदरपूर्वक स्वागत कर सकते हैं, उसमें से जीवन-बुद्धि का त्याग कर सकते हैं, उसका दुरुपयोग नहीं करते हैं, तो सच मानिए, यही परिस्थिति, जिसे आप नापसंद करते हैं आपको प्रेम तत्त्व से अभिन्न कर सकती है, आपको चिर-विश्राम प्रदान कर सकती है, आपको स्वाधीनता दे सकता है, इसमें लेशमात्र संदेह नहीं है।

इसलिए भाई, दो बातें हैं- अपने को अभागा मत मानो और भाग्यशीलता का घमंड मत करो। आप और हम मानव है, मानव होने के नाते सब एक है, परिस्थिति-भेद होने पर भी एक है, अवस्था भेद होने पर भी एक है। एक बात को जब आप स्वीकार करेंगे, तो एक मजदूर में वही स्वाभिमान होगा जो मिलओनर में, एक चपरासी में वही स्वाभिमान होगा जो एक राष्ट्रपति में। मैं यहां तक कहता हूं कि रोगी में भी वही स्वाभिमान होगा जो एक डॉक्टर में, क्योंकि रोगी के बिना डॉक्टर जिंदा नहीं रह सकता। यह संभव है कि प्राकृतिक नियम से रोग अच्छा हो जाए, पर यह सर्वदा असम्भव है कि रोगी के बिना डॉक्टर भूखा न मर जाए। इसलिए हम सब की परिस्थिति मंगलमय है, अदम्य है, चिन्मय है, किंतु वह जीवन नहीं है। बस, इतनी सी बात है। इसी का नाम आध्यात्मवाद है। परिस्थिति जीवन नहीं है, वस्तु जीवन नहीं है, व्यक्ति जीवन नहीं है। व्यक्ति की सेवा करो, वस्तु का सद्व्यय करो। उसमें जीवन-बुद्धि स्थापित न करो। इसका फल यह होगा कि आप में आपका जो महत्व है वह अभिव्यक्त होगा। उसी समय आप जगत् के लिए, जगत्पति के लिए, अपने लिए, उपयोगी सिद्ध हो जाएंगे। परन्तु भैया, इसके लिए एक बात सोचना है और अधिकारी है कि आपका जीवन जगत् के लिए उपयोगी है, जगत् आपके लिए

उपयोगी नहीं है। आपका जीवन प्रभु के लिए उपयोगी है। आपका जीवन आपके लिए उपयोगी है। इस पर अविचल श्रद्धा करों और आप सोने से पहले और जगने के बाद थोड़ी देर शांत हो लो। जब आप शांत हो जाएंगे, तो आपके जीवन में किए हुए का जो प्रभाव अंकित है वह आप में उथल-पुथल मचा देगा। उससे घबराना मत। उसे ऐसे ही देखना जैसे त्यागे हुए मल को देखते हो। भयभीत मत होना, तादात्म्य मत रखना, समर्थन मत करना, विरोध मत करना। वह दबा हुआ प्रभाव प्रकट होकर नाश हो जाएगा और आप स्वयं में अपने प्रियतम को पाकर, जीवन को पाकर, प्रेम को पाकर, विश्राम और स्वाधीनता को पाकर कृतकृत्य हो जाएंगे। यह निर्विवाद सत्य है। मैने ऐसी कोई बात नहीं बताई, जो आपकी बात नहीं है और ऐसी बात नहीं बताई, जिसे आप नहीं अपना सकते। इसलिए भाई जीवन का मूल्य जानों और परिस्थिति का आदरपूर्वक स्वागत करो, बस बेड़ा पार है।

॥हरिः॥

विश्राम में जीवन हैं।

मेरे निज स्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा भाई और बहन!

विश्राम की विमुखता और विस्मृति जीवन में है, दूरी नहीं अप्राप्ति नहीं। किसी श्रम से पूर्व कोई संकल्प उत्पन्न होता है, उस संकल्प का उद्गम अपना व्यक्तित्व है। जब तक साधक अपने व्यक्तित्व को सुंदर बनाता है, सजाता है, किसी-न-किसी रूप में रखना चाहता है, तब तक वह विश्राम से विमुख रहता है। कुछ सोचते हैं कि निर्विकल्पता में विश्राम है। उससे भी आगे जब चलते हैं तब वे सोचते हैं कि समता में विश्राम है। उससे भी आगे जब चलते हैं तब सोचते हैं कि असंगता में विश्राम है और उससे भी आगे जब चलते हैं कि शरणागति में विश्राम है। निर्विकल्पता, समता, असंगता और शरणागति-चार स्तम्भ हम लोगों को विश्राम के मालूम होते हैं। ये चारों विश्राम से साम्राज्य में प्रवेश करने के दरवाजे हैं इसलिए आदरणीय है, अनुसरणीय हैं। किंतु कहीं हम दरवाजे पर बैठकर ही यह न स्वीकार

कर लें कि हमारी विश्राम के साथ अभिन्नता हो गई। और यह भी न सोच बैठें कि जब तक मन निर्विकल्प नहीं होगा विश्राम नहीं मिलेगा, जब तक बुद्धि में समता नहीं आएगी विश्राम नहीं मिलेगा, जब तक तीनों शरीर से असंगता न होगी विश्राम नहीं मिलेगा, जब तक शरणागति नहीं होगी विश्राम न मिलेगा- यह भी न सोच बैठे। क्यों? ये चारों दरवाजे व्यक्तिगत हैं।

व्यक्तिगत जो साधन होता है, वह व्यक्तिगत सिद्धिदायक होते हुए भी सामूहिक नहीं होता। किन्तु साधन को ईमानदारी से यह बात मालूम होती है कि वह सामूहिक है। तो जो लोग कहते हैं कि बिना निर्विकल्पता के विश्राम नहीं मिलेगा, बिना समता के नहीं मिलेगा, तो वे गलत नहीं कहते, बिल्कुल ईमानदारी से कहते हैं और सही कहते हैं, क्योंकि उनको मिला है। परंतु साधक को यह देखना है कि इन चारों दरवाजों मेसे उसके लिए कौन-सा दरवाजा सुलभ है, सहज है, स्वाभाविक है। अगर है तो बड़ी सुंदर बात, विश्राम के साम्राज्य में प्रवेश हो जाएगा। कल्पना करों कि कोई मुझ जैसा अयोग्य व्यक्ति हो, जिसके लिए चारों दरवाजे ही असंभव हो जाएं, तो वह क्या करे? वह केवल यह करे कि पहले इस बात पर विचार करें कि उसे अपने लिए क्या चाहिए! वह संसार से क्या आशा रखता है और अपने द्वारा अपने साथ क्या कर सकता है! तीनों ही बातें न होंगी? या तो आप यह कहेंगे कि हमें संसार के कुछ लेना है या आप कहेंगे कि प्रभु से कुछ लेना है या आप कहेंगे कि हमें अपने साथ यह करना है। हम अपने लिए यह करेंगे, इससे हमें कुछ मिलेगा, हमें जगत् से कुछ मिलेगा, हमें प्रभु से कुछ मिलेगा। तो जब तक ये बातें जीवन में रहती हैं, तब तक विश्राम नहीं मिलता। क्यों? जगत् ने हमें वह बिना मांगे दिया है जिसमें हमारा हित है। इसलिए अब जगत् से कुछ मिलेगा, यह सोचना उस जगत् की ईमानदारी में संदेह करना है और अपने और जगत् के बीच में एक गहरी खाई बना लेना है। इसलिए हमें कभी भी यह नहीं सोचना चाहिए कि हमें जगत् से क्या मिलेगा। इसको ओर व्यावहारिक जीवन में देखो। जिस परिवार में आप रहते हैं, जिनके साथ आप रहते हैं, आप यह जो सोचते हैं कि उनसे हमें कुछ मिलेगा- हमें पुत्र से कुछ मिलेगा, हमें पत्नी से यह मिलेगा और हमें पड़ौसी से यह

मिलेगा- तो यह सोचना ही विश्राम से विमुख होना है। तो फिर क्या सोचें? यह सोचें कि जो कुछ हमें मिला है उसमें से किस-किस को क्या-क्या और कितना-कितना देना है। यह सोचना है कि मिले हुए का वितरण करना है, वापिस करना है। लेने की बात अब नहीं सोचना है, क्योंकि मिले हुए से आपने अपने जीवन में पूर्ति का अनुभव नहीं किया, तृप्ति का अनुभव नहीं किया। यदि किया होता तो भी मांगना बंद हो जाता और नहीं हुआ, तब भी तो मांगना बंद करना चाहिए।

बस हमसे यह भूल होती है। बच्चे पैदा किए, उनसे संतोष नहीं मिला, फिर भी बच्चों की आशा नहीं छोड़ते। शादी की स्त्री से संतोष नहीं मिला, फिर भी स्त्री की मांग नहीं छोड़ते। समाज में घुसे, सेवाएं की और सेवाएं करने से समाज से जो मिला उससे संतोष नहीं हुआ, फिर भी समाज से मांगना बंद नहीं करते। यह हमारी अपनी एक असावधानी है, यह हमारा एक अपना प्रमाद है कि जो मिला उससे संतोष नहीं हुआ, फिर भी मांगना बंद नहीं करते। तो जब तक मांगना बंद नहीं करते, तब तक श्रमित रहेंगे, चाहे आप ध्यान के श्रम से श्रमित हो, चाहे आप चिंतन के श्रम से श्रमित हो और चाहे आप क्रियाशीलता के श्रम से श्रमित हों। क्रियाशीलता सुरक्षित बनी रहे, चिंतन सुरक्षित बना रहे, स्थिरता सुरक्षित बनी रहे, यह जो प्रलोभन है जीवन में, वही भ्रम का मूल है। यह आप भी जानते हैं और हम भी जानते हैं कि क्रियाशीलता सदैव सुरक्षित नहीं रहती। एक समय आएगा कि यह वाणि बोल नहीं सकेगी। तो क्या समय आने से पूर्व सही बोलकर बोलने के राग का त्याग नहीं कर सकते? एक समय आएगा कि ये श्रोत सुन नहीं सकेंगे। तो समय आने से पूर्व क्या सुनकर सुनने के राग से रहित नहीं हो सकते? इसी प्रकार जो काम आज कर रहे हैं एक समय आएगा कि आप उसे नहीं कर सकेंगे। यह समय तो आएगा ही। तब हमें सोचना ही पड़ेगा कि हमें क्या करना चाहिए! तब न सोचकर, आने से पूर्व ही न सुनने में भी, न देखने में भी, न सोचने में भी जीवन है- इसमें अविचलन आस्था करें। लेकिन न देखना, क्या गलत देखने से मिलेगा? त्रिकाल में भी नहीं। न देखना सही देखने से मिलेगा। इसका नाम कर्तव्यपरायणता है।

कर्तव्यपरायणता करने के राग से रहित कर कर्ता को खा लेती है और सुंदर समाज का निर्माण कर देती है। कर्तव्य-परायणता कर्ता में व्यक्तिव का मोह नहीं रहने देती और उससे समाज की कोई क्षति भी नहीं होती। आज अगर हमें यह दिखाई देता है कि जब तक लोग हमारे इज्म और मजहब को नहीं मानेंगे, शान्ति स्थापित नहीं होगी। तो इज्म और मजहब चाहे भले ही सत्य हों, पर हम धोखे में हैं। वह हमारा इज्म हमसे दूर है। वह हमारा मजहब हमारे जीवन में नहीं है। यदि यह मालूम होता है कि हमारे मजहब से ही सबको सबकुछ मिलेगा। जब तक सभी 'ला इलाह इल्लिल्लाह', नहीं पढेंगे, तब तक निजात नहीं मिलेगी। तो यह बात ठीक है, लेकिन वह 'ला इलाह इल्लिल्लाह' हम नहीं पढ़ पाए, यह बात अखंड सत्य है। अगर कहते हैं कि जब तक लोग शरणागत नहीं होंगे, तब तक उद्धार नहीं होगा। तो बात ठीक है, पर दोस्त, हम शरणागत नहीं हुए। अगर कहते हैं कि जब तक तीनों शरीरों से असंग नहीं हो जाओगे, उद्धार नहीं होगा। तो बात ठीक है, परन्तु यार हम असंग नहीं हुए। इस दृष्टि से प्रत्येक साधन अपने आप में पूर्ण है, इसमें मुझको लेशमात्र भी संदेह नहीं है। लेकिन साधन पूर्ण है, साधन का अभिमान सर्वथा अपूर्ण है।

साधन की प्रियता साधक का जीवन है, साधक का महत्व साधक का जीवन है। लेकिन साधन का अभिमान और उसकी आसक्ति तथा साधन-जनित सुख का भोग, घोर असाधन है। इसलिए भाई, जो आप जानते तथा मानते हैं, चाहे गुरु से, चाहे ग्रन्थ से, चाहे निज-विवेक से, उसके अनुरूप जीवन होना है, उसका अभिमान नहीं करना है। इतना ही नहीं दूसरों की मान्यता का मान करते हुए अपनी मान्यता का अनुसरण करना है, तभी हम लोगों का इज्म और मजहब आदर के योग्य हो सकता है। बोल-चाल की भाषा में आजकल शास्त्रीय ज्ञान को, जो कि विश्वास है, लोग ज्ञान कहते हैं। इसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं है कि कोई साधन विश्वास को ज्ञान माने, क्योंकि विश्वास भी सिद्धिदायक है। किन्तु ज्ञान और विश्वास दो स्वतंत्र पथ है, यह मेरा मत है। किन्तु चाहे गुरु द्वारा सुना हुआ हो, चाहे ग्रन्थ के द्वारा पढ़ा हुआ हो, चाहे निज-विवेक के प्रकाश से प्रकाशित हो, वह आपका जीवन होना चाहिए। उसमें और

आपमें प्रमाण नहीं ढूंढना चाहिए। उसके विरोधी विरोध और समर्थन से आपको न तो क्षोभित होना चाहिए और न बड़प्पन का ही भास होना चाहिए, कारण, कि सत्य एक है। वह सभी का है, किसी की व्यक्तिगत बपौती नहीं है। व्यक्तिगत केवल अपनी-अपनी श्रद्धा है, जो साधन रूप है। वह आपका ज्ञान, वह आपका विश्वास आपके लिए इतना सहज हो, इतना सुगम हो, इतन स्वतः हो कि उसके लिए आपको सोचना न पड़े। यहां तक कि आपको यह भी पता न चले कि वह ज्ञान आपका ज्ञान है और वह आपमें हैं, इतना सहज हो जाए, इतना स्वाभाविक हो जाए। तब आपको साधन से आपको विश्राम मिलेगा।

मानव-सेवा-संघ ने एक सुंदर बात बताई है कि साधक और साधन, ये दो जाति के नहीं है, ये अलग-अलग नहीं है। उसी साधन का निर्मल रूप साधन है। परंतु इसका मतलब पता तब चलता है कि जब साधक में अपना जाना हुआ असाधन नहीं रहता। तो अपना जाना हुआ असाधन कब नहीं रहता? जब जीवन में अपने जाने हुए असत् का संग तोड़ देते हैं, तब नहीं रहता। यह तो असाधन दिखाई देता है न, यह असाधन उत्पन्न हो गया है, और उत्पन्न हो गया है, अपने जाने हुए असत् से संग से। उसके उत्पन्न होने का कोई ओर कारण नहीं है। मैं यह मानने को राजी नहीं हूं कि व्यक्तिगत मान्यताओं को तर्क के स्तर पर रखने पर भी अपनी मान्यता ही दूसरों पर भय तथा प्रलोभन देकर लाद दी जाए। जैसे, एकबार श्रुति किसी श्रीभगवती के प्राकट्य का एक उपाय सद्गुरू की प्रेरणा के आधार पर मैने यह मान लिया कि ठहरी हुई बुद्धि में श्रुति अर्थात् वेद के ज्ञान का अवतरण होता है। उस ज्ञान के लिए किसी भाषा विशेष की अपेक्षा नहीं है। इस बात को सुनकर एक पढ़े-लिखे महानुभाव ने बड़ी सभी में अपने प्रवचन में यह कह दिया कि वे पढ़े-लिखे लोग वेदों की निंदा करते हैं। भला, कहीं वेदाध्ययन के बिना किसी को वेदों का ज्ञान हो सकता है? मुझमें इसमें कोई आपत्ति नहीं है कि वे महानुभाव व्यक्तिगत रूप से ऐसा क्यों मानते हैं। परंतु उनके इस आग्रह का कि अनन्त का नित्य ज्ञान किसी पोथी तथा भाषा में ही आबद्ध है, मैं समर्थक नहीं हूं। जब

मानव मात्र की वास्तविक मांग एक है और दो व्यक्तियों में भी समान योग्यता नहीं है तो किसी एक मान्यता से ही सभी को वास्तविकता की प्राप्ति हो सकती है, यह बात विवेक-विरूद्ध है।

यदि कोई महानुभाव सृष्टि के संबंध में अपनी आस्था के अनुसार कोई निर्णय रखते हैं तो मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं है। परंतु अपने जाने हुए असत् के त्याग से जन्म-जन्मांतरों के कर्म संस्कार नष्ट नहीं होंगे और वर्तमान में ही साधक की साधन-तत्त्व से अभिन्नता न होगी, अर्थात् प्रत्येक भाई-बहन के जीवन में से प्रसाधन का नाश, साधन की अभिव्यक्ति नहीं होगी- यह मुझे किसी भी प्रकार से मान्य नहीं है। मानव साधक होने पर भी सिद्धि में पराधीन है, यह मत किसी भी साधक के लिए हानिकारक नहीं है।

कल्पना करों कि किसी ने प्रश्न किया कि महाप्रलय होने पर पुनः सृष्टि कैसे होगी? इस प्रश्न का उत्तर अपने-अपने मत के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार का हो सकता है। परंतु किसी एक उत्तर में ही आग्रह रखना उत्तरदाता का अपना व्यक्तिगत मत भले ही हो वह समाधान नहीं है। महाप्रलय के पश्चात् पुनः सृष्टि होने में यदि कोई उत्तरदाता यह कहे कि जीवों के जो कर्म-संस्कार शेष है, उन्ही के आधार पर पुनः सृष्टि होती रहती है। तो इस उत्तर के संबंध में यह पूछा जाए कि सबसे पूर्व जब सृष्टि हुई थी, तब जीवन के कौन से कर्म थे? विचार करो भाई, सृष्टिकर्त्ता और जीव, क्या सृष्टि से भिन्न है? यदि भिन्न है तो जब सृष्टि नहीं थी, तब जीव और सृष्टि कर्ता कहां थे, क्या थे, यदि ये तीनों अभिन्न हैं तो सृष्टि के होने में जीवों के कर्म किस युक्ति से सिद्ध होते हैं? इसका निर्विवाद उत्तर किसी से नहीं मिला, क्योंकि सृष्टि होने पर ही जीव और कर्मों की बात सामने आती है। सृष्टि के अस्तित्व को बनाए रखने पर उसके कारण के संबंध में जितने उत्तर दिए जाते हैं, सब मेरे जानते श्रद्धा-साध्य है, तर्क-सिद्ध नहीं।

जो सृष्टि आपको दुःख देती हुई प्रतीत होती है, वह सृष्टि तो आस्तिकवादी की दृष्टि में है, न अध्यात्मवादी की दृष्टि में और सच बात तो यह है कि वह भौतिकवादी की दृष्टि में भी नहीं है। दुःख देने वाली सृष्टि तो व्यक्ति ने अपने आप मेंसे ही उत्पन्न की है जाने हुए असत् का संग करके। भौतिकवाद की दृष्टि से सृष्टि व्यक्ति

का विकसित-व्यापक रूप है और आस्तिकवाद की दृष्टि से सृष्टि अनन्त की अनुपम लीला है। अथवा यों कहो कि भौतिकवादी साधक की दृष्टि में सृष्टि कर्तव्य का क्षेत्र है, अर्थात् अपने अधिकार का त्याग और दूसरों के अधिकार की रक्षा करने पर भौतिकवादी में शांत रस की अभिव्यक्ति होती है, क्योंकि अपने अधिकार का त्याग और दूसरों के अधिकार की रक्षा साधक को राग-रहित करने में हेतु है। राग-रहित होते ही दुःख-निवृत्ति और शान्त-रस स्वतः सिद्ध है। इस दृष्टि से भौतिकवाद शान्त-रस है। अध्यात्मवादी साधक को अनेकता से अतीत जो निर्विशेष स्वयं-प्रकार तत्त्व है, वह सृष्टि के स्वरूप में भासित है। अतः अनेकता को एकता में विलीन कर अध्यात्मवाद में अखण्ड रस है। आस्तिकवादी साधक सृष्टि के स्वरूप में अपने प्रेमास्पद की अनुपम लीला का दर्शन कर, सब प्रकार से उन्हीं को लाड़ लड़ाते हुए उन्ही की प्रीति हो जाता है। प्रीति स्वरूप से अगाध-अनन्त रस की प्रतीक है। इस दृष्टि से जो अपनी बनाई हुई सृष्टि नहीं है, वह रस रूप ही है।

शांत रस भी अजर-अमर है, अखण्ड रस भी अजर-अमर है, अनन्त रस भी अजर-अमर है। अब हम और आप साधक होने के नाते, जीव होकर नहीं, महाराज! शरीर होकर नहीं, ब्रह्म होकर नहीं, साधक होने के नाते, जब अपनी आवश्यकता को देखते हैं तब दिखाई देता है कि रस के बिना तो नहीं रह सकते। अब यह दूसरी बात है कि इस समय आपको भूख ऐसी मालूम होती हो कि दुःख-निवृत्ति का जो रस है, वह हमें संतुष्ट कर सकता है। कोई चिन्ता की बात नहीं। उसे प्राप्त होने दो। जिस समय दुःख-निवृत्ति का रस प्राप्त हो जाएगा, सच मानिए, आप सिटपिटा जाएंगे, अधीर हो जाएंगे, व्याकुल हो जाएंगे स्वाधीनता के लिए। जिस समय आपको स्वाधीनता का रस प्राप्त हो जाएगा, आज आप विकल हो जाएंगे प्रेम के रस के लिए। इसका अर्थ यह नहीं कि प्रेम के प्रादुर्भाव में स्वाधीनता का नाश हो जाता हो, सो नहीं हो जाता। शांत रस, स्वाधीनता का रस, प्रेम का रस ये तीनों ही रस एक होकर भी तीन है, तीन होकर भी एक हैं। आप देखेंगे, जिस समय प्रेमी-प्रेमास्पद के मिलन से संयुक्त होता है, क्या पहले क्षण में शांति नहीं है? क्या

दूसरा क्षण, ''हे प्यारे! तुम चले जाओगे''-व्याकुलता नहीं दे रहा है? क्या मिलन में वियोग नहीं है? इस दृष्टि से यह अपनी भूख की बात है। अगर आपको दुःख-निवृत्ति संतोष देती है, तो इस बात की चिन्ता न करो कि हाय-हाय रे! हमारा रस तो बहुत घटिया है और इस बात का अभिमान भी न करों कि सब बेवकूफ हैं और हम सबसे ज्यादा जानते हैं।

जीवन में दीनता और अभिमान के लिए स्थान नहीं है। जीवन में असफलता के लिए स्थान नहीं है। जीवन में निराशा के लिए स्थान नहीं है। नित-नव आशा, नित-नवउत्कंठा, नित-नव लालसा, नित-नव प्रियता, नित-नव जीवन ही 'जीवन' है और वह आपका जीवन है। तो, जिस विश्राम की हम चर्चा कर रहे हैं, जिस निजानंद की हम चर्चा कर रहे हैं, वह 'निजानंद' उस विश्राम में एक विभूति है। आप देखेंगे कि कर्म के साथ यदि नहीं, तो क्या कर्म है वह? ज्ञान के साथ यदि योग नहीं? तो क्या ज्ञान है वह? भक्ति के साथ यदि योग नहीं तो क्या भक्ति है वह? योग, भूमि है और भैया, उस भूमि पर जो कुछ है, अजर-अमर जो वृक्ष है, उसे आप ज्ञान कह दो और उस वृक्ष में एक ऐसा फल है, जिसमें छिलका नहीं, गुठली नहीं, गूदा नहीं, केवल रस है, वह 'प्रेम' है। भूमि से वृक्ष का विभाजन नहीं हो सकता। इसी बात को इस रूप में भी कह सकते हैं कि जिसे लोग कर्तव्यपरायणता कहते हैं, वह भूमि है, जिसे लोग योग कहते हैं, वह वृक्ष है, जिसे लोग फल कहते हैं, वह तत्त्वज्ञान है या जिसे ज्ञान कहते हैं वह फल है और जिसे लोग रस कहते हैं वे प्रेम है।

कर्तव्यपरायणता का सुंदर रूप क्या है? हमें अपने लिए कुछ भी, कभी-भी, किसी भी परिस्थिति में करना नहीं है। जिसे अपने लिए कुछ नहीं करना है, उसके द्वारा होने वाली प्रत्येक प्रवृत्ति धर्म कर्तव्य है, कर्मयोग है, क्योंकि अपने लिए नहीं करना है। तो, जब हमें अपने लिए कुछ करना है, तब क्या होगा? दुःखी पर जब दृष्टि पड़ेगी, तब सोचे बिना, सज्जनता का अभिमान लाए बिना सेवा होगी। आजकल हम जानते हैं, भलाई लोग कैसे करते हैं? पहले सज्जनता का अभिमान लाते हैं कि हमारी बदनामी हो जाएगी। माफ कीजिए साहब, इस बदनामी से बचने के लिए कुछ मत कीजिए। आपको पीड़ा नहीं होती भूखे

को देखकर, केवल कीर्ति के लिए बढ़िया जलपान कराते हैं। यह अपने लिए हो गया। जब आपका हृदय अधीर हो जाए किसी भूखे को देखकर और आपकी भूख मिट जाए और जिसे आप अपना करके भोजन मानते थे, वह आपको उसका दिखाई दे जाए, तब कर्तव्यपरायणता सिद्ध होगी। अपनी करके कोई वस्तु देने के समान कोई पाप मुझे नहीं मालूम होता। यह सेवा नहीं, यह भोग है। वह भोग से ऊपर नहीं उठने देता।

सेवा कब होगी महाराज? कर्तव्य कब आरंभ होगा? जब आपके पास आपका करके कुछ न रहे। अपनी वाणी से दिया गया व्याख्यान भोग है, और श्रोता की वाणी से दिया गया व्याख्यान धर्म है। वाणी से अपना कोई संबंध नहीं है, यह आध्यात्म है। वाणी प्रभु की है, यह पूजा है। इसलिए भाई, अपने पास अपना करके कुछ नहीं है। अपने को अपने लिए कुछ करना नहीं है। यह बात जब तक स्वीकार न करेंगे, कर्तव्य 'विश्राम' में विलीन नहीं होगा और आप विचार करें, बहुत गंभीरता से विचार करें। बुद्धि के बल पर क्या मन में असंग हो सकते हैं? सरकार! बुद्धि से असंग हो सकते हैं? नहीं हो सकते। क्या असंगता में बुद्धि सहायक हो सकती है? नहीं हो सकती जिस समय आपका विश्राम के साम्राज्य में प्रवेश होता है- पहला कदम, उसी समय आप कारण शरीर से असंग से होते हैं। स्थूल और सूक्ष्म को जाने दीजिए और कारण शरीर से असंग होने में जो समता है, वह सबसे पहली अखंड सामग्री है। बुद्धि की समतावाली जो समाधि है, जो मन की निर्विकल्पता से प्राप्त होती है, वह समाधि की छाया-मात्र है, समाधि नहीं। जैसे, किसी मजिस्ट्रेट के सामने कोई मिसिल नहीं रही, उसने कहा, 'कोर्ट बंद कर दो'। लेकिन उसे कल आना है कि नहीं? यदि कल आना है, तब वह कोर्ट बंद हो गया क्या? केवल थोड़ी देर के लिए। इसी तरह निर्विकल्पता के आधार पर जो समता है, वह विचारकों की समता है और अपने को खोकर जो समता है, वह प्रेमियों की समता है और अपने को रद्द करके नहीं, खोकर।

इस दृष्टि से विश्राम में समस्त विकास है, यह निर्विवाद सत्य है। वह हम सबका अपना है, हम उससे दूर नहीं हुए है, विमुख हुए हैं, उसकी विस्मृति हुई है और जो स्मृति है वह

प्रियता, बोध और प्राप्ति तीनों अर्थों को सिद्ध करती है, तब तो वह है स्मृति। नहीं तो भाई, आसक्ति है। स्मृति यदि बोध में हेतु नहीं है, स्मृति यदि प्राप्ति में हेतु नहीं है, स्मृति यदि प्रेमता में हेतु नहीं है तो वह स्मृति नहीं है। वह स्मृति की नहीं जाती, अपने आप जगती है, विश्राम के साम्राज्य में। इस दृष्टि से विश्राम हम सबका जीवन है, इसमें कोई संदेह की बात नहीं है। विश्राम समस्त साधनों की भूमि है और समस्त साधनों का फल है, इसमें कोई संदेह की बात नहीं है। अतः हम सबको यह निर्णय करना होगा कि हमारी प्रवृति क्या अपने लिए है? कदापि नहीं। अपने लिए नहीं है। तो क्या निवृत्ति अपने लिए है? कदापि नहीं। निवृत्ति भी अपने लिए नहीं है। निवृत्ति प्रियतम की सेज है और प्रवृत्ति प्रियतम की भोग-सामग्री है। इस दृष्टि से अपने लिए न प्रवृत्ति है, न निवृत्ति है। यही निदिध्यासन का असली रूप है।

॥ हरिः॥

कर्तव्य परायणता।

मेरे निज स्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा भाई और बहन!

चित्त बिना आधार के शांत हो जावे और दृष्टि बिना दृश्य के स्थिर हो जाए, यह बात सभी धारको को प्यारी लगती है, इसमें कोई संदेह नहीं है। किंतु इसके प्राप्त करने के जो उपाय हैं, उनसे साधक भयभीत होता है। आप स्वयं विचार करें, कोई भी किया हुआ कर्म तथा चिन्तन क्या अखंड हो सकता है? क्या उसको अपना आश्रय बनाया जा सकता है? जिसको अपना आश्रय नहीं बनाया जा सकता, क्या उससे असहयोग, (समर्थन, विरोध अथवा तादात्मय नहीं) अनिवार्य नहीं है? कोई भी कर्तव्य-कर्म करते ही उसको हैं कि जिसका करना अनिवार्य है। तो, कर्म का जब अंत होता है, तब कर्त्ता किसी की प्राप्ति न होकर, उस किए हुए के परिणाम में उलझ जाता है, अथवा किए हुए के अभिमान का रस लेता है। ये दो बातें हैं कि हम जो कर चुके हैं, आज उसका अस्तित्व नहीं है सामने, फिर भी रस लेते हैं।

मुझे इसका पता तब चला, जब कुछ साधुओं को यह कहते सुना

कि हम यहां गये थे, वहां गये थे, कहते थे कि कई बार गंगोत्तरी गए थे। इस बात का रस कि हम गंगोत्तरी गए थे, नहीं छोड़ा, पकड़ लिया। इसने हमें परिच्छिन्नता से मुक्त नहीं होने दिया। अथवा जो कर्तव्य-कर्म किया भाई बनकर भाई के साथ, अथवा मित्र, बनकर मित्र के साथ, व्यक्ति होकर समाज के साथ, थोड़ा क्षमा करें, और गहराई से विचार करें, जीव होकर ईश्वर के साथ, उसके करने के अभिमान का सुख भोगा। जैसे कोई कहे, ''हमने प्रभु की शरणागति स्वीकार कर ली''। अरे भैया, तुमने स्वीकार की, तो उससे अहम् को ही पोषित क्यों करते हो? शरणागति तो अहम् को गलाने के लिए है। किंतु साधक साधनरूप स्वीकृति के आधार पर अपने अहम् को ही जीवित रखना चाहता है और यह आशा करता है कि प्रभु कहें कि तुम हमारे शरणागत हो, समाज कहें, '''यह बड़े ही शरणागत भक्त हैं'।

यह है हमारी आस्तिकता की दशा। जो कर्तव्य-कर्म के नाम से करते हैं, न उसका अभिमान छोड़ना चाहते हैं, न उसके फल से विरत होना चाहते हैं। नतीजा यह होता है कि कर्तव्य भी निकल जाता है, फल भी निकल जाता है और कर्त्ता अनाथ रह जाता है। उस व्यथा से बचने के लिए यह बात निवेदन की गई कि भाई देखो, अकर्तव्य के त्याग में तुम्हारा पुरूषार्थ है। कर्तव्य-पालन तो स्वतः होता है। उसका अभिमान करने से तो कर्तव्य अकर्तव्य के रूप में बदल जाता है। कर्तव्य-पालन की जो सामग्री है वह व्यक्तिगत नहीं है, मिली है। मिले हुए के दुरुपयोग के त्याग में ही साधक का प्रयास है। किसी की दी हुई वस्तु उसे वापस दें और उस पर अहसान लादें कि हमने तुमको अमुक वस्तु दी, क्या यह ईमानदारी है? कर्तव्य-पालन की सामग्री व्यक्तिगत नहीं है। जिसके प्रति कर्तव्य किया जाता है उसकी धरोहर है और जिन व्यक्तियों के प्रति कर्तव्य किया जाता है, वे भी सर्वांश में किसी एक के ही नहीं हैं।

आप विचार करें तो भाई! जिनके साथ कर्तव्य का प्रश्न है वे केवल तुम्हारे ही हों, ऐसा अगर तुम मानते हो, तो अपने को धोखा देते हो। जो तुम्हारी पत्नी है वह किसी की बहन भी है, वह किसी की माँ भी है, वह किसी की पुत्री भी है। न जाने उसका

संबंध कितने स्थानों पर है। कोई भी विचारक, कोई भी समाज-विज्ञानी इस बात को सिद्ध कर ही नहीं सकता कि कोई भी वस्तु और व्यक्ति किसी एक का ही है। तो भाई पंचायती वस्तु पर पूरा अधिकार जमाना, क्य ईमानदारी है? तो भाई, तुम पति होकर पत्नी को ईमानदारी से प्यार दो, गुणों के बदले में नहीं। गुणों के बदले में, सौन्दर्य के बदले में वेश्या भी प्यार पाती है, कामी से, पति से नहीं। यदि तुम पति हो, तो इस नाते प्यार दो कि वह तुम्हारी पत्नी है, चाहे रूपवती हो अथवा कुरूपा हो, सदाचार की प्रतीक हो अथवा दुराचार का केन्द्र हो, अगर नहीं दे सकते हो, तो सदैव के लिए अपने को पति मानने से अलग कर लो। यह है साथियों से संबंधविच्छेद, अर्थात् उनकी ममता और अपनी अहंता का त्याग। आप सच मानिए कि पत्नी-प्रेम का रस उसी को आएगा जिसने कर्कशा और कुरूपा को प्यार दिया है और वही अहंता एवं ममता से रहित होगा। रूपवती, सेवा की प्रतीक, भावमयी अगर पत्नी है, तो जनाब! पत्नी-प्रेम का रस नहीं आएगा, पत्नी के सुख का भोग होगा। पतिपन का अभिमान अहंता और ममता को पोषित करेगा। तो हम बिना साथी के रहें, इसका अर्थ यह है कि कर्तव्यनिष्ठ रहें, पर किसी से सुख की आशा न करें। प्यारे प्रभु ने, प्रकृति के विधान ने, समाज के विधान ने जो अभिनय दिया है, जो मान्यता दी है, उसमें आप ही बताओ, सुख की आशा किस मान्यता के अर्थ में है? प्रत्येक मान्यता कर्तव्य का प्रतीक है। क्या कहीं किसी कर्तव्य में यह लिखा है कि पति को पत्नी से सुख लेना चाहिए? कहीं नहीं देखा होगा। न देखा होगा कि पत्नी को पति से सुख लेना चाहिए? जहां लिखा होगा वहां यही लिखा होगा कि पत्नी को आदर दे, प्यार दे और सेवा करें। यही नियम प्रत्येक संबंध के प्रति है। आप सारा साहित्य पढ़ डालिए। कहीं यह नहीं लिखा है साहित्य में कि आदर्श प्राणी वह है, जो सुख की आशा करे। जीवन-साहित्य की बात कहता हूं। आपकी स्वीकृति का अर्थ यह नहीं कि आप पति बने हैं, तो आपको रूपवती स्त्री मिलनी चाहिए। कही नहीं लिखा है कि आप पत्नी बनी हैं तो आपको बहुत सा धन कमाने वाला रूपवान, समर्थ पति मिलना ही चाहिए। अरे कंस भी तो किसी का बेटा था। अनुकूल साथियों की कामना हो सकती है, विधान नहीं,

तो भैया, कर्तव्य के क्षेत्र में ममता की, स्वार्थभाव की, अपने सुख के प्रलोभन की गंध भी नहीं है और आप अपने सुख के प्रलोभन को लेकर कर्तव्य के गीत गाते हैं। तो मेरे कहने का तात्पर्य यह था कि जिन व्यक्तियों की ममता छोड़ने से आपको भय होता है, उन व्यक्तियों को एक बार तो अपना लेते प्यारपूर्वक। फिर देखिए ममता रहती है कि जाती है। यह ममता आपके ऊपर इसलिए लदी हुई है कि आपने देना नहीं सीखा है और जब तक देना नहीं सीखा है तब तक ममता को आप नहीं मिटा सकते। दूसरी बात यह है, आप कहते हैं कि बिना साथी, बिना सामान के कैसे रहेंगे? आप विचार कीजिए कि गहरी नींद में कौन सा साथी, और सामान आपके साथ है? क्या उस समय आपका अस्तित्व नहीं रहता? सुषुप्ति, समाधि और असंगता में भी तो जीवन है, किंतु सामान और साथी की अपेक्षा नहीं। कर्तव्य के क्षेत्र में यदि प्रवृत्ति रस-रूप है तो क्या निवृत्ति से प्राप्त समता-स्वाधीनता में रस नहीं? प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही साधन के क्षेत्र हैं और कुछ नहीं।

वह प्रवृत्ति नहीं है, जो अधिकार-लालसा में हमें आबद्ध किए हुए है, प्रवृत्ति वही है जो दुःखियों को देख करुणा और सुखियों को देख प्रसन्नता प्रदान करती है। निवृत्ति वह नहीं है सरकार! कि आप हिमालय की कंदरा में छिप कर बैठे हैं, प्राणों को दबाए हैं। जब दृष्टि बिना दृश्य के स्थिर होती है, जब चित्त बिना आधार के शान्त होता है, तब प्राण भी बिना निरोध के सम होते हैं। तो बिना निरोध के प्राण का सम होना, बिना दृश्य के स्थिर दृष्टि, बिना आधार के चित्त की शांति ही निवृत्ति है और निःसंदेह वह निवृत्ति प्रीतम की सेज है। वह सेज बिछानी होगी और फिर अपने अहम् को गला कर प्रीतम से अभिन्न होना होगा। तब प्रीतम का प्रादुर्भाव होगा और वह प्रीतम प्रेमी बनकर आएगा। तुम्हारी महिमा गाएगा, तुम्हे अपनाएगा और अगाध अनन्त नित-नव रस की धारा प्रवाहित हो जाएगी। इसलिए भाई, आप प्रीति है निवृत्ति में, सेवा है प्रवृत्ति में और उस सेवा और प्रीति को सजग बनाने के लिए यह बात कही गई है कि भैया, यदि सत्पथ पर चलना है, मानवता को जागृत करना है, तो यह पहले तय कर लो कि हमारा सामान हमारा नहीं है, हमारे लिए नहीं है। यह है बे-सामान का अर्थ। हमारी साथी

अपनी वस्तु हमसे लेते हैं और कहते हैं कि तुमने दी। सोचो तो भैया, लें आप अपनी और मुझसे यह कहें कि आपने बड़ी सुंदर बात बताई। तो जब हम यह जानते हैं व्याख्यान श्रोताओं की वस्तु है सब प्रकार से, वक्ता का उसमें कुछ नहीं है, फिर यदि वक्ता यह अभिमान करें कि हमने तो व्याख्यान दिया और श्रोता को ऋणी बनाए, तब इससे बढ़कर भी कोई बेईमानी हो सकती है? क्या वह सेवा है, जिससे सेव्य भार से दब जाय?

सेवा वह तत्व है, जिसके हलके से हलका बोझ भी सेव्य पर न जाए। तो क्या इस दृष्टि से आज हम अपने प्रियजनों के साथी हैं? क्या इस भावना से मिली हुई वस्तु का सद्व्यय करते हैं? नहीं करते हैं, तो आपको अधिकार नहीं है सामान रखने का और किसी को साथी कहने का। इसलिए भाई यह दुःखी का पथ है। हम सामान नहीं रखेंगे, यह त्याग है। यह दुःखी का साधन है। यह सुखी का साधन नहीं है। हम भाई किसी को साथी नहीं मानेंगे। क्यों? प्यार देने में सामर्थ्य नहीं है, यों; सेवा करने की योग्यता नहीं है, यों; ममता छोड़ने की शक्ति नहीं है, यों। इसलिए बिना साथी के रहेंगे। क्यों? हम साथियों की सेवा नहीं कर सके, हम सामान का सद्व्यय नहीं कर सके। आप यह मत सोचिए कि मैं वास्तविक जीवन के दर्शन के लिए किसी परिस्थिति विशेष का महत्व मानता हूं। मैं यह नहीं मानता हूं कि हिमालय की कंदरा में सत्य मिलेगा और पटना के बाजार मे नहीं मिलेगा। मैं यह नहीं मानता हूं कि किसी अप्राप्त योग्यता से सत्य मिलेगा और प्राप्त योग्यता से नहीं मिलेगा। मैं यह नहीं मानता हूं कि वर्तमान में नहीं मिलेगा, भविष्य में मिलेगा। जो सदैव आपका है, आप सदैव जिसके है, वह वही मिलेगा, जहाँ आप हैं।

इसकी आप चिंता न करें। लेकिन मिलेगा कब? अच्छा भैया आप ही बताओ, दो व्यक्तियों का मिलन, क्या तीसरे के सामने होता है? मिलन का अर्थ क्या है? दो का एक होना, और प्रेम का अर्थ है? एक का दो होना। अगर एक दो नहीं है, तो प्रेम नहीं है। अगर दो एक नहीं है तो ज्ञान नहीं है। अरे, बिना जाने मिलते हो क्या? ज्ञान क्या है? मिलन का पहला दरवाजा। इसलिए भाई, अगर आपको मिलना है तो समान का जो आवरण है, साथिओं का जो ममत्व है, मोह है, उसका त्याग

करना होगा। लेकिन साथी का त्याग स्वरूप से नहीं करना होगा; समान को फेंकना नहीं होगा, दुरुपयोग नहीं करना होगा; परंतु अपना नहीं मानना होगा। आश्रम में चोरी हो गई। एक भाई ने लिखा कि सात सौ के लगभग नुकसान हो गया। तो मैने लिखा कि भाई देखो, अगर तुम्हे कोई असावधानी मालूम होती है तो उससे दुःखी होना आवश्यक है। लेकिन चोरी नहीं हुई है; जिसने दिया था, उससे बिना पूछे ले लिया। इससे परेशान क्यों हो? आप ताज्जुब करेंगे, ठीक लगभग साढ़े सात सौ रूपया थोड़े ही समय में आ गया। हमने खत लिखा कि देखो, बिना पूछे लिया, तो बिना मांगे भी दे दिया।

तो कहने का मेरा तात्पर्य यह है भैया, कि डरो मत। चिंतन नहीं करेंगे, तो कैसे जियेंगे; ध्यान नहीं करेंगे, तो कैसे जियेंगे! इससे डरो मत। कर्तव्य कर्म स्वतः होगा, चिंतन स्वतः होगा। किंतु आप सोचो, जिसकी प्रीति होकर रहना है, उसके ध्यान में संतोष! विचार करो, जिसकी प्रीति होकर रहना है, उसके चिंतन में संतोष! जिसकी प्रीति होकर रहना है, उसके कमरे की सफाई में संतोष! कर्तव्य क्या है? प्यारे की प्रतीक्षा। ध्यान क्या है? उस प्रतीक्षा की गाढ़ता। तो उसके आधार पर हम अपने सुख का प्रलोभन रखें कि प्यारे का स्मृति-जनित सुख भोगें! भाई, यह प्रीति में कलंक है। हमे कितनी ही व्यथा हो, परंतु प्रियतम का रस है; इस दृष्टि से चिन्तन हमारी खुराक न बन जाए। स्वाधीनता हमारी खुराक न बन जाए, समाधि हमारी खुराक न बन जाए, विश्राम हमारी खुराक न बन जाए। तब हम कहीं प्रेम-तत्व से अभिन्न होंगे। आप जानते हैं, प्रेम-तत्व क्या है? आप जिसे अपना प्रेमास्पद कहते हैं, उसी का स्वभाव है। प्रेमी के पास प्रेम नहीं है। हमने बचपन में सुना था "इश्क अव्वल दर दिले माशूक पैदा भी शवद्।" यानि प्रेम प्रेमास्पद में जगता है। इश्क माशूक में पैदा होता है। उन्होने उदाहरण दिया है कि पहले जब दीपक जलता है, तब पतंगा जलता है। इसलिए भाई उसी अनन्त के प्रेम से अभिन्न होंगे। तो, जो अनन्त का स्वभाव है, वही प्रेमी का जीवन है। मानव-सेवा-संघ के साहित्य में उसका साधन-तत्व कहा है, प्रेमास्पद को साध्य कहा है और भिन्न-भिन्न प्रकार के जो साधन हैं, उनको साधन कहा है। जहां समस्त साधक

एक हो जाते हैं, वहां स्वाधीनता का संतोष, विश्राम का रस दोनों गलकर प्रेम-तत्व से अभिन्न होते हैं।

इसलिए हमारे सामने यह प्रकाश रखना चाहिए कि संकल्प अपूर्ति का दुःख जीवन नहीं है, संकल्प-पूत्ति का सुख जीवन नहीं है, निवृत्ति की शांति जीवन नहीं है, असंगता की स्वाधीनता भी जीवन नहीं है। कहां जीवन है? परम-प्रेम की अभिव्यक्ति में। किंतु एक बात है, असंगता की स्वाधीनता का नाश नहीं होगा, विश्राम का नाश नहीं होगा। हमारे प्यारे ने ये दो बातें हमारे लिए रखी हैं। वे सोचते हैं कि अगर हमारा दुलारा दुःख-निवृत्ति में संतुष्ट है, तो मुझे हर्ष है। विश्राम में संतुष्ट है, योगानंद में संतुष्ट है, तो प्रभु को हर्ष है। निजानंद में संतुष्ट है, तो प्रभु को हर्ष है। जिस प्रभु ने योगानंद दिया, जिस प्रभु ने निजानंद दिया, उसके लिए आपने क्या किया? उस समय यह प्रश्न आता है कि निजानंद रहे, पर उसे हम खुराक नहीं बनाएंगे, योगानंद रहे, पर हम उसमें संतुष्ट नहीं रहेंगे। तब प्रभु अपने स्वभाव को, जो कि प्रेम है, प्रदान करते हैं और वही, मैं सोचता हूं कि हम सबका वास्तविक जीवन है।

॥ हरिः॥

स्मृति की जागृति – "हैं" की प्राप्ति

मेरे निज स्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा भाई और बहन!

अनेक विश्वास, अनेक संबंध और अनेक चिंतन व्यक्तिगत जीवन में संभवतः दिखाई देते हैं। यदि जीवन में किसी प्रकार का चिंतन न होता, किसी से संबंध न होता, तो संभवतः यह प्रश्न ही नहीं होता कि स्मृति कैसे जागृत हो। यह स्मृति के जगाने का प्रश्न ही तभी हुआ है, जबकि जीवन में अनेक चिंतन होते हैं, न चाहने पर भी होते हैं। उनसे कभी हम सुख लेते हैं और कभी उनसे भयभीत होते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि हमारी सबकी जो मांग है, जो आवश्यकता है, उसकी स्मृति यदि जग जाती, तो अनेक चिंतन मिट जाते, अनेक संबंध टूट जाते, अनेक विश्वास गल जाते। आप विचार करके देखें कि जब स्मृति नहीं जगी है, तब क्या है? जब आप किसी भी कार्य से खाली होते हैं तब किसी-न-किसी प्रकार का चिंतन होता है आपके चाहने पर भी, न

चाहने पर भी। वह इसलिए होता है कि जो भोग चुके हैं, अथवा जो भोगना चाहते हैं, उसका प्रभाव वहां बैठ गया है, जहां स्मृति जगनी चाहिए थी। अब वह आपके न चाहने पर होता इसलिए है कि वह मिट जाए और स्मृति जग जाए। आप क्या करते हैं? बड़े बुद्धिमान बनकर या तो उसका विरोध करते हैं, या उसका समर्थन करते हैं या उससे तादम्य जोड़ लेते हैं। किससे? उस चिंतन से, जो आपके न चाहने पर भी आपके बिना किए होता है। जब आप देखेंगे कि चिंतन किसका होता है तो किसी न किसी उत्पन्न हुई वस्तु, व्यक्ति अथवा देश-काल का दर्शन होता है। यह तो हम और आप नहीं कह सकते कि हमारे जीवन में चिंतन नहीं है। चिंतन तो है, पर किसका है? जो पहले था, अब नहीं है, आगे होगा। देखते जाइए जीवन में।

शरणानंद-फिलोसफी में कोई ऐसी बात नहीं की जाती, जो आपकी बात नहीं है। जो चिंतन आपके न चाहने पर होता है, वह क्या है? या तो वह है जो पहले था, अब नहीं है; या वह है जो अब नहीं है आगे होगा। इसमें किसी भाई-बहन को संदेह है क्या? संदेह नहीं है। तो भाई 'नहीं' का चिंतन है। तो 'नहीं' के चिंतन से आप बचना चाहते हैं या उसको रखना चाहते हैं? पहले यह सोचिए। अगर आप उससे बचना चाहते हैं, तो 'है' में आस्था करो। 'नहीं' के चिंतन से बचने का उपाय क्या होगा? 'है' में आस्था। अब 'है' में आस्था रखने से क्या होगा? आस्था जो होती है श्रद्धा को जागृत करती है। जहां आस्था होगी, वहां श्रद्धा हो जाएगी और श्रद्धा जो है; यह विश्वास को प्रदान करती है और विश्वास जो है; यह आत्मीयता प्रदान करता है। तो आस्था, श्रद्धा, विश्वास और आत्मीयता, उसके पश्चात् कुछ भी करने का प्रश्न नहीं रह जाता है। मेरा तो यह अनुभव है, वह कह दूं, तो कोई आपत्तिकी बात नहीं है। यह अनुभव है कि जिसको आत्मीयता प्राप्त है, या जिसने आत्मीयता स्वीकार की है, उसको भी कुछ करना शेष है, ऐसा मैं नहीं मानता। तो अब देखना यह है कि आपके जीवन में किसके प्रति आत्मीयता है? 'है' के प्रति अथवा 'नहीं' के प्रति। यदि 'नहीं' के प्रति ममता है, तो वह अनेक विकारों का रूप धारण करेगी। ममता और आत्मीयता में अंतर क्या है? ममता अपने सुख के लिए होती है और अनेक से होती है,

एक से नहीं होती। ममता का उद्गम देहाभिमान है और वह उत्पन्न हुई वस्तु, व्यक्ति आदि से होती है। ममता राग को जन्म देती है, लोभ, मोह, आदि विकारों को उत्पन्न करती है, संयोग की दासता और वियोग के भय में आबद्ध करती है। किंतु आत्मीयता एकमात्र आस्था, श्रद्धा एवं विश्वासपूर्वक प्यारे प्रभु में होती है और अगाध अनन्त नित-नव प्रियता को जाग्रत करती है।

तो भाई, सोचने की बात सिर्फ इतनी है कि आपके जीवन में ममता-जनित चिंतन है, अथवा आत्मीयता से जाग्रत प्रियता है। चिंतन उसका होता है, जो हमारे बिना रह सकता है, जो पहले था और अब नहीं है, जो अब नहीं है, आगे कभी होगा। आप विचार करें। गई हुई वस्तुओं का चिंतन होता है, गई हुई परिस्थिति का चिंतन होता है। चिंतन जो हो रहा है जीवन में वह 'नहीं' का हो रहा है, अर्थात् जिसका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। उपयोग प्राप्त वस्तु, व्यक्ति आदि का कर रहे हैं, आप उपयोग जो कर रहे हैं चाहे वस्तु-रूप से करें, चाहे व्यक्ति रूप से करें, वह प्राप्त का कर रहे हैं। लेकिन चिंतन प्राप्त का हो रहा है। अब सोचिए तो सही, जीवन में क्रियात्मक रूप से संबंध प्राप्त वस्तु-व्यक्ति आदि से है, अथवा अप्राप्त से? क्या आप अप्राप्त वस्तु-व्यक्ति का चिंतन करेंगे, अथवा उनका चिंतन न करके वस्तुओं का सद्व्यय और व्यक्तियों की सेवा करेंगे? प्राप्त वस्तुओं का सद्व्यय और प्राप्त व्यक्तियों की सेवा तो सार्थक चिंतन की जागृति में बाधक नहीं है और व्यर्थ-चिंतन का जन्मदाता भी नहीं है। व्यर्थ-चिंतन का मूल तो वस्तुओं तथा व्यक्तियों के द्वारा सुख-भोग करना है। जब तक सुख भोग की रुचि रहेगी, तब तक आपके न चाहने पर भी व्यर्थ-चिंतन होगा और व्यर्थ-चिंतन के होते हुए बलपूर्वक किया हुआ सार्थक-चिंतन वर्तमान में सिद्धिदायक नहीं है। इस कारण व्यर्थ-चिंतन के नाश होने पर ही वास्तव में सार्थक-चिंतन की जागृति होती है, जो आत्मीयता से साध्य है, किसी अभ्यास से नहीं।

यदि आप कहें कि निकटवर्ती प्रियजनों का चिंतन नहीं करेंगे तो उन्हे सुख न मिलेगा। गंभीरता से विचार करें- किसी को प्यास लगी है, तो उसे सुख पानी पिलाने से मिलेगा, कि चिंतन से? प्यारे भाई! संसार को सेवा अभीष्ट है, चिंतन

नहीं और आप भी सरकार, संसार से सेवा की आशा रखते हैं, उसके द्वारा अपने संकल्पों को पूरा करना चाहते हैं। इस दृष्टि से आपके और संसार के बीच सेवा का ही आदान-प्रदान है, चिंतन का नहीं। यदि कोई यह कहे कि चिंतन के बिना सेवा में प्रवत्ति नहीं होती। तो इसका अर्थ यह है कि उसका अपना कोई साध्य नहीं है, जिसके नाते सेवा करें।

देखो भाई! सीधी-सादी बात यह है कि जिस चिंतन का आप नाश करना चाहते हैं, जो चिंतन आपके चाहने पर भी होता है, आप विवेकपूर्ण उस चिंतन से असहयोग करें, उससे भयभीत न हों, उसका समर्थन या विरोध न करें, उससे तादाम्य न रखें। तो वह अपने आप नाश हो जाएगा, जिसके होते ही जिसमें आत्मीयता है, उनकी अखंड स्मृति जागृत होगी।

विचार करने की बात यह है कि जिन वस्तुओं का चिंतन ही उससे विमुख कर देता है, जिसमें अपनी आत्मीयता है तथा जिसकी अगाध प्रियता अभीष्ट है, तो उन वस्तुओं की प्राप्ति न जाने क्या कर देगी! हमने तो एक बार विनोद में किसी से कहा कि भैया! जब तुम्हारी याद ने ही ईश्वर से दूर कर दिया, तो तुम्हारा मिलना न जाने क्या कर दे! आप विचार करो। चिंतन किसका हो रहा है? जो आज प्राप्त नहीं है और उस चिंतन ने उससे विमुख किया है, जो 'है' अर्थात् नित्य प्राप्त है। तो, 'नहीं' के चिंतन को आप रखना चाहते हैं? यदि रखना चाहते हैं तो स्मृति नहीं जगेगी। आप कहें कि हमने तो यह निर्णय कर लिया कि हम 'नहीं' का चिंतन नहीं रखना चाहते हैं, लेकिन क्या करें, अपने-आप होता है। बहुत ठीक, अगर अपने आप आता है, तो उस समय आप सोचिए कि जिसकी याद आ रही है, उससे हमने कितना सुख लिया है! अगर सुख लिया है तो भाई, दुःख भोगना पड़ेगा और यदि नहीं लिया है तो भाई, उसका देना कितना बाकी है! अगर उसका देना बाकी है, तो चिंतन आएगा। इसलिए भाई, यदि किसी व्यक्ति का चिंतन आपको आता है, तो उसका कुछ दे दो।

हमारे पास एक सज्जन आए। बोले, हमारी स्त्री का देहांत हो गया है, लड़का रह गया है और जब हम भजन करने बैठते हैं तो उसकी याद आती है। हमने कहा, लड़का कहां रहता है, बोले, वह अपनी नानी

के पास रहता है। तो हमने कहा, जिस दिन याद आया करे, उस दिन पचास रूपये का मनिआर्डर भेज दिया करो लड़के के लिए। बोले, इससे क्या होगा? हमने कहा, याद आना बंद हो जाएगा। बोले कैसे? हमने कहा करके देखो। लड़का अपना मानते हो और सेवा सास से कराते हो। अरे, तुम क्या, तुम्हारे बाप भी उसके चिंतन को नहीं छोड़ सकते। तो भाई, आपको किसका चिंतन आता है? पहले उसको देखिए। माया-माया, मिथ्या-मिथ्या, कहकर घबरा कर छुट्टी मत पा जाइए मालूम है, आजकल का ईश्वरवादी जितना ईश्वर की बेइज्जती करता है, मैं सच कहता हूं नास्तिक नहीं करता। लेकिन आज का ईश्वरवादी इतनी तारीफ करेगा, इतनी महिमा गाएगा ईश्वर की, जिससे लोग उसमें फंस जाएं, अर्थात् ईश्वरवादी हो जाएं। यह कोई स्मृत्ति जगाने का तरीका है?

तो भैया, अगर आप सचमुच स्मृति जगाना चाहते हैं, तो एक बात का निर्णय कर लो कि 'नहीं' का चिंतन नहीं करेंगे; और प्रभु चाहे जैसे हों, उन्हे अपना मानेंगे, तो स्मृति अवश्य जागृत होगी। प्रभु की महिमा सुनकर जो ईश्वरवादी होते हैं, वे कामी हैं, प्रेमी नहीं। सुंदरता पर कौन आकर्षित होता है? जिसे अपना सुख अभीष्ट है, वह भोगी है, प्रेमी नहीं। प्रेमियों में स्मृति जागृत होती है, भोगियों में नहीं। अगर आपको निकम्मा ईश्वर प्यारा लगता हो, वह निष्ठुर भी हो, निकम्मा भी हो, हमें न भी चाहता हो, तब भी आप उसे अपना कह सकें, तो स्मृति जागेगी। आज मालूम है, क्या है? एक सज्जन बिमार हुए। उनकी स्त्री ने कहीं सुन लिया कि भगवान सबकी रक्षा करते हैं। बस, खूब पूजा हुई, पति अच्छे होकर गए। दोबारा बीमार हुए, खूब पूजा हुई, मर गए। ठाकुर जी को उठाकर फेंक दिया। अगर हम और आप विचार करने बैठें तो पहले यह सोचे कि क्या वस्तु के चिंतन से वस्तु मिलेगी? आप लोगों को रोग लगा है, प्रभु की महिमा सुनाने और स्वयं अखंड स्मृति से वंचित रहने का।

भैया, विचार तो करो, प्रभु की महिमा अपनी आस्था दृढ़ करने के लिए थी, अथवा प्रचार के लिए? असमर्थता की व्यथा में आस्था दृढ़ होती है, महिमा सुनने-कहने से नहीं। परंतु आज आस्तिकवाद के प्रचारक को गुरु बनने का जितना शौक है, क्या उतना स्वयं भक्त होने का है? यदि है

तो उसके जीवन से स्वयं आस्तिकता विभु हो जाएगी। कितने उपदष्टा गुरु अपने शिष्यों के मन की चंचलता तथा विकार से दुःखी हैं? कभी एकांत में उन लोगों के दुःख से दुःखी होकर व्याकुल हुए? अथवा जीवन भर उपदेश ही करते रहे। कितने नेता है जो समाज की व्यथा से व्यथित है? अथवा अपने नेतृत्व में सुख से सुखी हैं। सच्चा नेता वही है, जिसका हृदय निरन्तर पर-पीड़ा से भरा रहे और सच्चा गुरु वही है, जिसके जीवन से साधकों को प्रकाश मिलता है। सिद्धांतों की चर्चा करने मात्र से वास्तव में गुरु-पद् नहीं मिल जाता। यदि हम और आप विचार करने बैठे तो पहले यह सोचे कि क्या वस्तु के चिंतन से वस्तु मिलेगी? व्यक्ति के चिंतन से व्यक्ति मिलेगा? परिस्थिति के चिंतन से परिस्थिति मिलेगी? अवस्था के चिंतन से अवस्था मिलेगी? त्रिकाल में नहीं मिलेगी? वस्तु के सदुपयोग से वस्तु मिलती है। परिस्थिति के सदुपयोग से परिस्थिति मिलती है। चिंतन-मात्र से परिस्थिति नहीं मिलती, चिंतन-मात्र से वस्तु नहीं मिलती, चिंतन-मात्र से व्यक्ति नहीं मिलता। तो जिसकी प्राप्ति चिंतन-साध्य है ही नहीं, उसका चिंतन मत करो। आपके निर्णय के बाद यदि चिंतन आता है तो मत सोचो कि हम बहुत बुरे हैं, हमको व्यर्थ-चिंतन होता है। यह मत सोचो। सोचो यह कि भुक्त-अभुक्त का प्रभाव, जो बैठा हुआ था हमारे जीवन में, हमारे प्यारे ने कृपा करके अपनी अहैतुकी कृपा से उसको प्रकट किया है नाश करने के लिए और अपनी स्मृति जगाने के लिए। आप गंभीरता से विचार करें।

आजकल की साधन-प्रणाली में मन की चंचलता की बात कही जाती है। भाई, मैं तो उसको मानता नहीं हूं, यह पहले बता दूं। यह मन की चंचलता का ज्ञान कब होता है आपको? जब आप स्थिर होना चाहते हैं। काम करने में मन की चंचलता का भास होता है क्या? नहीं होता। यानि जब स्थिरता का आरंभ होता है, तब चंचलता परिचय होता है श्रीमान्! तो, जिसे तुम चंचलता समझते हो, वहां स्थिरता की स्थापना हो रही है और तुम कहते हो कि मन चंचल है। इसलिए भाई, किसी-न-किसी प्रकार का जो चिंतन हो रहा है, वह चिंतन यदि व्यर्थ है, तो वह निकल रहा है, हो नहीं रहा है और यह निर्णय तुमको करना है कि व्यर्थ चिंतन हम नहीं चाहते। क्यों? जिससे देश काल

की दूरी है, वह चिंतन से मिलेगा नहीं। चिंतन से वही मिलेगा, जिससे देश और काल की दूरी नहीं है। तो भैया! जिससे देश-काल की दूरी नहीं है, वह कैसा है? उसके संबंध में यदि आप अपनी योग्यता लाएंगे, तो क्या निर्णय कर पाएंगे? कदापि नहीं। वह कैसा है, इसे वह भी नहीं कह पाएगा, तो भला तुम कह पाओगे? यह दूसरी बात है कि तुम अपनी रुचि के अनुरूप अपने बच्चे को देखना चाहते हो। वह अलग बात। तो यह मत सोचो कि वह कैसा है! केवल इतनी आस्था करो कि 'वह है और अपना है' कहां है, कैसा है, क्या करता है, इन सब बातों पर प्रेमियों की दृष्टि नहीं जाती। चाहे जैसा है चाहे जहां है, चाहे कुछ करे, अपना है। यह प्रेमियों का पाठ है।

अब यदि कोई कहे कि जिसे नहीं जानते, उसे क्यों माने? तो भाई, मानने का प्रश्न है ही उसके संबंध में, जिसे नहीं जानते। व्यर्थ-चिंतन किसी को पसंद नहीं है। आप केवल इतना भर स्वीकार कर लीजिए कि 'नहीं' का चिंतन हमको अभिष्ट नहीं है, हमारे लिए रुचिकर नहीं है, हमारी यह मांग नहीं है। उसके बाद जो 'नहीं' का चिंतन दिखाई देता है, वह मिटने के लिए उत्पन्न हुआ है। क्यों? आप प्राकृतिक नियम देख लीजिए कोई ऐसी चीज बताइए, जो उत्पन्न हुई हो और अपने आप न हुई हो। ऐसा कोई उदाहरण भौतिक विज्ञान से भी सिद्ध नहीं होगा। इसलिए भाई, तुम जिसे नहीं चाहते हो और वह चिंतन के रूप में प्रकट हुआ है उसका अर्थ यह है कि वह नाश हो जाएगा। जो नाश हो जाएगा, उसका विरोध करने से क्या फायदा? जरा सोचिए जो नाश हो जाएगा उससे तादात्म्य करने से कोई लाभ नहीं। तो व्यर्थ-चिंतन से तादाम्य न रहे, उसका विरोध न हो, उसका समर्थन न हो, यह तो है सहज बात। उससे भी आगे कठिन बात है, महाराज! वह कौन सी कठिन बात है? कि चिंतन न होने का जो जीवन है, उस चिंतन-रहित जीवन का मूल्य इतना मत बढ़ा देना कि उसमें कहीं टिक जाओ। तो व्यर्थ-चिंतन भी अभीष्ट नहीं है और अचिन्त होना अपना लक्ष्य नहीं है। किन्तु अचिन्त होते ही स्वतः विश्राम, अर्थात् योगानंद की अभिव्यक्ति होती है, किन्तु मैं योगी हूं, इस रस से रहित हुए बिना निजानंद अर्थात् स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश नहीं होता। परंतु भाई, वास्तविक

अगाध, अनन्त, नित-नव रस की प्राप्ति के लिए तो योग रहें, किन्तु उसका भोग न हो, स्वाधीनता रहे, किन्तु उसमें संतुष्टि ना हो। तब तक स्मृति जगती है, जो वास्तव में प्रेमतत्त्व है, जिससे प्रेमास्पद को रस मिलता है। योगानंद, निजानंद भी अविनाशी तत्व है, किन्तु उनसे प्रेमियों की प्यास नहीं बुझेगी। जो साधन मुक्ति के रस में संतुष्ट है, दुःख-निवृत्ति में संतुष्ट है, शांति में संतुष्ट है, उसमें वह स्मृति जागृत नहीं होती, जो अनन्त को रस देती है, क्योंकि अपने रस में संतुष्ट होने में अहम् की गंध रहती है।

इसलिए भाई जिसमें आपने आस्था की श्रवण-मात्र से, बिना ही जाने, उससे आत्मीयता ही विश्वासी साधक का अंतिम प्रयास है। इसके अतिरिक्त उसे कुछ नहीं करना है। आत्मीयता सुरक्षित रखने के लिए अचाह-अप्रयत्न होना अनिवार्य है। कोई भाई-बहन यह न समझे कि स्मृति केवल ईश्वरवादियों की ही बपौती है। स्मृति सभी को अभीष्ट है। अन्तर केवल इतना है कि वह स्मृति ही बोध, प्राप्ति और प्रियता के रूप में अभिव्यक्त होती है। जिज्ञासु बोधमात्र से संतुष्ट हो जाते हैं, प्रेमी नहीं। इतना ही विश्वासी और विचारक में भेद है।

उस पर भी भाई-बहन की सुने हुए प्रेमास्पद में अविचल श्रद्धा, विश्वास एवं आत्मीयता नहीं होती, तो कोई बात नहीं। आस्था न करना कोई दोष नहीं, किन्तु 'हम आस्था नहीं करेंगे' इस प्रकार का जो आग्रह है वह भूल है। हमारे प्यारे तो, आप लोग आप जिसमें आस्था करेंगे, उसी के रूप में आपको प्राप्त होंगे। आप अपने में, जगत् में, किसी में आस्था कीजिए, पर इतना ध्यान रखिए कि जिसमें आस्था करें उसमें आत्मीयता भी हो, वह आस्था और स्मृति जागृत हो जाएगी, जो किसी भी प्रेमी में होती है।

गंभीरता से विचार करें, क्या किसी ने उसे, जिससे उसकी उत्पत्ति हुई है, इन्द्रिय-ज्ञान तथा बुद्धि-ज्ञान से जाना है? कदापि नहीं। प्रत्येक कार्य अपने कारण में विलीन हो सकता है, उसे विषय नहीं कर सकता। आप लोग उससे उत्पन्न हुए है, उसे मानते है, जानते नहीं। जो सभी का प्रकाशक तथा आश्रय है, उसमें आस्था कर सकते हैं, उसे अपने मस्तिष्क की खुराक नहीं बना सकते।

एक बार एक बालक विद्यार्थी मेरे पास आया और कहने लगा- बताओ, तुम्हारा ईश्वर कहां है? उन दिनों मुझे भी ईश्वरवादी होने का नशा था और बालक को भी अपनी तर्क-शक्ति का नशा था अनेक युक्तियों से बातचीत करते-करते अंत में मैने उससे पूछा बताओ, जब तुम कुछ नहीं करते हो, तब तुम्हारा मन, तुम्हारी बुद्धि कहां रहती है? इसका अनुभव गहरी नींद में नहीं, जागृत में करो। बालक बड़ा ईमानदार था। उसने कहा, 'मैं नहीं जानता हूं कि मेरा मन, मेरी बुद्धि विश्राम-काल में कहां रहती है, पुनः उससे पूछा-कहीं रहती तो है? इस बात को तो मानते हो? उसने कहा- हां। मैने कहा, 'वह मेरा ईश्वर है। तुम उसे ईश्वर नाम न देकर कोई और नाम रख लो, जो तुम्हे अभीष्ट हो'।

कोई भी उत्पत्ति बिना नाम के नहीं होती और सभी उत्पत्तियों का आश्रय वही हो सकता है जो अनुत्पन्न स्वतः सिद्ध हो, जो उत्पत्ति-विनाश रहित हो, वही ईश्वरवादियों का ईश्वर और तत्त्ववेत्ताओं का तत्त्व है। उस तत्त्व में दुखों की निवृत्ति तथा चिरविश्राम है। प्रेमास्पद की मधुर स्मृति उनके लिए और दुःख-निवृत्ति, चिरविश्राम है। प्रेमास्पद की मधुर स्मृति उनके लिए और दुःख-निवृत्ति, चिर-विश्राम तथा स्वाधीनता अपने लिए है। प्रेम-तत्व उन्हीं के लिए रस रूप है, जिन्हे प्रेमास्पद को रस देना अभीष्ट है। प्रेमास्पद ने सभी को सब कुछ दिया और अपने को छिपाया है। देखो भाई, उनके देने का ढंग कितना अलौकिक है! जिसे जो देते हैं, उसे वह अपना ही मालूम होता है। क्या, उनकी उदारता यह दुरुपयोग किया जाए कि हम सुने हुए प्रभु में आस्था नहीं करेंगे? जाना हुआ तुम्हारे काम आया नहीं, सुने हुए में आस्था की नहीं और अकेले अपने में ही संतुष्ट रह पाते नहीं, तो ऐसी दशा में, जो दुर्गती होती है, क्या किसी से छिपी है? जगत् के काम आओ उससे मिली हुई वस्तुओं के द्वारा; और सभी वस्तु, अवस्था, परिस्थितियों से असंग होकर अपने ही में संतुष्ट हो जाओ। उस पर भी यदि कोई प्यास रहे, तो उस सुने हुए निष्ठुर में, जिसने अपने को छिपाया और सभी को अपनाया, अविचल आस्था करो।

यह भलीभांति जान लो कि जो उत्पत्ति-विनाश तथा देश-काल की दूरी से रहित है, उसकी प्राप्ति किसी प्रकार के श्रम से साध्य नहीं है। जिन

वस्तुओं की प्राप्ति कर्म-सापेक्ष है, विधान से है, वे चिंतन से नहीं मिलती। अनेक कामनाएं पूरी होने पर भी कुछ शेष रहती ही हैं। इन सब बातों पर विचार करने से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि व्यर्थ-चिंतन का नाश अनिवार्य है, जिसके होते ही सार्थक-चिंतन तथा अचिंतन का नाश अनिवार्य है, जिसके होते ही सार्थक-चिंतन तथा अचिंतता अपने आप आएगी, जिसके आते ही असंगता से प्राप्त स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश होगा। पर जिन प्रेमियों को यह प्यास है कि हम उनके काम आएं, जो हमें जानते हैं, पर जिन्हे हम नहीं जानते, 'उन्ही' में आस्था करनी होगी और फिर अपने-आप अनेक विश्वास एक विश्वास में, अनेक संबंध एक संबंध में और अनेक चिंतन एक चिंतन में विलीन हो जाएंगे और स्वतः मधुर समृति जागृत होगी, जो बोध, प्राप्ति और प्रियता प्रदान करने में समर्थ है। ॥ हरिः॥

असंगता का महत्व।

मेरे निज स्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा भाई और बहन!

दर्शन अनेक, जीवन एक। प्रत्येक दार्शनिक दृष्टिकोण आंशिक रूप से विभु होता है और किसी अंश में एकदेशीय होता है। कारण क्या है इसका? यह कि जब कि सम्पूर्ण सत्य से एकता होती है, तब दर्शन रहता है, दार्शनिक नहीं रहता है। जब दार्शनिक नहीं रहता, तब का जो दर्शन है, वह कथन में नहीं आता। दार्शनिक के रहते हुए जो दर्शन है, वही कथन में आता है और उसका कुछ भाग ऐसा होता है, जो विभु होता है, सभी के लिए मान्य होता है, सभी के लिए हितकारी होता है, और कुछ भाग उसका ऐसा होता है, जो उस दार्शनिक के लिए तो साधन रूप होता है, औरों के लिए श्रद्धारूप होता है। इस दृष्टि से प्रत्येक भाई और बहन को अपने-अपने दर्शन, अर्थात् अपने-अपने दृष्टिकोण का, अपनी-अपनी आस्था का अनुसरण करते हुए दूसरों के दर्शन का ईमानदारी से आदर करना चाहिए। क्यों? यदि हम ऐसा नहीं करेंगे, तो अनेक भेद होने पर प्रीति की एकता जीवन में नहीं आएगी। और प्रीति की एकता के आए बिना, मेरा

ऐसा विश्वास है, कि साधक का पूर्ण विकास सम्भव नहीं है।

कभी-कभी ल दर्शन है, वह कथन में नहीं आता। दार्शनिक के रहते हुए जो दर्शन है, वही कथन में आता है और उसका कुछ भाग ऐसा होता है, जो विभु होता है, सभी के लिए मान्य होता है, सभी के लिए हितकारी होता है, और कुछ भाग उसका ऐसा होता है, जो उस दार्शनिक के लिए तो साधन रूप होता है, औरों के लिए श्रद्धारूप होता है। इस दृष्टि से प्रत्येक भाई और बहन को अपने-अपने दर्शन, अर्थात् अपने-अपने दृष्टिकोण का, अपनी-अपनी आस्था का अनुसरण करते हुए दूसरों के दर्शन का ईमानदारी से आदर करना चाहिए। क्यों? यदि हम ऐसा नहीं करेंगे, तो अनेक भेद होने पर प्रीति की एकता जीवन में नहीं आएगी। और प्रीति की एकता के आए बिना, मेरा ऐसा विश्वास है, कि साधक का पूर्ण विकास सम्भव नहीं है। जो मुझसे पूछते हैं कि प्रभु में प्रेम कैसे हो? तो मुझे ऐसा मालूम होता है कि तुम यदि पतित से प्रेम कर सको, तो प्रभु से प्रेम हो सकता है। आप विचार करें; जो पतित सूर्य का प्रकाश पाता है, जल जिसकी प्यास बुझाता है, वायु जिसे श्वांस लेने देती है, क्या आप उसे प्यार नहीं दे सकते? इसलिए भाई, जीवन में अनेक भेद होने पर भी प्रीति की एकता हो। वह कब होगी? वह तब होगी, जब हमारे जीवन में उससे असंगता हो, जिसने हमें पराधीन बनाया है। वह क्या है? इसे तो आप स्वयं जानने का प्रयास करें। हर भाई, हर बहन यह जान सकती है कि मेरी पराधीनता में हेतु कौन है। उससे असंग होना है। असंग होने का अर्थ घृणा नहीं है। असंग होने का अर्थ जिससे असंग होते हैं, उसको बुरा समझना नहीं है, उसका विरोध करना नहीं है। तो क्या है? कि भाई, जिसने हमें पराधीनता प्रदान की है, उससे हमारा उस रूप में, किस रूप में? कि जिस रूप में हम पराधीन हो जाते हैं, संबंध नहीं रखेंगे। एक उदाहरण लीजिए- कि हम सब जहां बैठे हैं, उनमें से शायद कोई भी नहीं कह सकता कि यह स्थान हमारा है। भागवत बाबू से पूछो, तो कहेंगे कि सरकारी है। हम सबसे पूछो, तो कहेंगे कि भागवत बाबू का है। तो आप बताइए कि आप इससे असंग हो गये कि नहीं? तो क्या आपने इस बंगले की

निंदा की? क्या इसको बुरा समझा। आपने इस बात को जान लिया कि भाई, यह वस्तु हमारी नहीं है और थोड़ा आगे बढ़ें तो कहेंगे कि कुछ काल के बाद हमारे लिए नहीं है। विचारक कहेगा कि हमारी नहीं है, हमारे लिए नहीं है सर्वकाल में। बोले, क्यों? क्यों नहीं है, तो बोले, 'हम' का अर्थ क्या है? हमारी मांग। 'हम' का अर्थ अहम् नहीं है, आत्मा नहीं है, शरीर नहीं है! हम का अर्थ जो है, हमारी मांग है।

तो हमारी मांग क्या है? पराधीन जीवन में न रहे, यह हमारी-आपकी मांग है। तो भाई, यह पराधीनता जीवन में न रहे यह हमारी आपकी मांग है। तो भाई यह पराधीनता जीवन में न रहे, यह जब हमारी मांग है तो आप ही बताइए, अपना करके किस वस्तु को आप अपना कहेंगे? यह दूसरी बात है कि जैसे, हिन्दू नारी पति के नाते सास की सेवा करे और पति का प्रेम पाकर कृतकृत्य हो जाए। उसी प्रकार मिली हुई वस्तु का सद्व्यय आप विश्व के नाते कीजिए, प्रभु के नाते कीजिए, आत्मा के नाते कीजिए, तो आपको विश्व-प्रेम, प्रभु-प्रेम और आत्म-रति मिलेगी। इसमें कोई संदेह की बात नहीं है। लेकिन उसी का उपयोग आप, कृपानाथ! सुख के नाते कीजिए, तो क्या मिलेगा? आसक्ति मिलेगी, कि प्रेम? पराधीनता मिलेगी, कि स्वाधीनता? जड़ता मिलेगी, कि चेतना? अभाव मिलेगा, कि पूर्णता? तो हमको किससे असंग होना है? इस पर जब हम विचार करते हैं, तो ऐस मालूम होता है कि सुख के प्रलोभन से असंग होना है। किस सुख के प्रलोभन से, जिसको हम भोगते हैं। मैं आपको पूछता हूं कि संसार को सत्य मानकर आप सुख के भोगी बनेंगे कि योगी बनेंगे? आपको योगी होना है कि सुख का भोगी होना है? अगर योगी होना है तो सुख के भोग से असंग हो गए कि नहीं? विचार करो। तो संसार को सत्य मानने से असंगता आवश्यक नहीं होगी, यह बात सिद्ध नहीं होती, या संसार को मिथ्या मानने से असंगता आवश्यक नहीं होगी, यह बात भी सही नहीं मालूम होती। क्यों? मिथ्या का अर्थ क्या है? जो न हो, उससे आप असंग होंगे, कि संग करेंगे? जो नहीं है, उससे भी तो असंगता ही पुष्टि होगी।

इस दृष्टि से भाई, मिथ्या मानकर भी असंगता चाहिए, सत्य

मानकर भी असंगता चाहिए। क्यों? इसलिए कि आज हमारी दशा क्या हो गई है? आस्तिक है; बोले क्यों? प्रभु को मानते हैं। ठीक, तो जिस प्रभु को आप मानते हैं, ईमानदारी से सोचिए, आप उससे कुछ चाहते है या नहीं? बोले चाहते हैं। तो प्रभु को मानते हैं कि अपनी चाह को मानते हैं, तो चाह-रहित होना ही पड़ेगा। जब चाह-रहित होना अनिवार्य है, तब असंगता के बिना चाह-रहित कैसे हो सकते हैं? नहीं हो सकते। अच्छा भाई, कोई कहे कि साहब, हमने तो अपने निज स्वरूप की सत्ता स्वीकार की। तो भैया ! निज-स्वरूप की सत्ता स्वीकार करके भी क्या आप कामनायुक्त रह सकते हैं, कामयुक्त रह सकते हैं? अगर कामयुक्त रह सकते हैं? तो देहाभिमान की सत्ता स्वीकार की है। इससे यह सिद्ध हुआ कि आत्मा की सत्ता स्वीकार करके भी कामना-रहित होना ही पड़ेगा। कोई कहे कि भाई, न तो हमने परमात्मा की सत्ता स्वीकार की और न ही आत्मा की सत्ता स्वीकार है। हमने तो अपने जाने-बूझे जगत् की सत्ता स्वीकार की है। तो बड़ी सुन्दर बात। आपने जगत की सत्ता स्वीकार है, तो आप जगत के काम आएँगे, कि जगत से सुख की आशा करेगें? अगर आपने जगत से सुख की आशा की तो आपने अपने सुख की सत्ता स्वीकार की,कि जगत की सत्ता? आप विचार करें। तो,दर्शन अनेक होने से, दृष्टिकोण अनेक होने से, न तो भैया जीवन में कोई भेद रहता है, और न उन साधनों में कोई भेद रहता है, जो व्यापक साधन हैं। जगत की सत्ता अस्वीकार कर दी। अतः उसे भी अपने सुख की सत्ता से जो स्वीकार की हुई हैं, असंग होना ही पड़ेगा, आस्तिक को भी भेद होता हो, ऐसा मेरा दार्शनिक भेद होने से जीवन में कोई भेद होता हो तो ऐसा मेरा विश्वास नहीं है, ऐसी मेरी आस्था नहीं है और अनुभव भी नहीं है। इसलिए भाई संसार कैसा है? जैसा आपको मालूम हो। संसार कैसा है? आप जैसा मानते है। तो आप संसार को चाहे जैसा मानें, किन्तु आपको व्यक्तिगत सुख भोग से अंसग होना ही पड़ेगा। अब व्यक्तिगत सुख भोग से असंग होने का उपाय मुझको यह मालूम होता है कि सुख का प्रलोभन किस में है, इसकी आप खोज करेंगें,तो आपको मालूम होगा की उसमें है, जिसने किसी के आश्रय से अपने अस्तित्व को स्वीकार किया है।

आप कहेगें, कैसे? विचार कीजिए। अगर हम किसी से पूछें कि आप कौन है? तो वह कहेगा कि मैं अमुक व्यक्ति हूँ। मगर भाई, हम कैसे मानें कि अमुक व्यक्ति हैं? तो भाई देखों, यह तो मेरा हाथ, मैं व्यक्ति हूँ। इसका मतलब क्या हुआ कि जो उत्पन्न हुई वस्तु थी, उसके आश्रय से आपने अपने अस्तित्व को स्वीकार किया है। वह ज्यादा समझदार हुआ, तो कहेगा, साहब! मैं हिन्दुस्तानी हूँ। यह कैसे मालूम कि जिस देश में तुम रहते हो, उसका नाम हिन्दुस्तान हैं? क्या भैया! उस देश के आकाश और दूसरे देश के आकाश में विभाजन हैं? बोलें, सो तो नहीं। तो यह जो तुम्हारा कहना है कि मैं हिंदुस्तानी हूँ, सो तुम्हारी काल्पनिकता है या वास्तविकता है? बोले वास्तविकता है। क्या वास्तविकता है? हमारी भाषा का भेद है, हमारे रहन-सहन का भेद है, हमारी संस्कृति का भेद है। अतः मैं हिंदुस्तानी हैं। तो भाई देखो, एक बात तो बताओ तुम्हारी आंखों की भाषा और तुम्हारी पैरों की भाषा एक है? बोले, सो तो नहीं है। आकृति एक है? बोले, सो तो नहीं है। तो तुम आंखों को अलग क्यों नहीं मानते? और पैरों के अस्तित्व को क्यों अलग नहीं मानते? बोले, सो कैसे माने महाराज! वे एक शरीर में हैं। तो हम कहें कि मेरे प्यारे! हिंदुस्तान भी एक विश्व में है। कैसे अलग मानते हो? बोले, इस दृष्टि से तो हम हिंदुस्तानी नहीं है, तो हम इस विश्व के प्राणी हैं। तो अच्छा भैया! अगर तुम इस विश्व के प्राणी हो, तो क्या गहरी नींद में तुम उस विश्व का अनुभव करते हो? तो उसे कहना ही होगा नहीं करते। तो तुम किसके प्राणी हो? बोले यह हम जानते नहीं कि किसके प्राणी है तो जितना जाना था, वह तुम्हारा सत्य था कि असत्य था? बोले वह तो असत्य था। इससे क्या सिद्ध हुआ कि जाने हुए जगत् के हम नहीं है। विचार करो।

कोई कहे कि नहीं हम जागृति के भले ही नहीं हों, स्वप्न के भले ही न हों पर सुषुप्ति के तो हैं? तो बोले भाई, समाधि में सुषुप्ति रहती है कि नहीं रहती? तो बोले, हम समाधि के तो हैं। भैया, अगर समाधि के रस के भोक्ता न हों तो क्या समाधि से संबंध रहता है? बोले-नहीं। तो मेरे भाई! असंगता का प्रश्न केवल मिथ्या से ही नहीं है, असंगता का प्रश्न है समाधि के सुख से भी,चिंतन के सुख से भी और क्रिया के सुख से भी। तो असंगता

हो किससे? तो बोले, दूसरे के द्वारा जो हम सुख भोगते थे उससे। तो क्या जिससे हमें असंगता करनी है, उसकी निंदा करें? बोले, निंदा करने से तो संबंध जुड़ा रहेगा। हम स्तुति करें? तो बोले हम स्तुति करें? तो बोले स्तुति करने से भी संबंध जुड़ा रहेगा बोले, उसका विरोध करें? बोले उसका विरोध करने से भी संबंध जुड़ा रहेगा। तो उससे क्या करें? उससे तादात्म्य न करें, उसका समर्थन न करें, उसका विरोध न करें। किसका? जो अपना जाना हुआ है, उसका। बोले, समर्थन न करने से हमारी कोई हानि तो नहीं हो जाएगी? बिल्कुल हानि नहीं होगी। लाभ क्या होगा? तो समर्थन न करने से तादाम्य के त्याग का बल आ जाएगा। बोले, तादात्म्य के त्याग से हमें क्या मिलेगा भाई! उसको अगर पहले से स्वीकार कर लोगे, तो मिलने में देर हो जाएगी। क्यों? तादात्म्य के टूटन में और उसके मिलने में अगर कोई दूरी होती, तो वर्णन ठीक होता, उचित होता।

लेकिन मेरे भाई! तादात्म्य के टूटने और 'उसके' मिलने में कोई देरी नहीं है। इसलिए प्राप्त करो वर्णन मत करो। उसी मस्ती में लोगों ने यह कह दिया कि संसार नहीं है। उसी मस्ती में लोगों ने यह कह दिया कि संसार की यह लीला है यह मस्ती की अंतिम आवाज है। यह सिद्धांत नहीं है, यह साध्य नहीं है, यह साधन है। इसलिए भाई मेरे! असंग होना अनिवार्य है। अब यहां एक प्रश्न होता है कि जब हमें अपने ही सुख से असंग होना है, तो हमें किसी के दुःख की क्यों परवाह करनी चाहिए? यह प्रश्न आता है न? मेरे साथी ने एक दफे कहा कि आप कहते हैं कि अधिकार का त्याग करें, तो हमें क्या जरूरत है कि किसी के अधिकार की रक्षा करें? तो भैया! गरज यह है कि तुम बिना करें, रह नहीं पाओगे। करने का राग तुममे है, इसलिए दूसरे के अधिकर की रक्षा करो। अगर तुम दूसरे के दुःख से करुणित नहीं हो सकते, तो अपने सुख से असंग नहीं होंगे। कभी-कभी मुझे तो ऐसा दुःख होता है कि हमारे प्यारे! हमें सुख से असंग करने के लिए दुःख-रूप में अवतरित होते हैं। इसलिए भाई? दुःख के रूप में यदि सही देखना चाहते हो तो अपने प्रियतम को देखो। क्यों उसने दुःख का भेष बनाया है? इसलिए कि हम सुख की दासता से रहित हो जाएं। हमको सुख की दासता से असंग करने

के लिए प्रभु विवश होकर दुःख के रूप में प्रकट होकर दुःखी होते हैं।

क्या आपने नहीं सुना कि प्रहलाद जी को गोद में लेकर नरसिंह भगवान् अधीर हो गए और कहने लगे- भैया प्रहलाद! मुझे देर हो गई, तुझे बड़ा कष्ट हुआ। क्षमा मांगते हैं, दुलार करते हैं, अपनी भूल स्वीकार करते हैं और अंत में कहते हैं, भैया, तू कुछ मांग ले। यह है अनन्त का स्वभाव और प्रहलाद, गुणों के भोग में डूबा प्रहलाद, अपनी आस्था के अभिमान में डूबा हुआ प्रहलाद कहता है, 'मुझे कुछ नहीं चाहिए'। यहां तक कह दिया कि, क्या तुम मुझे बनिया समझते हो? मुझे कुछ नहीं चाहिए। भगवान् फिर अधीर होते हैं कि मेरा दुलारा साधन के अभिमान में डूबा हुआ है। फिर कहते हैं, भैया प्रहलाद! तू कुछ मांग ले। प्रहलाद उसी साधन के अभिमान में कहता है कि अच्छा, तो मैं यह चाहता हूं कि मैं कुछ नहीं चाहूं! प्रभु कहते हैं- 'एवमस्तु', अच्छा ऐसा ही होगा, तू चाह रहित हो जा। आप सोचिए। उसके बाद प्रहलाद ने एक प्रश्न किया प्रभु से। क्या प्रश्न किया? कि महाराज! आपका बैरी मेरा पिता था, कि उसका अभिमान? तो भगवान् ने कहा, 'उसका अभिमान'। तो आपने मेरे पिता को मारा, कि अभिमान को? प्रभु ने अपने को अपराधी स्वीकार किया। लेकिन प्रहलाद को यह बोध करा दिया कि जिसकी ममता जिसमें है, वह उससे कभी भी चाह-रहित हो नहीं सकता। प्रहलाद जी का सारा चरित्र प्रभु की आस्था को दृढ़ करने वाला है।

इसलिए मेरे भाई! असंगता की आवश्यकता किस सीमा तक है, इस पर जब हम और आप विचार करते हैं तो ऐसा मालूम होता है कि असंगता में हो प्रभु की आत्मीयता सजीव होती है। और इस बार जो सत्संग सप्ताह का विषय रखा गया था उसमें तीन ही बातें रखी गई थी- निष्कामता से उदित चिर-विश्राम, असंगता से प्राप्त स्वाधीनता, आत्मीयता से जाग्रत अगाध नित-निव प्रियता। यह जीवन की मांग है, यह पूरी हो सकती है और वर्तमान में पूरी हो सकती है। प्रत्येक दार्शनिक दृष्टिकोण से पूरी हो सकती है, प्रत्येक प्रणाली से पूरी हो सकती है। किंतु भैया! विश्राम, स्वाधीनता और प्रेम की जो मांग है, वह नित-नव बढ़ती रहे, उसके प्रति हमारी उत्कंठा रहे, नित-नया उत्साह रहे और इतनी उसमें

आस्था रहे कि यह तो हो ही नहीं सकता कि हमें विश्राम, स्वाधीनता तथा प्रेम की प्राप्ति न हो। प्रत्येक भाई को, प्रत्येक बहन को विश्राम, स्वाधीनता और प्रेम की प्राप्ति हो सकती है। यह संभव है। संभव से निराश होना प्रमाद है। असंभव की आशा करना प्रमाद है। इसलिए सत्संग-सप्ताह में हम सब प्रमाद-रहित होने के लिए परस्पर विचार-विनिमय कर रहे हैं। न आदेश, न उपदेश है, न संदेश है। हम सब साधक हैं और साधक होने के नाते परस्पर में विचार कर रहे हैं। इस दृष्टि से कि न जाने, प्रभु किस मुँह से कब कोई ऐसी वाणी सुना दे कि जिससे हमारे और आपके जीवन की जो मांग है, उसमें आस्था हो जाए कि हमको जीवन में क्या मिल सकता है, मांग पूरी हो सकती है। इस दृष्टि से आज असंगता की बात कही गई कि भाई, असंगता के बिना स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश नहीं होता। जहां स्वाधीनता है, वहां चिंमयता है, जहां चिंमयता है वहां पूर्णता है, जहां पूर्णता है, वहां आत्मीयता है, और जहां आत्मीयता है, वहां अगाध, अनन्त, नित-नव रस है, इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं है।

॥ हरिः॥

प्रवृति सेवा में निवृति प्रेम में।

मेरे निज स्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा भाई और बहन!

निसंदेह मानव-जीवन बड़े ही महत्व का जीवन है। प्रभु ने अथवा जिसे हम नहीं जानते, अपने नित-नव रस के लिए मानव का निर्माण किया है। मानव यदि अपने जाने हुए का आदर करे, अथवा यों कहो कि अनादर न करें, मिले हुए का दुरुपयोग न करें, सुने हुए में अश्रद्धा न करें, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक वह अपने लिए, जगत् के लिए और जगतपति के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकता है। हम सबसे बड़ी भूल यह होती है कि हम अपने जाने हुए से दूसरों को समझाने के प्रयास करते हैं। यह रोग जब तक रहेगा, बेसमझी उत्तरोत्तर बढ़ेगी। जब हम अपने जाने हुए से अपने ही को समझाएंगे, तो मेरा विश्वास है कि अपने में से ही नहीं, विश्व मेसे भी बेसमझी

चली जाएगी। आज जो जीवन की समस्या कठिन हो रही है उसका एकमात्र कारण यह है कि अपने को समझाने वाले ज्ञान का उपयोग दूसरों पर करने लगे और दूसरों को अपनाने वाले प्यार का उपयोग अपने पर करने लगे। देखिए! यह जो न्याय है, जिसकी स्थापना के लिए राष्ट्र की कल्पना हुई, वह न्याय यदि हम अपने साथ करने लगे, तो मेरा विश्वास है कि मानव-समाज को राष्ट्र की आवश्यकता न रहेगी। जिसे आप प्रेम कहते हैं, मजहब का ही दूसरा नाम है, या प्रेम का ही दूसरा नाम मजहब है और न्याय का ही दूसरा नाम राष्ट्र है। जीवन को ऊँचा उठाने में न्याय और प्रेम का बहुत बड़ा स्थान है। किंतु उसे, जो दूसरों के साथ करना चाहिए, हम अपने साथ करते हैं और जो अपने साथ करना चाहिए, वह दूसरों के साथ करते हैं। न्याय घृणा नहीं है, अपितु उसके द्वारा अपनी वर्तमान निर्दोषता को सुरक्षित रखें, तो हम अपने साथ न्याय करते हैं। उस न्याय का परिणाम यह होगा कि जीवन में दोष की उत्पत्ति ही नहीं होगी। किंतु कुछ काल की हुई भूल की याददाश्त प्रकट होगी नाश होने के लिए। जिस समय वह प्रकट हो, उस समय अविचल आस्था को हिलने-डुलने न दे कि हमारा वर्तमान निर्दोष है। उस उत्पन्न हुई याददाश्त से साथ सहयोग न करें, अर्थात् उससे भयभीत न हों, उसका सुख न लें, उससे तादात्म्य न रखें। उसका परिणाम यह होगा कि वह निर्जीव होकर सदा के लिए नाश हो जाएगी। फिर जिसको लोग योग की भाषा में निर्विकल्पता और समता कहते हैं, और उपासना की भाषा में जिस अखंड ध्यान रखते हैं, वह अपने-आप होने लगेगा।

सत्य के पुजारी को, प्रेम के अधिकारी को, उस होने वाले अखंड ध्यान में भी रमण नहीं करना है। तब अपने-आप ध्यान से परे, समाधि से अतीव, दिव्य-चिन्मय जीवन से एकता होगी। उस एकता को पाकर हम अपने को न बनाए रखें, अपितु उस श्रद्धास्पद की आत्मीयता और अपना कर स्वीकार करें। तब वह अखंड स्मृति, जिसमें अगाध-अनन्त नित-नव रस है, जो पूर्ति निवृत्ति और क्षति से रहित है और जो प्राप्ति, बोध और प्रियता की साक्षात् प्रतीक है, स्वतः जगेगी। असंगता का ही दूसरा नाम असहयोग है। असहयोग ने हमें घृणा

से, द्वेष से मुक्त किया है और उसके साथ-साथ राग से भी रहित किया है। असहयोग का अर्थ है जो अपना नहीं है उससे ममता नहीं करेंगे, उसका दुरुपयोग नहीं करेंगे, उससे घृणा नहीं करेंगे अर्थात् उसका जो उल्टा है- करने का उल्टा क्या है? न करना- उसको अपनायेंगे। उसके बाद सही करना स्वतः होगा। तो वही असहयोग सेवा के रूप में, त्याग के रूप में, अभिव्यक्त हो जाएगा। जैसा कि आपने सुना था कि सेवा करने के लिए सभी अपने हैं अपने लिए अपना नहीं हैं, इसका अर्थ यही है कि जहाँ तक आपकी बुद्धि देखती है, जहाँ तक अपनी इन्द्रियाँ देखती हैं वहाँ तक जो कुछ दिखाई देता है, वह अपने लिए नहीं हैं। तो अपने लिए कौन है कि बुद्धिदृष्टि के पीछे सदैव अखंड़ रूप से जो आपका सचमुच अपना है,जो कभी आपसे अलग हुआ नहीं, अलग हो सकता नहीं, वह आपका अपना है। उसमें आत्मीयता हमें श्रद्वा से, विश्वास से, अविचल आस्था से स्वीकार करनी है,

हम अनाथ नहीं है, अपितु सनाथ हैं। सनाथ होने के नाते किसी की प्रियता हैं, किसी की सेवा हैं। वह हमारे प्रियतम जब विश्व के रूप में अभिव्यक्त् होते हैं, तब हम उनकी सेवा हैं और वही हमारे प्रियतम जब विश्व के अतीत का खेल खेलते है, तब हम उनकी प्रीति हैं। सेवा और प्रीति में मानवता है और वह मानवता बीज रूप से प्रत्येक वर्ग, देश, मत, सम्प्रदाय, विचारधारा के भाई-बहन में मौजूद हैं। उस मौजूद मानवता को विकसित करने के लिए हम सब भाई-बहनों को सोने से पहले और जागने के बाद अपने-अपने को समझाने के लिए-गुरु बनने के लिए नहीं, नेता बनने के लिए नहीं, घर का मालिक बनने के लिए नहीं-अपने से अपने को समझाने के लिए जो विवेक रूपी प्रकाश मिला है उसमें रहकर, सत्संग-योजना को चरितार्थ करना चाहिये। यह सत्संग-सप्ताह प्रत्येक वर्ग के भाई-बहन से यह प्रार्थना करता है कि हम सोने से पहले कम से कम समय, अल्प से अल्प काल बिना अपनी वस्तुस्थिति का अध्ययन किए नहीं सोएँगे और जिनमें हमने आत्मीयता स्वीकार की हैं, उन्हीं की मधुर स्मृति लेकर सोएँगे और जगने के बाद या तो उन्हीं के नाते सभी की सेवा करेंगें अथवा जाग्रत-सुषप्ति मे समाधिस्थ

होकर रहेगें। हमें कोई अधिकार नहीं हैं कि यदि हम दुःखी को देखकर करुणित नहीं हो सकते तो हम देखें। हम कोई अधिकार नहीं हैं कि, यदि सुखी को देखकर प्रसन्न नहीं हो सकते, तो हम उसे देखें। इस दृष्टि से आपका जीवन भगवान ही अथवा विश्व की सेवा है। अध्यात्मवाद की दृष्टि से आपका जीवन उस अनन्त की प्रीति है। इस दृष्टि से प्रवृत्ति में सेवा, निवृत्ति में प्रीति होकर उस जीवन में हम लोग नित्य वास करेंगे, जिसको तत्वेताओां से, सदग्रन्थों से, सत्-पुरूषों से, भक्तों से, जीवन-मुक्तों से सुना है। इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं है।

॥ हरिः॥

प्रभु में विश्वास

(27 दिसम्बर,1956, सांयकाल)

मेरे निज स्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा भाई और बहन!

कोई भी उत्पत्ति ऐसी नहीं हो सकती, जिसके मूल में कोई अनुत्पन्न तत्व न हो, कोई भी प्रीति ऐसी नहीं हो सकती, जिसका कोई प्रकाशक न हो, कोई दृष्टि ऐसी नहीं हो सकती, जो किसी प्रकाश से प्रकाशित न हो। इस कारण हमें उसमें आस्था करनी ही होती है, जो हमारे व्यक्तित्व की उत्पत्ति से पूर्व हैं। व्यक्तित्व और विश्व स्वरूप से एक हैं। जैसे, व्यक्ति और समाज स्वरूप से एक हैं, जैसे, कमरा और बिल्डिंग स्वरूप से एक हैं। वैसे ही व्यक्तित्व और विश्व स्वरूप से एक हैं। जहाँ हमें यह मालूम होता है कि व्यक्तित्व की उत्पत्ति हुई है वहाँ हम सबको यह भी मालूम होता हैं कि विश्व की उत्पत्ति हुई हैं। तो जब प्रत्येक उत्पत्ति के मूल में अनुत्पन्ना तत्व हैं, तब उसमें आस्था,क्या अनिवार्य नहीं है? उत्पत्ति के द्वारा उत्पत्ति की प्रतीति है, चाहे उसमें उत्पत्ति के अर्थ में स्थूल शरीर को ले लें, सूक्ष्म शरीर को ले लें, कारण शरीर को ले लें, और चाहे प्रतीति के अर्थ में स्थूल जगत को ले लें, सूक्ष्म जगत को ले लें, कारण जगत को ले लें। उत्पत्ति द्वारा अनुत्पत्ति की प्रतीति नहीं है। इस कारण जिसकी प्रतीति आज तक नहीं हुई- इन्द्रिय-दृष्टि से, बुद्धि-दृष्टि से-उसी में अविचल आस्था करनी हैं। कैसे होगी? उसका एक सुगम उपाय है, सहज उपाय है। क्या? आप यह स्वीकार कर लें कि

'प्रभु में हमारी आस्था हैं'। आप कहें कि हमको तो बुद्धि धोखा देती हैं अर्थात आस्था स्वीकार करने में बाधक होती हैं। हम कैसे आस्था स्वीकार करें? यदि तुम बुद्धि से अपने को अलग जानकर स्वयं प्रभु में आस्था करते हो, तो बुद्धि तुम्हारें सहयोग से बिना तुम पर शासन नहीं कर सकती। जब तुम बुद्धि को दासता स्वीकार करते हो, तब बुद्धि तुम पर शासन करती हैं। अतः प्रभु की आस्था में बुद्धि बाधक नहीं हो सकती। जिस समय आप यह स्वीकार कर लेंगे कि हमारी प्रभु में आस्था हैं, कुछ काल के बाद बुद्धि भगवती भी स्वीकार कर लेगी।

जब मेरे जीवन में यह प्रश्न उत्पन्न हुआ था कि मुझे साधु होना है और इसलिए साधु होना है, कि मैं उस सुख के बिना नहीं रह सकता, जो दुःख से रहित हो, तो आप जानते है कि साधु होने के लिए साधुओं के पास जाना पड़ता है। तो साधुओं के पास गया। और साधुओं का यह सहज स्वभाव होता है कि हरेक से वे यह कहते हैं कि तुम भजन करों। मुझसे भी कहा। तो मैनें तुरन्त उत्तर दिया भजन क्या हैं? क्या होता हैं? भजन किसे कहते हैं? उन्होंने कह दिया-'राम-राम भजों। यही न परम्परा हैं? आप देखेंगे। तो नाराज नहीं हुए, शान्त, गम्भीर हो गए और तुरन्त मुझसे पूछा- क्या तुम ईश्वर के अस्तित्व में आस्था नहीं रखतें? क्या तुम ऐसा नहीं मानते कि ईश्वर हैं? तो मैंने कहा कि मैं यह नहीं मानता कि ईश्वर नहीं है। तो वे महात्मा बहुत प्रसन्न हो गये और पूछा-तुम ईश्वर को मानते हो? मैंने कहा-जी। तो फिर कोई बात नहीं हैं,यार! उसके शरणागत हो जाओ। न उन्होंने कहा कि माला फेरो, न पाठ करो, न उन्होंने यह कहा कि यह करों वह करों। एक बात कहीं कि शरणागत हो जाओ। मैं नहीं समझता कि उस वाक्य में क्या जादू था। मैंने ईश्वर को निराकार मानकर ईश्वर का चिन्तन नहीं किया। क्यों? जिसके सबंध में अनेक प्रकार के वर्णन हों,कोई भी सजग मस्तिष्क की बात कहता हूँ। मेरी हठ थी, यह मत मान बैठना कहीं। आप सोचिए कि किसी पक्ष को यदि स्वीकार कर लेते हैं, तो हमें अपने पक्ष की हर बात अच्छी लगती है और दूसरे पक्ष की हर बात में सन्देह होता है। जो किसी भी पक्ष को स्वीकार कर लेता है, वह कभी-भी सजग नहीं हो सकता। जैसे किसी पक्ष के विरोधी को में सजग नहीं मानता,

वैसे ही किसी पक्ष के समर्थक को भी मैं सजग नहीं मानता। मस्तिष्क उसी का सजग रहता है, जो ईमानदारी से न विरोधी हैं, न समर्थक हैं।

अगर मुझसे कहा गया होता कि तुम इस प्रकार के ईश्वर का चिन्तन करो तो शायद मैं तर्क करता। मुझसे यह नहीं कहा गया कि इस प्रकार के ईश्वर का चिन्तन करो। मुझसे तो यह कहा गया कि जिस प्रकार के ईश्वर को मानते हो, उसके तुम शरणागत हो जाओ। कितना अच्छा होता कि मुझको उस समय कह दिया होता कि तुम उसके शरणागत हो गए। मैं समझता हूँ कि तब मैं गुरु परम्परा को इतने जोर से पकड़ता कि कभी छोड़ नहीं सकता था। पर गुरु तो वह होता है, जो गुरु बन के नहीं आता दोस्त बन कर आता है, सुहृद बन कर आता है, अपना होकर आता है। वही वास्तव में गुरु होता है। तो उन्होंने कहा कि भैया! तुम उनके शरणागत हो जाओ। चलते-फिरते, उठते-बैठते स्वतः चिन्तन जाग्रत होगा, किसी आकृति को लेकर नहीं, किसी नाम को लेकर नहीं। अब आप सोच सकते हैं कि वह चिन्तन क्या होगा! उस समय मुझको यह कहते कि तुम नाम क्यों नहीं लेते हो, तो मालूम है उत्तर क्या देता? नाम तो वे लेते हैं, जो दूर मानते हैं। माफ कीजिए! मैं नाम का विरोध नहीं करता हूँ। नाम के प्रेमी को चोट न लगे। आत्मीयता की बात कहने के लिए भूमिका बना रहा हूँ। मैं नाम का विरोधी नहीं हूँ। आप जितनी श्रद्धा रखते होगें उतनी तो रखता ही हूँ, उससे कुछ और ज्यादा ही मान लीजिए। कोई कहे कि ध्यान करो तो ध्यान तो वह करे, जो किसी प्रकार की दूरी अनुभव करता हो।

अब हमें करने को क्या रह गया? प्यार। कैसे हो? तो एक दिन एक महिला अपनी ननँद से कह रही थी कि देखों विशन, तुम्हारे भैया वे खड़े हैं। यह बात मैने कानों से सुनी। अब हृदय एकदम व्यथित हो गया कि देखों, प्रेम करना तो ये जानती हैं। इतने आदमी खड़े हैं और उतने आदमियों में उन्हें विशन के भैया दीखते है। हाय! हाय! में जिनके शरणागत हूँ, उनकों कहीं देख नहीं पाता। एक दिन की बात, एक दूसरी महिला थी। मैंने उनसे पूछा-कहिए, क्या हाल हैं? बोली-क्या बतायें, अँधेरा-सा दीखता है! अब हृदय में चोट लगी। गौने से वापिस आई थी। यह बिल्कुल सच्ची घटना है।

तो हमने कहा-देखों इन्हें पति के वियोग में दिन में भी अँधेरा दीखता है। और मुझे प्रिय के वियोग में अँधेरा नहीं दीखता! प्रेम करना तो ये जानती है। नींद आती नहीं थी, कल पड़ती नहीं थी। रात्रि का समय था। मुझे यह नहीं बताया गया कि यों संयम करों, तप करों, नियम करों। मुझे कुछ नहीं बताया गया। किसान लोग खेत रखा रहे थे। एक दम विचार उदय हुआ। ये सारी रात जगेंगे थोड़े से अन्ना के लिए, और मैं सोना चाहता हूँ अक्षय आनन्द को सामने रखकर ! इस प्रकार प्रत्येक घटना मुझे उसकी स्मृति जगाने में सहायता करती थी। अब तो मैं यह कह सकता हूँ कि उनके सिखाने के न जाने कितने ढ़ग हैं, न जाने वे कितना षड़यंत्र रचते हैं अपने में फँसाने के लिए! किन्तु भैया! एक बात आपकी होनी चाहिए, अनेक नहीं। महाराज ने कह दिया, शरणागत हो जाओ, और ना नहीं निकला। मैं तो समझता हूँ कि कहा भी उन्होनें और स्वीकार भी किया उन्होंने। उसी को तो गुरु कहते हैं। गुरु उसे नहीं कहते हैं, जो साधन कराए, मजदूर बनाए। माफ कीजिएगा, वह गुरु नहीं है। गुरु कहते हैं उसको,जो साधन स्वयं करें और सिद्धि शिष्य को मिले। लेकिन यह राज न खुल जाए इसलिए थोडा़ पर्दा रखते हैं, समस्त विश्व के प्रेमियों की मांग इकट्ठी करो, तो नहीं के बराबर है। इसलिए भाई! आप जैसे हैं वैसे ही, तैयारी के साथ नहीं, सहज भाव से,सरलता से यह स्वीकार कर लें कि अब हम अनाथ नहीं है, हम सब बेमालिक नहीं है, तो यह मिल्कियत बिना मालिक के कैसे हो सकती हैं? विचार तो करो! अन्तर इतना ही है कि हम उन्हें नहीं जानते, तो क्या वे भी हमें नहीं जानतें? हम उन्हें नहीं मानतें,तो क्या वे भी हमें नहीं मानतें? क्या वे हमारे मानने पर हमें अपना मानेंगें? क्या हमारे जानने पर वे हमें अपना जानेंगें? त्रिकाल में भी नहीं। हम मानें तो भी वे हमें अपना मानतें हैं, हम जानें तों भी हमें वे अपना मानते भी हैं और हमें जानते भी हैं। इस आस्था को लेकर हम और आप आत्मीयता को स्वीकार कर लें कि ''प्रभु हमारें हैं''। क्यों हमारें हैं? बोले- इसलिए कि ''प्रभु हैं''। भाई! प्रभु कहते किसको हैं? क्या प्रभु उसको कहते हैं, जो किसी देश-विदेश का मालिक हो? क्या उसको कहते हैं,जो किसी लोक विशेष का मालिक हो? या उसको कहते हैं, जो

सभी का मालिक हैं? तो जो सभी का मालिक हैं, वह हमारा भी मालिक हैं।

माधव भैया की माँ बड़ी सात्त्विक सतयुगी माँ थीं। और इनमें जो स्नेह है न, ये भले ही शेखी मारें, पर इनकी माँ का दिया हुआ है। इन्होंने एक बार मुझको एक पत्र लिखा कि महाराज जी, मैं अनाथ हो गया, मेरी माँ नहीं रहीं। मैंने लिखा, भैया! विश्वनाथ के रहते हुए तुम अनाथ कैसे हो सकते हो? तुम अनाथ नहीं हो सकते। यह दूसरी बात है कि जिस रूप में वात्सल्य-स्नेह आज तक तुम्हे मिलता था, वह भले ही छूट गया हो, लेकिन तुम अनाथ नहीं हो। विश्वनाथ मौजूद हैं। तो यह तो मानव अपने में एक अनाथपन का अनुभव करता है, वह अनाथपन का अनुभव उसकी भूल है, असावधानी है। वास्तव में कोई भी अनाथ नहीं है। सभी सनाथ हैं और सदैव सनाथ हैं। आप जानते हैं, अनाथ का अनुभव क्यों होता हैं? यह अनाथपन का अनुभव तब होता है जीवन में, जब हमारे पास अपना करने का कुछ होता है जिसके पास अपना करने का कुछ होता है वह सदैव अपने को अनाथ का अनुभव करता हैं। कल्पना करों, यह रोगी शरीर मेरे पास न हो, तो क्या दीनता मेरे जीवन में कभी आ सकती है? अगर स्वस्थ शरीर आप के पास न हो,तो क्या कभी अभिमान आपके जीवन में आ सकता हैं?

अभिमान के बिना क्या भेद की उत्पत्ति हो सकती हैं? कभी नहीं हो सकती हैं? तो आप अपने में जो अनाथपन करते हैं, असमर्थता क अनुभव करते हैं, इसका अर्थ है जो वस्तु आपको मिली हैं, आपने उसको अपना मान लिया है। आपने अपने को उससे मिला लिया है कि यह वस्तु हमारी है, कि यह वस्तु हम हैं। तब आप दीनता से, अभिमान से बच नहीं सकते। इसलिए भाई अगर विचार करना है तो इस बात पर विचार मत करो कि प्रभु कैसे हैं कहां हैं।

विचार इस बात पर करो कि जो शरीर आपके पास है क्या सचमुच वह आपका है? क्या सचमुच आप वह हैं? और यह विचार, मालूम है, कैसे होगा? बुद्धि के द्वारा नहीं होगा। जितनी देर आप भीतर बाहर से चुप रहकर, देखेंगे,क्या शरीर मेरा है! क्या शरीर मैं हूँ! तो जिस प्रकाश में बुद्धि-दृष्टि देखती थी, इन्द्रिय दृष्टि देखती थी, वह प्रकाशर आपको स्वयं बोध करा

देगा कि शरीर आपका नहीं है, शरीर आप नहीं हैं, यह मस्तिष्क से निर्णय नहीं करना पड़ता। मैं तो यहां तक मानता हूं कि विचार और विश्वास में अभ्यास की गंध तक नहीं हैं, परिश्रम की गंध भी नहीं है। दोनो ही श्रम से रहित हैं, दोनो ही अभ्यास से रहित हैं। हम लोग करने के राग में इतने आसक्त हो गये हैं कि हर चीज का करना चाहते हैं, बुद्धि के द्वारा ज्ञानी होना चाहते हैं। नहीं हो सकते है; दार्शनिक नहीं हो सकते। इसलिए भाई! गम्भीरता से विचार करों कि जब शरीर आपका नहीं हैं, तो क्या इसका कोई मालिक नहीं हैं? लेकिन जब आप ही मालिक बन जाते है,तब उस मालिक में कैसे आस्था हो? जब तक आपका मन है, तब तक न वह शांत होगा, न वह स्थिर होगा, न वह शुद्ध होगा। जब तक आपकी बुद्धि है, तब तक न वह सम होगी, न वह शुद्ध होगा, न विवेकित होगी, यह निश्चित बात है, तब तक न वह इस बात का अनुभव करेंगी की मन मेरा नहीं है, बुद्धि मेरी नहीं है, जब कोई वस्तु आपकी नहीं है तो क्या वह बिना मालिक की हैं, बे आसरे हैं? न वह बे-मालिक हैं; बे-आश्रय है। हम वस्तु को अपना मानकर अपने को पराधीन, और वस्तु का विनाश, वस्तु के विकास में रूकावट उत्पन्न कर देते हैं।

अगर आपको मन और बुद्धि का विकास करना हैं, तो उस पर से ममता हटाओ। शरीर और परिवार का विकास करना है तो उस पर से ममता हटाओं। और विश्व का विकास करना हैं तो तो विश्व पर से ममता हटाओं। जिस समय साधक ममता के पत्थरों के बोझ से विश्व को, शरीर को, इन्द्रियों को, मन को, प्राण को,बुद्धि को मुक्त कर देता हैं, उस समय वे सब जिसके हैं, थें, और रहेंगें, उसमें लय हो जाते हैं। आप सच मानिए, इन्द्रियाँ, मन,बुद्धि, प्राण, ये सब उस अनन्त की विभूतियाँ हैं। हमारी ममता ने इनकी दुर्दशा की है। जब हम अपनी ममता इनसे हटा लेंगे, तब ये सब विभूतियाँ अपने-अपने कारण मे विलिन हो जाएँगी और समस्त कारणों का जो महाकारण हैं, उसमें आस्था हो जाएगी। इसलिए भाई, चाहे जैसे हैं और चाहे जहाँ हैं और चाहे कुछ करें तीनों की आजादी दे दो कि दादा! चाहें जो करना हो और चाहे जैसे हो, चाहें जहाँ हो, पर अपने हो। अपने होने से प्यारे हैं, प्यारे। जो चीज अपनी होती

है,उसमे प्रियता और प्रियता जो है वह रस का प्रतीक हैं। प्रियता और किसी की प्रतीक नहीं हैं। और रस जो है, आप जानते हैं, रस किसे कहते हैं? जिससे कभी तृप्ति न हो, कभी निवृति न हो और जिसकी कभी पूर्ति न हो। वह रस प्रियता में और प्रियता आत्मीयता में और आत्मीयता विश्वास में और विश्वास श्रद्वा में और श्रद्वा आस्था में निहित है। इस दृष्टि से हम सब अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार, अपनी परिस्थिति के अनुसार किसी में आस्था करें, पर वह एक हो। एक में आस्था होने से अनन्त में आस्था हो जाती है, प्रभु में आस्था हो जाती है, यह निर्विवाद सत्य है।

॥ हरिः॥

प्रियता में जीवन की पूर्णता।

मेरे निज स्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा भाई और बहन!

अभ्यास से साध्य नहीं,विचार से साध्य नहीं, आत्मीयता से जाग्रत अगाध अनन्त, नित-निव प्रियता में ही जीवन की पूर्णता है। उस आत्मीयता को सुरक्षित रखने के लिए हमें इस बात पर गम्भीरता पूर्वक विचार करना होगा कि अपने को जो कुछ मिला है, वह अपना नहीं हैं। और अपने लिए नहीं है। जब आत्मीयता धुँधली होती है, तब-तब आप देखेंगे कि हम इस बात को भूल जाते हैं और यह सोचने लगते हैं कि स्वस्थ शरीर के द्वारा हमें कुछ मिल सकता हैं, संग्रहित सम्पति के द्वारा हमें कुछ मिल सकता है, प्राप्त पद के द्वारा हमें कुछ मिल सकता है, यह बात अवश्य आ जायेगी। और यह बात आई कि हमें जो कुछ मिला है, वह हमारे लिए है और हमारा हैं, फिर न विध के साथ आत्मीयता हो सकती है, और हमारा न प्रभु के साथ और न अपने साथ आत्मयीता हो सकती है। और जाने दीजिए, माँ बन कर बेटे के साथ आत्मीयता नहीं रहती, पत्नी बन कर पति के साथ आत्मीयता नहीं रहती, मित्र बन कर मित्र के साथ आत्मीयता नहीं रहती। कब? जब आपने यह स्वीकार कर लिया कि हमें जों कुछ मिला हैं, वह हमारा हैं और हमारे लिए है। इसलिए भाई,

एक ही बात के द्वारा हम सबको आत्मीयता सुरक्षित रखनी है कि जो कुछ मिला हैं, हमारा नहीं हैं, हमारे लिए नहीं हैं। आत्मीयता किसमें सुरक्षित रखनी हैं? जिसमें स्वीकार की हैं, उसमें। और वह तीन ही जगह हो सकती हैं-विश्व में, आत्मा में और सुने हुए परमात्मा में।

आपको जो मिला है, जब वही आपका नहीं हैं और जब वहीं आपके लिए नहीं है, तब मैं आपसे पूछता हूँ कि कर्तव्य के क्षेत्र में हम क्यों किसी से आशा करेंगे? आप विचार कीजिए। यह तो बड़े सुन्दर ढ़ंग से कहा जा सकता है कि साहब, हम जब कर्तव्य पालन करते हैं तब कुछ आशा रखते हैं कि जिस वस्तु के द्वारा हम कर्तव्य का सम्पादान करते हैं, चाहे वह तन हो, धन हो,योग्यता हो, ज्ञान हो, विज्ञान हो, कला हो, उस सामग्री का अपनी मान लेते हैं और अपने लिए मान लेते हैं, इसलिए हम दूसरों से आशा करते हैं। यदि हम इस मूल को ही काट कर समाप्त कर दें कि भैया, हमें जों कुछ मिला हैं और न हमारे लिए है। तो फिर हमारा कौन हैं? तो इसका निर्णय भीतर अपने आप कर लो कि हमारा कौन है। पर जो मिला है, वह हमारा नहीं है, हमारे लिए नहीं है। जब आप कहें कि प्रभु हमारे लिए हैं तब तक गोपीजनों की आत्मीयता प्राप्त नहीं हो सकती। जब वह यह मानता है कि हम प्रभु के लिए हैं, तब गोपीजनों की आत्मीयता प्राप्त हो सकती हैं।

आप देखिये, भगवान को भी अपना मानने पर और अपने लिए मानने पर अधिकार-लालसा अपने आप जगेगी। तभी श्री रूक्मिणी जी का यह साहस नहीं हुआ कि प्यारे श्याम सुन्दर के मस्तक पर चरण रज लगा दें। प्यारें श्यामसुन्दर के सिर में पीड़ा है, उससे व पीड़ित हैं, व्यथित हैं और श्यामसुन्दर कहते हैं कि कोई हमारा प्रेमी अपने चरण की रज लगा देता, तो पीड़ा दूर हो जाती है। रूक्मिणी जी के पास चरण हैं, धूलि है और आत्मीयता भी श्यामसुन्दर के प्रीति हैं। किन्तु ये हमारे पति हैं और अगर हम पति के मस्तक पर चरण की रज लगाएँगे तो हमें नरक जाना पड़ेगा! तो अपने लिए न पति बनाया? लेकिन यह समस्या जब ब्रजगोपियों के सामने गई तो अच्छा! प्यारे श्यामसुन्दर के सिर में पीड़ा है, क्या कहते है, क्या वहाँ कोई उपचार

करने वाला नहीं है, यह कह अधीर हो गई, व्याकुल हो गई कि हाय! हाय! यदि श्यामसुन्दर यहाँ होते, तो उनकी मैया उनका उपचार करतीं। अरे बाबा, वहाँ कोई उपचार करने वाला नहीं है द्वारकापुरी में? नारद बाबा कहने लगे-गोपियों, उपचार करने वाले तो वे स्वयं ही हैं। पर औषधि ना मिली। चकित हो गयीं। ऐसी कौन सी औषधि है भैया? तो प्रेमियों की चरण धूलि! गोपियाँ बोली-जाओ चाहे जितनी ले जाओ।अरी गोपियो तुम नहीं जानतीं, वे पूर्ण ब्रह्म सच्चिदानन्दघन हैं तुम्हें नरक भोगना होगा। बोलीं- बाबा हम भली भाँति जानती हैं। एक जन्म नहीं, अनेक जन्म नरक की यातना सह सकती हैं, किन्तु प्यारे की पीड़ा नहीं सह सकतीं!

आत्मीयता कब सजींव होती हैं? कि जब हम जिसकी सत्ता स्वीकार करें, उसकी सत्ता अपने लिए न स्वीकार करें कि ये हजरत हमारे काम आएँगें। देखियें, किसी को अपना मानने का अर्थ क्या हैं? प्यार दो आदर दो, जो है सब दो और कुछ मत लो। आप कहेंगे, यह कोई बुद्विमानी की बात है? यह तो पागलपन है। तो भैया, इस पागलपन में कितना रस हैं! इसमें बुद्विमान का प्रवेश नहीं। इसलिए अगर आप आत्मीयता सुरक्षित रखना चाहते हैं किसी के साथ,तो देखों भाई,तुम जगत को छोड़ दों,हमको छोड़ दो और परमात्मा को भी छोड़ दो, तुम किसी एक को अपना मान लो, लेकिन यह शर्त रखों कि हम उसे अपना इसलिए मानते हैं कि हमारे पास जो कुछ है वह उसका है हम उसके हैं हमें उससे कुछ नहीं चाहिए।आप ऐसा व्यवहार किसी के साथ कर सकते हैं। भगवान के साथ करें।ऐसा मैं नहीं कहता हूँ। जिसके साथ वह व्यवहार करेंगे, वहां वह वस्तु छिप जाएगी और वह अनन्त प्रकट हो जाएगा। क्यों? इस रस का भोगी व्यक्ति नहीं है, व्यक्ति इस रस का भोग नहीं कर सकता। इस रस के भोगी वे ही अनन्त है। और इस रस के दाता जानते हैं आप? देवता नहीं हैं, मानव हैं, मानव! कितना स्थान हैं आपका। यह रस मानव ही प्रभु को दे सकता है कि हमें तुमसे कुछ नहीं चाहिए।

॥ हरिः॥

ममता का त्याग

मेरे निज स्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा भाई और बहन!

मानव जीवन साधक का जीवन है। मानव कहो अथवा साधक कहो, एक ही बात है। शरीर का नाम साधक नहीं है, आत्मा का नाम साधक नहीं है और ब्रह्म का नाम साधक नहीं है। इससे यह विदित होता है कि साधक न शरीर है, न आत्मा, न ब्रह्म। तो फिर कौन है? जिसने शरीर में ममता स्वीकार कर ली है, किंतु फिर भी जिसने तत्त्व की जिज्ञासा पूरी हो जाती, प्रियता जागृत हो जाती तब तो कोई प्रश्न ही जीवन में नहीं आता। ये जितने प्रश्न आते हैं, वे इसलिए आते हैं कि ममता के रहते हुए न तो जिज्ञासा ही पूरी होती है और न प्रियता ही जागृत होती है। इस दृष्टि से प्रत्येक भाई तथा बहन पर इतना ही दायित्व होता है कि उसने जो मिली हुई वस्तु को अपना मान लिया है, न माने। उसके पश्चात् जिज्ञासा स्वतः पूरी हो जाएगी। ममता के नाश से समता की अभिव्यक्ति स्वतः होती है। समता की अभिव्यक्ति के लिए आपको प्रयास नहीं करना है। सारा प्रयास एकमात्र ममता के नाश में है। ममता के नाश में भी किसी वस्तु का नाश नहीं करना है, उसका दुरुपयोग भी नहीं करना है, केवल इतना निर्णय करना है कि जिस वाणी से हम बोलते हैं, वह हमारी नहीं है, जिन श्रोतों से हम सुनते हैं, वे हमारे नहीं है। आप सोचिए, क्या यह स्वाधीनता भी हम सब हो नहीं मिली है? यदि मिली है तो ममता का नाश और समता की अभिव्यक्ति युगपत् है। किंतु हमें उस समता में भी रमण नहीं करना है। तब अपने आप अवस्थातीत दिव्य जीवन में प्रवेश हो जाता है और फिर स्वतः चाहे प्रेमास्पद की ओर से, चाहे प्रेमी की ओर से प्रियता का एक स्त्रोत प्रवाहित होने लगता है। वह प्रियता स्वतः सिद्ध है।

अब केवल इतनी सी बात रह गई कि यदि आप ममता का त्याग कर सकते हैं, तो कर लीजिए और यदि कोई भाई-बहन यह अनुभव करें कि हमारे लिए तो यह भी संभव नहीं है तो ममता जीवन में न रहे, इसकी केवल आवश्यकता अनुभव कीजिए। जब साधक यह आवश्यकता अनुभव करता है कि मेरे जीवन में ममता न

रहे, तब अपने आप, बिना मांगे ममता के नाश की सामर्थ्य आती है, अथवा ममता नाश हो जाती है। किंतु सावधानी इस बात में रखनी है कि ममता के नाश का एक विशेष रस आता है जीवन में, निर्विकारता का रूप धारण करके, उसमें हम रमण न करें; क्योंकि निर्विकारता हमारी मांग नहीं है। फिर स्वाधीनता आती है जीवन में। स्वाधीनता भी हमारी मांग नहीं है। परन्तु यह निर्विकारता और स्वाधीनता अविनाशी है, इनका नाश नहीं होता, इनका हम त्याग नहीं कर पाते। इनको अपनी मांग न मानने से आत्मीयता स्वतः जागृत होती है। उसी आत्मीयता में रस है।

आपने सुना होगा कि अम्बा कौशल्या एक दिन सुमित्रा से कहने लगी कि, सखी! कोई मुझे समझा दे, मैं यह जानना चाहती हूं कि राम का जो वन-गमन है, यह सच है कि वह झूठ है, मैं नहीं समझ पाती; क्योंकि राम, लखन और सीता मेंरी आँखों के सामने लगे रहते हैं, हर समय; किंतु फिर भी हृदय की दाह नहीं मिटती। सुना मैंने यह है, अनुभव मेरा यह है कि उनके देखने से तो दुःख नहीं रहता और बिना देखें प्राण नहीं रहते। किंतु सखी! प्राण भी है, और दुःख भी है। इसलिए मुझे कोई समझा दे कि यह जो राम का वन गमन है, वह सच है कि झूठ?

आपने देखा होगा, जीवन में सदैव देखते हैं कि संयोग काल से ही वियोग की घड़ियां, जन्म से ही मृत्यु का प्रवाह निरन्तर चल रहा है; किंतु उस पर हमारी दृष्टि नहीं जाती। हम देखते नहीं कि जब से बोलना आरम्भ किया है, तभी से मौन आने वाला है। अभी मिलन हुआ है, वियोग होने वाला है; आरम्भ हुआ है, अन्त होने वाला है। यह जो हमारी दृष्टि इस पर नहीं रहती, परिस्थिति पर नहीं रहती, उसका परिणाम यह होता है कि वियोग में भी संयोग की आश लेकर जीते हैं। किंतु जब साधक में आत्मीयता जागृत होती है, तब मिलन में वियोग और वियोग में भी मिलन रहता है। ऐसा नहीं है कि मिलन में वियोग न रहे और वियोग में मिलन न हो। अब आप विचार करें, कि जहां मिलन में वियोग है, वहां मिलन का जो रस है, क्या वह तृप्ति कराएगा? और जहां वियोग में मिलन है, वहां वियोग का रस क्या अभाव में आबद्ध होने देगा? यही वह रस है कि जहां मिलन में भी तृप्ति नहीं है और जहां वियोग में भी अभाव नहीं है। इस

प्रकार का रस प्रत्येक भाई को, प्रत्येक बहन को वर्तमान में मिल सकता है। पर कब? इतनी सी बात से कि जिस वस्तु पर हमारा अधिकार नहीं है, उसको हम अपना न मानें। हमारे अधिकार में नहीं है कि हम बोलते रहें, आपके अधिकार में नहीं है कि आप सुनते रहें। तो बोलने और सुनने से जो तादात्म्य स्वीकार कर लिया है और बोलने और सुनने को जो अपनी खुराक बना लिया है, यह ममता का कार्य है।

इस जाने हुए के प्रभाव से हम विचार करते हैं कि बोलने में जीवन है, तो न बोलने में क्या है? सुनने में जीवन है, तो न सुनने में क्या है? और सुनने और न सुनने से परे क्या है? तीन बातें बोलने में क्या है? न बोलने में क्या है? और बोलने और न बोलने से परे क्या है? तो ऐसा मालूम होता है कि मानो जन्म-जन्मांतर के, अनादि काल के जो बंधन थे, वे टूट गए। केवल इतनी सी बात में कि बोलने, न बोलने में जीवन है, अथवा बोलने और न बोलने से परे? बस, जहां बोलने, न बोलने से परे दृष्टि गई, आप सच मानिए, उस अनन्त का अगाध प्रेम आपका आलिंगन करेगा और फिर इसका पता ही नहीं चलेगा कि मिलन है कि वियोग है, वियोग है कि मिलन है। प्रेम है कि प्रेमास्पद है, प्रेमास्पद है कि प्रेम है, इसका लेशमात्र भी पता नहीं चलेगा। परन्तु भैया! यदि आप बोलने में जीवन का अनुभव करते हैं, तो न बोलना अनिवार्य होगा और न बोलने में जीवन का अनुभव करते हैं, तो बोलना अनिवार्य होगा और न बोलने का सुख लेते हैं, तो बोलना अनिवार्य होगा। इसलिए न बोलने में जीवन है और न, न बोलने में जीवन है; बल्कि इन दोनों से परे है।

एक ऐसी आशा लेकर, एक ऐसी प्रतीक्षा लेकर कि मानों तुम से मिलने के लिए तुम्हारा प्रियतम व्याकुलतापूर्वक तीव्र गति से आ रहा है परन्तु हमारी दृष्टि कभी बोलने में, कभी करने में तो कभी न बोलने में, तो कभी न करने में रहती है। तो भाई! करने से और न करने से, बोलने से और न बोलने से, गति और स्थिरता से थोड़ा मुँह फेरो। जहां आपका मुँह फेरा कि सामने आपको अपने प्रेमास्पद से भिन्न और कोई दिखाई नहीं देगा। मेरा विश्वास है कि प्रेमास्पद महान् होकर प्रेमी से नहीं मिलता, महान् होकर तो तत्त्ववेत्ताओं से अभिन्न

होता है; प्रेमी से तो प्रेमास्पद तुच्छ होकर मिलता है, अधीर होकर मिलता है, अपना होकर मिलता है, व्याकुल होकर मिलता है। ऐसा मालूम होता है कि न जाने ये हमारी बिना कितने व्याकुल थे!

इसलिए भाई! इतनी सी जिम्मेदारी है। आप जो भी करते हैं, उसको तो, न करने में बदलते ही हैं। करना, न करने में न बदलता हो, ऐसा तो अनुभव किसी भाई-बहन का है नहीं। किंतु अपने को न करने में बाँधो, न न करने में बाँधो और सही करके, नहीं करने में ठहर के, थोड़ा सा मुँह फेरो। तो आपकी उस रस की मांग पूरी होगी। देखो भैया! निहाल कौन होगा और निहाल करेगा कौन? इस पर सोचो। निहाल वही होगा,

जो पीड़ित है और कोई निहाल नहीं होगा। और करेगा कौन? जो उसका अपना है। अपना वही है, वह अपने से दूर नहीं है, उसको करने और न करने में, शान्ति और गति ने शिथिल बना दिया है। आज हमें इस सत्संग-सप्ताह के उपलक्ष्य में यह विचार कर लेना चाहिए कि भाई, करने में उनकी पूजा है और न करने में उनकी प्रतीक्षा है। उनकी प्रतीक्षा उनसे मिलाने में सर्वदा समर्थ है, यह निर्विवाद सत्य है।

॥ हरिः॥

अगाध अनन्त आनन्द की प्राप्ति

(29 दिसम्बर,1959, प्रातःकाल)

मेरे निज स्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा भाई और बहन!

जिसके होने में अविचल आस्था होती है, उसका होना सर्वदा सहज और स्वाभाविक होता है। यदि हम इस बात को स्वीकार करें कि आत्मीयता स्वीकार करने में न लेशमात्र पराधीनता है न असमर्थता ही है, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक आत्मीयता प्राप्त हो सकती है और उसके द्वारा अगाध-अनन्त नित-नव प्रियता जग सकती है। कोई दलील, युक्ति ऐसी हो नहीं सकती, जो हमें आत्मीयता से विमुख कर सके, वंचित रख सके। क्योंकि किसी को अपना मानने में हम पराधीन नहीं है। वे हमारे

काम आ जाए, इसमें हम भले ही पराधीन हो; किंतु हम उन्हे अपना मानते हैं, क्या इसमें हम पराधीन हैं? क्या इसमें असमर्थ हैं? आप देखेंगे कि जीवन में जितनी पराधीनता दिखाई देती है, उसके मूल में अपनी कामना-पूर्ति का प्रलोभन ही होता है। आत्मीयता स्वीकार करने के लिए इस प्रलोभन का कोई स्थान नहीं है कि हम आपको इसलिए अपना मानते हैं कि आप काम आ जाएं। तब तो आप यह कह सकते हैं कि भाई! अपना मन हमारे लिए संभव नहीं है। किंतु हम आपके काम आ जाएं, आप हमारा जो चाहें सो उपयोग करें, आप हमें प्यारे लगें, क्या हम इसमें भी पराधीन हैं? इसमें पराधीन नहीं हैं। हां यदि ऐसा कहें कि हम यह चाहते ही नहीं कि कोई हमें प्यारा लगे। तब तो भाई! आत्मीयता स्वीकार करने का प्रश्न ही नहीं है। किंतु यदि आप यह चाहते हैं कि कोई हमें प्यारा लगता-हम किसी को प्यारे लगते-यह कोई जरूरी नहीं है; किंतु हमें कोई प्यारा लगता, तो इसके लिए आत्मीयता ही अचूक उपाय है।

कुछ लोग सोचते हैं कि कि प्रियता किसी महत्व के कारण जागृत होती है। किसी में जब विशेषता होगी, तब वह हमें प्यारा लगेगा। यह उन लोगों की बात है, जो अपने सुख के लिए किसी को प्यार करते हैं। भोगी का आकर्षण किसी न किसी महत्व पर निर्भर हैं। किंतु प्रेमी का जो आकर्षण है, प्रेमी का जो खिंचाव है, वह किसी महत्व पर नहीं है। वह तो केवल आत्मीयता पर ही है। अपने होने वाले से हमको प्यारे हैं। ब्रह्म होने से प्यारे हों, अनन्त होने से प्यारे हों,-ऐसी बात नहीं है। यह जो आत्मीयता है, इस बात के लिए नहीं की जाती कि साहब! वे परमात्मा है, इसलिए उन्हे अपना माने; वे सर्व-समर्थ हैं, इसलिए उन्हें अपना मानें। आत्मीयता इस बात पर नहीं है। अजी! पतित पावन को सब अपना मानने को राजी हैं, दीन-वत्सल को सब अपना मानने को राजी हैं। इसमें विशेषता की क्या बात है? पर हम तो उसे इसलिए अपना मानना चाहते हैं कि वे हमें प्यारे लगें! भाई! तुम्हे प्यारे लगे, ऐसा क्यों चाहते हो? तो उनको रस देने के लिए अन्य कोई उपाय है ही नहीं। आप विचार करके देखें; बल के द्वारा अपने से निर्बल पर विजय होती है, योग्यता के द्वारा अपने से अयोग्य पर विजय होती है, सौन्दर्य के द्वारा हम

उसको आकर्षित कर सकते हैं, जिसमें हम से कम सौन्दर्य हो। जिसमे अनन्त सौन्दर्य हो, अनन्त ऐश्वर्य हो, अनन्त माधुर्य हो, उसको रस देने के लिए किसी गुण विशेष की अपेक्षा नहीं होती। केवल इस बात की अपेक्षा होती है कि वे हमको प्यारे लगें! और किसी को प्यारा लगने के लिए इसके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है कि हम उसे अपना मानें।

इस दृष्टि से अगर आप विचार करके देखेंगे, तो आत्मीयता प्रेमास्पद को रस देने के लिए की जाती है; अपने कल्याण के लिए नहीं की जाती, अपनी सद्गति के लिए नहीं की जाती, अपने को कुछ मिलेगा, इसके लिए नहीं की जाती। क्यों? अपने लिए जो उपयोगी बात है वह तो प्रभु ने प्रत्येक भाई-बहन को बिना मांगे पहले दे ही दी है। अपने लिए कौन सी उपयोगी बात है? दो बातें हैं- जो मिला है उसके सद्व्यय के द्वारा हम जगत् में उच्च स्थान पाते हैं और विवेकपूण्र त्याग को अपनाकर हम स्वाधीनता पाते हैं, निजानंद पाते हैं।

ये दोनों बाते तो हमें ऐसी मालूम होती हैं कि अपने लिए हैं। किंतु आत्मीयता के द्वारा जो प्रियता जागृत होती है, वह प्रियता उनको रस देती है। यद्यपि प्रियता जिसमें जागृत होती है, उसमें भी नीरसता नहीं रहती; क्योंकि प्रियता स्वभाव से ही रस रूप है। किंतु प्रियता का रस प्रेमास्पद को ही मिलता है और वे ही इस रस के अधिकारी हैं। आप अपने निकटर्वी-प्रियजनों से पूछिए कि आप हमको बहुत प्यारे लगते हैं, लेकिन हमारे पास जो वस्तु है, वह हम आपको नहीं दे सकते। तो आपको तुरन्त उत्तर मिलेगा कि आपका प्यार भाड़ में जाए। जिन्हे बड़ा भारी गौरव हो अपनी स्त्री की आत्मीयता पर, वे जरा पत्नी से कहें कि देखिए, हमारे पास कपड़ा नहीं है, खाना देने को नहीं है, मधुरवाणी बोलने को नहीं है, हम तो आपको अपनी मानते हैं आप प्रसन्न हो जायें। वह कहेगी कि ऐसे निकम्मे पति की हमें जरूरत नहीं है। केवल प्रियता मात्र से रीझने में प्रभु ही समर्थ हैं।

आप विचार करके देख लें। केवल प्रियता-मात्र से रीझने में संसार भरकी आप तलाश कर लीजिए, एक भी साथी आपको ऐसा नहीं मिलेगा,, जो इस बात से संतुष्ट हो जाए कि साहब! हम आपको प्यार करते हैं, आप इतनी ही बात से संतुष्ट हो जाएं।

वे कहेंगे कि आप प्यार करते हैं, तो यह आपका बंगला हमारा बंगला है, आपकी मोटर हमारी मोटर है।

हमारे पास बहुत से लोग आते हैं, दूर से देखते हैं कि इनके संपर्क में कौन-कौन से आदमी हैं। फिर सोचते हैं, कि स्वामी जी से प्रार्थना करें कि अब तो मानव-सेवा-संघ के प्रेसीडेंट बी.पी. सिन्हा हो गए हैं, हाईकोर्ट की जजी के लिए हमको लिख दें। वे हमारे पास इसलिए आते हैं कि अमुक अफसर स्वामी जी के पास आते-जाते हैं, तो हमारा कन्फरमेशन हो जाए। सोचिए। एक समय था, जब साधुओं के पास लोग आर्शीवाद के लिए आते थे। आज ऐसा समय आ गया है कि वे साधुओं के पास सिफारिश के लिए आते हैं। भैया! संसार भर की आप खोज कीजिए। एक भी आदमी आपको ऐसा नहीं मिलेगा, जो आपको यह कहे कि हम आपको अपना मानते हैं, इतने मात्र से आप प्रसन्न हो जाइए। एक भी आपको नहीं मिलेगा और जिसको आप समझते हों कि वह होगा, तो आजमा के देख लीजिए। इसलिए भाई, यह जो आत्मीयता तो प्रेमास्पद को रस देने के लिए है। आप सोचिए, वे कितने भाग्यशाली होंगे, जिनसे प्रेमास्पद को रस मिलता होगा!

यदि यह आपकी मांग है कि जीवन किसी प्रकार उनके लिए उपयोगी हो जाता! उनका दिया हुआ विवेक अपने लिए उपयोगी हो गया, उनकी दी हुई वस्तु अपने लिए और जगत् के लिए उपयोगी हो गई; किंतु हम उनके लिए कैसे उपयोगी हो सकेंगे? तो उसके लिए आत्मीयता अचूक उपाय है। आप इस बात की चिंता न करें कि हम साधारण तुच्छ प्राणियों को भला, यह अधिकार कहां है कि हम उस अनन्त को अपना कह सकें! भैया, सोचो तो सही! जो अनन्त को अपना नहीं कह सकता, वह किसको अपना कह सकता है, यह तो उन्ही की सामर्थ्य है कि उन्हे हरेक अपना कह सकता है। संसार में तो आप हरेक को अपना नहीं कह सकते। अनन्त ही में सामर्थ्य है कि वह सभी का है और सदैव सभी का है। इसलिए उसको अपना कहने में हिचको मत, डरों मत, यह विकल्प मत करो, कि हम उन्हें अपना नहीं कह सकते। क्यों नहीं अपना कह सकते? फिर किसको अपना कहेंगे, बताइए?

कोई और बता दीजिए, जिसको अपना कहें। आप जिसको अपना कहने चलेंगे, वह न जाने कितनों की ममता का पुंज होगा। आपको एक भी जगह खाली नहीं मिलेगी, जिसका कोई मालिक पहले से न हो। कोई व्यक्ति ऐसा नहीं मिलेगा, जिसके साथ अनेक लोगों की ममताएं न चिपकी हों। वे ही तो ऐसे हैं, जो सभी के लिए हो सकते हैं। इसलिए इसमें बिल्कुल डरने की बात नहीं है, कि हमने कोई तैयारी नहीं की, हमारे पास कोई सामर्थ्य नहीं है, हममे कोई योग्यता नहीं है, हममें कोई पवित्रता नहीं है, इससे बिल्कुल डरने की बात नहीं है। हम चाहे जैसे हैं, पर उन्होने हमें यह स्वाधीनता दी है कि जिसको चाहें अपना कहें, जिसकों चाहें अपना न कहें।

आपने जब यह निर्णय कर लिया कि हम प्रभु को अपना मानेंगे, तो प्रभु में यह सामर्थ्य नहीं है कि वे यह कहें कि तुम हमको अपना मत मानो। क्यों? यह स्वाधीनता मानव-मात्र को मिली है। आप जिसे चाहें अपना कह सकते हैं और ममता के तोड़ने में कोई भी भाई, कोई भी बहन कभी भी पराधीन नहीं है। यह दूसरी बात है कि आप आत्मीयता जोड़ लीजिए, ममता अपने आप टूट जाएगी; आप ममता तोड़ लीजिए, आत्मीयता अपने आप जुड़ जाएगी। अब अगर आप यह कहें कि ममता को तोड़ना तो चाहते हैं, पर तोड़ नहीं पाते। तो कोई बात नहीं; किंतु इतनी बात तो आप मानते हैं कि आप ममता तोड़ना चाहते हैं और आत्मीयता जोड़ना चाहते हैं? अगर आपने इतनी बात मान ली है, तो व्यथित हृदय से इतना ही कह दीजिए कि, हे प्यारे! हम आपको अपना मानना चाहते हैं, पर मान नहीं पाते, हम ममता तोड़ना चाहते हैं, पर तोड़ नहीं पाते! व्यथित हृदय से इतना कहकर मौन हो जाइए। आपको पता भी नहीं चलेगा कि ममता कैसे टूट गई और आत्मीयता कैसे आ गई। क्यो? जो करना चाहते हैं आप नहीं कर पाते, तो जो चाहना है, वही करना है, ओर कुछ करना नहीं है। देखिए, असमर्थ किसको कहते हैं? करना चाहे और न कर पाए। और असावधान किसे कहते हैं? कि जो कर सकें और न करें। तो चाहे असावधानी के कारण और चाहे असमर्थता के कारण हम ममता तोड़ नहीं पाते, आत्मीयता जोड़ नहीं पाते, तो कोई चिन्ता की बात नहीं है; किंतु

ममता को तोड़ना चाहते हैं और आत्मीयता को जोड़ना चाहते हैं, यह जो आपकी चाह है, वह बनी रहे, सुरक्षित रहे, मजबूत हो जाए।

कोई भी चाह सुरक्षित कब रहती है? जब पूरी न हो और उसके साथ दूसरी कोई चाह न हो। एक ही चाह जब जीवन में रह जाती है, तो वह हमेशा सुरक्षित रहेगी। कब तक? जब तक पूरी न हो जाए। यदि हम ममता तोड़ना चाहते हैं, आत्मीयता जोड़ना चाहते हैं, तो उस चाह को सुरक्षित रहने दें। नहीं तोड़ सके, कोई चिन्ता की बात नहीं; नहीं जोड़ सके, कोई चिंता की बात नहीं। परन्तु यह तोड़ने-जोड़ने की जो लालसा है, जो अभिरुचि है, वह बनी रहे। उसके बनाए रखने के लिए एक ही उपाय है कि कोई और कामना न हो। क्यों? जिस भूमि में बहुत से बीज बोए जाते हैं, वह भूमि उन पौधों को मजबूत नहीं उगाती। कहीं एक एसी भूमि है, जिसमें एक ही बीज, तो कितना मजबूत उगेगा वह पौधा! चाह हमारा और आपका जो व्यक्त्वि है, वह भी एक भूमि है।

अगर हमारे आपके व्यक्तित्व में केवल एक ही लालसा है कि ममता टूट जाती और आत्मीयता जुड़ जाती, तो सच मानिए; जिस समय एक ही लालसा जीवन में रह जाती है, तो वह अपने आप पूरी हो जाती है और जब पहली लालसा पूरी होती है, तब सचमुच यह नहीं पता चलता कि ममता के तोड़ने का पता चलता है, यह जो आत्मीयता के जोड़ने का पता चलता है, यह अहंकृति ही है। वे तो परम भाग्यशाली है कि जिन्हें ऐसा भास होता है कि भाई, मैने ममता तोड़ी नहीं, फिर न जाने कैसे टूट गई! दोषों की निवृत्ति का भास न हो और गुणों की अभिव्यक्ति का भास न हो, तब समझना चाहिए कि निर्दोषता से एकता हो गई। जब तक साधक को यह मालूम होता है कि हमने इस बुराई को छोड़ दिया और उस भलाई को अपना लिया, तब तक तो सच बात ऐसी है कि न वह भलाई है न बुराई का त्याग है।

इसलिए जीवन में जो असमर्थता का अनुभव है, यह बड़ी भारी विकास की भूमि है; असमर्थता का चिंतन नहीं, असमर्थता का अनुभव करना है। असमर्थता के अनुभव में तो एक पीड़ा है और असमर्थता के चिंतन में पीड़ा नहीं होती, असमर्थता के बनाए रखने में पीड़ा नहीं होती। हम

असमर्थ हैं, यह कोई बड़ी बात नहीं है। लेकिन जो कहते हैं कि उस असमर्थता का हमको अनुभव है या हम असमर्थता बनाए रखते हैं, वे असमर्थता- जनित सुख का भोग करते हैं। जिन्हें अपनी असमर्थता का अनुभव होता है, वे व्यथित हो जाते हैं। न जाने, 'उस निठुर' का यह स्वभाव क्यों है? लगातार चैबीस घण्टे भी वे किसी को व्यथित नहीं देख सकते।

अगर मैं अपने विश्वास की बात कहूं, तो मेरा विश्वास यह है कि केवल व्यथा अल्प से अल्प काल भी नहीं रहती, केवल व्यथा। यह जो हमे और आपको जीवन में दुःख दिखाई देता है, व्यथा दिखाई देती है, उस व्यथा के साथ-साथ किसी प्रकार के सुख का भोग रहता है। जब जीवन में सुख का लेश भी नहीं रहता और केवल व्यथा रह जाती है, तब मेरा तो ऐसा ख्याल है कि जैसे सूर्य के उदय और अंधकार की निवृत्ति में काल की कल्पना नहीं हो सकती, उसी प्रकार केवल व्यथा का होना और विकास का होना बिल्कुल एक साथ है।

अब आप सोचिए, क्या हम आत्मीयता नहीं कर सके, इसकी व्यथा के भी अधिकारी नहीं हैं? ममता नहीं तोड़ सके, तो क्या इस व्यथा के भी अधिकारी नहीं है, तो आपका अस्तित्व ही कहां सिद्ध होगा? आप विचार कीजिए। अगर हम और आप अपना कोई अस्तित्व स्वीकार करते हैं, तो उसमें कुछ न कुछ होना चाहिए। जो चाहते हैं, उसके न होने की व्यथा हमें उससे अभिन्न कर देती है, जो हमारी मांग है। इससे यह सिद्ध हुआ कि वर्तमान की वेदना में ही समस्त विकास है। इस दृष्टि से यदि हम स्वाधीनतापूर्वक आत्मीयता नहीं जोड़ सकते, तो आत्मीयता न होने की जो व्यथा है, उसे होने दें। वे परम सुंदर सर्व-समर्थ होने के कारण सभी को अपनाते हैं और किसी को भी व्यथित नहीं देख सकते।

लोग कहेंगे कि सैंकड़ो आदमी दुःखी है। वह हमको दुःखी क्यों देखते हैं? तो आपको दुःख में सुख का भोग और सुख का प्रलोभन है। उस प्रलोभन का नाश करने के लिए जीवन में दुःख है। जिस समय सुख का प्रलोभन नहीं होगा, सुख का भोग नहीं होगा, उसी समय वह दुःख जिसे आप दुःख मानते हैं या अनुभव करते हैं, नहीं रहेगा, अपितु वहां दुःखहारी होंगे। वे कहेंगे- तुम मेरे हो। तुम कहोगे-

नहीं तुम मेरे हो। वे कहेंगे- तुम प्यारे हो। तुम कहोगे- नहीं, तुम प्यारे हो। यही अगाध अनन्त रस है और इसी में जीवन की पूर्णता है।

॥ हरिः॥

जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति – अनित्य हैं।

(29 दिसम्बर,1956, सांयकाल)

मेरे निज स्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा भाई और बहन!

मानव-सेवा-संघ का उद्देश्य अपना कल्याण और सुंदर समाज का निर्माण है। मानव-सेवा-संघ की नीति में मानव का अर्थ केवल दो बातों में है- जिसकी कोई मांग है और जिसका कोई दायित्व है। मांग उसे नहीं कहते, जो पूरी नहीं हो सकती और दायित्व उसे नहीं कह सकते, जिसपे पूरा नहीं कर सकते। इस दृष्टि से इस मानव जीवन में असफलता के लिए, निराशा के लिए, हार मान कर बैठ जाने के लिए लेशमात्र भी स्थान नहीं है। अब विचार यह करना है कि हम सबकी मांग क्या है? इस पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि ऐसा कोई भाई नहीं, ऐसी कोई बहन नहीं जिसकी मांग विश्राम न हो, स्वाधीनता न हो और प्रेम न हो। हम सबको तीन बातें चाहिए-विश्राम चाहिए, स्वाधीनता चाहिए और प्रेम चाहिए। किंतु उनकी प्राप्ति के लिए हम पर दायित्व क्या है? दायित्व एक है, तीन नहीं,। यह क्या है कि प्रत्येक भाई और बहन अपने जीवन में अपने जाने हुए-सुने हुए नहीं, माने हुए नहीं-अपने जाने हुए असत् का त्याग करें। यह दायित्व है।

असत् के त्याग का अर्थ क्या है? इस पर थोड़ा विचार कीजिए। जो भूल हम कर चुके हैं अथवा जिस भूल को हम भूल जानते हैं, अब उसे नहीं करेंगे। बस, इतना ही अर्थ है असत् के त्याग का। आप सच मानिए, चाहे हिंदुस्तान का मानव हो अथवा किसी मजहब और संप्रदाय का मानव हो, एक बात सबके लिए स्वभाव सिद्ध है कि वर्तमान हम सबका निर्दोष है। किसी भाई से, किसी बहन से पूछा जाए कि तुमने क्या भूल की, तो वह भूल बताने से पहले की होगी, बताते समय की नहीं होगी। इस दृष्टि से यह

देखा जाए, तो मैं नहीं कह सकता कि कोई भी भाई ईमानदारी से यह कह सके कि भाई, हम सदा से निर्दोष है। ऐसा नहीं कह सकता। कोई-न-कोई भूल हुई है। लेकिन ऐसा भी कोई भाई नहीं कह सकता, कोई बहन नहीं कह सकती कि हमारे जीवन में केवल भूल ही है। सर्वांश में दोषी कोई नहीं है। वर्तमान में दोषी कोई नहीं है। जो कुछ भूल हुई है, वह भूतकाल में हुई है। उसकी हुई भूल को हम नहीं दोहराएंगे, इसी का नाम है-जाने हुए असत् का त्याग।

वह भूल क्या हुई है? मैं मूल रूप से कहूंगा कि तीन भूल हमसे हुई है। एक भूल यह हुई कि हम मिले हुए बल का दुरुपयोग कर बैठते हैं। यह बड़ी भारी भूल हुई है। दूसरी भूल यह हुई कि हम जाने हुए का अनादर कर बैठते हैं। तीसरी भूल हुई है कि जिसको केवल सुना है, जाना नहीं, उसमें अश्रद्धा कर बैठते हैं। ये तीन भूलें हमसे होती है। यदि आज हम इस बात का निर्णय कर लें कि जो बल हमें मिला है; उसका दुरुपयोग नहीं करेंगे, चाहे वह धन का बल हो, चाहे वह पद का बल हो, चाहे वह योग्यता का बल हो, चाहे वह ज्ञान-विज्ञान, कलाओं का बल हो; जो भी बल मिला है, उसका हम दुरुपयोग नहीं करेंगे। तो अपने आप क्या होगा? दुरुपयोग न करने का निर्णय करते ही या तो सदुपयोग होगा या आप कुछ काल विश्राम की स्थिति में होंगे, न करने की स्थिति में होंगे-आलस्य में नहीं, अकर्मण्यता में नहीं-या तो उस बल का सदुपयोग होने लगेगा या आप न करने की स्थिति अर्थात् विश्राम में होंगे। आप जानते हैं कि इन दोनो का फल क्या होगा? सदुपयोग करने से सुंदर समाज का निर्माण होगा। कैसे सुंदर समाज का? क्या सबको सुंदर बंगले मिल जाएंगे? क्या सबके पास बहुत-सा सामान हो जाएगा? क्या सबको आवश्यक वस्तुओं मिल जाएंगी? भाई, यह तो ऐसे है, जैसे बगीचे के फल खरीदो और छाया अपने आप मिले। एक ऐसे सुंदर समाज का निर्माण होगा भाई मेरे, कि जिस समाज को न तो रानी के पेट से निकले हुए राजा की जरूरत पड़ेगी और न जनता के पेट से निकले हुए मिनिस्टर की जरूरत पड़ेगी।

सुंदर समाज की पहचान क्या है? कि जिस समाज में बल का दुरुपयोग न होता हो। मैं आपसे पूछता हूं कि जिस समाज में बल का

दुरुपयोग नहीं होगा, क्या वहां किसी के अधिकारों का अपहरण हो सकता है? त्रिकाल, में भी नहीं हो सकता। जब किसी के अधिकार का अपहरण नहीं होता, तो क्या, राष्ट्र की आवश्यकता होगी? आप जानते हैं, राष्ट्र की आवश्यकता क्यों होती है? बल का दुरुपयोग बलपूर्वक रोकने के लिए। आप जानते हैं, मजहब की आवश्यकता क्यों होती है।? अपने जाने हुए असत् का त्याग करने के लिए। आज हमारी दशा क्या है? क्या वहां राष्ट्र की आवश्यकता नहीं है? क्या मजहब का लेबल लगाते हुए, अपने जीवन में से अपने असत् का त्याग कर दिया है? यदि कर दिया है, तो निःसंदेह आपका जीवन आपके लिए और जगत् के लिए उपयोगी होगा, इसमें कोई संदेह की बात नहीं। लेकिन भाई! आज जब हम वर्तमान वस्तु स्थिति को देखते हैं, तो ऐसा मालूम होता है कि इधर राष्ट्र बलपूर्वक टैक्स पर टैक्स लगाता जाता है और उधर टैक्स का एक्सपर्ट वकील कानूनी चोरी सिखाता चला जाता है। राष्ट्र की यह दशा हो गई है। राष्ट्र हमारे और आपके जीवन मेंसे बल के दुरुपयोग की रुचि को न मिटा सका।

इसलिए आज इस भयंकर परिस्थिति में प्रत्येक भाई-बहन के सामने ये प्रश्न है कि सुंदर समाज का निर्माण कैसे हो? सुंदर समाज का निर्माण किसी राष्ट्र के द्वारा हुआ ही नहीं, होगा ही नहीं, हो सकता नहीं। वह होगा कब, जब हम और आप प्रत्येक वर्ग के भाई और बहन इस बात का निर्णय कर लें कि इस क्षण से हम बल का दुरुपयोग नहीं करेंगे। स्वतः सुंदर समाज का निर्माण हो जाएगा। इस पर बुद्धिमान मानव एक दलील करते हैं कि क्या कभी आज तक ऐसा हुआ है? मैं आपसे पूछता हूं, आज तक जो हुआ है, वह कभी रहा है? अजी आज तक ऐसा हो जाता, तो जरूरत नहीं होती मानव-सेवा-संघ की। आप कहेंगे- आप ही एक ऐसे व्यक्ति हुए हैं, जो कहते हैं कि अब ऐसा होगा? हम आपसे पूछते हैं कि आपको सुंदर समाज नहीं चाहिए? क्या आपको धोखा देने वाला साथी चाहिए, बेईमान साथी चाहिए? ईमानदारी से आप कहेंगे, नहीं चाहिए। तो आज की जो आवश्यकता है, वही न भविष्य की उपलब्धि है। इसलिए मेरे भाई! निःसंदेह रूप से मेरा यह अविचल विश्वास है कि यदि हम बल का

दुरुपयोग नहीं करेंगे तो सुंदर समाज का निर्माण अवश्य होगा। यह सुंदर समाज का निर्माण किसी विधान से नहीं होता, यह किसी दूसरे के द्वारा नहीं होता। जिस समाज के व्यक्ति इस बात पर दृष्टि रखते हैं कि हम सुंदर समाज का निर्माण करेंगे, उसका अवश्य हो जाता है।

इसके लिए मानव-सेवा-संघ नें एक सत्संग योजना बनाई है। उसके कई रूप हैं। पहला रूप है कि हम सोने से पहले और जगने के व्यक्तिगत रूप से अपने विवेक के प्रकाश में अपने जीवन को देखें और हमें जो अपनी भूल मालूम हो, उसको छोड़ दें। उसके बाद कुटुम्बी जनों के साथ मिलकर, परस्पर में स्नेह को सुरक्षित रखते हुए, आदर और प्यार को सुरक्षित रखते हुए, इसी संबंध में चर्चा करें और अपनी तरफ से इस प्रकार की चर्चा करें कि हमारे द्वारा अगर आपको कोई तकलीफ हुई हो, आपको दुःख हुआ हो, तो हम उस भूल को मानने को राजी हैं। इसका नाम है पारिवारिक सत्संग। और फिर सामूहिक सत्संग- सप्ताह में एक दिन, पंद्रह दिन में एक दिन, महीने में एक दिन और फिर बड़े-बड़े सत्संग-समारोह, जैसा कि यहां के प्रेमी जनों ने किया। तो यह जो सत्संग-योजना है, वह राष्ट्र का काम भी पूरा कर देगी और मजहब का काम भी पूरा कर देगी। क्यों? अपनी दृष्टि से जाना हुआ जो अपना दोष है, उसकी निवृति हो सकती है। लेकिन दूसरे का बताया हुआ जो दोष है, सम्भव है कि वह हमारे जीवन में उतरे, हम उसे स्वीकार करें अथवा न करें, किन्तु जब हम अपना जाना हुआ दोष देखेंगे, तो उसका त्याग कर सकते है।

इस तरह से सज्जनों! सत्संग-योजना चरितार्थ करने की भावना से यहाँ सत्संग-सप्ताह मनाया गया और जो लोग उसमें सम्मिलित हुए, वे स्वयं सोंचेंगे इस बात को,कि यह जीवन का कितना आवश्यक अंग है! यदि आपको अपना कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण अभीष्ट है, तो प्रत्येक घर में यह सत्संग-योजना चरितार्थ होनी चाहिए, उतनी ही आवश्यकता को लेकर, जितनी आवश्यकता को लेकर आप सब लोग बैठकर भोजन करते हैं, निंद्रा लेते है। आप जानते हैं कि भोजन करते-करते भी शरीर नहीं रहेगा,सोते-सोते भी शरीर नहीं रहेगा। लेकिन सत्संग के

द्वारा हम सब विश्राम पाएंगें, स्वाधीनता पाऐंगें। यह जो विश्राम है वही सामर्थ्य का प्रतीक है; यह जो स्वीधनता है, वही अमरत्व और चिन्मय जीवन का प्रतीक है और यह जो प्रेम है वही अगाध-अनन्त नित-नव रस का प्रतीक है। ऐसा मूल्यवान सत्संग क्या हम लोग नहीं अपना सकते? अवश्य अपना सकते हैं। इसलिए सज्जनों! सत्संग-योजना को जीवन में चरितार्थ करने के लिए हम और आप तत्पर हो जाएं। आप कहेंगे कि यदिन हमने बल का दुरुपयोग नहीं किया, तो विश्राम से क्या मिलेगा? आप सोचिए, जैसे सत्य बोलने से परस्पर में विश्वास बढ़ेगा और न बोलने से यह होगा कि इन्द्रियों की शक्ति अपने-आप मन में विलीन होगी, मन की शक्ति अपने आप बुद्धि में विलीन होगी, बुद्धि सम होगी। उसका नाम है योग। उस योग में, आप जानते हैं क्या बात है? सामर्थ्य है, शक्ति है। किस प्रकार की शक्ति है? अगर आप जिज्ञासु हैं, तो उस योग में से स्वतः विचार का उदय होगा और आपकी जिज्ञासा पूरी हो जाएगी। यदि आप भौतिकवादी हैं, तो उसी योग मे से सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होगी और आप कर्तव्य-निष्ठ हो जाएंगे और अगर आप भक्त हैं, आस्तिक हैं, तो उसी योग में से विरह की जागृति होगी और आप को प्रेम की प्राप्ति हो जाएगी। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सत्य है कि बल का दुरुपयोग न करने से अकर्तव्य का नाश होने से साधनपरायणता आएगी; और आसक्ति का नाश होने से परम प्रेम की अभिव्यक्ति होगी।

बल के दुरुपयोग न करने का निर्णय आपने किया, बल का सदुपयोग स्वतः हुआ। जब बल का सदुपयोग होने लगे, तो उसका अभिमान मत करना और उसको सुख के प्रलोभन को रख कर मत करना। यह मत सोचना कि हम बल का सदुपयोग करते हैं, उसके बदले में हमें सुख मिलेगा और उसका यह अभिमान मत करना कि हम बल का सदुपयोग करते हैं। क्यों? अभिमान करने से गुण, दोष हो जाता है; महदूदियत आ जाती है; परिच्छिन्नता आ जाती है और जहां परिच्छिन्नता आती है, वहां अनेक दोष अपने आप आ जाते हैं। एक बात। दूसरी बात यह है कि व्यक्तित्व के मोह वश, व्यक्तित्व के मोह को बढ़ाने के लिए, कि हमारी प्रतिष्ठा हो जाए, कि हमको सम्मान मिल जाए, ख्याति हो जाए, इस भाव

को लेकर इस नाते मत करना; अगर आप अध्यात्मवादी हैं, तो आत्मा के नाते करना; यदि आप आस्तिक हैं तो प्रभु के नाते करना। यह नियम है जिसके नाते कार्य होता है अथवा करते हैं, कर्ता कार्य के अन्त में उसी की प्रीति हो जाता है। यह बड़ी ही सुन्दर बात है। विचार करें, एक गिलास पानी पिलाने से प्रेम की प्राप्ति हो जाती है। कब? यदि वह देह के नाते से नहीं किया गया हो, तब; यदि वह सुख के प्रलोभन के नाते से पानी न पिलाया गया हो, तब। विश्व के नाते से अगर आप पिलाएंगे, तो आपको विश्व-प्रेम मिलेगा; आत्मा के नाते अगर आप पिलाएंगे, तो आपको आत्मरति मिलेगी; और प्रभु के नाते से अगर आप पिलाएंगे, तो आपको प्रभु-प्रेम मिलेगा। आपको मिलेगा प्रेम। आप जानते हैं; प्रेम का जिसमें उदय होता है, उसके लिए भी रस-रूप होता है और जिसके प्रेम प्रति होता है, उसके लिए भी रसरूप होता है। इस दृष्टि से जब जीवन में प्रेम की जागृति होगी, तो आपके जीवन में एक-मात्र नित-नव-रस-ही-रस होगा। यही अपना कल्याण है।

इसलिए भाई मेरे! एक दायित्व जो आज हमारे और आपके ऊपर है कि हम आने जाने हुए असत् का त्याग अवश्य करेंगे, इसके लिए हम लोग पूरी शक्ति लगाकर तत्पर हो जाएं। एक और बात यह है कि कल्पना करो, आपने निर्णय कर लिया कि हम अपने जाने हुए असत् का त्याग करेंगे और किसी कारण न कर सके। नहीं कर सकते हैं, ऐसा नहीं है। यहां मैं आपको बता दूँ कि सिद्धांत रूप से, वैधानिक दृष्टि से यह नियम है कि जाने हुए असत् का त्याग प्रत्येक भाई, प्रत्येक बहन कर सकती है। उस पर भी कल्पना करों कि आप नहीं कर सके, तो न करने की यदि व्यथा आपके जीवन में है, तो आप सच मानिए, उस जाने हुए असत् के त्याग की सामर्थ्य आ जाएगी। तो दो बातें हमारे साथ रहीं-त्याग करें अथवा उसके न करने से पीड़ित रहें। यह जो पीड़ा है न पीड़ा, जिससे हम सब लोग डरते हैं, सच पूछिये तो यही विकास की भूमि है। क्यों? वर्तमान की जो वेदना है, वही भविष्य की उपलब्धि होती है, भविष्य की सत्ता होती है।

इसलिए भाई! मैने कभी किसी किताब में लिखाया था कि

जीवन की दो ही अवस्थाऐं सार्थक हैं- या तो व्याकुलता की अग्नि जलती रहे; अथवा आनन्द की गंगा लहराती रहे। इसलिए आज हमारे और आपके सामने यह मानव-जीवन का एक मौलिक प्रश्न है कि हम मिले हुए बल का दुरुपयोग नहीं करेंगे। अब एक बात ओर सोच लीजिए। बल का उपयोगी जीवन में है क्या? सबल के प्रति आप बल का उपयोग नहीं कर सकते, समान बल के प्रति आप बल का उपयोग नहीं कर सकते। आप विचार करके देखें। आपसे कोई सबल आपको हानि पहुंचा दे, तो आप उसको वीर नहीं कहेंगे। बल का उपयोग ही निर्बल के साथ है, चाहे दो देशों के बीच की बात हो, चाहे दो वर्गों के बीच की बात हो, चाहे दो व्यक्तिओं के बीच की बात हो। बल का उपयोग अगर आप करेंगे, उसका इस्तेमाल तो निर्बल के साथ होगा। तो मैं आपसे पूछता हूं, आप और हम सबल से क्या आशा रखते हैं विनाश की या रक्षा की? आप विचार कीजिए। किसी भाई के हृदय में यह बात नहीं आएगी, किसी बहन के हृदय में यह बात नहीं आएगी कि हम से सबल हमारा विनाश करे। इससे भी यह सिद्ध हो गया कि बल निर्बल की धरोहर है। जब हमारे पास जो बल है वह निर्बल की धरोहर है, तो हमें उसक बल का दुरुपयोग न करने की प्रतिज्ञा अवश्य कर लेनी चाहिए, समस्त दोषों का नाश अपने आप हो जाएगा।

दूसरी बात मुझे यह निवेदन करनी थी कि जो आप जानते हैं, उसका आप अनादर न करें। कौन से भाई यह नहीं जानते, कौन सी बहन यह नहीं जानती कि जो वस्तु आज हमारे पास है, वह आगे नहीं रहेगी, जो पहले थी, वह आज नहीं है? जागृत का सारा साम्राज्य स्वप्न में नहीं है, स्वप्न का सारा साम्राज्य सुषुप्ति में नहीं है, सुषुप्ति की जड़ता समाधि में नहीं है, समाधि का रस असंगता में नहीं है; और असंगता की स्वाधीनता प्रेम की जागृति में नहीं है। कौन नहीं जानता? सब जानते हैं। इसलिए भाई! यह जो आपका-हमारा जाना हुआ है, उसका अनादर न करें। उसी प्रकार सुने हुए प्रभु में, मैं यह नहीं कहता हूँ कि आप श्रद्धा करें, मैं यह नहीं कहता हूं कि आप उसको मान लें, आप न मानें, तो उसे हमारा होकर रहना पड़ेगा, बड़ा आनन्द! लेकिन यह अवश्य कहता हूँ कि सुने हुए प्रभु में अश्रद्धा न करें।

यदि आप सुने हुए प्रभु में अश्रद्धा नहीं करेंगे, तो श्रद्धा जागृत होगी; यदि आप जाने हुए का अनादर नहीं करेंगे, तो विचार का उदय होगा; यदि आप मिले हुए का दुरुपयोग नहीं करेंगे, तो कर्तव्यपरायणता आएगी। कर्तव्यपरायणता, असंगता और आत्मीयता के आने से जीवन की पूर्णता होगी, यह निर्विवाद सत्य है।

दुःख का प्रभाव

दुःख अपना हो या पराया, शारीरिक हो या मानसिक, बड़ा हो या छोटा, अच्छा नहीं लगता। पर क्या किया जाय ? बहुत बुरा लगता है, फिर भी सहना पड़ता है। जीवन को यह एक ऐसा कटु सत्य है कि आज तक इससे कोई बचा नहीं। बिन बुलाये दुःख आता है। आग्रह करने पर भी सुख रहता नहीं, चला ही जाता है। हम गये हुए सुख के लिए तरसते हैं, आये हुए दुःख से घबड़ाकर बिलखते हैं और पुनः सुख आयेगा, इस तृष्णा में जीते हैं। कैसी दयनीय दशा है! आइये, विचारें कि जो दुःख जीवन का अनिवार्य अंग है जिससे कि आज तक कोई बचा नहीं, वह क्या वस्तुतः बुरा है? भयावह है? निन्दनीय है? दुष्कर्मों का दुष्परिणाम है ? भाग्यविधाता का दण्ड-विधान है ? या कि सृष्टिकर्ता की भूल है ?

दुःख का प्रभाव – एक परिचय

उषाकाल-पुत्र-वत्सला की गोद में दुधमुहाँ शिशु, दूध की उष्ण मीठी धार का पान कर आनन्द-विभोर हो रहा था। प्रभात की शीतल, मन्द, सुखद हवा के एक झोंके ने शिशु से पूछा-"जीवन कैसा है नादान?" शिशु ने माँ के आँचल में मुँह छिपाए हुए उत्तर दिया-"माँ के दूध-सा मीठा"।

वसन्त का चढ़ता हुआ दिन-कुञ्ज में विचरती हुई एक नवोढ़ा ने फूल की एक अधखिली कली तोड़कर पास ही खड़े युवक पर फेंकी। युवक मुस्कराया। वसन्त की अलसायी हवा ने दम्पति को स्पर्श करते हुए पूछा-"जीवन कैसा है पगले?" युवक ने रमणी की आँखों में आँखें गड़ाए हुए उत्तर दिया-"यौवन-सा मदमाता।"

पावस की झड़ी, अमावस्या की रात्रि-निर्धन माँ रुग्ण बालक को कलेजे से चिपका कर भी फटे आँचल से बूंदों का प्रहार न रोक सकी। उसके कलेजे का टुकड़ा दम तोड़ गया। अपने थपेड़ों से जीर्ण-शीर्ण झोंपड़ी को झकझोरते हुए बरसाती अन्धड़ ने पूछा-"जीवन कैसा है, हतभागे?" मृत शिशु को कृश छाती से चिपकाये हुए माँ बोली-"काल-रात्रि-सा भयावह।'"

ये हैं जीवन के कुछ चित्र, एक कहानीकार की आँखों से देखे गये। शब्दावली मुझे ठीक-ठीक याद नहीं है, पर भाव स्पष्ट है। प्रात: की मिठास और दोपहरी की मादकता हम सब चाहते हैं, पर रात्रि के निविड़ अन्धकार की भयंकरता कोई नहीं चाहता, क्योंकि दुःख हमें अप्रिय है।

सच है, दुःख अपना हो या पराया, शारीरिक हो या मानसिक, बड़ा हो या छोटा, अच्छा नहीं लगता। पर क्या किया जाय? बहुत बुरा लगता है, फिर भी सहना पड़ता है। जीवन का यह एक ऐसा कटु सत्य है कि आज तक इससे कोई बचा नहीं।

बिन बुलाये दुःख आता है। आग्रह करने पर भी सुख रहता नहीं चला ही जाता है। हम गये हुए सुख के लिए तरसते हैं, आये हुए दुःख से घबड़ाकर बिलखते हैं और पुनः सुख आयेगा, इस तृष्णा में जीते हैं। केसी दयनीय दशा है !

आइये, विचारें कि जो दुःख जीवन का अनिवार्य अंग है जिससे कि आज तक कोई बचा नहीं, वह क्या वस्तुत: बुरा है? भयावह है? निन्दनीय है? दुष्कर्मों का दुष्परिणाम है? भाग्यविधाता का दण्ड-विधान है? या कि सृष्टिकर्ता की भूल है?

सामान्य दृष्टि से ऐसा ही मालूम होता है। हम सब अब तक ऐसा ही मानते रहे हैं। परन्तु यह सोचने की बात है कि दुःख वस्तुतः बुरा होता, तो जीवन में आता क्यों? जर्मन दर्शनकार लिबनिट्ज (Libnitz) ने कहा है-"This is the best possible world Created by God" दुःख यदि बुरा होता तो जीवन में आता तो "The best possible world" में इसका कोई स्थान ही नहीं होना चाहिए था। पर हम सब जानते हैं कि संसार के अधिकांश भाग में दुःख ही भरा है, सुख का हिस्सा बहुत कम है।

तब, फिर दुःख को क्या कहा जाय? प्रस्तुत पुस्तक "दुःख का प्रभाव" में दुःख के इस रहस्यमय स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। अनोखा 'एप्रोच' है, अनूठा दृष्टिकोण है। इसके अनुसार दुःख दुष्कर्मों का परिणाम नहीं है, अपितु कृपा-पूरित विधान की अनुपम देन है।

आप आश्चर्यचकित हो रहे होंगे यह सोचकर कि हमारी दैनिक अनुभूति तो यह है कि सिर की पीड़ा से हम व्यग्र होते हैं, प्रियजनों के वियोग से विकल होते हैं, शोक-सन्ताप में जलते हैं, फिर कैसे माना जाय कि दुःख विधाता की अनुपम देन है? दुःख तो जीवन का अभिशाप मालूम होता है।

ठीक है बन्धु, आपका सोचना भी ठीक है। इसलिए कि अब तक हम सब दुःख भोगते रहे हैं। दुःख का हमने सदुपयोग नहीं किया है, दुःख के प्रभाव से प्रभावित नहीं हुए हैं, अन्यथा जीवन में क्रान्ति आ गयी होती। इतना तो हम सब लोग जानते ही हैं कि लाख उपाय करो-कितना ही नापसन्द करो, दुःख आता ही है। उसको रोकने में हम लोग सर्वथा असमर्थ हैं। जो इतना प्रबल है कि न चाहने पर भी आता ही है, उसको बुरा कहने से अथवा उससे भयभीत होने से अब तक कुछ लाभ नहीं हुआ। हाँ, एक बात सोचने की है कि जिसका काला पक्ष ही हमने देखा है, जिसका अप्रिय पहलू ही हमारी दृष्टि में रहा है, उसका उज्ज्वल पक्ष भी है,

उसका उपयोगी पहलू भी है। उस पर दृष्टि पड़ते ही आप आनन्द से उछल पड़ेगे। युग-युग से बदनाम दुःख का यह उज्ज्वल पक्ष प्रस्तुत पुस्तक में प्रतिपादित है।

इस दृष्टिकोण को समझने के लिए दुःख और उसके प्रभाव के स्वरूप पर विचार करलें-कामना अपूर्ति दुःख है, उससे विकल होना दुःख का भोग है और उससे सजग होना दुःख का प्रभाव है। इसी में सारा रहस्य छिपा है। दुःख स्वयं अपने में न प्रशंसनीय है और न निन्दनीय है। प्रश्न सिर्फ इतना है कि आप दुःख को भोगते हैं या कि उसके प्रभाव से प्रभावित होकर सचेत होते हैं। यदि आप दुःख के भोगी हैं, तो दुःख अभिशाप है। वह कभी आपका पीछा नहीं छोड़ेगा। यदि आप दुःख से प्रभावित हैं, तो दुःख वरदान है। वह आपको दुःख-रहित जीवन से अभिन्न करा देगा।

दुःख के भोग और दुःख के प्रभाव का अन्तर देखिये-कामना-पूर्ति में सुख और कामना-अपूर्ति में दुःख का भास होता है।

(क) दुःख की प्रतीति में सुख की आशा जगे, तो यह दुःख का भोग है। आया हुआ दुःख सुख में भी दुःख का दर्शन करा दे, तो यह दुःख का प्रभाव है। किसी की प्रिय सन्तान की मृत्यु हो जाती है। सन्तति-विहीन होने के दुःख से बचने के लिए वह अन्य सन्तान की आशा करता है। यह दुःख का भोग है। राजकुमार सिद्धार्थ ने एक शव देखा और दुःख अनुभव किया। उन्होंने सोचा 'हम भी मरेंगे' और उन्हें जीवन में ही मृत्यु का दर्शन हो गया। यह दुःख का प्रभाव है। इस प्रभाव ने उन्हें अमरत्व प्रदान किया।

(ख) दुःख का भोग सुख की आशा में आबद्ध रखता है, जिससे दुःखी के दुःख का अन्त नहीं होता। दुःख का प्रभाव सुख की आशा से रहित करता है। दुःख-भोग से जड़ता आती है और दुःख के प्रभाव से चेतना जगती है।

(ग) दुःख को सहन करते रहना दुःख का भोग है। दुःख के

कारण की खोज करना दुःख का प्रभाव है।

(घ) सुख-भोग में आदि से अन्त तक दुःख मिश्रित है। सुख के भोगी को दुःख भोगना ही पड़ता है। अन्तर केवल इतना है कि सुख हम चाहते हैं और दुःख बरबस आता है।

(ङ) प्राकृतिक नियमानुसार आंशिक सुख-दुःख सबके जीवन में है। यदि व्यक्ति आंशिक सुख से प्रभावित हो, तो दुःख का भय एवं भोग होगा। सुख का अर्थ है, कामना-पूर्ति। कामना वह है जो उत्पत्ति-युक्त वस्तु व्यक्ति आदि से आपका सम्बन्ध जोड़ दे। कुछ कामनाएँ सबकी पूरी होती हैं। अर्थात् आंशिक सुख का भास सबको होता है। कामना-पूर्ति-जनित आंशिक सुख के भास को यदि जीवन मान ले, तो उत्पन्न हुई वस्तु—व्यक्ति आदि का नाश होगा। स्वभाव से, परन्तु उनके आश्रित सुख चाहने वाले को घोर सन्ताप होगा उनके अभाव में। यह दुःख का भोग है। यदि व्यक्ति आंशिक दुःख से प्रभावित हो, तो दुःख सदा के लिए मिट जायेगा। दुःख का भोगी दूसरों को दुःख देता है। जिस पर दुःख का प्रभाव हो जाता है, वह किसी को दुःख नहीं देता। वह तो परपीड़ा से करुणित ही होता है।

(च) दुःख आते ही हम सुख के पीछे दौड़ते हैं। यह दुःख के भोग की पहचान है। क्षणिक सुख द्वारा दुःख को दबाना चाहते हैं। दुःख से घबड़ाकर हम करणीय एवं अकरणीय कर्म कर बैठते हैं। परिणाम में अनन्त गुना दुःख पाते हैं। यह दुःख का भोग है। यह विनाश की राह है। दुःख का प्रभाव सुख-लोलुपता का नाश करता है और दुःख को निर्मूल करता है। यह विकास का पथ है।

(छ) दुःखी दुःख काल में भी सुख की सम्भावना मात्र से दुःख सहता रहता है। दुःख को सहते रहना, उसकी निवृत्ति का मार्ग न ढूँढ़ना दुःख का भोग है। सुख के बाद दुःख के दर्शन से आप में यह चेतना क्यों नहीं जगती

कि सुख-दुःख दोनों ही आने-जाने वाले हैं? इनमें स्थिरता नहीं है। अतः हमें दुःख नहीं चाहिए, तो सुख भी नहीं चाहिए। ऐसी सजगता आते ही आपका प्रवेश सुख-दुःख से अतीत के जीवन में हो जायेगा। यह दुःख का प्रभाव है।

(ज) दुःख के एक और नये पक्ष का विवेचन देखिये-सुख के जाने और दुःख के आने के भय से प्राणी त्रस्त रहता है। दुःख के भय से भयभीत रहने का परिणाम यह होता है कि व्यक्ति

१-प्राप्त का सदुपयोग नहीं कर पाता।

२-शक्ति क्षीण होती है।

३-आवश्यक विकास नहीं होता।

४-असावधानी और प्रमाद पोषित होते हैं।

मूल पुस्तक में आपको इन चार बातों की विस्तृत व्याख्या मिलेगी। आप पायेंगे कि आपके जीवन में कितने गहरे पैठ कर अध्ययन किया गया है। हम और आप अब तक करते क्या रहे? दुःख जीवन में समय-समय पर आता रहा, हम उससे भयभीत होते रहे और भय का जो दुष्परिणाम है, वह भी भोगते रहे।

(क) दुःख से भयभीत होने से दुःख मिटता नहीं, अपितु दूना, हो जाता है।

(ख) क्षणिक सुख के द्वारा दुःख को दबाने का प्रयास करने पर भी दुःख मिटता नहीं है। दबा हुआ दुःख कई गुना बड़ा होकर पुनः सामने आता है। दुःख के भय से भयभीत होना दुःख का भोग है। दुःख का प्रभाव सुख के स्वरूप का स्पष्ट दर्शन कराता है। सुख के स्वरूप का बोध होते ही सुख की लोलुपता मिट जाती है। दुःख का प्रभाव सुख का नाश नहीं करता, सुख की लोलुपता को मिटाता है। तब दुःख का भय मिट जाता है तथा असमर्थता, अकर्तव्य और आसक्ति का अन्त हो जाता है, जो विकास का मूल है।

(ग) दुःख के महत्व को न जानने से दुःख का भय होता है। दुःख का महत्व जान लेने पर दुःख का प्रभाव होता है। अत: दुःख का

भय व्यर्थ ही नहीं, महा अनर्थकारी है। इसलिए आये हुए दुःख के भय से भयभीत न होकर उसके प्रभाव से प्रभावित होना अनिवार्य है।

कामना-पूर्ति का सुख हमारी माँग नहीं है। वह तो हमारा प्रमाद है। हमारी माँग है-दुःख-निवृत्ति, चिर-विश्राम, पूर्ण-स्वाधीनता एवं परम-प्रेम, जो कि वास्तविक जीवन है। उसकी उपलब्धि किसी अभ्यास से नहीं होती, अपितु दुःख के प्रभाव से होती है। हम और आप मानव हैं, वास्तविक जीवन से अभिन्न होना चाहते हैं। अपने जाने हुए असत् के संग के त्याग के बिना असाधन नहीं मिटेगा, यह भी हम सब लोग जानते हैं। फिर भी साधक-समाज में यह सर्व-सामान्य प्रश्न (Common Question) उपस्थित रहता है कि देह का अभिमान कैसे छोड़े? सुख की लोलुपता कैसे तोड़े? काम, क्रोध, लोभ, मोह से रहित कैसे हों? वस्तु-व्यक्ति आदि का आश्रय कैसे छोड़ें? प्रभु में अविचल आस्था कैसे करें? कैसी विडम्बना है! हम यह सब कर सकते हैं, फिर भी न मालूम क्यों कठिन बताते हैं। बहुत समय लग जाता है, समस्या हल नहीं होती।

ऐसे कठिन समय में दुःख का प्रभाव' आपकी सहायता करता है। विचार के द्वारा जिस सुख का राग नहीं मिटता, वह दुःख के प्रभाव से सहज ही मिट जाता है। दुःख का प्रभाव जिस पर हो जाता है, उसकी जन्म-जन्मान्तर की जड़ता पल भर में टूट जाती है, प्रमाद मिट जाता है, चेतना जग जाती है। सही अर्थ में सत्संग हो जाता है। एक और बड़ी विशेषता यह होती है कि दुःखी को अपने गुणों का अभिमान नहीं होता, अर्थात् उसे यह भास नहीं होता कि मैंने त्याग किया है। "मैं त्यागी हूँ-यह साधन पथ की एक बहुत बड़ी बाधा है। दुःख का प्रभाव इस बाधा को सहज ही मिटा देता है। दुःख का प्रभाव साधक को किस प्रकार वास्तविक जीवन से अभिन्न करता है, इसकी विशद् व्याख्या आपको प्रस्तुत पुस्तक में विभिन्न खण्डों में विभिन्न प्रकार से मिलेगी और आप दुःख की महिमा से अभिभूत हो उठेगे।

इस प्रकार दुःख के महत्व से परिचित हो जाने के बाद आप नहीं कह पायेंगे कि दुःख बुरा है। अब

विचार करें कि दुःख क्या है? केवल दुःख किसी व्यक्ति को कभी नहीं मिला। सुख एवं दुःख मिश्रित परिस्थितियाँ बनती हैं। प्रस्तुत पुस्तक में सुख और दुःख के सम्बन्ध पर प्रकाश डालते हुए जीवन के इन अविच्छिन्न पहलुओं का वैज्ञानिक विवेचन किया गया है। यह दिखलाया गया है कि

1. सुख-काल में जो सुख के चले जाने की विस्मृति होती है, उसी से दुःख आता है।
2. मंगलमय विधान से दुःख बार-बार इसलिए आता है कि सुख का प्रलोभन मिटे, रस की अभिव्यक्ति हो, जो मानवमात्र की मौलिक माँग है।
3. जब हम अपनी मौलिक माँग को भूलकर सुख में लिप्त हो जाते हैं, तब हमें सजग करने के लिए दुःख आता है।
4. सुख के स्वरूप का बोध कराने के लिए दुःख आता है। सुख की वास्तविकता का बोध होने पर मौलिक माँग की पूर्ति की लालसा तीव्र होती है। तब हमें जीवन मिलता है। अत: आया हुआ दुःख प्रकृति का दण्ड-विधान नहीं है, अपितु ऐसा अनुपम उपहार है कि जिसको पाकर ही व्यक्ति कृतार्थ होता है।
5. जो अनन्त सभी का परम सुहृद है, उसी के विधान से दुःख आता है। अनन्त का विधान मंगलमय है। उसमें क्रोध अथवा प्रतिशोध नहीं है। तब भला, दुःख उसका बनाया हुआ दण्ड-विधान कैसे हो सकता है? दुःख का विवेचन करते हुए पुस्तक के प्रणेता ने यहाँ तक कह दिया है कि सुख-लोलुपता में फंसकर जब हम अपने लक्ष्य को भूल जाते हैं, तो स्वयं दुःखहारी प्रभु ही दुःख के वेश में दर्शन देते हैं और हमें सचेत बनाकर सदा के लिए दुःख-रहित कर देते हैं। इस दृष्टि से दुःख और दुःखहारी प्रभु एक हैं। इतना गहरा अर्थ है हमारे जीवन में आए हुए दुःख का।

दुःख अनेक प्रकार से हमारे जीवन में आता है। एक प्रकार का दुःख अपनी की हुई भूल से उत्पन्न होता है। इस दुःख से दुःखी अधीर हो जाता है। उसके स्वाभिमान को गहरी ठेस लगती है। समाज की ओर से भी

तिरस्कार पाता है। अपनी दृष्टि में भी आदर के योग्य न रहने की असह्य व्यथा पाता है। ऐसा दुःखी भी यदि आए हुए दुःख के अर्थ को अपनाकर की हुई भूल को न दोहराने का दृढ़-संकल्प कर लेता है, तो उसकी वर्तमान निर्दोषता सुरक्षित हो जाती है। की हुई भूल के गहरे पश्चाताप की जलन दुःखी के भीतर से सुख की रुचि को भस्म कर देती है। सब ओर से तिरस्कृत दुःखी सहज ही काम-रहित होकर चिर-विश्राम पाता है, जो सब प्रकार के विकास की भूमि है।

दूसरे प्रकार का दुःख परिस्थितिजन्य होता है। इसमें दुःखी की भूल हेतु नहीं होती। इस तरह के प्राकृतिक दुःख से दुःखी व्यक्तियों के प्रति विश्व की ओर से करुणा की धारा बहती है। उनको आवश्यक आदर, प्यार तथा सहयोग भी मिलता है। उनका स्वाभिमान भी सुरक्षित रहता है। ऐसे दुःखी व्यक्ति यदि मिले हुए आदर, प्यार एवं सहयोग को अपनी खुराक बना लेते हैं, तो उनका दुःख निर्जीव हो जाता है। इसके विपरीत यदि वे प्राकृतिक घटनाचक्र को देखकर उसके स्वरूप पर विचार करते हैं, तो दुःख सजीव रहता है और वे सहज ही दुःख के प्रभाव को अपनाकर दिव्य चिन्मय जीवन से अभिन्न हो जाते हैं, जो मानव-मात्र का परम लक्ष्य है।

तीसरे प्रकार का दुःख विचार जन्य होता है। विचारशील व्यक्ति संयोग में वियोग, जीवन में मृत्यु एवं सुख में दुःख का दर्शन कर वास्तविक जीवन से अभिन्न होने के लिए व्याकुल हो उठता है। यह व्याकुलता, कामना-निवृत्ति, जिज्ञासा-पूर्ति एवं प्रेम-प्राप्ति में हेतु होती है।

अत: दुःख चाहे जैसा हो, उसका प्रभाव व्यक्ति के लिए परम कल्याणकारी है। दुःख स्वरूप से न्यूनाधिक भी नहीं है। दुःख वास्तव में दुःख ही है। अधिक दुःख होने से प्रभाव होगा, कम दुःख होने से प्रभाव नहीं होगा-ऐसा नियम नहीं है। दुःख का प्रभाव सावधान व्यक्तियों पर होता ही है। एक बार दुःख का प्रभाव हो जाता है, तो दुःख सदा के लिए मिट जाता है।

सुख-भोग की रुचि ही दुःख का मूल है। परन्तु कैसी आश्चर्य की बात है कि मूल (सुख-भोग) को हम लोग अपना सब कुछ देकर सुरक्षित रखना चाहते हैं, पर उसका जो फल

(दुःख) है, उसे नहीं चाहते। यह सर्वथा असम्भव है। यही कारण है कि सुख को बनाए रखने में आज तक कोई सफल नहीं हुआ, क्योंकि सुख वस्तुतः दुःख-रूप ही है या यों कहें कि सुख है ही नहीं। हम व्यर्थ ही उसकी दासता स्वीकार कर अपने को दुःख के प्रभाव से वंचित कर लेते हैं।

विचार करिए-कामना-पूर्ति में सुख का भास और कामना-अपूर्ति में दुःख की प्रतीति होती है। कामना उत्पत्ति से संक्षोभ उत्पन्न होता है। हम तनाव (Tension) अनुभव करते हैं। कामना-पूर्ति के लिए क्रियाशील हो उठते हैं। कभी-कभी कामना पूरी हो जाती है, पर साथ ही भोगने की शक्ति का ह्रास एवं भोग्य वस्तु का विनाश आरम्भ हो जाता है। भोगे हुए सुख के कारण नवीन कामनाओं की उत्पत्ति हो जाती है।

कामना-उत्पत्ति के आरम्भ एवं अन्त में दुःख है। बीच में कुछ क्षण के लिए सुख का भास होता है, जो दुःख की अपेक्षा अति अल्प है। इसमें गहरे रहस्य की बात यह है कि कामना-पूर्ति के क्रम में बीच में क्षण भर के लिए सुख का भास होता है। वह भी कामना-पूर्ति का सुख नहीं है। हम प्रमादवश उस सुखाभास को कामना-पूर्तिजनित मान लेते हैं। फलस्वरूप नवीन कामनाओं के शिकार होते हैं। सुख वस्तुतः कामना-पूर्ति में है ही नहीं। कुछ क्षण के लिए जो सुख का भास होता है, वह कामना-उत्पत्ति के तनाव (Tension) के ढीले (Released) होने का सुख है। वस्तुत: वह क्षण निष्कामता का होता है, जिस समय कि कोई कामना हमें उद्वेलित करती हुई नहीं होती। कैसी अद्‌भुत बात है !

मानव कामना से प्रेरित होकर भीतरी एवं बाहरी द्वन्द्व का शिकार इसलिए होता रहता है कि वह सुख को कामना-पूर्ति का ही परिणाम मानता रहता है। यही कारण है कि राष्ट्रों के नवनिर्माण की जितनी बड़ी-बड़ी योजनाएँ आज चल रही हैं, सबमें मुख्य उद्देश्य यह रखा गया है कि जन-समूह की इच्छापूर्ति की सामग्री सुगमता से उपलब्ध कराई जाय। परन्तु जितनी ही सामग्री बढ़ती जाती है, उतनी ही जरूरतें भी बढ़ रही हैं। समस्या हल नहीं हो रही है। मेरा तो ऐसा विश्वास है कि आज का विचारशील व्यक्ति इस रहस्य को जान

ले, तो वह बहुत ईमानदारी से सहज ही कामनाओं का त्याग कर सकता है।

मनोविज्ञानवेत्ता इस रहस्य से अनजान हैं। यदि वे इस रहस्य को समझ लें, तो फिर उनकी एक बहुत बड़ी समस्या सुलझ जाय कि मानसिक ग्रन्थियों (Mental Complexes) को समूल कैसे जाय? मानसिक रोगों की जितनी भी चिकित्सा-पद्धतियाँ निकली हैं, उनमें-से कोई भी रोग को समूल मिटा देती हो-ऐसा अब तक प्रमाणित नहीं हुआ है। कामना-पूर्ति में सुखाभास मानने की भूल जब तक मनुष्य के जीवन में रहेगी, तब तक उसका मस्तिष्क, मस्तिष्क की गुत्थियों से मुक्त (Complex free) हो ही नहीं सकता। कामना-पूर्ति में सुख नहीं है, कामना-निवृति में विश्राम है। यह भेद समझ लेने पर सभी सहज ही निष्कामताजनित विश्राम पाकर। कृतकृत्य हो सकते हैं। ऐसा अद्‌भुत है सुख-दुःख का यह विवेचन।

गवेषणापूर्वक विचार करने पर स्पष्ट विदित होता कि कामना-पूर्ति में सुख की प्रतीति मृग-मरीचिका के तुल्य है। दुःख के प्रभाव से यह भ्रम मिट जाता है। अत: दुःख बड़ा ही महत्वपूर्ण है।

अब आप सोचेंगे कि जो दुःख इतना महत्वपूर्ण एवं कल्याणकारी है और जो हम सबको बिना माँगे मिलता भी है, उसका प्रभाव हम सब पर क्यों नहीं होता?

हम ऐसा तो नहीं कह सकते कि दुःख का प्रभाव व्यक्तियों पर हुआ नहीं और होता नहीं है। हमारे सम्मुख अनेक ऐसे उदाहरण हैं, जिनमें हम पायेंगे कि दुःख के प्रभाव ने व्यक्ति को बहुत ऊँचा उठाया है। यदि मैं ऐसा कहूँ कि दुःख के प्रभाव के बिना आज तक किसी का विकास हुआ ही नहीं, तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

किसी भी महान् पुरुष के चरित्र को देखा जाय, तो उसके विकास के मूल में दुःख का प्रभाव उपस्थित है। विचारणीय प्रश्न केवल यह कि जिस दुःख के प्रभाव से वे महापुरुष प्रभावित हुए, वही दुःख हमारे आगे आकर क्यों व्यर्थ गया? इस प्रश्न का भी बहुत ही वैज्ञानिक समाधान आपको प्रस्तुत पुस्तक में मिलेगा। दुःख के प्रभाव में बाधा क्या है? कौन व्यक्ति दुःख के प्रभाव से प्रभावित होता है? इस सम्बन्ध में यह कहा गया है कि दुःख का प्रभाव उन्हीं सावधान प्राणियों पर होता है

(१) जो जीवन में हार स्वीकार नहीं करते,
(२) जो लक्ष्य से निराश नहीं होते,
(३) जो विकास में अविचल आस्था रखते हैं,
(४) जो परिस्थितियों के आधार पर अपना मूल्यांकन नहीं करते;
(५) जो दुःखद घटनाओं के अर्थ पर दृष्टि रखते हैं और उनका अध्ययन करते हैं,
(६) जिनसे दुःख किसी भी प्रकार सहन नहीं होता। लक्ष्य की विस्मृति हो जाय, तो दुःख का प्रभाव नहीं होता। सुख-भोग जीवन है, इस प्रमाद से लक्ष्य की विस्मृति होती है। सुख की वास्तविकता और दुःख का महत्व जान लेने पर लक्ष्य की स्मृति आती है, तब दुःख का प्रभाव होता है।

जो सजग पुरुष दुःख की महिमा को जानते हैं, वे अपना सुख देकर दूसरों का दुःख अपनाते हैं। पर-पीड़ा से पीड़ित होने पर जीवन में अनन्त ऐश्वर्य एवं माधुर्य का प्रादुर्भाव होता है। ऐश्वर्य तो इतना कि उस व्यक्ति को किसी की आवश्यकता नहीं रह जाती और माधुर्य इतना कि सारा विश्व उसका अपना हो जाता है। सबकी व्यथा उसकी अपनी व्यथा होती है। करुणा और उदारता से वह परिपूर्ण होता है। आवश्यकता केवल दुःख को अपनाने की है। दुःख चाहे अपना हो अथवा पराया, उसके प्रभाव से प्रभावित होते ही जागृति आती है, प्रमाद मिटता है, विवेक का आदर करने की सामर्थ्य आती है और दुःख-निवृत्ति, चिर विश्राम, पूर्ण स्वाधीनता एवं परम प्रेम से अभिन्नता होती है, जो मानव मात्र का परम लक्ष्य है। अत: दुःख के प्रभाव की महिमा अपरम्पार है। मेरे लिए तो यह रत्न-चिन्तामणि सिद्ध हुआ है।

पुस्तक होती है किसी विषय की विस्तृत व्याख्या और भूमिका होती है उसका संक्षिप्त परिचय अथवा सारांश एवं लेखक की दृष्टि से पुस्तक के गुण-दोष का उल्लेख। मैंने जो भूमिका आपके सामने प्रस्तुत की है वह केवल इस दृष्टि से कि पुस्तक समझने में सुगमता हो। "दुःख का प्रभाव" मूल पुस्तक दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक एवं वैज्ञानिक सूत्रों में लिखी गई है। प्रत्येक खण्ड और कहीं-कहीं पर प्रत्येक वाक्य ऐसे सारगर्भित

हैं कि उनका सारांश लिखने के बदले उनकी व्याख्या करने की आवश्यकता पड़ गई है। साथ ही यह संकोच भी है कि भूमिका बहुत बड़ी न हो जाय। दोनों उद्देश्यों का निर्वाह करते हुए मैंने मूल पुस्तक में प्रतिपादित नवीन, क्रान्तिकारी दृष्टिकोण को उपस्थित करने की चेष्टा की है।

पुस्तक के गुण-दोष का विवेचन मैं क्या कर सकती हूँ! एक ही बात अनेक पहलुओं से सोची गई है। हमारे जीवन के ही इतने चित्र इसमें चित्रित हैं, इतने भाव हैं और उन पर इतने विचार हैं कि सबको मैं एक बार में 'ग्रास्प' ही नहीं कर सकी, सब मेरी पकड़ में नहीं आये। उनका समुचित मूल्यांकन तो कर ही क्या सकती हूँ!

हाँ, इतना कह सकती हूँ कि प्रस्तुत पुस्तक में प्रतिपादित दृष्टि के द्रष्टा ने दुःख को अपने जीवन में ऐसा ही पाया है। बाल्यकाल में ही दुःख विकट रूप में आया, अरमानों को गहरी ठेस लगी और जीवन की खोज आरम्भ हो गई। उस दुःख ने उन्हें वहाँ पहुँचा दिया, जहाँ दुःख का लेश नहीं है, चिर-विश्राम है, पूर्ण स्वाधीनता है और नित-नव प्रेम का रस लबालब भरा है। इसलिए "दुःख के प्रभाव" में जो कुछ कहा गया है, वह अनुभूत सत्य है, अतिशयोक्ति अथवा अनुमान नहीं है। इसलिए मुझे अतिशय प्रिय है।

मानव सेवा संध, माध मेला कैम्प, प्रयाग

१६-१-६१
विनीता:
देवकी

दुःख का प्रभाव:

प्राकृतिक नियमानुसार जो न चाहने पर भी प्रत्येक प्राणी के जीवन में आ ही जाता है, वही दुःख है और जो चाहते हुए भी नहीं रहता, वही सुख है। ऐसे दुःख-सुख को बलपूर्वक रोकना अथवा बनाये रखना किसी भी प्राणी के लिए सम्भव नहीं है। जिसका रोकना सम्भव नहीं है, उसका आदर पूर्वक स्वागत करना अनिवार्य है और जिसके सुरक्षित रखने में सभी असमर्थ हैं, उसमें जीवन-बुद्धि स्वीकार करना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह नियम है कि जिसे बलपूर्वक नहीं रोक पाते, उसके आने पर भयभीत होना और जो न चाहते हुए भी चला जाता है, उसकी दासता का अंकित होना-साधारण प्राणियों के लिए स्वाभाविक-सा है, यद्यपि वास्तविक माँग की खोज करने पर स्पष्ट विदित होता है कि भय तथा दासता से युक्त जीवन किसी को भी अभीष्ट नहीं है।

इस दृष्टि से मानव-जीवन की मौलिक माँग सब प्रकार के भय तथा दासता से मुक्त होना है। मंगलमय विधान के अनुसार माँग की पूर्ति प्रत्येक परिस्थिति में सम्भव है। कामना-पूर्ति कामना के अनुरूप परिस्थिति में ही सम्भव है, परन्तु माँग की पूर्ति प्रत्येक परिस्थिति में होती है। अतएव परिस्थिति-भेद होने पर माँग की पूर्ति से निराश होना अथवा किसी परिस्थिति विशेष का आह्वान करना असावधानी तथा भूल से भिन्न और कुछ नहीं है।

भयभीत होने पर प्राप्त सामर्थ्य, योग्यता तथा वस्तु का सद्व्यय नहीं हो पाता और प्राकृतिक नियमानुसार भयभीत होने से आवश्यक विकास भी नहीं होता, कारण, कि भय से शक्ति क्षीण होती है और असावधानी और प्रमाद पोषित होते हैं, जो विनाश का मूल है। भय का सर्वांश में नाश करने के लिए अपने-आप आये हुए दुःख का प्रभाव आवश्यक है, उसका भोग नहीं। दुःख का भोग गये हुए सुख की दासता तथा लोलुपता एवं उसकी आशा में आबद्ध करता है। जिसे किसी भी प्रकार न रख सकें, उसकी दासता, लोलुपता एवं आशा करना किसी के लिए भी हितकर नहीं है। इस दृष्टि से दुःख के

भय तथा सुख की दासता का मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

सुख की दासता के रहते हुए दुःख का भय किसी भी प्रकार मिट नहीं सकता। इस कारण सुख की दासता का अन्त करना अनिवार्य है। सुख की दासता आये हुए सुख को सुरक्षित नहीं रख पाती, फिर भी सुख का भोगी उसका त्याग नहीं करता। यह कैसी विडम्बना है ! सुख की दासता ही दुःख का भोग कराती है, दुःख का प्रभाव नहीं होने देती। दुःख का प्रभाव सुख-काल में भी सुख की दासता से मुक्त कर देता है। इस दृष्टि से आये हुए दुःख का प्रभाव विकास का मूल है। पर यह रहस्य वे ही जान पाते हैं, जिन्होंने सुख-दुःख की वास्तविकता को भलीभाँति निज-विवेक के प्रकाश में अनुभव किया है।

वस्तुत: दुःख का भय ही दुःखी को दुःख के भोग में प्रवृत्त करता है, उसका प्रभाव नहीं होने देता। जिस अनुकूलता के जाने का दुःख है, क्या वह अनुकूलता किसी भी प्रयास से सुरक्षित रह सकती है? कदापि नहीं। जिस प्रतिकूलता से प्राणी भयभीत है, क्या वह सदैव रहेगी? कदापि नहीं। प्रतिकूलता, अनुकूलता की दासता का अन्त करने के लिए आती है। उससे भयभीत होना भूल है। अनुकूलता करुणित बनाने के लिए आती है। उसका भोग करना प्रमाद है। इस दृष्टि से अनुकूलता तथा प्रतिकूलता सदैव नहीं रहेंगी। इन दोनों का सदुपयोग अनिवार्य है। इनमें जीवन-बुद्धि स्वीकार करना असावधानी है। असावधानी के समान और कोई बात अहितकर नहीं है। असावधानी का मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। इस कारण वर्तमान में ही सजगतापूर्वक असावधानी का अन्त करना अनिवार्य है। निज-विवेक के अनादर से ही असावधानी उत्पन्न होती है। असावधानी किसी और की देन नहीं है और न किसी कर्म-विशेष का ही फल है, अपितु उत्पन्न हुई असावधानी निज-विवेक का आदर करने पर स्वत: नष्ट हो जाती है। दुःख का प्रभाव निज-विवेक के आदर में हेतु है और दुःख का भोग अविवेक को पोषित करता है।

दुःख का प्रभाव सुख-लोलुपता का अन्त कर मानव को सुख की आशा से मुक्त कर देता है। सुख की आशा से रहित होते ही सुख-दुःख से अतीत के जीवन की तीव्र जिज्ञासा

तथा उत्कट लालसा जाग्रत होती है, जो विकास का मूल है।

सुख के न रहने अथवा उसके चले जाने की सम्भावना से दुःख की प्रतीति होती है। दुःख की प्रतीति होने पर यदि असावधानी से सुख की आशा उत्पन्न हो गई, तो दुःख का भोग होगा, प्रभाव नहीं। यदि आये हुए दुःख ने सुख की आशा को उत्पन्न नहीं होने दिया, अपितु प्राप्त सुख में भी दुःख का दर्शन करा दिया, तो यह दुःख का प्रभाव है। सुख में दुःख का दर्शन होते ही सुख के भोग की रुचि का नाश होता है, जिसके होते ही सुख-लोलुपता तथा सुख की आशा शेष नहीं रहती और फिर स्वत: दुःख का प्रभाव, दुःख का अन्त कर वास्तविक जीवन से साधक को अभिन्न कर देता है। दुःख का भोग दुःखी को न तो सुखी कर पाता है और न दुःख का ही अन्त होता है, अपितु बेचारा दुःख का भोगी सुख की आशा में ही आबद्ध रहता है। इस दृष्टि से दुःख का भोग दुःखी का अहित ही करता है। दुःख के प्रभाव तथा उसके भोग का अन्तर स्पष्ट हो जाने पर प्रत्येक दुःखी दुःख के प्रभाव को अपनाकर कृतकृत्य हो सकता है। दुःख का भोग जड़ता और दुःख का प्रभाव चेतना प्रदान करता है। सुख के भोगी को दुःख विवश होकर भोगना ही पड़ता है। सुख-भोग की रुचि बनाये रखने पर दुःख का भोग होता ही रहता है। इस कारण सुख-भोग की रुचि का नाश अनिवार्य है, जो दुःख के प्रभाव से ही सम्भव है।

प्राकृतिक नियमानुसार सर्वांश में कोई भी परिस्थिति सुखमय तथा दुःखमय नहीं होती, अर्थात् उत्पन्न हुई प्रत्येक परिस्थिति आंशिक सुख तथा दुःख से युक्त है। आंशिक दुःख जब आंशिक सुख के प्रलोभन को सुख-काल में ही नष्ट कर देता है, तब उसे दुःख का प्रभाव समझना चाहिए। दुःख के रहते हुए और यह जानते हुए कि आया हुआ आंशिक सुख किसी भी प्रकार नहीं रहेगा, सुख-भोग की रुचि तथा उसकी आशा रखना दुःख का भोग है। सुख-काल में भी सुख-भोग का त्याग पुरुषार्थ से साध्य है। किन्तु दुःख के प्रभाव के बिना सर्वांश में दुःख का नाश किसी भी प्रकार साध्य नहीं है।

दुःख में सुख की आशा दुःख का भोग है। सुख में दुःख का दर्शन दुःख का प्रभाव है। भूख से पीड़ित प्राणी भोजन की आशा में सुख का

अनुभव करने लगता है। यद्यपि सुख स्वरूप से नहीं होता, तथापि सुख-भोग की स्मृति उसे दुःख-काल में भी सुख का भास कराती है। उसी प्रकार सुख का भोग करते हुए सुख के न रहने की अनुभूति, सुख में ही दुःख का दर्शन कराती है, जिस प्रकार संयोग-काल में ही वियोग का भय होने लगता है। दुःख का प्रभाव सजगता और दुःख का भोग जड़ता प्रदान करता है। सजगता असावधानी को नष्ट करती है, क्योंकि वह चिन्मय जीवन की ओर अग्रसर करती है। जड़ता चिन्मय जीवन से विमुख कर, मानव को सुख के प्रलोभन, दासता और आशा में आबद्ध करती है। जड़ता से चेतना की ओर अग्रसर होने के लिए दुःख के भोग का अन्त कर, उसके प्रभाव को अपनाना अनिवार्य है।

अपने आप जाने वाला जो सुख है, उसके न रहने का अनुभव यदि सुख-काल में ही कर लिया जाय, तो बहुत ही सुगमता-पूर्वक सुख के भोग का नाश और दुःख के प्रभाव की अभिव्यक्ति हो सकती है। सुख-काल में सुख के जाने की विस्मृति ने ही दुःख का आह्वान किया है। इस कारण सुख का भोग करते हुए कोई भी प्राणी किसी भी प्रकार से दुःख से बच ही नहीं सकता, यह निर्विवाद सत्य है। प्राकृतिक नियमानुसार कोई भी प्रतीति तथा भास स्वरूप से स्थिर नहीं है। उसकी उत्पत्ति तथा विनाश का जो क्रम है, उससे ही स्थिरता का भास होता है। किन्तु सुख के आदि और अन्त में दुःख स्वभाव से उस समय तक रहता ही है, जब तक सुख में अथवा उसके भोग में आस्था है। आस्था प्राणी को उसके अस्तित्व का भास कराती है, जिसमें वह आस्था करता है।

जब तक सुख में आस्था रहेगी, तब तक सुख का अस्तित्व प्रतीत होगा। यद्यपि प्राकृतिक नियमानुसार उत्पन्न हुई प्रत्येक प्रतीति निरन्तर परिवर्तनशील है, तथापि सुखासक्ति सतत परिवर्तन में भी स्थिरता का भास कराती है। सुख की स्थिरता का भास सुख में जीवन-बुद्धि उत्पन्न करता है, जिसके उत्पन्न होते ही सुख का महत्व बढ़ जाता है और फिर बेचारा प्राणी विवश होकर अपने आप जाने वाले सुख के पीछे दौड़ने लगता है, यद्यपि उसे पकड़ नहीं पाता। परन्तु अल्पकाल की समीपता की अनुभूति, न रहने वाले सुख से निराश नहीं होने

देती। सुख की आशा सुख से भी अधिक मधुर प्रतीत होती है। उस मधुरिमा में आबद्ध प्राणी सुख-भोग के लिए बड़े-बड़े दुःखों को सहन कर सकता है। उस पर भी सुख का भोग तथा उसकी आशा परिणाम में दुःख ही प्रदान करती है। इस दृष्टि से सुख में ही दुःख विद्यमान है और दुःख से ही सुख का भास होता है। सुख और दुःख, दोनों की वास्तविकता के बोध में सुख की दासता तथा दुःख के भय का नाश है।

रस जीवन की माँग है और सुख तथा दुःख भोग हैं। भोग का परिणाम रोग तथा शोक है, जो किसी भी प्राणी को अभीष्ट नहीं है। सुख संकल्प-पूर्ति की एक दशा मात्र है और कुछ नहीं। संकल्प शुद्ध हो अथवा अशुद्ध, लघु हो अथवा महान् किन्तु संकल्प-पूर्ति का सुख समान ही है। इसी कारण शुभाशुभ प्रवृत्तियाँ सुख के भोगी में जीवित रहती हैं। यदि संकल्प-पूर्ति के अतिरिक्त सुख का कोई और अस्तित्व होता, तो शुभाशुभ प्रवृत्तियों का विभाजन स्वत: हो जाता। इतना ही नहीं, उत्पन्न हुई अशुभ प्रवृत्तियाँ नष्ट हो जातीं और पुनः उत्पन्न न होतीं। जीवन में केवल शुभ प्रवृत्तियाँ रह जातीं। परन्तु बेचारा सुख का भोगी सर्वांश में न अशुभ प्रवृत्तियों का नाश ही कर पाता है और न शुभ प्रवृत्तियों की दासता से ही मुक्त हो पाता है। प्रवृत्ति रहते हुए रस के साम्राज्य में प्रवेश ही नहीं होता। इस दृष्टि से सुख और रस में बड़ा भेद है। इतना ही नहीं, रस की अनेक श्रेणियाँ हैं। परन्तु सुख में कोई श्रेणी नहीं है।

परिस्थिति-भेद से बेचारा प्राणी केवल अनुमान करता है कि अमुक व्यक्ति विशेष सुखी है। विशेषता और न्यूनता परिस्थितियों के बाह्य स्वरूप में है। सुख का भास वास्तव में परिस्थिति-जन्य नहीं है, केवल संकल्प-पूर्तिजन्य है। सभी संकल्पों की पूर्ति किसी भी प्रकार किसी भी परिस्थिति में सम्भव नहीं है। तो फिर सुख के अस्तित्व को स्वीकार करना कहाँ तक युक्तियुक्त है? अस्तित्वहीन आभास मात्र सुख के पीछे दौड़ना रस से विमुख होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। न चाहने पर भी बार-बार दुःख का प्रादुर्भाव मंगलमय विधान से सुख की दासता का नाश करने के लिए ही मानव के जीवन में होता है। पर बेचारा प्राणी प्रमादवश आये हुए दुःख से भयभीत

और जाने वाले सुख की दासता में आबद्ध होकर नित-नव रस से, जो जीवन की वास्तविक माँग है, वंचित रह जाता है; यद्यपि रस की माँग नष्ट नहीं होती, दब जाती है और फिर नीरसता मानव को सुख का भिखारी बना देती है। नीरसता का अन्त वर्तमान में सम्भव है; किन्तु सुख का सम्पादन भविष्य की आशा पर ही निर्भर रहता है। भविष्य की आशा वर्तमान की वास्तविक व्यथा को शिथिल बनाती है।

व्यथा की शिथिलता में सजगता नहीं रहती। उसके बिना सुख और रस का भेद स्पष्ट नहीं होता। उसके बिना हुए न तो रस की माँग ही सर्वांश में जाग्रत होती है और न सुख की आशा का ही अन्त होता है। सुख के सम्पादन के लिए श्रम, संग्रह, पराधीनता एवं जड़ता आदि दोष अपेक्षित हैं, किन्तु अगाध, अनन्त, नित-नव रस के प्रादुर्भाव के लिए केवल विश्राम, स्वाधीनता तथा प्रेम की जागृति अपेक्षित है। दुःख का प्रभाव अत्यन्त सुगमतापूर्वक मानव को विश्राम, स्वाधीनता तथा प्रेम का अधिकारी बना देता है। पर यह रहस्य वे ही जान पाते हैं, जिन्होंने आये हुए दुःख का आदरपूर्वक स्वागत किया है और गये हुए सुख को धीरजपूर्वक विदाई दी है। दोष-जनित सुख दोषों को बनाये रखने पर भी सुरक्षित नहीं रहता, अर्थात् कोई भी प्राणी सदैव दोषी होकर भी सुख का भोग नहीं कर सकता है। आया हुआ सुख चला जाता है और उसका भोगी बेचारा दोषी बनकर ही रह जाता है। यद्यपि अपने को सदा के लिए सर्वांश में दोषी बनाये रखना किसी को भी अभीष्ट नहीं है, तथापि सुख की दासता से वह अपने में अपराधी-भाव स्वीकार कर, निर्दोषता से निराश हो जाता है। इस कारण सुख-भोग का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। सुख का आना और जाना तभी उपयोगी तथा हितकर सिद्ध होते हैं, जब मानव सुख का भोगी न होकर, उसकी वास्तविकता का अनुभव कर, आये हुए सुख द्वारा सेवा-परायण हो जाय। सेवा-सामग्री का भोगी हो जाना, मानवता से पशुता की ओर अग्रसर होना है।

दुःख का प्रभाव पशुता का अन्त कर सोई हुई मानवता जगाने में समर्थ है। यह तभी सम्भव होगा, जब मानव यह स्वीकार करे कि आया हुआ

सुख अपने लिए नहीं है, अपितु दुःखियों की धरोहर है। सुख-दुःख-युक्त परिस्थिति में से जब सुखांश सेवा में व्यय हो जाता है, तब मंगलमय विधान से केवल दुःख दुःखी को उस जीवन से अभिन्न कर देता है, जो सुख-दुःख से अतीत दिव्य और चिन्मय है, जिसमें जड़ता, पराधीनता तथा अभाव की गन्ध भी नहीं है और जो अकर्तव्य, असाधन एवं आसक्तियों से रहित है।

कामना-पूर्ति और अपूर्ति की परिस्थितियों से तादात्म्य स्वीकार करना अपने को सुख की दासता तथा दुःख के भय में आबद्ध करना है। इस कारण कामना-पूर्ति-अपूर्ति में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना प्रमाद ही है। प्रमाद के रहते हुए न तो सुख की दासता का नाश होता है और न दुःख के भय का ही अन्त होता है। दुःख का भय दुःख से भी अधिक दुःखद है। दुःख का भय दुःखी के जीवन में असावधानी उत्पन्न कर देता है, जो उसके लिए सर्वदा अहितकर है। इस दृष्टि से दुःख से भयभीत होना भारी भूल है। इस भूल का अन्त करना मानव मात्र के लिए अनिवार्य है।

दुःख आने पर यदि बेचारा दुःखी दुःख से भयभीत न हो, तो सावधानी सुरक्षित रहती है, जिसके रहने से प्रत्येक परिस्थिति के सदुपयोग की सामर्थ्य साधक में स्वतः आ जाती है। परिस्थितियों का सदुपयोग उनसे असंगता प्रदान करने में समर्थ है। असंगता विषमता का अन्त कर, समता से अभिन्न करने में हेतु है। समता के साम्राज्य में दीनता तथा अभिमान की गन्ध भी नहीं है। दीनता तथा अभिमान का अन्त होते ही परिचिछन्नता स्वत: नाश हो जाती है और फिर सुख-दुःख से अतीत के जीवन से एकता हो जाती है। इस दृष्टि से असंगतापूर्वक समता से अभिन्न होना अनिवार्य है।

असंगता किसी भी अभ्यास से साध्य नहीं है; कारण, कि अभ्यास उन वस्तुओं से तादात्म्य करा देता है, जिनसे साधक को असंग होना है। दुःख का प्रभाव परिस्थितियों के महत्व का नाश कर साधक को परिस्थितियों से असंग होने का अधिकारी बना देता है। यह अनन्त का मंगलमय विधान है।

प्राप्त वस्तु सामर्थ्य और योग्यता के अभिमान का अन्त हुए बिना विकास सम्भव नहीं है। दुःख का प्रभाव निरभिमानता का प्रतीक है और दुःख का भोग दीनता में आबद्ध करता

है। दीनता के नाश के लिए अभिमान का नाश अनिवार्य है। इस दृष्टि से आये हुए दुःख का भोगी नहीं होना है, अपितु उसके प्रभाव को अपनाना है। यह तभी सम्भव होगा, जब अपने आप आये हुए सुख-दुःख में जीवन-बुद्धि न रहे। सुख-दुःख में जीवन-बुद्धि का अन्त करने के लिए कामना-पूर्ति के प्रलोभन का त्याग आवश्यक है। कामना-पूर्ति का प्रलोभन कामना-पूर्ति में हेतु नहीं है।

इस कारण मानव-जीवन में उसका कोई स्थान ही नहीं है। कामना—पूर्ति का प्रलोभन कामना—अपूर्ति से उत्पन्न हुए दुःख के भय में आबद्ध करता है। दुःख के भय से दुःख मिट नहीं जाता, अपितु दुःखी को कर्तव्य से च्युत कर देता है। अतएव शीघ्रातिशीघ्र कामना-पूर्ति के प्रलोभन से मुक्त होना अनिवार्य है। सुख-लोलुपता और सुख का प्रलोभन एवं सुख की दासता दुःख के भय को उत्पन्न करते हैं। दुःख का प्रभाव सुख-लोलुपता आदि का नाश करने में समर्थ है। सुख का भोगी दुःखों से भयभीत होता है और वह दुःखी, जिसने सुख की वास्तविकता का अनुभव किया है, दुःख के प्रभाव से प्रभावित हो, दुःख का अन्त करने में समर्थ होता है।

सुख की मधुरिमा भयंकर विष के तुल्य है। इतना ही नहीं, विष के सेवन से तो एक ही बार प्राणान्त होता है, किन्तु बेचारे सुख के भोगी को तो अनेक बार जन्म-मरण की असह्य व्यथा सहनी पड़ती है। अपमान तथा पराधीनता तो उसे पग-पग पर पीड़ित करती है। फिर भी सुख के प्रलोभन का सर्वांश में त्याग न करना, कितनी भारी भूल तथा आश्चर्य की बात है। इस भयंकर भूल का अन्त शीघ्रातिशीघ्र, अर्थात् वर्तमान में ही करना अनिवार्य है। सुख के प्रलोभन मात्र से सुख की उपलब्धि नहीं होती, कारण, कि प्रत्येक परिस्थिति की प्राप्ति विधान के अधीन है, कामना के नहीं। सुख-भोग की रुचि प्रमाद की प्रथम प्रतिक्रिया है। अतएव प्रमाद के नाश में ही उसका नाश है। दुःख का प्रभाव प्रमादी में से सुख-भोग-जनित जड़ता का नाश कर देता है, जिसके होते ही सर्वांश में प्रमादी प्रमाद से मुक्त हो जाता है, जो विकास का मूल है।

दुःख का भोगी सुखमय परिस्थिति की उपलब्धि मात्र से अपने में झूठा सन्तोष कर लेता है, किन्तु

प्राकृतिक नियमानुसार सुख के भोगी को विवश होकर भयंकर दुःख भोगना ही पड़ता है। दुःख के भोगी में बीज रूप से सुख की दासता रहती है। इस कारण वह बेचारा सुख की प्रतीति मात्र से अपने में झूठा सन्तोष करने का प्रयास करता है और सुख-भोग-जनित पराधीनता तथा अपमान की व्यथा भूल जाता है। सीमित बल, योग्यता एवं गुणों की महत्ता में आबद्ध होने के कारण वास्तविकता की विस्मृति उसे दुःख के प्रभाव से प्रभावित नहीं होने देती। दुःख के भोगी में त्याग का बल नहीं रहता। दुःख के प्रभाव में ही त्याग का बल निहित है। दुःख के भोगी में क्रोध है, त्याग नहीं। कभी-कभी दुःख का भोगी अपने शरीर तक का नाश कर देता है, पर देहाभिमान का त्याग नहीं कर पाता। प्रिय-से-प्रिय वस्तुओं को ठुकरा देता है, पर वस्तुओं की सत्यता और ममता से मुक्त नहीं होता। इतना ही नहीं, वह अपने को भयंकर परिस्थितियों में डाल देता है, किन्तु प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग नहीं करता। उदारता, त्याग, क्षमाशीलता आदि दिव्य गुणों की अभिव्यक्ति राग तथा क्रोध रहित होने में ही है। राग तथा क्रोध का अत्यन्त अभाव दुःख के प्रभाव से जाग्रत विचार में ही निहित है।

दुःख का भोग प्राणी को शक्तिहीन बनाता है और दुःख का प्रभाव सामर्थ्य प्रदान करता है। दीनता तथा अभिमान की अग्नि बेचारे दुःख के भोगी को दग्ध करती रहती है। दुःख का प्रभाव अभिमान का अन्त कर, दुःखी को दीनता से मुक्त कर देता है। दुःख को सहन करना, दुःख-भोग का सुन्दर रूप है। किन्तु दुःख के कारण की खोज न करना दुःख-भोग को सुरक्षित रखना है। सहनशीलता असह्य वेदना को शिथिल बनाती है और असहनशीलता क्षुब्ध करती है। क्षुब्ध होने से भी सर्वांश में दुःख का प्रभाव नहीं होता, अपितु दुःख का भोग ही होने लगता है। इस कारण असहनशीलता और सहनशीलता, दोनों से भिन्न दुःख के प्रभाव को अपनाना अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा, जब दुःख का भोगी अपने में छिपी हुई सुख की दासता का स्पष्ट दर्शन करे।

सुख की दासता के ज्ञान में ही उसका नाश निहित है। सुख की दासता ही दुःखी को दुःख-भोग के लिए जीवित रखती है। उसका नाश

होते ही दुःखी दुःख के प्रभाव से प्रभावित होकर सदा के लिए दुःख से छूट जाता है। अथवा यों कहो कि उसका जीवन दुःखहारी की प्रीति हो जाता है। दुःख से छूटते ही दुःखी का अस्तित्व जीवन से अभिन्न हो जाता है। दुःख-भोग के आश्रित ही दुःखी में परिच्छिन्नता रहती है, जो अनेक प्रकार की भिन्नता को उत्पन्न करती है। भिन्नता काम की जननी है और कामना की अपूर्ति से ही दुःख का भोग आरम्भ होता है। इस दृष्टि से भिन्नता का अन्त करने के लिए परिच्छिन्नता का नाश अनिवार्य है। परिच्छिन्नता का नाश सुख की दासता तथा दुःख के भय से रहित होने में ही है।

सुख की दासता के रहते हुए दुःख का भय नष्ट नहीं होता। सुख की वास्तविकता का बोध बिना हुए सुख की दासता नष्ट नहीं होती। साधन रूप सुख-भोग तथा उसके परिणाम पर अविचल आस्था एवं दृष्टि रखने से ही सुख की वास्तविकता का स्पष्ट बोध होगा, जिसके होते ही सुख की दासता स्वत: गल जायंगी, जो दुःख के भय से मुक्त कर दुःख के प्रभाव से प्रभावित करने में समर्थ है। सर्वांश में दुःख की निवृत्ति दुःख के प्रभाव में ही निहित है। पर यह रहस्य वे ही मानव जान पाते हैं, जिन्होंने सुख में जड़ता, पराधीनता आदि दोषों का स्पष्ट दर्शन किया है। सुख का भोग सुखी की चेतना का अपहरण कर लेता है तथा अपने आप आने वाला दुःख पुनः चेतना प्रदान कर, सुख के भोगी को सजग कर देता है। इस दृष्टि से दुःख बड़े ही महत्व की वस्तु है; किन्तु दुःख का भोग तथा भय विकास में बाधक है।

दुःख का भोगी दुःख के भय से किसी भी प्रकार दुःख का अन्त नहीं कर सकता। दुःख के प्रभाव में ही दुःख का अन्त निहित है। जीवन की वास्तविक माँग से निराश होने पर दुःख का प्रभाव दुःख के भोग में परिवर्तित हो जाता है। मंगलमय विधान से दुःख जीवन की वास्तविक माँग की जिज्ञासा जाग्रत करने के लिए ही आता है। जिज्ञासा की जागृति सुख-भोग की रुचि का नाश कर देती है, जिसके होते ही आये हुए दुःख का प्रभाव स्वतः हो जाता है और फिर दुःखी बहुत ही सुगमतापूर्वक दुःख से रहित हो, वास्तविक जीवन से अभिन्न हो जाता है।

प्राकृतिक नियमानुसार अपने आप आये हुए दुःख में मन

बहला कर, उसे दबाने का उपाय भयंकर भूल है। दुःख दबाने से मिटता नहीं है, अपितु उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है। इस कारण दुःख का दबाना सभी के लिए सर्वदा अहितकर ही सिद्ध होता है। आये हुए दुःख का प्रभाव सर्वांश में तभी सम्भव होगा, जब दुःखी दुःख दबाने के लिए अपने को कामना-पूर्ति के सुख में आबद्ध न करे; क्योंकि प्रत्येक कामनापूर्ति का सुख नवीन कामनाओं का जन्मदाता है। परन्तु बेचारा मानव यह भूल जाता है कि कामना-पूर्ति से आया हुआ सुख भी पराधीन बनाकर चला जायेगा। इसके अतिरिक्त यह निर्विवाद सिद्ध है कि सभी कामनाएँ कभी किसी की पूरी नहीं होतीं। अन्त में कामना-अपूर्ति का दुःख ही शेष रहता है। तो फिर कामना-पूर्ति के सुख से आये हुए दुःख को दबाना कुछ अर्थ नहीं रखता, अपितु दुःख के दबाने के प्रयास से प्राप्त सामर्थ्य का दुर्व्यय ही सिद्ध होता है।

यदि वैधानिक रूप से भी कामना-पूर्ति का सुख आ जाय, तो भी मानव को सावधानीपूर्वक उसका सद्व्यय कर, अपने को सुख-भोग से विमुख कर, आये हुए दुःख के प्रभाव से प्रभावित होना चाहिए। तभी सर्वांश में सदा के लिए दुःख का नाश हो सकता है। बेचारा दुःख का भोगी आये हुए दुःख का कारण दूसरों को मान लेता है। उसका बड़ा ही भयंकर परिणाम यह होता है कि वह दुःख के मूल हेतु की खोज ही नहीं कर पाता, अपितु क्षुभित तथा क्रोधित होकर अपने को असमर्थ बना लेता है, कर्तव्य से च्युत हो जाता है और वास्तविक जीवन की विस्मृति हो जाती है, जो विनाश का मूल है। जब मानव अपने दुःख का कारण किसी और को नहीं मानता, तब उसे दुःख के कारण का बोध हो जाता है और दुःख के सदुपयोग की सामर्थ्य स्वत: आती है, जो विकास का मूल है।

दुःख का भोगी दुःख के भय से भयभीत होकर भिन्न-भिन्न प्रकार के अप्राकृतिक उपायों द्वारा दुःख को दबाने का प्रयास करता है, परन्तु परिणाम में उत्तरोत्तर दुःखों की वृद्धि होती रहती है। इतना ही नहीं, वह वास्तविकता से निराश होने लगता है। उसमें सुख-भोग की तीव्र भूख उत्पन्न हो जाती है, जो उसे अकर्तव्य में प्रवृत्त करा देती है। सुख के भिखारी में चेतना नहीं रहती। वह दूसरों को दुःख दे-

देकर सुख भोगने का अभ्यासी हो जाता है, जो कर्तव्य-विज्ञान के सर्वथा विपरीत है, अर्थात् उसके स्वभाव में अकर्तव्य की ही प्रवृत्ति बढ़ती रहती है, जिससे उसका जीवन समाज के लिए अहितकर ही सिद्ध होता है। इस दृष्टि से अप्राकृतिक ढंग से दुःख का दबाना सर्वथा त्याज्य है।

तीव्र दुःख का होना दुःखी के लिए अहितकर नहीं है, अपितु सर्वदा हितकर ही है। दुःख आने पर हार स्वीकार करना भी दुःखी के विकास में बाधक है। दुःख दुःखी की सोई हुई सामर्थ्य को जगाता है और जड़ता का अपहरण कर, सजगता प्रदान करता है। इतना ही नहीं, दुःख मिली हुई सामर्थ्य के अभिमान का नाश कर, उसके सदुपयोग में प्रवृत्त कराता है। सामर्थ्य का सद्व्यय आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति में हेतु है। इस दृष्टि से दुःख का प्रभाव असमर्थता का अन्त कर, साधक को अकर्तव्य, असाधन और आसक्तियों से मुक्त कर देता है, जिससे उसका सर्वतोमुखी विकास स्वत: हो जाता है।

यदि साधक दुःख के प्रभाव से प्रभावित होकर असंगता-पूर्वक स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश नहीं पा सकता, तो अन्य किसी प्रकार स्वाधीनता प्राप्त करना सम्भव नहीं है। कारण, कि दुःख का प्रभाव ही सुख-भोग की रुचि का नाश कर, पराधीनता से मुक्त करने में समर्थ है। बेचारा दुःख का भोगी सुख-भोग की रुचि से रहित नहीं होता, इस कारण दुःख आने पर भी दुःख का सदुपयोग नहीं कर पाता। जिस मंगलमय विधान से दुःख आया है, उसने दण्ड नहीं दिया है, अपितु मानव के हित के लिए दुःख का प्रादुर्भाव किया है। विधान उस अनन्त का प्रकाश है, जो सभी का परम सुहृद है। अतएव दुःख भोगने के लिए दुःख नहीं दिया गया है। दुःख सुख की दासता से मुक्त करने के लिए आया है। दुःख से डरो मत, अपितु उसका आदरपूर्वक स्वागत करते हुए अपने पर उसका प्रभाव होने दो। दुःख के भोगी मत बनो। यह तभी सम्भव होगा, जब निर्विवाद रूप से विकल्प-रहित हो, यह स्वीकार करोगे कि आये हुए दुःख के प्रभाव में ही अपना परम हित है।

जब साधक दुःख से भयभीत नहीं होता और दुःख आने पर सुख का आह्वान नहीं करता, तब उस पर आये हुए दुःख का प्रभाव स्वतः होने लगता

है, जिसके होते ही, दुःख में दुःख के दर्शन की तो कौन कहे, सुख में भी दुःख का दर्शन होता है। फिर सुख का प्रलोभन, सुख-भोग की रुचि और उसकी आशा शेष नहीं रहती। इनके मिटते ही अपने आप उत्पन्न हुई वस्तु, अवस्था, परिस्थितियों से असंगता आ जाती है, जो पराधीनता का अन्त कर, स्वाधीनता से अभिन्न करने में समर्थ है।

जब तक साधक सुख के महत्व में आबद्ध रहता है, तब तक दुःख से भयभीत होता है और जब तक दुःख से भयभीत रहता है, तब तक सुख का आह्वान करता रहता है। यद्यपि आह्वान करने मात्र से सुख मिल नहीं जाता, परन्तु फिर भी बेचारा सुख का भिखारी सुख के चिन्तन में ही लगा रहता है और यह भूल जाता है कि जब आया हुआ सुख भी अपने आप चला गया, तो अप्राप्त सुख की आशा से क्या लाभ होगा? सुख माँगने से नहीं मिलता, विधान से अपने आप आता-जाता है। उसके लिए प्रयास प्राप्त सामर्थ्य का दुर्व्यय ही है और कुछ नहीं है। दुःख का प्रभाव होने पर प्राप्त सुख का सद्व्यय हो जाता है और अप्राप्त सुख की कामना नहीं रहती। प्राप्त सुख के सद्व्यय से ही मानव, समाज के ऋण से मुक्त होता है। अप्राप्त सुख की कामना के त्याग से साधक, विश्राम पाता है। इस दृष्टि से प्राप्त सुख के सद्व्यय में पर-हित और उसकी कामना के नाश में अपना हित है। सुख जैसी वस्तु का संग्रह करना, उसका दास होना, उसका भोगी होना, किसी के भी लिए हितकर नहीं है।

प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक सुख के आदि और अन्त में दुःख का प्रादुर्भाव स्वतः होता है। परन्तु बेचारा सुख का भोगी उस पर दृष्टि नहीं रखता। यह देखता ही नहीं कि सुख के आदि और अन्त में दुःख है। इतना ही नहीं, दुःख का भास होते ही वह सुख की प्राप्ति के लिए प्रयास करने लगता है। यद्यपि सुख आते ही उसके जाने का क्रम आरम्भ हो जाता है, तथापि प्राणी प्रमादवश उसमें स्थिरता मान लेता है। किन्तु विधान के अनुसार सुख में अल्पकाल के लिए भी स्थिरता नहीं है, सतत परिवर्तन होता रहता है। यदि इस पर दृष्टि रहे, तो सुख का स्वतन्त्र अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता। जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं है, उसमें जीवन-बुद्धि स्वीकार

करना भारी भूल के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

दुःख में सुख की प्राप्ति का प्रयास और सुख के अस्तित्व को स्वीकार कर, उसमें जीवन-बुद्धि रखना अपने को आये हुए दुःख के प्रभाव से विमुख करना है, जो विनाश का मूल है। साधक के पुरुषार्थ की पूर्णता दुःख के प्रभाव में ही है। जब तक दुःख का प्रभाव नहीं होता, तब तक सर्वतोमुखी विकास सम्भव नहीं है। आई हुई अनुकूलता नहीं रहेगी। उसका उपयोग पर-सेवा में करना, दुःख के प्रभाव को जीवित रखना है। किन्तु 'अनुकूलता अपने लिए है-यह प्रमाद दुःख का प्रभाव नहीं होने देता। दुःख का प्रभाव ही दुःख की निवृत्ति में हेतु है। इस महामन्त्र को अपनाना मानव-मात्र के लिए अनिवार्य है। दुःख के प्रभाव के अतिरिक्त सर्वांश में दुःख की निवृत्ति कभी भी सम्भव नहीं है। ऐसे महत्वपूर्ण दुःख के प्रभाव से अपने को वंचित रखना, अपने द्वारा ही अपना सर्वनाश करना है।

दुःख का प्रभाव सुख के प्रलोभन का नाशक है, सुख का नहीं। प्राकृतिक नियमानुसार सुख अपने आप जाता है और दुःख न चाहते हुए भी आता है। इस रहस्य पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि सुख को बनाये रखने की अभिरुचि कुछ अर्थ नहीं रखती और दुःख से भयभीत होना भी निरर्थक ही प्रतीत होता है, क्योंकि जो जायेगा ही, उसको बनाये रखने की बात और जो आयेगा ही, उससे क्षुभित होने की बात अपनी भूल ही है, और कुछ नहीं। सुख का प्रलोभन भोग की रुचि को जीवित रखता है। भोग की रुचि नित्ययोग से विमुख करती है।

इस दृष्टि से सुख का प्रलोभन साधक के विकास में बाधक है। भोग-प्रवृत्ति भोग की वास्तविकता का बोध कराने में भले ही सहयोगी सिद्ध हो, किन्तु भोग की रुचि तो केवल भोग की दासता को ही जीवित रखती है। भोग की दासता भोग से भी कहीं अधिक दुःखद है, कारण, कि भोग के अन्त में भोगी असमर्थता, अभाव, पराधीनता आदि की व्यथा से व्यथित होता है, जो भोगातीत जीवन की लालसा को सबल बनाती है। भोगातीत जीवन की उत्कट लालसा भोग-वासनाओं का अन्त करने में समर्थ है। परन्तु सुख का प्रलोभन रहते हुए सर्वांश में सुख-भोग की रुचि का नाश सम्भव नहीं है। इस

दृष्टि से दुःख के प्रभाव से सुख के प्रलोभन का समूल नाश करना अनिवार्य है।

देहाभिमान से उत्पन्न हुए संकल्पों की पूर्ति में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना ही सुख के प्रलोभन को पोषित करना है, अथवा यों कहो कि दुःख के प्रभाव से मुक्त होना है। प्राकृतिक नियमानुसार, प्रत्येक सुख के भोगी को दुःख तो भोगना ही पड़ता है, परन्तु कामना-पूर्ति में ही जीवन-बुद्धि बनाये रखने से बेचारा दुःखी दुःख के प्रभाव से वंचित रह जाता है। उसका बड़ा ही भयंकर परिणाम यह होता है कि दुःखी दुःख में भी सुख की ही आशा करता है और दुःख भोगता रहता है।

मंगलमय विधान से जो दुःख दुःखी को दुःखहारी से अभिन्न होने के लिए मिला था, यह दुःखी का प्रमाद है कि वह उस दुःख के प्रभाव को न अपना कर, सुख की आशा से सुख की दासता में आबद्ध होकर दुःख भोगता रहता है। वह दुःख के प्रभाव को न अपनाकर सुख की आशा में दुःख भोगता है। सर्वांश में सुख की आशा का अन्त करते ही प्रत्येक दुःखी स्वत: दुःख से रहित हो जाता है। सुख की आशा का नाश दुःख के प्रभाव में ही निहित है।

प्रत्येक मानव को कामना-पूर्ति तथा अपूर्ति में सुख और दुःख का भास होता है। कामनाओं का उद्गम-स्थान देहाभिमान है, जो अविवेक-सिद्ध है। अविवेक का अन्त निज-विवेक के आदर में निहित है। विवेक का प्रकाश मानव मात्र को स्वत: प्राप्त है। जिस प्रकार अन्धकार और प्रकाश एक ही काल में नहीं रहते, उसी प्रकार निज-विवेक का आदर और अविवेक एक काल में नहीं रहते। अविवेक का अन्त होते ही देहाभिमान स्वत: गल जाता है, जिसके गलते ही निर्वासना अपने आप आ जाती है और फिर सुख-दुःख से अतीत के जीवन से स्वत: अभिन्नता हो जाती है। निज-विवेक का अनादर एकमात्र सुख-लोलुपता से ही होता है। दुःख का प्रभाव सुख-लोलुपता को खाकर प्राप्त विवेक का आदर कराने में समर्थ है। कामना-पूर्ति में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना, अपने को सुख की दासता में आबद्ध रखना है। वास्तविक माँग के प्रमाद में ही सुख की दासता पोषित होती है। सुख की दासता ही दुःख के भय को उत्पन्न करती है।

सुख की दासता और दुःख का भय, यह द्वंदात्मक स्थिति मानव को पराधीनता तथा असमर्थता में आबद्ध करती है, जो किसी को भी स्वभाव से अभीष्ट नहीं है। जो अभीष्ट नहीं है, वह जीवन नहीं है। अत: "जीवन क्या है?" यह प्रश्न स्वत: जाग्रत होता है। इस मूल प्रश्न के हल हुए बिना चैन से रहना असावधानी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। प्राकृतिक नियमानुसार जब अनेक प्रश्न एक ही प्रश्न में विलीन हो जाते हैं, तब उसके समाधान की सामर्थ्य अपने आप आ जाती है। इस दृष्टि से अपनी माँग का प्रमाद ही दुर्गति का मूल है। प्राणी जितनी सजगता शरीर के बनाये रखने में तथा कामना-पूर्ति के सुख-भोग में एवं कामना-आपूर्ति के दुःख से बचने में रखता है, यदि उतनी सावधानी "जीवन का मूल प्रश्न क्या है?" इस समस्या को हल करने में रखे, तो बहुत ही सुगमतापूर्वक वह अपनी वास्तविक माँग को जान सकता है।

यह सभी का दैनिक अनुभव है कि उत्पन्न हुई सभी कामनाएँ पूरी नहीं होती। इतना ही नहीं, प्रत्येक कामना-पूर्ति का सुख-भोग नवीन कामना को जन्म देता है। परिणाम में कामना-अपूर्ति का दुःख ही शेष रहता है। फिर भी कामना पूर्ति में ही जीवन-बुद्धि स्वीकार करना और अपनी वास्तविक माँग से अपरिचित रहना, क्या साधक की भारी भूल नहीं है? इस भूल का अन्त करना सभी साधकों के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यह सभी विचारकों का अनुभव है कि भूल को 'भूल' जानते ही भूल नहीं रहती।

माँग उसे नहीं कहते, जिसकी पूर्ति अनिवार्य नहीं हो। इस दृष्टि से कामना-पूर्ति माँग नहीं हो सकती। कारण, कि सभी कामनाएँ पूरी नहीं होतीं। इस अनुभूति का आदर करते ही कामना-पूर्ति एक अवस्था विशेष के अतिरिक्त और कुछ अर्थ नहीं रखती।

प्रत्येक अवस्था स्वरूप से ही परिवर्तनशील है। इस कारण किसी भी अवस्था में आबद्ध होना अभाव में ही आबद्ध होना है। अभाव जीवन नहीं हो सकता। अत: उत्पन्न हुई अवस्था जीवन नहीं है। जो जीवन नहीं है, उससे असंग तथा विमुख होना अनिवार्य है। वस्तु अवस्था तथा परिस्थितियों की विमुखता से यह मूल प्रश्न सजीव होता है कि "वास्तविक जीवन की माँग क्या है?" सजीव प्रश्न

वर्तमान का प्रश्न है। अत: जब तक यह निर्णय न हो जाय कि हमारी वास्तविक माँग क्या है, तब तक किसी अन्य प्रश्न की उत्पत्ति ही नहीं होनी चाहिए; कारण, कि वर्तमान प्रश्न एक ही हो सकता है, दो नहीं। जब एक ही प्रश्न रह जाता है, तब प्रश्नकर्ता और प्रश्न में भेद नहीं रहता, अर्थात् प्रश्न ही प्रश्नकर्ता का अस्तित्व रह जाता है। वही जीवन की माँग है। उस माँग के प्रमाद ने ही प्राणी को सुख की दासता और दुःख के भय में आबद्ध किया है।

सुख-दुःख, दिन-रात के समान हैं, अपने आप आने-जाने वाले हैं। परन्तु सुख की दासता और दुःख का भय अपना बनाया हुआ दोष है, जिसका अन्त करना अनिवार्य है। अपना बनाया हुआ दोष अपने आप नष्ट नहीं होता और न किसी अन्य के द्वारा नाश होना सम्भव है। उसके नाश का दायित्व अपने पर ही है, जिसके मिटाने की सामर्थ्य मंगलमय विधान से स्वत: प्राप्त है। न तो हम आये हुए सुख को सुरक्षित रख सकते हैं और न आये हुए द्वारा को मिटा सकते हैं। इसमें हम स्वाधीन नहीं हैं, किन्तु सुख की दासता और द्वारा के भय का त्याग कर सकते हैं। कारण, कि जिसे रोक, नहीं सकते, उसके भय का और जिसे सुरक्षित नहीं रख सकते. उसकी दासता का त्याग ही कर सकते हैं। पर कब? जब साधक अपनी वास्तविक माँग से परिचित हो जाय। वास्तविक माँग के प्रमाद ने ही सुख-दुःख से तादात्म्य उत्पन्न कर दिया है, जो अविवेक-सिद्ध है। कामना जिसमें उत्पन्न होती है, उसी में माँग की जागृति होती है। अन्तर केवल इतना है कि कामनाएँ अनेक और माँग एक है।

कामनाओं के रहते हुए कामना और जिसमें कामना उत्पन्न होती है, वे दोनों भिन्न भासते हैं, किन्तु जब वास्तविक माँग जाग्रत होती है, तब माँग और जिसमें माँग है, उसमें एकता अनुभव होती है। हम अपनी वास्तविक माँग से अपने को अलग नहीं कर सकते, यह निर्विवाद है। उत्पन्न हुई कामनाएँ वास्तविक माँग को अल्पकाल के लिए आच्छादित भले ही कर दें, मिटा नहीं सकतीं। किन्तु सर्वांश में वास्तविक माँग की जागृति होने पर सभी कामनाएँ उसी प्रकार नष्ट हो जाती हैं, जिस प्रकार सूर्य के उदय होते ही अन्धकार।

यह सभी साधकों की अनुभूति है कि आया हुआ दुःख

स्वभाव से प्रिय नहीं होता और हम उसे रोक भी नहीं पाते। इस वस्तुस्थिति पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि दुःख जीवन का आवश्यक अंग है। उस आये हुए दुःख का प्रभाव ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होता जाता है, त्यों-त्यों सुख के प्रलोभन से उत्पन्न हुई कामनाएँ अपने आप मिटती जाती हैं। ज्यों-ज्यों कामनाएँ मिटती जाती हैं, त्यों-त्यों वास्तविक माँग का प्रादुर्भाव अपने आप होता जाता है। इस दृष्टि से दुःख के प्रभाव में ही कामनाओं की निवृत्ति और वास्तविक माँग की जागृति निहित है। परन्तु जब तक साधक वास्तविक माँग से अभिन्न नहीं हो जाता, तब तक न तो दुःख का प्रभाव ही पूर्णरूपेण होता है और न कामनाओं की निवृत्ति ही। दुःख के प्रभाव से माँग की जागृति और माँग की जागृति से दुःख का प्रभाव सजीव हो जाता है। जिस साधक को जो सुलभ हो, उसे आरम्भ में उसी को अपनाना है-दुःख के प्रभाव से माँग की जागृति को और माँग की जागृति से दुःख के प्रभाव की सजीवता को।

कितने आश्चर्य की बात है कि दुःख है और उसका प्रभाव नहीं, और जिस माँग की पूर्ति वर्तमान में हो सकती है, उसकी विस्मृति ! जब सभी कामनाएँ पूरी नहीं हो सकतीं, तो उनका प्रलोभन बनाये रखना कहाँ तक युक्ति-युक्त है? निज-अनुभव के अनादर के समान और कोई भारी भूल नहीं है। अपनी भूल का अन्त वर्तमान में करना अनिवार्य है। वह तभी सम्भव है, जब साधक वास्तविक माँग की पूर्ति से निराश न हो और दुःख के प्रभाव द्वारा कामना-पूर्ति के प्रलोभन का अन्त कर दे।

दुःख का प्रादुर्भाव प्राकृतिक है; कारण, कि न चाहते हुए भी वह सभी प्राणियों को मिलता है। जिसका प्रादुर्भाव प्राकृतिक है, वह किसी के लिए अहितकर नहीं है, अपितु हितकर ही है। किन्तु सुख की दासता दुःख के महत्व से अनभिज्ञ रखती है। चाहते हुए भी सुख तो चला ही जाता है, पर उसकी दासता शेष रहती है, जिसके रहते हुए दुःख अपने आप आता ही है। इससे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि दुःख मंगलमय विधान से सुख की दासता का नाश करने के लिए आता है। दुःख के भय से तो सुख की दासता ही पोषित होती है, पर दुःख के प्रभाव से सुख की दासता सदा के लिए मिट जाती है।

सुख की दासता मिटाने पर भी विधान के अनुसार सुख आता है और जाता है। किन्तु दुःख का प्रभाव जब सुख की दासता को खा लेता है, तब दुःख आह्वान करने पर भी नहीं आता, अर्थात् बेचारा दुःख साधकों को दुःख से रहित करने के लिए ही आता है। इस दृष्टि से दुःख बड़े ही महत्व की वस्तु है।

यह सभी विचारकों को मान्य है कि प्रत्येक परिस्थिति सुख तथा दुःख से युक्त है। परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि ही प्राणियों को सुख तथा दुःख का भोग कराती है। सुख रुचिकर और दुःख अरुचिकर प्रतीत होता है। पर सुख के भोगी को दुःख विवश होकर भोगना ही पड़ता है। सुख का भोग सुरक्षित रहे और दुःख का भोग न करना पड़े, यह किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। सुख-दुःख की श्रेणियों में भले ही अन्तर आ जाये, पर सुख के भोगते हुए दुःख रहता ही है। इतना ही नहीं, ऐसा कोई सुख-भोग है ही नहीं, जिसके आदि और अन्त में दुःख न हो; जैसे, भूख की व्यथा में ही भोजन का सुख, वियोग की व्यथा में ही संयोग का सुख इत्यादि। सुख-भोग का आरम्भ-काल जितना मधुर और सुखद प्रतीत होता है, उतना अन्त नहीं।

प्राकृतिक नियमानुसार अपने आप धीरे-धीरे सुखानुभूति शिथिल होती जाती है और सुख-भोग की शक्ति का ह्रास तथा सुख-सामग्री का विनाश भी स्वतः होता जाता है। इसी कारण सुख-भोग के अन्त में भी दुःख ही शेष रहता है। इस दृष्टि से सुख-भोग में किसी-न-किसी प्रकार की हिंसा तथा पराधीनता एवं अन्त में अभाव ही अभाव रह जाता है। जब अभाव-जनित व्यथा सुख-भोग की रुचि को खा लेती है, तब अपने आप दुःख का प्रभाव हो जाता है, जिसके होते ही सुख-दुःख-युक्त परिस्थितियों से असंगता साधक को स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश करा देती है, यह निर्विवाद सिद्ध है।

पराधीनता, हिंसा और अभाव किसी भी साधक को अभीष्ट नहीं है। इस दृष्टि से सुख-दुःख-युक्त परिस्थितियों से अतीत के जीवन की माँग स्वाभाविक है। दुःख का प्रभाव स्वाभाविक माँग को सबल तथा स्थायी करने में समर्थ है। उत्पन्न हुई परिस्थितियाँ बाह्य दृष्टि से भले ही भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रतीत होती हों,

किन्तु स्वरूप से सभी समान हैं। इससे यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि स्वाभाविक माँग की पूर्ति किसी परिस्थिति विशेष के आश्रित नहीं है। जिसकी पूर्ति किसी परिस्थिति विशेष के आश्रित नहीं है, उसकी पूर्ति सभी परिस्थितियों में सम्भव है। इस दृष्टि से प्राप्त परिस्थिति का दुरुपयोग और अप्राप्त का आह्वान स्वाभाविक माँग की पूर्ति में बाधक ही हैं। जब साधक निज-विवेक के प्रकाश में यह स्वीकार कर लेता है कि प्राप्त परिस्थिति ही मेरे विकास में हेतु है, तब उसे प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग सुलभ हो जाता है, जिसके होते ही परिस्थितियों से स्वत: असंगता हो जाती है, जो विकास का मूल है।

अपने आप आये हुए सुख-दुःख का सदुपयोग ही परिस्थिति का सदुपयोग है। सुख का सदुपयोग उदारता में और दुःख का सदुपयोग त्याग में निहित है। उदारता का प्रादुर्भाव दुःखियों को देख करुणित और सुखियों को देख कर प्रसन्न होने में ही है। दुःख का प्रभाव होते ही दुःखियों को देख करुणा और सुखियों को देख प्रसन्नता स्वतः होती है। ममतायुक्त करुणा और प्रसन्नता तो प्राणी-मात्र में स्वभाव से ही है; किन्तु ममतारहित करुणा और प्रसन्नता साधकों में ही होती है। साधक वही हो सकता है, जिसने दुःख के प्रभाव को अपनाया है। पराधीनता की व्यथा में ही स्वाधीनता की और अभाव की पीड़ा में ही पूर्णता की माँग निहित है। पराधीनता और अभाव के रहते हुए चैन से रहना, कहाँ तक न्याय-युक्त है? पराधीनता का नाश तथा अभाव का अभाव हो सकता है। जो हो सकता है, उससे निराश होना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। दुःख का प्रभाव पराधीनता तथा अभाव का अभाव करने के लिए साधक को आकुल-व्याकुल कर देता है। परम व्याकुलता की जागृति में ही समस्त निर्बलताओं का नाश निहित है। पर इस रहस्य को वे ही साधक जान पाते हैं, जो स्वाभाविक माँग की पूर्ति से निराश नहीं हैं, अपितु उसे वर्तमान की वस्तु मानते हैं।

पराधीनता का नाश तथा अभाव का अभाव किसी भी उत्पन्न हुई वस्तु सामर्थ्य, योग्यता आदि से सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से मिली हुई वस्तु सामर्थ्य, योग्यता आदि अपने लिए नहीं हैं। जो अपने लिए नहीं है, उससे

तादात्म्य और उसकी ममता पराधीनता तथा अभाव में ही आबद्ध करती है। दुःख का प्रभाव न तो उत्पन्न हुई वस्तु अवस्था आदि से तादात्म्य ही रहने देता है और न ममता को ही जीवित रखता है। उसका परिणाम यह होता है कि जो नित्य प्राप्त अविनाशी जीवन है, उससे अभिन्नता हो जाती है, जिसके होते ही पराधीनता का नाश तथा अभाव का अभाव स्वत: हो जाता है। इस दृष्टि से स्वाभाविक माँग की पूर्ति दुःख के प्रभाव में ही निहित है।

जो अपने लिए नहीं है, उसके द्वारा 'पर' के अधिकारों की रक्षा की जा सकती है। पर यह भी तभी सम्भव होगा, जब प्राणी पर-पीड़ा से करुणित हो जाये। पराये दुःख से जो दुःखी होते हैं, उनमें मिले हुए सुख-भोग की रुचि नहीं रहती और न अप्राप्त सुख की कामना ही रहती है, अपितु प्राप्त सुख के सद्व्यय की सामर्थ्य आ जाती है, जिसके आते ही सुन्दर समाज का निर्माण होने लगता है और समस्त संघर्षों का नाश हो जाता है। इससे परस्पर में एकता हो जाती है, जिसके होते ही साधक समता के साम्राज्य में प्रवेश पाता है, जो विकास का मूल है। मिली हुई वस्तु सामर्थ्य, योग्यता आदि की ममता के त्याग में ही कर्तव्यपरायणता निहित है और कर्तव्यपरायणता से ही आवश्यक वस्तु सामर्थ्य तथा योग्यता स्वतः प्राप्त होती हैं। किन्तु दुःख का प्रभाव मिले हुए से तादात्म्य नहीं होने देता। तादात्म्य का नाश होते ही निष्कामता और निर्वासना अपने आप आ जाती हैं। निष्कामता पराधीनता को और निर्वासना अभाव को खा लेती है, यह निर्विवाद सत्य है।

मिले हुए को अपना मान लेना, विवेक-विरोधी विश्वास है। इस विश्वास से ही विकारों की उत्पत्ति होती है। इस दृष्टि से निर्विकारता ममता के त्याग में ही निहित है। ममता का त्याग प्रत्येक साधक को स्वयं करना है, अपने आप नहीं होगा, कारण, कि जाने हुए के आदर का दायित्व साधक पर ही है। जाने हुए के अनादर में ही ममता पोषित होती है। प्राकृतिक नियमानुसार जो अपना नहीं है, वह अपने लिए भी नहीं है। अत: जब साधक में प्राप्त की ममता नहीं रहती, तब अप्राप्त वस्तु आदि की कामना भी नहीं रहती। अप्राप्त वस्तु आदि की कामनाओं के नाश में ही चिर-विश्राम निहित है। विश्राम सामर्थ्य तथा

असंगता का स्रोत है, कारण, कि सामर्थ्य की अभिव्यक्ति श्रम-साध्य नहीं है। श्रम से तो मिली हुई सामर्थ्य का सदव्यय हो सकता है, अप्राप्त सामर्थ्य की अभिव्यक्ति नहीं होती। अतः आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति विश्राम से ही साध्य है। मिली हुई वस्तु अवस्था, सामर्थ्य, योग्यता आदि से असंग होने के लिए भी विश्राम ही अपेक्षित है; कारण, कि सभी प्रकार का श्रम वस्तु आदि के आश्रय से ही होता है। जिससे असंग होना है, उसके आश्रय का त्याग अनिवार्य है। वस्तु आदि के आश्रय का त्याग श्रम-साध्य नहीं है, अपितु विश्राम से ही साध्य है। इस दृष्टि से सामर्थ्य की अभिव्यक्ति तथा असंगता विश्राम में ही निहित हैं।

दुःख के प्रभाव के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार निष्कामता से उदित विश्राम सम्भव नहीं है; कारण, कि दुःख का प्रभाव साधक को काम-रहित करने में समर्थ है। भूल को 'भूल' जान लेने पर भी सुख के प्रलोभन में आबद्ध प्राणी सर्वांश में भूल-रहित नहीं हो पाता। इतना ही नहीं, भूल के परिणाम से भयभीत होने पर भी भूल-जनित सुख का प्रलोभन नष्ट नहीं होता। परन्तु भूल-जनित व्यथा जाग्रत होने पर भूल स्वतः नष्ट हो जाती है। किसी बुराई के न करने मात्र से बुराई-जनित रस का नाश नहीं होता। इसी कारण बार-बार बुराई की पुनरावृत्ति होती रहती है। किन्तु जब बुराई होने की व्यथा ही साधक को व्यथित कर देती है, तब बुराई उत्पन्न ही नहीं होती। इस दृष्टि से दुःख के प्रभाव में ही समस्त विकारों की निवृत्ति निहित है, दुःख के भय तथा भोग में नहीं।

मिले हुए का सदुपयोग तथा जाने हुए का आदर साधक को आये हुए दुःख के प्रभाव से प्रभावित करता है। जो प्राणी जाने हुए का आदर तथा मिले हुए का सदुपयोग नहीं करते, वे आये हुए दुःख से भयभीत होते हैं और दुःख भोगते भी हैं, पर दुःख के प्रभाव से प्रभावित नहीं होते; कारण, कि मिले हुए का दुरुपयोग और जाने हुए का अनादर अपने में अपना विश्वास नहीं होने देते, जिसके बिना हुए साधक अपने सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से विचार नहीं कर सकता। अपने सम्बन्ध में निष्पक्ष भाव से विचार किये बिना अपनी दृष्टि में अपने दोषों का प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होता, जिसके हुए बिना न तो वर्तमान की निर्दोषता में ही आस्था

होती है और न भूतकाल के दोषों से असंगता ही। निर्दोषता की विस्मृति और दोषों का तादात्म्य बेचारे प्राणी को निर्दोषता से अभिन्न नहीं होने देते। इस कारण आये हुए दुःख के प्रभाव से प्रभावित होने के लिए तथा अपने दायित्व को पूरा करने के लिए एवं स्वाभाविक माँग की पूर्ति के लिए मिले हुए का सदुपयोग तथा जाने हुए का आदर अनिवार्य है।

जो सुख तथा दुःख का भोगी है, उसे न तो 'यह' कह सकते हैं और न 'वह'। 'यह' उसी को कहा जाता है, जिसकी प्रतीति इन्द्रिय तथा बुद्धि-दृष्टि से होती है। 'वह' उसे कहते हैं, जिसे इन्द्रिय तथा बुद्धि-दृष्टि से नहीं देखा जाता, अपितु जिसकी चर्चा तत्वज्ञों तथा भक्तों से सुनी है एवं सद्ग्रन्थों ने जिसके विषय में संकेत किया है। उसके सम्बन्ध में आस्था, श्रद्धा एवं विश्वास ही किया जा सकता है।

जब 'यह' और 'वह' सुख-दुःख का भोगी नहीं है, तब यह प्रश्न स्वतः उत्पन्न होता है कि सुख-दुःख का भोगी कौन है? इसके उत्तर में सहज भाव से यही स्वीकार करना पड़ता है कि जो अपने को सुखी और दुःखी कहता है, वही सुख-दुःख का भोगी है। उसका नामकरण "अहम्" अथवा "मैं" भी हो सकता है। उसी अहम्-भाव में सुख का प्रलोभन तथा दुःख का भय अंकित है, उसी में दुःख-निवृत्ति की माँग है, वही अमरत्व से अभिन्न होना चाहता है और उसी में अनन्त रस की भूख है। दुःख के प्रभाव से दुःख का भय और सुख का प्रलोभन मिट जाता है, जिसके मिटते ही दुःख-निवृत्ति तो हो ही जाती है, इसके अतिरिक्त अमरत्व की माँग तथा अनन्त-रस की भूख अपने आप तीव्र हो जाती है। अर्थात् उसके बिना रहना जब असह्य हो जाता है, तब मंगलमय विधान से स्वतः अमरत्व से अभिन्नता और अनन्त-रस की अभिव्यक्ति होती है।

जिसके विधान से अमरत्व से अभिन्नता और अनन्त-रस की अभिव्यक्ति होती है, उसमें आस्था, श्रद्धा तथा विश्वास करना दुःखी के लिए अनिवार्य है, कारण, कि दुःखी का आश्रय 'यह' नहीं रहता और दुःखी अपने द्वारा अपने दुःख को मिटा नहीं पाता। ऐसी भयंकर परिस्थिति में आस्था के बिना भी साधक किसी का आश्रय अपनाने लगता है। यदि उस आश्रय को आस्थापूर्वक अपनाया जाय, तो सुगमतापूर्वक समस्या हल हो

जाती है। दुःख का प्रादुर्भाव भी उसी के द्वारा साधक के हितार्थ होता है।

जब साधक आये हुए दुःख के प्रभाव से प्रभावित नहीं होता और अपने आप जाने वाले सुख के पीछे ही दौड़ता है, तब 'वे' ही दुःख के वेष में अवतरित हो, दुःखी को दुःख के प्रभाव से प्रभावित कर, अमरत्व तथा अनन्त-रस का पात्र बना देते हैं। पर इस रहस्य को वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने सुने हुए में अश्रद्धा तथा अविशवास नहीं किया है।

विवेक-दृष्टि से देखे हुए का स्वयं अस्तित्व सिद्ध नहीं होता, केवल प्रतीति होती है और देखे हुए की प्राप्ति भी नहीं होती, अपितु प्रवृत्ति ही होती है। जिसका स्वयं अस्तित्व सिद्ध नहीं होता, जिसकी प्राप्ति नहीं होती, उसका उपयोग भले ही हो, किन्तु उसमें आस्था, श्रद्धा तथा विश्वास नहीं किया जा सकता। इस दृष्टि से जिसकी प्रतीति है, उसमें आस्था करना भूल है। जिसमें आस्था नहीं की जा सकती, उसकी वास्तविकता का बोध अनिवार्य है।

अतः 'यह' को जानो और 'वह' में आस्था करो। अहम्-भाव 'यह' की ममता है और 'वह' की लालसा। 'यह' की ममता ने ही अनेक विकारों को उत्पन्न कर, बेचारे प्राणी को सुख की दासता एवं दुःख के भय में आबद्ध कर दिया है। दुःख का प्रभाव 'यह' की ममता का अन्त कर, 'वह' की लालसा को सजीव, सबल तथा स्थायी बना देता है, जिसके होते ही साधक प्रेम से अभिन्न हो जाता है, जो अनन्त-रस का स्रोत है।

सभी परिस्थितियाँ सुख और दुःख से युक्त हैं। यदि परिस्थितियों के निर्माण में प्राणियों को स्वाधीनता होती, तो प्राणी दुःख-रहित परिस्थिति का निर्माण करता; कारण, कि दुःख किसी को भी अभीष्ट नहीं है। प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में प्राणियों को स्वाधीनता है, निर्माण में नहीं। परिस्थितियाँ तो मंगलमय विधान से ही निर्मित हैं। सुख प्राणियों को परिच्छिन्नता में आबद्ध करता है और दुःख परिच्छिन्नता से रहित होने के लिए प्रेरित करता है। सुखी वर्तमान वस्तुस्थिति में बँध जाता है और दुःखी उससे मुक्त होने के लिए व्याकुल हो जाता है। इस दृष्टि से सुख बन्धन का और दुःख मुक्ति का हेतु है।

फिर भी न जाने, साधक दुःख से भयभीत क्यों होता है और सुख की क्यों आशा करता है? यदि इस

समस्या पर गम्भीरता पूर्वक विचार किया जाये, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि बेचारा प्राणी दुःख के महत्व और सुख की वास्तविकता को नहीं जानता। दुःख का प्रादुर्भाव हुए बिना विकास सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से सुख के साथ-साथ दुःख का होना अनिवार्य होता है। न चाहते हुए भी उसी से मिला है, जिसने भोगार्थियों को कर्म-सामग्री और मोक्षार्थियों को विवेक प्रदान किया है। कर्म-सामग्री कर्म-अनुष्ठान का फल नहीं है; कारण, कि कर्म-सामग्री कर्म अनुष्ठान से पूर्व प्राप्त होती है। इसी दृष्टि से मिला हुआ अपना नहीं है, अपितु किसी की देन है।

मिले हुए के सदुपयोग के लिए ही विवेकरूपी विधान मिला है और सुख-भोग की रुचि का नाश करने के लिए ही दुःख का प्रादुर्भाव हुआ है। यदि दुःख का प्रादुर्भाव न हो, तो कोई भी साधक पराधीनता, अभाव एवं नीरसता से मुक्त नहीं हो सकता, जो सुख-भोग का परिणाम है। सुख-भोग के परिणाम से बचाने के लिए दुःखहारी ही दुःख के स्वरूप में अभिव्यक्त होते हैं, जो सभी के अपने हैं और सभी के सुहृद् हैं। यदि साधक दुःख के वेष में अपने परम सुहृद् को पहचान सके, तो अत्यन्त सुगमतापूर्वक सुख की दासता और दुःख का भय मिट जाता और दुःखी अपने आप दुःख के प्रभाव से प्रभावित हो, दुःखहारी की प्रीति हो जाता है, यह निर्विवाद सिद्ध है।

दुःख का प्रभाव दुःखी को दुःख के मिटाने में तत्पर कर देता है और दुःख का भय तथा भोग सुख की आशाओं में आबद्ध रखता है। दुःख स्वरूप से न्यूनाधिक नहीं है। दुःख वास्तव में दुःख ही है। दुःख की अधिकता में दुःख का प्रभाव होगा और न्यूनता में नहीं होगा-ऐसा नियम नहीं है। दुःख का प्रभाव अधिकतर स्वभाव से उन्हीं प्राणियों पर होता है, जो पराधीनता, असमर्थता एवं नीरसता सहन नहीं कर पाते, अर्थात् किसी भी प्रलोभन तथा भय से नीरसता आदि जिन्हें नहीं भाती। दुःख का प्रभाव दुःख की न्यूनाधिक श्रेणियों के आश्रित नहीं होता, अपितु दुःखी की सजगता तथा सावधानी ही दुःख के प्रभाव में हेतु है। जब दुःखी जीवन-संग्राम में हार स्वीकार नहीं करता, अपने लक्ष्य से निराश नहीं होता तथा विकास में अविचल आस्था रखता है और परिस्थितियों से अपना मूल्य अधिक

जानता है, तब वह दुःख के प्रभाव से प्रभावित होता है। प्रत्येक मानव परिस्थितियों के परिवर्तन से भलीभाँति परिचित है। जिसे परिस्थितियों के परिवर्तन का ज्ञान है, उसे अपने परिवर्तन का ज्ञान नहीं है, अपनी माँग का ज्ञान भले ही हो।

अपनी माँग अपने से विभाजित नहीं की जा सकती, पर उसकी पूर्ति हो सकती है। इस दृष्टि से साधक में जो माँग के रूप में विद्यमान है, उसी का स्वतन्त्र नित्य अस्तित्व है। जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है, उससे निराश होना, उसे वर्तमान जीवन की आवश्यकता न मानना और उससे विमुख होना, साधक की अपनी भूल ही है और कुछ नहीं। जीवन-संग्राम में हार वे ही प्राणी स्वीकार करते हैं, जो परिस्थितियों में ही जीवन-बुद्धि रखते हैं और जिन्हें परिस्थितियों से अतीत के जीवन में अविचल आस्था नहीं होती अथवा जो उस जीवन की जिज्ञासा तथा उसकी खोज नहीं करते।

यह सभी को विदित है कि परिस्थितियाँ जीवन नहीं हैं। यदि परिस्थिति ही जीवन होती, तो कोई-न-कोई परिस्थिति ऐसी अवश्य होती, जिसमें संयोग की दासता तथा वियोग का भय नहीं होता। दासता और भय किसी की स्वाभाविक माँग नहीं है। जो स्वाभाविक माँग नहीं है, वह जीवन कैसे हो सकता है? अत: परिस्थितियाँ जीवन नहीं हैं, यह निर्विवाद सिद्ध है। जो जीवन नहीं है, उससे असंगता अत्यन्त सुगमतापूर्वक हो सकती है। जिससे असंगता हो जाती है, उसका प्रलोभन तथा भय शेष नहीं रहता।

परिस्थिति-जन्य प्रलोभन तथा भय का नाश होते ही जीवन-संग्राम में हार स्वीकार करने के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता। जीवन-संग्राम में हार का प्रश्न तभी तक रहता है, जब तक प्राणी परिस्थितियों को ही जीवन मानता है। यह मान्यता अविवेक-सिद्ध है, वास्तविक नहीं। जीवन-संग्राम ही वह अनुपम संग्राम है, जिसमें सर्वदा विजय है, हार नहीं। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जो दुःख के प्रादुर्भाव को विकास का मूल मानते हैं।

विश्व के इतिहास और व्यक्तिगत अनुभूतियों से यह सिद्ध नहीं हुआ कि कोई ऐसी परिस्थिति भी है, जिसमें केवल सुख हो, दुःख न हो और न कोई ऐसा प्राणी है, जिसे सुख भोगते हुए विवश होकर दुःख न

भोगना पड़ा हो। तो क्या सुख और दुःख का भोग ही जीवन है? कदापि नहीं। सुख-दुःख के द्वंद्व से रहित होने में ही जीवन-ज्योति है। यह रहस्य वे ही जानते हैं, जिन्होंने परिस्थितियों को जीवन स्वीकार नहीं किया, अपितु उनके सदुपयोग के द्वारा परिस्थितियों से अतीत के जीवन से अभिन्नता प्राप्त की है। अत: जीवन-संग्राम में हार न स्वीकार करने से दुःखी पर दुःख का प्रभाव स्वतः हो जाता है, जो विकास का मूल है।

जो साधक परिस्थितियों से अपना विभाजन नहीं करता और उन्हीं से तादात्म्य बनाये रखता है, वह बेचारा दीनता तथा अभिमान की अग्नि में ही दग्ध होता रहता है, जो वास्तव में किसी को भी अभीष्ट नहीं है। अत: प्रत्येक साधक को परिस्थितियों से अपना विभाजन करना अनिवार्य है, जिसके करते ही परिस्थितियों से अपना मूल्य अधिक हो जाता है और फिर प्रत्येक परिस्थिति साधन-सामग्री के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहती। इतना ही नहीं, परिस्थिति से असंग हुए बिना कोई भी साधक अपने सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से विचार नहीं कर सकता, जिसके किये बिना दायित्व क्या है? और माँग क्या है? इसका स्पष्ट निर्णय नहीं होता।

जब दायित्व और माँग का निर्णय ही नहीं होता, तब 'दायित्व पूरा कर सकते हैं', 'माँग पूरी होती है', ये समस्याएँ वर्तमान की समस्याएँ नहीं बनतीं। प्राकृतिक नियमानुसार हल उसी का होता है, जो समस्या वर्तमान में है। उसके हल में ही प्राणी के पुरुषार्थ की परावधि है और उसी के लिए मानव-जीवन मिला है। इस दृष्टि से अपने सम्बन्ध में विचार करना प्रत्येक साधक के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

यह तभी सम्भव है, जब विवेकपूर्वक परिस्थितियों से असंगता, अर्थात् विभाजन कर लिया जाय, जिसके होते ही साधक का अपना मूल्य परिस्थितियों से अधिक हो जाता है। अथवा यों कहो कि साधक में एकमात्र अपने साध्य की ही उत्कट माँग शेष रहती है। जो माँग सभी कामनाओं को खाकर पोषित होती है, वही वर्तमान की माँग है। मंगलमय विधान से उसकी पूर्ति अपने आप होती है। अत: वास्तविक माँग की जागृति में ही उसकी पूर्णता निहित है।

जब तक अपना मूल्य परिस्थितियों से अधिक नहीं होता, तभी तक सुख की दासता तथा दुःख का भय रहता है और तभी तक न तो सुख के प्रलोभन का नाश ही होता है और न दुःख का प्रभाव ही होता है, जिसके बिना हुए किसी भी प्रकार से साधक अपने दायित्व को पूरा नहीं कर पाता और न वास्तविक माँग की पूर्ति ही होती है। "दायित्व पूरा नहीं कर सकते, माँग पूरी नहीं होती"-इस भ्रमात्मक धारणा का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। इस पर भी यदि कोई यह स्वीकार करे कि मैं वास्तव में कुछ नहीं कर सकता। तो उसे गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए कि प्राकृतिक नियमानुसार जो कुछ नहीं कर सकता, उसे वास्तव में कुछ नहीं करना है और न उससे कोई ऐसा कार्य होता है, जो करने योग्य नहीं है।

कुछ न करने की स्थिति, जो करना चाहिए उसके करने पर, अर्थात् प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग से अथवा निष्कामता से उदित चिर-विश्राम प्राप्त होने पर, अथवा असंगता-पूर्वक स्वाधीनता से अभिन्न होने पर, अथवा अविचल आस्था, श्रद्धा एवं विश्वास-पूर्वक शरणागत होने पर ही आती है। उससे पूर्व न करने के गीत गाना अकर्मण्यता, आलस्य, प्रमाद, असावधानी आदि को ही पोषित करना है, जो सर्वथा त्याज्य है। सामर्थ्य का सद्व्यय अथवा असमर्थता दोनों ही से विकास होता है। प्राप्त सामर्थ्य का दुर्व्यय ही ह्रास का मूल है, असमर्थता नहीं। असमर्थता से पीड़ित प्राणी तो सर्वसमर्थ में आस्था कर, अत्यन्त सुगमतापूर्वक शरणागत हो जाता है और फिर कुछ भी करना शेष नहीं रहता। प्राप्त सामर्थ्य का सद्व्यय करने पर मंगलमय विधान से आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति तथा साध्य की उपलब्धि स्वत: होती है। इस कारण लक्ष्य से निराश होने में एक मात्र साधक का प्रमाद ही हेतु है और कुछ नहीं।

अल्प सामर्थ्य, विशेष सामर्थ्य तथा असमर्थता विकास में बाधक और सहायक नहीं हैं। सामर्थ्य का सद्व्यय एवं असमर्थता की वेदना ही सफलता में हेतु है, जो सभी साधकों के लिए सर्वदा सुलभ है। जो सुलभ है, वह दुर्लभ क्यों प्रतीत होती है? इसका मूल कारण दुःख के प्रभाव से प्रभावित न होना है। दुःख से भयभीत प्राणी की

विकास में अविचल आस्था नहीं रहती, जिसके न होने से साधक दुःख के महत्व से अपरिचित रह जाता है और उस पर सर्वांश में दुःख का प्रभाव नहीं होता। बेचारा विवश होकर दुःख का भोगी हो जाता है।

दुःख के भोगी में सुख की आशाएँ उत्पन्न होती रहती हैं। यद्यपि उन आशाओं की पूर्ति सम्भव नहीं है, परन्तु दुःख का भोगी सुख की आशाओं का त्याग नहीं कर पाता, अपितु वस्तु व्यक्ति, अवस्था आदि के चिन्तन में आबद्ध हो जाता है। प्राकृतिक नियमानुसार केवल चिन्तन-मात्र से ही उत्पन्न हुई वस्तु व्यक्ति आदि की प्राप्ति नहीं होती। यदि होती, तो किसी भी व्यक्ति के जीवन में वस्तु-व्यक्ति आदि का अभाव देखने में नहीं आता। पर ऐसा किसी का अनुभव नहीं है कि वस्तु व्यक्ति का आश्रय रहते हुए उनके अभाव की अनुभूति न होती हो। अतः वस्तु व्यक्ति आदि की प्राप्ति चिंतन—साध्य नहीं है, अपितु विधान से ही प्राप्त होती है।

प्राप्त वस्तुओं का सदुपयोग और व्यक्तियों की सेवा में ही साधक का अधिकार है। उनकी ममता में, उनको बनाए रखने की रुचि में साधक का कोई अधिकार नहीं है। वस्तुएँ विधान से ही आती और जाती हैं। इस दृष्टि से विकास में अविचल आस्था न रखना भारी भूल है। विकास में अविचल आस्था बिना किए प्राणी सुख की दासता और दुःख के भय से रहित नहीं हो सकता और उसके हुए बिना मंगलमय विधान से आये हुए दुःख का प्रभाव नहीं होता। विकास की परावधि किसी उत्पन्न हुई परिस्थिति में आबद्ध होना नहीं है, अपितु अनुत्पन्न हुए अविनाशी, दिव्य चिन्मय जीवन से अभिन्न होने में ही है, जो अनन्त-रस से परिपूर्ण है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि विकास की ओर अग्रसर होने में उत्कृष्ट परिस्थितियाँ प्राप्त नहीं होती। जिस प्रकार वाटिका के फलों का मूल्य चुकाने पर वाटिका की सुगन्ध और छाया आदि सभी वस्तुएँ अपने आप बिना ही मूल्य मिलती हैं, उसी प्रकार विकास की पराकाष्ठा होने पर उत्कृष्ट परिस्थितियाँ अपने आप स्वागत करने लगती हैं। पर साधक उनसे तादात्म्य स्वीकार नहीं करता; कारण कि परिस्थितियाँ जीवन नहीं हैं। इस दृष्टि से विकास में अविचल आस्था रखना प्रत्येक साधक के लिए अत्यन्त

आवश्यक है। विकास में अविचल आस्था रखते ही दुःख का भय और भोग शेष नहीं रहते। दुःख का प्रभाव स्वतः हो जाता है, जिसके होते ही दुःखी सदा के लिए दुःख से रहित होकर, कृतकृत्य हो जाता है।

लक्ष्य की विस्मृति अथवा उससे निराशा होने पर साधक में सुख के महत्व तथा उसके प्रलोभन की वृद्धि होती है। सुख का प्रलोभन दुःख का भय उत्पन्न करता है, दुःख का प्रभाव नहीं होने देता, जिसके बिना हुए सर्वतोमुखी विकास सम्भव नहीं है। इस कारण लक्ष्य की स्मृति और उसकी प्राप्ति के लिए नित-नव उत्साह तथा उत्कण्ठा जाग्रत होना परम आवश्यक है। वह तभी सम्भव होगा, जब सुख-भोग में जीवन-बुद्धि न रहे। "सुख-भोग ही जीवन है,"-इस प्रमाद से ही लक्ष्य की विस्मृति होती है। दुःख का प्रादुर्भाव सुख-भोग में विकल्प उत्पन्न कर, सुखी में सजगता प्रदान करता है। इस दृष्टि से दुःख, सुख की अपेक्षा कहीं अधिक महत्व की वस्तु है। बेचारा सुख का भोगी देहाभिमान में आबद्ध हो जाता है; कारण, कि देहाभिमान ही कामनाओं का उद्गम है और कामना-पूर्ति में ही सुख-भोग की सिद्धि होती है।

देहाभिमान के बिना सुख का भोग सम्भव नहीं है। इसी कारण विचारशील व्यक्ति सुख के प्रलोभन को त्याग, दुःख के प्रभाव से प्रभावित हो, वास्तविक जीवन की खोज में तत्पर हो जाते हैं। इस पवित्रतम उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही अनन्त के मंगलमय विधान से सभी प्राणियों को प्रत्येक सुखानुभूति के आदि और अन्त में दुःख का भास होता है। यह प्राणियों पर कैसी अहैतुकी कृपा है कि सुख के भोगी को दुःख भोगना ही पड़ता है ! सुख की वास्तविकता और दुःख के महत्व का स्पष्ट बोध हो जाने पर साधक अपने लक्ष्य से निराश नहीं होता और फिर अत्यन्त ही सुगमतापूर्वक उसे अपने लक्ष्य की स्मृति हो जाती है, जिसके होते ही आए हुए दुःख का प्रभाव स्वतः होता है, जो साधक को सुख-दुःख के बन्धन से मुक्त कर, वास्तविक जीवन से अभिन्न कर देता है।

कामना और माँग का स्पष्ट विभाजन हो जाने पर दुःख दो भागों में विभक्त होता है-"निर्जीव दुःख" और "सजीव दुःख"। निर्जीव दुःख में दुःखी

सुख की आशा में दुःख भोगता रहता है और सजीव दुःख में दुःखी सुख की आशा से रहित, दुःख-निवृत्ति की आवश्यकता अनुभव करता है। इतना ही नहीं, वह एक ऐसे जीवन की खोज करता है, जिसमें दुःख-निवृत्ति के साथ-साथ स्वाधीनता और अगाध अनन्त, नित-नव रस की अभिव्यक्ति हो। निर्जीव दुःख तो प्राय: सभी प्राणियों को होता है। किन्तु सजीव दुःख उन्हीं प्राणियों को होता है, जिन्हें विवेक रूपी प्रकाश मिला है। जब साधक निज-विवेक के प्रकाश में उत्पन्न हुई परिस्थितियों को देखता है, तब उसे सुख-दुःख-युक्त परिस्थितियों में एकमात्र दुःख का ही दर्शन होता है, अर्थात् जो परिस्थिति इन्द्रिय-दृष्टि से सुख-दुःख-युक्त प्रतीत होती थी, वही परिस्थिति बुद्धि-दृष्टि से दुःखरूप ही भासित होती है।

सुख में दुःख का दर्शन होते ही दुःख की पूर्णता हो जाती है, जिसके होते ही स्वत: दुःख का प्रभाव हो जाता है और फिर अपने आप दुःख-निवृत्ति तथा माँग की पूर्ति हो जाती है। इस दृष्टि से दुःख की पूर्णता में ही दुःख का प्रभाव निहित है। दुःख का अधूरापन दुःखी को सुख में दुःख का दर्शन नहीं करा पाता, अपितु सुख और दुःख, दोनों ही को जीवित रखता है। परन्तु जब साधक इन्द्रिय-दृष्टि का उपयोग करते हुए बुद्धि-दृष्टि के प्रभाव से प्रभावित होता है, तब इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव से उत्पन्न हुआ सुख का भास मिट जाता है, जिसके मिटते ही दुःख का अधूरापन शेष नहीं रहता और फिर साधक बहुत ही सुगमतापूर्वक दुःख के प्रभाव को अपना कर वास्तविक माँग की पूर्ति का अधिकारी हो जाता है, जिसके होते ही मंगलमय विधान से माँग की पूर्ति स्वतः हो जाती है।

कामनाओं के रहते हुए प्राणी आए हुए दुःख को सहन करता रहता है और सुख-सम्पादन के लिए प्रयास करता रहता है, सुख-दुःख से अतीत वास्तविक जीवन की खोज नहीं करता। यद्यपि प्राणी में वास्तविक जीवन की माँग बीज-रूप से विद्यमान है, परन्तु सुख-भोग का प्रलोभन उस माँग को विकसित नहीं होने देता। प्राकृतिक नियमानुसार सुख-सम्पादन का प्रयास करते हुए भी दुःख आता ही है। तब विवश होकर साधक अपनी वास्तविक माँग को सबल तथा स्थायी बनाता है। वास्तविक माँग ज्यों-ज्यों

सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों सुख-भोग की रुचि स्वत: गलती जाती है। सुख-भोग की रुचि का सर्वांश में नाश होते ही साधक वास्तविक माँग से अभिन्न हो जाता है, अर्थात् माँग के अतिरिक्त साधक का और कोई अस्तित्व नहीं रह जाता।

साधक की जो माँग है, वही साध्य का स्वरूप है। इस दृष्टि से साध्य की माँग ही साधक का अस्तित्व है। जिस प्रकार भोजन की माँग के अतिरिक्त भूख और कुछ नहीं है, उसी प्रकार साध्य की माँग के अतिरिक्त साधक का अस्तित्व और कुछ नहीं है। भोजन के मिलते ही भूख और भोजन, दोनों ही का अस्तित्व अलग-अलग नहीं रहता, और तृप्ति ही शेष रहती है, उसी प्रकार वास्तविक माँग की पूर्ति होने पर साधक का अस्तित्व शेष नहीं रहता, अपितु साध्य की अगाध, अनन्त, नित-नव प्रियता ही रह जाती है, जो साध्य से दूरी तथा भेद एवं भिन्नता नहीं रहने देती। साध्य की प्रियता साध्य के समान ही अविनाशी है और क्षति, पूर्ति एवं निवृत्ति से रहित है और उससे नित-नव रस की अभिव्यक्ति स्वत: सतत होती रहती है। इस दृष्टि से साध्य की प्रियता में ही जीवन की पूर्णता निहित है।

कामना-पूर्ति का सुख भोगते-भोगते अन्त में कामना-अपूर्ति की व्यथा ही शेष रहती है। तब साधक विवश होकर कामना-निवृत्ति के लिए प्रयत्नशील होता है। प्राकृतिक नियमानुसार कामना-पूर्ति में सभी प्राणी पराधीन और निवृत्ति में स्वाधीन हैं। इतना ही नहीं, कामना-पूर्ति के सुख की अपेक्षा कामना-निवृत्ति से उदित चिर-शान्ति कहीं अधिक महत्वपूर्ण है; कारण, कि कामना-पूर्ति काल में भी कामना-अपूर्ति के समान पराधीनता रहती ही है, अर्थात् कामना-पूर्ति के जीवन में स्वाधीनता की गन्ध भी नहीं है। पराधीनता के रहते हुए जड़ता तथा अभाव का नाश नहीं होता। इस कारण कामना-पूर्ति और अपूर्ति, दोनों का अर्थ समान है; किन्तु कामना-निवृत्ति पराधीनता का नाश कर, स्वाधीनता से अभिन्न करती है। शान्ति की अभिव्यक्ति के बिना स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश नहीं होता। इस दृष्टि से शान्ति का सम्पादन वास्तविक जीवन से अभिन्न होने के लिए अत्यन्त आवश्यक है, जो कामना-निवृत्ति से ही साध्य है।

कामना-पूर्ति के सुख के अन्त में अपने आप कामना-अपूर्ति का दुःख जिस विधान से आता है, वह विधान कितना मंगलमय है ! यदि कामना-पूर्ति का सुख दुःख का नाश कर पाता, तो कभी-भी किसी भी प्रकार प्राणी का विकास न होता।

इस दृष्टि से जीवन का वह भाग, जो कामना-अपूर्ति की व्यथा को जाग्रत करता है, बड़ा ही आवश्यक तथा उपयोगी है। दुःख से भयभीत प्राणी जीवन के इस सुनहरे भाग का आदर नहीं करते, अपितु अपने को अभागे मानकर अधीर होते हैं। यह मान्यता सर्वथा त्याज्य है। कामना-आपूर्ति-जन्य दुःख से विश्व का कोई भी प्राणी रहित नहीं है। इस कारण कामना-निवृत्ति का प्रश्न सभी के सामने उपस्थित है। तभी तो प्रायः प्राणी सुख के अन्त में सुख-शान्ति का आह्वान करते हैं, दुःख का नहीं। इस स्वाभाविक आह्वान में सुख के अन्त में शान्ति की माँग स्वतः सिद्ध है। परन्तु कामना-अपूर्ति की पीड़ा जब तक कामना-पूर्ति-जनित सुख के प्रलोभन को खा नहीं लेती, तब तक निष्कामता में स्वभाव से अविचल आस्था नहीं होती, जिसके बिना हुए साधक निष्काम हो ही नहीं पाता। इस दृष्टि से दुःख के प्रभाव में ही निष्कामता की अभिव्यक्ति निहित है।

कामना-पूर्ति-अपूर्ति-युक्त परिस्थिति में कामना-अपूर्ति का भाग ही वास्तव में महत्वपूर्ण है। यदि उस भाग को निकाल दिया जाय, तो कामना-पूर्ति का भाग प्राणियों को पराधीनता, जड़ता एवं अभाव में ही आबद्ध रखेगा, जो विचारशीलों को अभीष्ट नहीं है। इतना ही नहीं, कामना-पूर्ति-जनित सुख का सम्पादन भी तो कामना की उत्पत्ति के आश्रित ही है। उत्पन्न हुई कामना जब तक पूरी नहीं होती, तब तक कामना-अपूर्ति ही है। इस दृष्टि से कामना-पूर्ति के सुख का आश्रय भी कामना-अपूर्ति में ही निहित है। परन्तु यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय, तो ऐसा स्पष्ट विदित होता है कि जिस सुखानुभूति को प्राणी कामना-पूर्ति-जनित मानता है, वह मान्यता भी निभ्रन्ति नहीं है।

प्रत्येक कामना-पूर्ति-काल में प्राणी उसी स्थिति में आता है, जो कामना-उत्पत्ति से पूर्व थी। अतः सुखानुभूति उस स्थिति से सिद्ध है, जो कामना-उत्पत्ति से पूर्व है। पर प्राणी वास्तविकता पर विचार बिना ही किए

उस सुखानुभूति को कामना-पूर्ति-जनित मान लेता है। इतना ही नहीं, जिन वस्तु व्यक्ति आदि से कामना पूरी होती है, उन उत्पन्न हुई वस्तु आदि को ही वह सुखरूप स्वीकार करता है। यह स्वीकृति तथा मान्यता भ्रमात्मक ही है। कामना-उत्पत्ति से पूर्व जो स्थिति सहज और स्वाभाविक है, उसकी प्राप्ति मानवमात्र को सर्वदा सुलभ है। कामना-पूर्ति जिन परिस्थितियों से होती है, वे परिस्थितियाँ सभी को सहज प्राप्त नहीं हैं, और ऐसी परिस्थिति तो किसी को भी प्राप्त नहीं है, जिसमें सभी कामनाएँ पूरी हो जाएँ। परन्तु कामना-निवृति से जिस चिर-विश्राम की अभिव्यक्ति होती है, वह प्रत्येक साधक को सर्वदा प्राप्त हो सकती है। उससे निराश होना अपनी असावधानी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

कामना-पूर्ति को ही जीवन मानने के समान और कोई भारी भूल नहीं है। इस दृष्टि से कामना-अपूर्ति-जनित व्यथा विकास का मूल है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने निज विवेक के प्रकाश में बुद्धि-दृष्टि से इन्द्रिय-दृष्टि पर विजय प्राप्त की है और दुःख के महत्व को भलीभाँति अनुभव किया है। इन्द्रिय-दृष्टि का उपयोग आवश्यक है, किन्तु उसके प्रभाव को स्वीकार करना असावधानी है। यदि इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव वास्तविक माँग की पूर्ति में तथा सर्वतोमुखी विकास में हेतु होता, तो बुद्धि-दृष्टि की आवश्यकता ही नहीं होती। बुद्धि-दृष्टि एकमात्र इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव का अन्त करने के लिए ही मिली है। बुद्धि-दृष्टि का प्रभाव इन्द्रिय-दृष्टि का नाशक नहीं है, उसके प्रभाव का नाशक है। इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव नष्ट होने से किसी प्रकार की असुविधा तथा क्षति नहीं होती, अपितु वास्तविक जीवन की माँग जाग्रत होती है, जो दुःख के प्रभाव से प्रभावित कर, दुःखी को वास्तविक जीवन से अभिन्न करने में समर्थ है।

इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव का नाश होते ही बुद्धि-दृष्टि अपने कारण में विलीन हो जाती है, जिसके होते ही साधक का जीवन विवेकरूपी प्रकाश से प्रकाशित हो जाता है, अविवेक - रूपी अन्धकार शेष नहीं रहता। उसके मिटते ही अकर्तव्य, असाधन और आसक्तियाँ निर्मूल हो जाती हैं और फिर अपने आप कर्तव्य-परायणता, साधन तथा प्रेम की अभिव्यक्ति होती

है। इस दृष्टि से बुद्धि-दृष्टि का प्रभाव बड़े ही महत्व की वस्तु है। परन्तु दुःख का प्रभाव हुए बिना बुद्धि-दृष्टि इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव को नष्ट नहीं कर पाती, इसी कारण दुःख के प्रभाव में ही विकास निहित है।

प्राकृतिक नियमानुसार मानवमात्र को आंशिक सुख और दुःख का भास है। किन्तु वह किसके प्रभाव से प्रभावित है, यह उसकी व्यक्तिगत बात है। साधकों को तो सुख-दुःख के प्रभावों के परिणाम पर विचार करना है। यदि प्राणी आंशिक सुख के प्रभाव से प्रभावित है, तो उसमें दुःख का भय और भोग उत्पन्न होगा, जिसके होते ही अप्राप्त सुख की आशा और प्राप्त सुख की ममता उत्पन्न होगी। यह जानते हुए कि चाहते हुए भी प्राप्त सुख नहीं रहता, तो अप्राप्त सुख की आशा क्या निरर्थक नहीं है? इस दृष्टि से सुख का प्रभाव अवन्नती का ही मूल है। सुख की आशाओं के आधार पर दुःख को भोगते रहना और उससे भयभीत होना असावधानी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

आये हुए दुःख का प्रभाव न तो प्राप्त सुख में ममता ही रहने देता है और न अप्राप्त सुख की कामनाओं को ही जन्म देता है, अपितु सुख-दुःख से अतीत के जीवन की जिज्ञासा तथा उत्कट लालसा जाग्रत करता है। जिज्ञासा उत्पन्न हुई कामनाओं का नाश कर, वास्तविक जीवन की उत्कट लालसा-पूर्ति में समर्थ है। इस दृष्टि से दुःख का प्रभाव बड़े ही महत्व की वस्तु है। जब तक साधक आये हुए दुःख के प्रभाव को नहीं अपनाता है, तब तक न तो सुख की दासता का ही नाश होता है और न दुःख का आना ही बन्द होता है, अर्थात् दुःख आता ही रहता है। इस कारण शीघ्रातिशीघ्र आये हुए दुःख के प्रभाव को अपनाना है और दुःखियों को देख करुणित तथा सुखियों को देख प्रसन्न होना है।

दुःख का प्रभाव अप्राप्त सुख की कामनाओं को उत्पन्न नहीं होने देता और करुणा तथा प्रसन्नता प्राप्त सुख-भोग की रुचि का नाश कर देती है, जिसके होते ही प्राप्त सुख का सद्व्यय स्वतः होने लगता है और फिर परस्पर एकता हो जाती है। इस दृष्टि से समस्त संघर्षों का अन्त दुःख के प्रभाव में ही निहित है। समस्त संघर्ष सुख-लोलुपता से ही उत्पन्न एवं पोषित होते हैं। आंशिक सुख का सद्व्यय एकमात्र सेवा द्वारा विद्यमान राग की निवृत्ति में

ही है। आये हुए सुख का भोग करना तो नवीन दुःख के आह्वान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अतः प्राप्त सुख दुःखियों की धरोहर है। उसे दुःखियों को भेंट न करना साधक की भारी भूल है।

ममता-रहित होकर करुणित होना ही प्राप्त सुख दुःखियों को भेंट करना है। यह तभी सम्भव होगा, जब साधक किसी न किसी दृष्टिकोण से सभी के साथ अपनापन स्वीकार करे। सुख-भोग की रुचि परस्पर भिन्नता को जन्म देती है। जब दुःख का प्रभाव सुख-भोग की रुचि को निर्मूल कर देता है, तब भिन्नता का स्वतः अन्त हो जाता है, जिसके होते ही दुःखियों को देख करुणा और सुखियों को देख प्रसन्नता स्वतः जाग्रत होती है, जिससे साधक का जीवन जगत् के लिए उपयोगी सिद्ध होता है।

ममता-युक्त करुणा और प्रसन्नता विकास में हेतु नहीं हैं। उनसे तो मोह ही पोषित होता है। दुःखद और सुखद दृश्य को देख जो करुणा तथा प्रसन्नता होती है, वही विकास का मूल है। जब प्राणी देहाभिमान के कारण दृश्य से ममता जोड़ लेता है, तब उत्पन्न हुई करुणा और प्रसन्नता दुःख का भय तथा सुख का प्रलोभन ही पोषित करती हैं। अतः साधकों को एकमात्र सुख और दुःख पर विचार करना है, किसी व्यक्ति-विशेष के आधार पर नहीं। तभी सुख की वास्तविकता का बोध और दुःख का पूरा-पूरा प्रभाव होता है। व्यक्तिगत रूप से सुख और दुःख आशा और भय में ही आबद्ध रखते हैं।

सुख की आशा से सुख मिल नहीं जाता और दुःख के भय से दुःख मिट नहीं जाता। सुख और दुःख अनन्त के विधान से अपने आप आते और जाते हैं। उनके सदुपयोग तथा उनकी वास्तविकता के परिचय में ही साधक का विकास है। प्राकृतिक विधान के अनुसार सुख और दुःख एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। उनको विभाजित कर, एक की आशा करना और दूसरे से भयभीत होना प्राणियों की भूल है, और कुछ नहीं। सुख की आशा का नाश करते ही दुःख का भय अपने आप मिट जाता है। इतना ही नहीं, सुख में भी दुःख का दर्शन होने लगता है, जिसके होते ही दुःखी दुःख के प्रभाव से प्रभावित हो, सुख-दुःख से अतीत के जीवन का अधिकारी हो जाता है।

प्राकृतिक नियमानुसार सुख के भोगियों को दुःख भोगना ही पड़ता है और वे आये हुए दुःख से भयभीत भी होते ही हैं। दुःख का भोग और भय विकास में हेतु नहीं हैं, अपितु उनसे तो प्राप्त शक्ति का ह्रास ही होता है। इतना ही नहीं, दुःख से भयभीत प्राणी सुख और सम्मान को सुरक्षित रखने के लिए उन प्रवृत्तियों में प्रवृत्त होता है, जो सर्वथा त्याज्य हैं और जिनका परिणाम भयंकर दुःख के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। इस कारण भूलजनित दुःख का भोग सुख का प्रलोभन ही है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। दुःख का भोगी ही दूसरों को दुःख देने में प्रवृत्त होता है। जिस पर दुःख का प्रभाव होता है, वह किसी अन्य को दुःख नहीं देता, अपितु पर-दुःख से करुणित ही होता है। सुख का लोभी और दुःख का भोगी ही दूसरों को दुःख देता है।

विधान के अनुसार दिया हुआ दुःख कई गुना अधिक होकर अपने पर ही आता है। इस दृष्टि से किसी को दुःख देना अहितकर ही है। पराये दुःख से करुणित होने में ही विकास है। इस कारण जब तक प्राणी सुख-दुःख का भोगी रहेगा, तब तक विकास नहीं होगा और न अकर्तव्य-जनित दुःख का नाश ही होगा। दुःख का प्रभाव प्रमाद का नाश कर, अकर्तव्य को उत्पन्न ही नहीं होने देता। अत: साधकों को दुःख के भय तथा उसके भोग का त्याग कर, दुःख के प्रभाव को अपनाना अनिवार्य है।

जिस दुःख के मूल में दुःखी की वर्तमान भूल नहीं है, अपितु जो परिस्थिति-जनित है, उससे दुःखी के सम्मान में बाधा नहीं आती, अर्थात् उसे कोई अपमानित नहीं करता। इतना ही नहीं, उसके प्रति करुणा ही जाग्रत होती है। उस दुःख से दुःखी की प्राप्त शक्ति का ह्रास नहीं होता। भूलजनित दुःख तो दुःखी को अधीर कर देता है। और उसके स्वाभिमान को गहरी ठेस लगती है। वह समाज की ओर से भी तिरस्कार पाता है। इन सब कारणों से भूलजनित दुःख से दुःखी बेचारा उस समय तक विकास के पथ पर अग्रसर नहीं होता, जब तक वह नित्य-प्राप्त वर्तमान निर्दोषता में अविचल आस्था न रखे और दुःख के प्रभाव से भूतकाल की भूल को न दोहराने का दृढ़ संकल्प न कर ले। इस दृष्टि से भूतकाल की भूल को न दोहराना और वर्तमान निर्दोषता में अविचल आस्था ही सब

ओर से तिरस्कृत दुःखी को वास्तविक जीवन से अभिन्न करने में हेतु है।

प्राकृतिक दुःख से दुःखी प्राणियों के प्रति तो विश्व की ओर से करुणा की धार बहती ही है। उनको आवश्यक आदर, प्यार तथा सहयोग मिलता ही है और उनका स्वाभिमान भी सुरक्षित रहता ही है। यदि उनमें सुख की आशा न रहे, तो वे अत्यन्त सुगमतापूर्वक दुःख के प्रभाव से प्रभावित हो, सत्पथ पर अग्रसर हो जाते हैं। परन्तु भूल-जनित दुःखियों को देख, कोई विरले ही महापुरुष ऐसे होते हैं, जो उन्हें आदर तथा प्यार एवं आवश्यक सहयोग देकर अधीर नहीं होने देते और उनमें आत्म-विश्वास जाग्रत करते हैं। जिससे वे भी अपनी रुचि, योग्यता एवं सामर्थ्य के अनुसार साधन-पथ में प्रवृत्त हो जाते हैं।

भूल-जनित दुःखियों को देख, जिन्हें क्षोभ तथा क्रोध नहीं होता, उन्हीं के हृदय में वास्तविक करुणा की धारा प्रवाहित होती है, जो उनके लिए तो हितकर है ही, पर विश्व में भी वह करुणा का स्रोत प्राणियों में करुणा जगाने में समर्थ होता है।

पराये दुःख से दुःखी होने के समान और कोई उत्कृष्ट सेवा नहीं है। पर यह सेवा वे ही साधक कर सकते हैं, जो वर्तमान निर्दोषता के आधार पर किसी को बुरा नहीं समझते, किसी का बुरा नहीं चाहते और न किसी के प्रति बुराई करते हैं। भूल-जनित दुःखियों को अपनाने की सामर्थ्य उन्हीं सजग साधकों में होती है, जो अपनी भूल देखने में और उसको न दोहराने में सर्वदा तत्पर हैं।

निर्दोष तत्व सर्वदा विद्यमान है। उससे विमुखता तथा विस्मृति सुख-भोग के कारण हो गई है। दुःख का प्रभाव सुख-भोग की रुचि को खाकर नित्य-प्राप्त निदष तत्व से अभिन्न करने में समर्थ है। अर्थात् विस्मृति और विमुखता का सर्वांश में नाश दुःख के प्रभाव में ही निहित है।

अनुकूल परिस्थिति में भी जो दुःखियों को देख अधीर तथा करुणित हो जाते हैं, वे सहज भाव से सुख के प्रलोभन से रहित होकर, दुःख के प्रभाव को अपना कर, वास्तविक जीवन की खोज में बड़ी ही सजगता, सावधानी तथा तत्परता से प्रवृत्त हो जाते हैं। वे विश्व की ओर से मिले हुए सम्मान का भोग नहीं करते और श्रम, संयम, सदाचार आदि गुणों के महत्व में आबद्ध नहीं होते। तब मंगलमय

विधान से स्वत: सीमित आह-भाव गल जाता है। जिसके गलते ही जीवन की पूर्णता सिद्ध होती है। इस दृष्टि से सम्मान और सद्‌गुणों के सुख का भी सर्वांश में त्याग करना अनिवार्य है। पर वह तभी सम्भव होगा, जब सभी का दुःख अपना दुःख हो जाये और किसी भी मूल्य पर दुःख का भोग अभीष्ट न रहे, अपितु असह्य वेदना जाग्रत हो जाये।

सीमित आह-भाव सुख तथा दुःख के आश्रय से ही जीवित रहता है। सर्वांश में सुख के प्रलोभन के नाश और दुःख की असह्य वेदना से ही सुख-दुःख का आश्रय मिटता है। जिसके मिटते ही अह-भाव रूपी अणु शेष नहीं रहता और फिर साधक विश्राम, स्वाधीनता तथा प्रेम से अभिन्न हो, कृतकृत्य हो जाता है। इस दृष्टि से असह्य वेदना में ही दुःख का प्रभाव निहित है, जो सफलता की कुंजी है।

वर्तमान वस्तुस्थिति प्राणिमात्र की कामना की उत्पत्ति, पूर्ति, अपूर्ति एवं निवृत्ति से ही युक्त है। कामना उत्पन्न होते ही पर की अपेक्षा होती है, अर्थात् पराधीनता की अनुभूति होती है। पर, प्राणी प्रमादवश कामना-पूर्तिजनित सुख की आशा में पराधीनता से पीड़ित नहीं होता और अल्प-काल के सुख-भोग के प्रलोभन में आबद्ध हो, पराधीनता-जनित व्यथा को सहन कर लेता है।

किन्तु प्राकृतिक नियमानुसार कामनापूर्ति का सुख-भोग नवीन कामना को जन्म देता है, जिसके होते ही बेचारा प्राणी कामना-अपूर्ति के दुःख से व्यथित हो जाता है। तब वह कामना-निवृत्ति के लिए प्रयास करता है, जो विवेक-सिद्ध है। कामना-अपूर्ति से उत्पन्न हुए दुःख का प्रभाव ही विवेक के आदर में समर्थ है। पर जब साधक कामना-निवृत्ति की शान्ति में, जो सुख की अपेक्षा कहीं अधिक सरस है, रमण करने लगता है, तब वह परिच्छिन्नता में आबद्ध हो जाता है, जो भेद की जननी है।

भेद के उत्पन्न होते ही प्राणी लोक-रंजन, आत्म-ख्याति आदि में आबद्ध होने लगता है, जो उसे वास्तविक जीवन से अभिन्न नहीं होने देते। इस कारण कामना-निवृत्ति की शान्ति में रमण करना भी उत्कृष्ट सुख-भोग ही है। यह नियम है कि सुख के भोगी को दुःख भोगना ही पड़ता है। इस दृष्टि से शान्ति में रमण करना भी दुःख को दबाना है, उसका नाश करना

नहीं। दबा हुआ दुःख अपने आप प्राकृतिक नियम से प्रकट होता है, अर्थात् जब तक परिच्छिन्नता का अत्यन्त अभाव नहीं हो जाता, तब तक दुःख के वेष में अनन्त की अहैतुकी कृपा होती ही रहती है। पर इस रहस्य को कोई बिरले ही विचारशील जानते हैं।

दुःख का आना तो मंगलमय है ही, पर उसके प्रभाव से प्रभावित न होना और उससे भयभीत हो जाना, साधक की असावधानी ही है। असावधानी प्राकृतिक दोष नहीं है, अपितु साधक की भूल है। दुःख के प्रभाव से जो सजगता उदित होती है, उसी से असावधानी का अन्त होता है। जिसके होते ही साधक कामनापूर्ति, अपूर्ति एवं निवृत्ति से उत्पन्न हुए सुख, दुःख तथा शान्ति को जीवन मानना बन्द कर देता है; कारण, कि सुख, दुःख और शान्ति के आश्रित ही अहंभाव जीवित रहता है। जिसके रहते हुए समता, स्वाधीनता एवं प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश नहीं होता।

अतः परिच्छिन्नता का नाश अत्यन्त आवश्यक है, जो दुःख के प्रभाव से ही सम्भव है। दुःख, सुख तथा शान्ति के आश्रित आह-भाव को जीवित रखना वास्तविक जीवन से विमुख होना है। 'अहं के रहते हुए 'मम' का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। ममता की उत्पत्ति समस्त विकारों की जननी है। दुःख का प्रभाव ममता के नाश में हेतु है। ममता का नाश होते ही निर्विकारता की अभिव्यक्ति स्वत: होती है।

परन्तु विवेकीजन निर्विकारता के आश्रय 'अहं का पोषण नहीं करते। तब किसी प्रकार के गुण का अभिमान तथा दोष की उत्पत्ति नहीं होती। गुण-दोष रहित जीवन में ही वास्तविक निर्दोषता की अभिव्यक्ति है। अभिव्यक्ति उसी की होती है, जो अविनाशी है और विनाश उसका होता है, जो उत्पन्न हुआ है। गुण प्राकृतिक हैं। उनका अभिमान प्राणी की भूल है। गुणों का अभिमान गलते ही किसी भी दोष की उत्पत्ति नहीं होती। गुणों के अभिमान से तो दोष दब भले ही जाएँ, सर्वांश में उनका नाश नहीं होता। इस दृष्टि से गुणों का अभिमान ही दोषों की भूमि है।

जो बुराई 'भलाई' का रूप धारण कर लेती है, उसको जानना और उसे मिटाना बड़ा ही कठिन होता है।

जो बुराई, 'बुराई' के रूप में होती है, उसको जानना और मिटाना सुगम होता है। गुणों का अभिमान वह मूल दोष है, जो भलाई का वेष धारण कर, साधक को परिचिठन्नता में आबद्ध कर देता है। दोष-जनित वेदना से व्यथित प्राणी अनन्त की अहैतुकी कृपा का आश्रय ले, अत्यन्त सुगमतापूर्वक वास्तविक जीवन से अभिन्न हो जाता है; कारण, कि असह्य वेदना दोष-जनित सुख-लोलुपता को खा लेती है और साधक को अनन्त की अहैतुकी कृपा का स्पष्ट दर्शन करा देती है। आंशिक दोष रहने पर ही गुणों के अभिमान की उत्पत्ति होती है। दोषजनित वेदना ही दोषों को निर्मूल करने में हेतु है। केवल गुणों के सम्पादन से दोष समूल नष्ट नहीं होते। अत: दुःख के प्रभाव में ही निर्दोषता की अभिव्यक्ति निहित है।

प्रत्येक साधक में आंशिक गुण और दोष विद्यमान हैं। अत: आंशिक गुणों का अभिमान करना और आंशिक दोषों से व्यथित न होना, क्या भूल नहीं है? इस भूल को बनाये रखना दुःख के प्रभाव से वंचित होना है, जो विनाश का मूल है। दोष-युक्त जीवन की माँग अपने लिए किसी को नहीं है। सभी को निर्दोष साथियों की आवश्यकता है। जिसकी माँग अपने लिए नहीं है, उसको जीवन में बनाये रखना, कहाँ तक उचित है? इस समस्या पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि दोष-जनित वेदना के बिना जीवन विकसित नहीं होता।

दोष को 'दोष' जान लेने पर भी दोष-जनित सुख-लोलुपता का सर्वांश में नाश दोष-जनित वेदना के बिना सम्भव नहीं है। इसी कारण अधिकतर साधक दोष जान लेने पर भी दोष-रहित नहीं हो पाते और आंशिक निर्दोषता के आधार पर झूठा सन्तोष कर बैठते हैं। यद्यपि निर्दोषता से अभिन्न हुए बिना कोई भी साधक सन्तुष्ट नहीं हो सकता, परन्तु आंशिक निर्दोषता के अभिमान में आबद्ध होकर, वह आशिक दोषों की व्यथा से व्यथित नहीं होता।

विचार यह करना है कि जब आशिक निर्दोषता से सन्तोष होता है, तो आंशिक दोष की व्यथा क्यों नहीं होती? इस मूल भूल पर प्रत्येक साधक को सजगता तथा सावधानी पूर्वक प्राप्त विवेक के प्रकाश में स्वयं विचार करना अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा, जब साधक निर्दोषता से निराश

न हो और उसकी प्राप्ति में उसकी अविचल आस्था तथा विकल्प-रहित विश्वास हो। यह नियम है कि जिसकी प्राप्ति में विकल्प-रहित आस्था होती है, उसके लिए प्राप्त वस्तु सामर्थ्य, योग्यता आदि का सद्व्यय अपने आप होने लगता है। मिले हुए के सदुपयोग में ही सफलता निहित है, यह अनन्त का मंगलमय विधान है। इससे यह निर्विवाद सिद्ध है कि निर्दोषता की माँग सभी साधकों की अपनी माँग है और उसकी पूर्ति अनिवार्य है।

आंशिक दोष रहते हुए आंशिक निर्दोषता का भोग करना सर्वथा त्याज्य है। जब साधक आशिक दोष को किसी भी प्रकार सहन नहीं कर सकता, तब दोष-जनित वेदना स्वत: जाग्रत होती है और फिर साधक जाने हुए तथा किये हुए दोषों का त्याग करने में समर्थ हो जाता है। तब किये हुए दोषों की पुनरावृत्ति नहीं होती और जाने हुए दोष उत्पन्न नहीं होते। एकमात्र पर-दोष-दर्शन ही आंशिक दोषों की व्यथा को जाग्रत नहीं होने देता, अपितु आंशिक निर्दोषता का अभिमान उत्पन्न करता है। इस कारण दोष-जनित व्यथा के जगाने में पर-दोष-दर्शन का त्याग अत्यन्त आवश्यक है। अपना गुण और पराया दोष देखने के समान और कोई दोष नहीं है। इस भयंकर दोष का नाश वर्तमान में ही करना है। उसके पश्चात् ही साधक सजगतापूर्वक अपने सम्बन्ध में विचार करने में प्रवृत्त हो सकता है, जो विकास का मूल है।

प्राकृतिक नियमानुसार जो देखने में आता है, उससे द्रष्टा किसी-न-किसी अंश में अलग हो जाता है। अतः अपने गुणों को देखते ही वे गुण जीवन में नहीं रहते, अपितु उनसे भिन्नता हो जाती है। इस कारण अपने गुणों को देखना अपने को उनसे अलग करना है और पराये दोष देखने से अपने में जो आंशिक गुण हैं, उनका अभिमान उत्पन्न होता है। इस दृष्टि से पराये दोष और अपने गुणों को देखना, दोषों को पोषित करना है। साधकों को जितने स्पष्ट रूप से अपने दोषों का दर्शन हो सकता है, उतना 'पर' के दोषों का नहीं। अत: दूसरे में दोषों को आरोप करना सर्वांश में सत्य नहीं है। जो सत्य नहीं है, उसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

गुणों के न देखने से गुण नष्ट नहीं हो जाते, अपितु जीवन हो जाते हैं। इस कारण गुणों को न देखना ही गुणों

से अभिन्न होने का वास्तविक उपाय है। इतना ही नहीं, निर्विकारता तथा निर्दोषता व्यक्ति द्वारा उपार्जित नहीं हैं, अपितु व्यक्ति की खोज है। खोज के द्वारा उसी की प्राप्ति होती है, जो अविनाशी तत्व है। अविनाशी तत्व से साधक अभिन्न होता है, उसे उत्पन्न नहीं करता। इस दृष्टि से गुण व्यक्तिगत उपज नहीं हैं, अपितु व्यक्ति की माँग है। जो वस्तु व्यक्तिगत नहीं है, उसका अभिमान करना भारी भूल है।

यदि निर्दोषता व्यक्तिगत उपज होती, तो सभी के जीवन में सर्वांश में होती। पर ऐसा किसी का भी अनुभव नहीं है। आंशिक दोषों के नाश का दायित्व साधक पर है, कारण कि, दोषों की उत्पत्ति प्राप्त विवेक के अनादर से ही होती है। जिन दोषों की उत्पत्ति साधक के प्रमाद से होती है, वे ही दोष नष्ट हो सकते हैं और उनके नष्ट होते ही स्वत: निर्दोष-तत्व से अभिन्नता हो जाती है। निर्दोषता व्यक्तिगत निर्माण नहीं है। वह तो अनन्त का स्वभाव है अथवा स्वत: सिद्ध तत्व है। साधक में स्वत: सिद्ध तत्व की माँग है और उस पर प्रमाद से उत्पन्न हुए आशिक दोष-जनित सुख का प्रलोभन मिटाने का दायित्व है। दुःख का प्रभाव दोष-जनित सुख-लोलुपता को खाकर साधक को निर्दोष तत्त्व से अभिन्न कर देता है।

यह नियम है कि जिसका न होना अपने में असह्य व्यथा जाग्रत करता है, वह स्वत: होने लगता है, कारण, कि वर्तमान की वेदना ही भविष्य की उपलब्धि होती है। अत: निर्दोष तत्व से अभिन्न होने के लिए निर्दोष न होने की वेदना अनिवार्य है। पर यह तभी सम्भव होगा, जब साधक सर्वांश में सर्वदा पर-दोष-दर्शन का त्याग करे। पराये दोष देख, प्राणी अपने दोषों को सहन करता रहता है। इस कारण पर-दोष-दर्शन का बड़ा ही भयंकर परिणाम यह होता है कि पर-दोष-दर्शी निज-दोषों से व्यथित नहीं होता। व्यथा के बिना दोष-जनित सुख-लोलुपता का सर्वांश में नाश नहीं होता, जिसके बिना हुए निर्दोषता की तीव्र लालसा जाग्रत नहीं होती। जिसकी आवश्यकता नहीं है, उसकी प्राप्ति भी सम्भव नहीं है।

प्राप्ति उसी की होती है, जिसकी आवश्यकता वर्तमान में हो। जो आवश्यकता अनेक कामनाओं को खाकर पोषित होती है, वही वास्तव में

आवश्यकता है। एक काल में अनेक कामनाएँ भले ही प्रतीत हों, किन्तु वास्तविक आवश्यकता एक काल में एक ही होती है। इतना ही नहीं, जिसमें वास्तविक आवश्यकता उदित होती है, उसमें और उसकी आवश्यकता में विभाजन नहीं होता। अर्थात् साधक और उसकी आवश्यकता, दोनों दो नहीं रहते, अपितु साध्य की आवश्यकता ही साधक का अस्तित्व होता है। कामना और जिसमें कामना उत्पन्न होती है, वे दोनों एक नहीं होते। कारण, कि कामनाएँ अनेक होती हैं। प्रत्येक कामना अनेक अन्य कामनाओं की जननी है। इसी कारण कामना-पूर्ति होने पर भी अन्त में कामना-अपूर्ति ही शेष रहती है, किन्तु वास्तविक आवश्यकता की पूर्ति होने पर आवश्यकता शेष नहीं रहती। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक साध्य से अभिन्न हो जाता है। पर कब? जब साधक का अस्तित्व साध्य की आवश्यकता से भिन्न न रहे।

साध्य ने अपनी ओर से कभी किसी का त्याग नहीं किया, कारण, कि साध्य कहते ही उसको हैं, जो सभी साधकों का अपना है और देश-काल की दूरी से रहित अविनाशी है। उसकी प्राप्ति सभी साधकों को सर्वदा सुलभ है। उससे निराश होना भूल है और उससे भिन्न की कामना रखना महा भूल है। अत: साधकों को सजगतापूर्वक सभी कामनाओं का नाश कर, साध्य की आवश्यकता को सबल तथा स्थायी बनाना अत्यन्त आवश्यक है। पर वह तभी सम्भव है, जब निज-दोष-जनित सुख-लोलुपता का सर्वांश में नाश कर दिया जाय। दोष को 'दोष' जान लेने मात्र से ही दोष का नाश नहीं होता।

दोष-जनित वेदना ही दोष-जनित सुख-लोलुपता का नाश करती है। अत: दुःख के प्रभाव में ही निर्दोषता की आवश्यकता पोषित होती है। आवश्यकता की सर्वांश में जागृति और उसकी पूर्ति उसी प्रकार युगपद् है, जिस प्रकार सूर्य का उदय और अन्धकार की निवृत्ति। वास्तविक आवश्यकता की जागृति में ही साधक के पुरुषार्थ की पराकाष्ठा है, जो दुःख के प्रभाव में निहित है।

मंगलमय विधान से आये हुए दुःख का आदरपूर्वक स्वागत करना और उससे भयभीत न होना, प्रत्येक विकासोन्मुख प्राणी के लिए अनिवार्य है। दुःख के आते ही सुख के पीछे

दौड़ना, क्षणिक सुख द्वारा दुःख को दबाने का प्रयास करना और अन्त में दुःख को भोगना, भूल है। सुख प्राणी को सुषुप्तिवत् जड़ता में आबद्ध करता है। जिससे वह बेचारा वर्तमान वस्तुस्थिति से अपरिचित हो जाता है, जिसके होते ही प्राणी अपने दायित्व और वास्तविक माँग को भूल जाता है, अर्थात् उसे साधन और साध्य की विस्मृति हो जाती है। उसके होते ही अकर्तव्य,असाधन और आसक्ति उत्पन्न होती हैं, जो किसी भी साधक को अभीष्ट नहीं है। आया हुआ दुःख प्रकृति का दण्ड-विधान नहीं है, अपितु ऐसा अनुपम उपहार है, जिसको पाकर ही प्राणी सजग, सावधान और जाग्रत हो जाता है।

जागृति ही वास्तविक जीवन की भूमि है। जागृति से ही प्राप्त परिस्थिति का वास्तविक परिचय होता है, जिसके होते ही सभी परिस्थितियों से अतीत वास्तविक दिव्य-चिन्मय जीवन की उत्कट लालसा उदित होती है, जो सभी आसक्तियों को खाकर राग-रहित करने में समर्थ है। राग-रहित भूमि में ही योगरूपी वृक्ष का प्रादुर्भाव होता है, जो कल्पतरु के समान है, अर्थात् उसमें समस्त विकास होते हैं। इतना ही नहीं, योगरूपी वृक्ष पर ही तत्व-ज्ञानरूपी फल लगता है, जो प्रेम-रस से परिपूर्ण है।

इस दृष्टि से राग-रहित होना मानव-मात्र के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना किसी का भी किसी प्रकार का विकास सम्भव नहीं है। यदि वर्तमान परिवर्तनशील जीवन से दुःख का भाग निकाल दिया जाय, तो कोई भी प्राणी किसी भी प्रकार से राग-रहित नहीं हो सकता। इस दृष्टि से दुःख जीवन का सुनहरा भाग है। उससे भयभीत होना और उसको भोगना, भारी भूल है।

दुःख जितना गहरा हो, उतना ही हितकर है; किन्तु दुःख आते ही सुख का आह्वान करना, दुःख का भोग है, दुःख का प्रभाव नहीं। दुःख के भोग से दुःखी अधीर हो जाता है और कभी-कभी वह करने लगता है, जो नहीं करना चाहिए और वह मानने लगता है, जो नहीं मानना चाहिए। इस कारण दुःख का भोग दुःखी के विकास में बाधक है, किन्तु दुःख का प्रभाव दुःखी को सजग तथा स्वावलम्बी बनाता है और दुःखी सर्वांश में दुःख का अन्त करने के लिए अथक प्रयत्नशील होता है। यह नियम है कि जो हार स्वीकार

नहीं करता, वह विजयी अवश्य होता है। अत: दुःख का आदरपूर्वक स्वागत करते हुए सतत प्रयत्नशील रहना है। सफलता अनिवार्य है।

वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति आदि के द्वारा सुखानुभूति में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना सुख के स्वरूप से अपरिचित रहना है। सुख का यथार्थ ज्ञान होने पर ही सुख में जीवन-बुद्धि शेष नहीं रहती, कारण, कि सुख-रूपी भूमि में दुःख उत्पन्न होता है। इतना ही नहीं, सुख, सुख के भोगी को पराधीनता, जड़ता एवं अभाव में आबद्ध करता है। सुख-भोग की रुचि ज्यों-ज्यों सबल होती जाती है, त्यों-त्यों बेचारा सुखी अपने अस्तित्व को ही खोता जाता है। उसके व्यक्तित्व में वस्तु अवस्था, परिस्थिति आदि का ही महत्व अंकित होता जाता है। उन्हीं के आश्रित वह अपने को दीनता तथा अभिमान की अग्नि में दग्ध करता रहता है।

दुःख का प्रभाव प्राणी को सुख का भोगी नहीं रहने देता, अपितु सुख का सदुपयोगी बना देता है। सुख का सदुपयोग पर-सेवा में है। सेवा सेवक को विभु करती है और सुख का भोग भोगी को सीमित बनाता है। इस दृष्टि से सुख का भोग अहितकर और सुख का सदुपयोग हितकर है। मंगलमय विधान से सुख सेवा के लिए मिला है, भोग के लिए नहीं। पर यह रहस्य तभी खुलता है, जब साधक आये हुए दुःख के प्रभाव से त्याग को अपनाकर, सुख-दुःख से अतीत वास्तविक जीवन से अभिन्न हो जाता है। सुख के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान और उसके सदुपयोग की सामर्थ्य दुःख के प्रभाव में ही निहित है।

जो साधक सार्वजनिक दुःख से पीड़ित हैं, वे अत्यन्त सुगमतापूर्वक आये हुए सुख का सदुपयोग करने में समर्थ होते हैं। व्यक्तिगत दुःख से भी दुःखी में जागृति आती है। प्राणिमात्र के दुःख से दुःखी होने पर तो साधक के जीवन में अनन्त ऐश्वर्य और माधुर्य की अभिव्यक्ति होती है। ऐश्वर्य तो इस प्रकार का कि उसे अपने लिए जगत् की अपेक्षा नहीं रहती और माधुर्य इस प्रकार का कि वह सभी को अपना लेता है। उसके जीवन में भिन्नता की गन्ध भी नहीं रहती और न काम, क्रोध आदि विकारों की ही उत्पत्ति होती है। व्यक्तिगत दुःख से दुःखी प्राणी प्रथम त्याग को अपनाता है, और फिर त्याग से प्राप्त सामर्थ्य द्वारा सेवा में प्रवृत्त

होता है। अथवा यों कहो कि उससे स्वत: सेवा होने लगती है।

सार्वजनिक दुःख से दुःखी प्राणी प्रथम सेवा को अपनाता है। सेवा की पूर्णता त्याग में विलीन होती है, भोग में नहीं। अर्थात् जिसने सेवा की है, उसमें त्याग का बल स्वत: आ जाता है। इस दृष्टि से सेवा 'त्याग में और त्याग 'सेवा में विलीन होता है। सेवा और त्याग, दोनों के ही द्वारा साधक वास्तविक जीवन से अभिन्न हो जाता है। इस दृष्टि से दुःख के प्रभाव में ही विकास है, चाहे वह दुःख व्यक्तिगत हो अथवा सार्वजनिक।

दुःख के प्रभाव से प्रभावित साधक जब त्याग और सेवा को अपनाता है, तब उसके जीवन में शान्ति, सामर्थ्य एवं स्वाधीनता की अभिव्यक्ति स्वत: होती है। जो साधक शान्ति में रमण नहीं करता, सामर्थ्य का दुरुपयोग नहीं करता और स्वाधीनता में सन्तुष्ट नहीं होता, उसका अनन्त के मंगलमय विधान से प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश होता है। शान्ति में रमण न करने से शान्ति नष्ट नहीं होती, अपितु अविचल और स्थायी हो जाती है; और शान्ति में रमण करने से साधक में परिच्छिन्नता आ जाती है, जो विनाश का मूल है। अत: त्याग से अभिव्यक्त शान्ति में रमण नहीं करना है, अपितु उससे असंग होना है, और शान्ति से उदित सामर्थ्य का दुरुपयोग नहीं करना है, अपितु निष्काम भाव से उसका सद्व्यय करना है, जिसके करते ही स्वाधीनता से अभिन्नता हो जाती है।

स्वाधीनता में सन्तुष्ट होने से जीवन अपने लिए ही उपयोगी प्रतीत होता है, परन्तु प्रेम का प्रादुर्भाव नहीं होता। उसके बिना हुए जीवन अगाध, अनन्त, नित्य—नव रस से परिपूर्ण नहीं होता। दुःख का पूर्ण प्रभाव साधक को न तो शान्त-रस में रमण करने देता है और न स्वाधीनता में ही आबद्ध रहने देता है, अपितु प्रेम-तत्व से अभिन्न कर अनन्त-रस का पात्र बना देता है, यह निर्विवाद सिद्ध है।

सुख की सम्भावना मात्र से आया हुआ दुःख निर्जीव हो जाता है और फिर बेचारा दुःखी सुख की आशा में दुःख सहन करता रहता है। इस द्वन्द्वात्मक अवस्था को जीवित रखना दुःखी का प्रमाद है। यद्यपि आशा मात्र से सुख आ नहीं जाता और सहन करने मात्र से दुःख मिट नहीं जाता। आये हुए दुःख पर सावधानीपूर्वक विचार न करने से बेचारा दुःखी सुख की आशा

में आबद्ध होकर, दुःख सहन करता रहता है। यदि दुःखी सुख की आशा से रहित हो जाये, तो अपने आप दुःख का प्रभाव होने लगता है। जिसके होते ही दुःखी में दुःख का अन्त करने की तीव्र लालसा अपने आप जाग्रत हो जाती है। जिसके होते ही दुःख का भय और भोग नष्ट हो जाते हैं और केवल दुःख मिष्टाने की तीव्र लालसा मात्र ही दुःखी का अस्तित्व रह जाता है, जिसे देख, दुःखहारी स्वयं करुणित हो, दुःखी का दुःख सदा के लिए हर लेते हैं।

पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने मिली हुई सामर्थ्य का दुरुपयोग नहीं किया, बलपूर्वक दुःख मिटाने में समर्थ नहीं हुए और न दुःख को किसी भी प्रकार सहन ही कर सके। अर्थात् जिन्हें सुख की दासता तथा दुःख के भय से युक्त जीवन बनाये रखना असह्य हुआ। इस दृष्टि से दुःख का असह्य होना ही दुःख के प्रभाव में हेतु है। सर्वांश में दुःख का नाश नहीं हो सकतायह प्रमाद ही प्राणियों को सुख की दासता तथा दुःख के भय में आबद्ध रखता है।

मंगलमय विधान से दुःख का प्रादुर्भाव एकमात्र सुख की दासता से मुक्त करने के लिए ही होता है। गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि दुःखदाता ही दुःखहारी है। इतना ही नहीं, साधक को सुख की दासता से मुक्त करने के लिए दुःखहारी ही दुःख के वेश में अवतरित होते हैं। अतएव दुःख बड़े ही महत्व की वस्तु है, उससे भयभीत होना भूल है।

देहाभिमान के कारण बेचारा प्राणी सुख की दासता तथा दुःख के भय में आबद्ध होता है, जो अविवेक-सिद्ध है। प्राप्त विवेक का आदर करते ही अविवेक स्वत: नष्ट हो जाता है। जिसके होते ही देहाभिमान गल जाता है और फिर सुख की दासता तथा दुःख का भय शेष नहीं रहता। सुख-भोग से अविवेक पोषित होता है।

प्राकृतिक नियमानुसार दुःख के आते ही साधक में सजगता आती है और ज्यों-ज्यों दुःख का प्रभाव स्थायी होता जाता है,त्यों-त्यों सजगता सबल होती जाती है, जिसके होते ही साधक अत्यन्त सुगमता पूर्वक प्राप्त विवेक का आदर कर, अविवेक का नाश करने में समर्थ होता है। इस कारण दुःख के प्रादुर्भाव में ही सजगता, सावधानी एवं प्राप्त विवेक का आदर

निहित है, जो समस्त विकासों का मूल है।

गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि सुख का स्थायित्व तथा दुःख का सर्वांश में अभाव किसी परिस्थिति विशेष में नहीं है। इस कारण प्रत्येक परिस्थिति में दुःख के प्रभाव द्वारा साधक सुख की दासता और दुःख के भय से रहित हो सकता है। इस दृष्टि से सुख की दासता तथा दुःख के भय का अन्त प्रत्येक साधक का अपना मौलिक प्रश्न है। इस प्रश्न को बिना हल किये अन्य कार्यों में प्रवृत्त होना बड़ी ही असावधानी है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। यह नियम है कि मूल प्रश्न का उदित होना ही उसके हल में मुख्य हेतु है। इस प्रश्न को जमा रखना और अन्य कार्यों में व्यस्त रहना उचित नहीं है, अपितु अपने द्वारा अपना सर्वनाश करना है।

प्राकृतिक नियमानुसार जो प्राणी अपने द्वारा अपना अहित नहीं करता, उसका हित अवश्य होता है। इतना ही नहीं, उसका जीवन सभी के लिए उपयोगी होता है। इस कारण अपने आप अपना अहित किसी भी साधक को कभी भी नहीं करना चाहिए। इस मूल मन्त्र को अपनाते ही प्रत्येक साधक स्वत: ही सिद्धि पा जाता है। अपने द्वारा अपना अहित करता रहे और दूसरों के द्वारा अपने हित की आशा करे, यह घोर प्रमाद है। जो साधक दुःख के प्रभाव से प्रभावित हो, अपने हित में रत हैं, उनके हित में जड़-चेतन सभी पूरा-पूरा सहयोग देते हैं और हर्षित होते हैं, क्योंकि विकसित जीवन सभी के लिए हितकर होता है। अपने अहित के समान और कोई भूल नहीं है।

जो प्राणी अपना अहित करता है, उससे दूसरों का अहित अपने आप होने लगता है। अपने प्रति किया हुआ अहित विभु हो जाता है। इस दृष्टि से दूसरों के अहित का कारण भी वही प्राणी है, जो सतत सजगतापूर्वक अपने हित में रत नहीं है। दुःख का प्रभाव दुःखी को अपने हित में और सुख की दासता सुखी को अपने अहित में प्रवृत्त करती है। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक को शीघ्रातिशीघ्र सुख की दासता और दुःख के भय से रहित होना अनिवार्य है।

पराधीनता में जीवन-बुद्धि बनाये रखने से प्राणियों में अधिकार-लालसा पोषित होती है। अधिकार-

लालसा रहते हुए कोई भी प्राणी राग तथा क्रोध से रहित नहीं हो सकता, कारण, कि अधिकार की अपूर्ति में क्रोध और पूर्ति में राग अपने आप उत्पन्न होता है। क्रोध के उत्पन्न होते ही प्राणी अपने कर्तव्य को, निज-स्वरूप को और जिससे सब कुछ मिला है, उस अनन्त को भूल जाता है। कर्तव्य की विस्मृति में ही अकर्तव्य और स्वरूप की विस्मृति में ही देहाभिमान एवं प्रेमास्पद की विस्मृति में ही अनेक आसक्तियों की उत्पत्ति हो जाती है, जो विनाश का मूल है।

अकर्तव्य उत्पन्न होते ही जीवन जगत् के लिए केवल अनुपयोगी ही नहीं, अपितु अहितकर हो जाता है और परस्पर अनेक प्रकार के संघर्ष उत्पन्न होते हैं। स्वरूप की विस्मृति होते ही प्राणी देहाभिमान में आबद्ध हो, अपने लिए अनुपयोगी हो जाता है और फिर बेचारा जड़ता, पराधीनता, अभाव आदि में आबद्ध हो, दुर्गति पाता है। प्रेमास्पद की विस्मृति में ही नीरसता पोषित होती है। नीरसता की भूमि में ही अनेक विकार उत्पन्न होते हैं। विकार-युक्त जीवन किसी के लिए भी उपयोगी नहीं है।

राग प्राणियों को पराधीनता में जीवन-बुद्धि उत्पन्न कर, अनुकूलता की दासता और प्रतिकूलता के भय में आबद्ध करता है। इतना ही नहीं, रागरहित हुए बिना कोई भी साधक योगवित् तत्ववित् एवं अनुराग से परिपूर्ण नहीं हो पाता। इन सब कारणों से क्रोध तथा राग सर्वथा त्याज्य हैं, कारण, कि राग तथा क्रोध के रहते हुए जीवन अपने लिए तथा जगत् के लिए एवं प्रेमास्पद के लिए उपयोगी सिद्ध नहीं होता। अत: राग तथा क्रोध का अन्त करना अनिवार्य है। दुःख का प्रभाव पराधीनता में जीवन-बुद्धि नहीं रहने देता, कारण, कि पराधीनता के समान और कोई दुःख नहीं है।

स्वाधीनता की माँग स्वाभाविक माँग है। स्वाधीनता के बिना अमरत्व से अभिन्नता सम्भव नहीं है। पराधीनता की असह्य वेदना अधिकार-लालसा के त्याग का पाठ पढ़ाती है। अधिकार-लालसा के नाश में ही कर्तव्यपरायणता निहित है, जो विकास का मूल है।

पराधीनता-जनित सुख-लोलुपता ही अकर्तव्य, असाधन और आसक्तियों की जननी है। इस कारण पराधीनता-जनित सुखलोलुपता का

साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। सुख-लोलुपता का नाश दुःख के प्रभाव से सम्भव है, किसी अन्य प्रकार से नहीं। यह सभी को विदित है कि दुःख का प्रादुर्भाव न चाहने पर भी अपने आप प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में प्राकृतिक विधान से होता है। दुःख है, पर उसका प्रभाव यदि साधक नहीं अपनाता, तो यह उसकी अपनी असावधानी तथा भूल है। प्रत्येक साधक को इस भूल का शीघ्रातिशीघ्र अन्त करना अत्यन्त आवश्यक है।

सुख-लोलुपता रूपी अन्धकार दुःख के प्रभाव रूपी सूर्य के उदय होने से ही नष्ट होगा, जिसके होते ही अकर्तव्य, असाधन और आसक्तियाँ निर्मूल हो जायेंगी और फिर साधक के जीवन में कर्तव्यपरायणता, साधन एवं प्रेम का प्रादुर्भाव स्वतः होगा, यह निर्विवाद सिद्ध है। सर्वांश में अकर्तव्य, असाधन और आसक्तियों का नाश हुए बिना साधक साध्य के स्वभाव से अभिन्न नहीं होता, जिसके बिना हुए साधन और जीवन में एकता नहीं होती, अर्थात् जीवन साधन नहीं होता, अपितु आंशिक साधन और असाधन के कारण साधक दीनता तथा अभिमान में आबद्ध हो जाता है। यह द्वन्द्वात्मक स्थिति प्राणियों को भय तथा प्रलोभन में आबद्ध रखती है।

प्रलोभन से दासता और भय से जड़ता पोषित होती है। दासता तथा जड़ता किसी भी साधक को स्वभाव से ही अभीष्ट नहीं है। इस कारण प्रलोभन तथा भय से रहित होना अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा, जब साधक आये हुए दुःख के प्रभाव को अपनाकर पराधीनता-जनित सुख-लोलुपता का अन्त कर, निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाय। निश्चिन्तता से सामर्थ्य और निर्भयता से कर्तव्यपरायणता की अभिव्यक्ति स्वत: होती है, जो विकास का मूल है।

व्यक्तिगत सत्य व्यक्तिगत विकास के लिए भले ही साधन-रूप हो, किन्तु उसे विभु बनाने का प्रयास साधकों तथा सुधारकों में आग्रह उत्पन्न करता है।व्यक्तिगत सत्य के अनुसरण से व्यक्ति के जीवन में जिस सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होती है, वह सौन्दर्य तो स्वभाव से सर्वप्रिय होता ही है, पर व्यक्तिगत उपाय को सार्वभौमिक बनाने का प्रयास अपने में आग्रह को उत्पन्न करता है।

व्यक्तिगत सत्य वास्तविक सत्य की प्राप्ति में साधन-रूप है, इस कारण व्यक्तिगत रूप से आदरणीय तथा अनुसरणीय है। पर सबको व्यक्तिगत पथ पर ही चलाने का प्रयास आग्रही बना देता है। आग्रह से सत्य असत्य से ढँक जाता है और फिर व्यक्तिगत सत्य, जो अपने लिए साधन-रूप था, साधन-रूप नहीं रहता, अपितु उससे अह-भाव ही पोषित होने लगता है। अह-भाव परस्पर एकता सुरक्षित नहीं रहने देता, अपितु भेद को जन्म देता है, जो संघर्ष का मूल है। संघर्ष के द्वारा कभी भी शान्ति के साम्राज्य की स्थापना नहीं हो सकती। इस दृष्टि से संघर्ष का अन्त करना अनिवार्य है। पर यह तभी सम्भव होगा, जब साधक अपने व्यक्तिगत सत्य के अनुसरण द्वारा अनन्त, नित्य-सौन्दर्य की ओर अग्रसर होता रहे।

यह नियम है कि साधन-रूप सत्य का अनुसरण ही साध्य-रूप सत्य से अभिन्न करता है। साध्य-रूप सत्य ही वास्तव में सार्वभौमिक सत्य है। परस्पर योग्यता, रुचि, सामर्थ्य, परिस्थिति आदि का भेद प्राकृतिक भेद है। प्राकृतिक भेद के कारण ही व्यक्तिगत साधन-रूप सत्य में भेद है। साधन-रूप सत्य व्यक्तिगत रूप से अनुसरणीय है। साध्य-रूप सत्य फल है, उपाय नहीं। उपाय में भिन्नता और फल में एकता स्वत: सिद्ध है। उपाय में भिन्नता होने पर भी परस्पर स्नेह की एकता सुरक्षित रखना अनिवार्य है। स्नेह की एकता के बिना किसी भी प्रकार पारस्परिक संघर्ष का नाश सम्भव नहीं है।

दुःख का प्रभाव साधक में आग्रह शेष नहीं रहने देता। सार्वजनिक दुःख से दुःखी होना और व्यक्तिगत सुख का सद्व्यय करना अनुसरणीय है। पर व्यक्तिगत साधन को बल तथा आग्रहपूर्वक व्यापक बनाने का प्रयास अपने व्यक्तिगत सत्य से विमुख होना है और परस्पर भिन्नता को पोषित करना है। सभी का दुःख अपना दुःख है- यह महामन्त्र अपनाये बिना आग्रह का अन्त अन्य किसी प्रकार सम्भव नहीं है। जब प्राणी पर-दुःख से दुःखी नहीं होता, अपितु ममतायुक्त दुःख से ही दुःखी होता है, तब उसके जीवन में दुःख का पूरा प्रभाव नहीं होता। जिसके बिना उससे न तो व्यक्तिगत साधन का अनुसरण ही हो पाता है और न उसका आग्रह ही नष्ट होता है। साधन का आग्रह

असाधन और उसका अनुसरण साधन-रूप है। साधनयुक्त जीवन की माँग विश्व की माँग है।

अपने व्यक्तिगत साधन को सिखाने का आग्रह साधन का भोग है, सेवा नहीं। सेवा दुःखियों को देख करुणित और सुखियों को देख प्रसन्न होने का पाठ पढ़ाती है, शासक नहीं बनाती। प्रत्येक साधक को अपना शासक होना है। किसी को शासित करना अपने को दासता में आबद्ध करना है। इसी कारण प्रत्येक शासक कालान्तर में स्वयं शासित हो जाता है। अत: अपने पर अपने शासन द्वारा अपने को सुन्दर बनाना है। इस दृष्टि से व्यक्तिगत साधन बड़े ही महत्व की वस्तु है। सेवक की माँग जगत् को सदैव रहती है। जगत् सदैव सेवक के पीछे दौड़ता है, उसका चिन्तन करता है। पर सेवक न तो जगत् के पीछे दौड़ता है और न उसका चिन्तन ही करता है, अपितु जगत् के दुःख से दुःखी हो, दुःख के प्रभाव को अपनाकर अह-भाव से रहित हो, कृतकृत्य हो जाता है।

प्राकृतिक नियमानुसार ऐसा कोई प्राणी है ही नहीं, जिसके जीवन में किसी-न-किसी अंश में दुःख न हो। उस आये हुए दुःख का प्रभाव दुःखी को अपनाना है। दुःख अपने आप आता है, पर उसके प्रभाव को अपनाने का दायित्व साधक पर है। दुःख आने पर सुख की ओर दौड़ना दुःख के प्रभाव से विमुख होना है और सुख की वास्तविकता को जानने का प्रयास दुःख के प्रभाव से प्रभावित होना है। मंगलमय विधान से दुःख, सुख के स्वरूप का यथार्थ बोध कराने के लिए ही आता है।

जब तक प्राणी सुख की ओर दौड़ता रहेगा और उसकी वास्तविकता से अपरिचित रहेगा, तब तक दुःख अपने आप आता ही रहेगा। सुख की वास्तविकता का अनुभव करते ही सुख में भी दुःख का ही दर्शन होता है, जिसके होते ही दुःखी दुःख के प्रभाव से प्रभावित हो, सुख की दासता से रहित हो जाता है और फिर दुःख आह्वान करने पर भी नहीं आता। इस दृष्टि से दुःख, सुख की दासता से रहित होने के लिए ही मिलता है। यदि प्राणी प्रमादवश सुख की दासता से रहित नहीं होगा, तो सुख की दासता उसे सर्वदा दुःख के भय से भयभीत करती रहेगी और उसे विवश होकर दुःख भोगना ही पड़ेगा। इस कारण प्रत्येक

साधक को शीघ्रातिशीघ्र दुःख के प्रभाव को अपनाकर सुख की दासता से रहित होना अत्यन्त आवश्यक है।

प्राकृतिक नियमानुसार दुःख का प्रभाव ही सर्वतोमुखी विकास की भूमि है। दुःखियों के दुःख की निवृत्ति तथा जिज्ञासुओं को तत्वज्ञान से एवं प्रेमियों को प्रेमास्पद से अभिन्न करने में दुःख का प्रभाव ही हेतु है। इतना ही नहीं, प्रत्येक आविष्कार के मूल में दुःख की ही प्रधानता है। विज्ञान-वेत्ताओं का विज्ञान, साहित्यिकों का साहित्य एवं दार्शनिकों का दर्शन दुःख के प्रभाव से ही उद्‌भूत हो, पोषित होता है। यदि जीवन में दुःख का प्रादुर्भाव न हुआ होता, तो प्राणियों में सजगता उदित ही न होती। जिसके बिना किसी प्रकार का भी विकास सम्भव नहीं होता, यह निर्विवाद सिद्ध है।

सजगता से ही दर्शन की अभिव्यक्ति, साहित्य का सृजन और विज्ञान का आविष्कार होता है। सजगता विकसित जीवन का अनिवार्य अंग है। सजग साधकों से ही सुन्दर समाज का निर्माण होता है और व्यक्ति के कल्याण में भी सजगता ही मुख्य हेतु है। इस दृष्टि से दुःख बड़े ही महत्व की वस्तु है। उससे भयभीत होना और सुख का आह्वान करना दुःख के प्रभाव से रहित होना है। इतना ही नहीं, दुःख से भयभीत प्राणी ही व्यक्तिगत सुख की आशा में दूसरों को दुःखी बनाते हैं और स्वयं भी दुःख भोगते रहते हैं। यह आये हुए दुःख का दुरुपयोग है।

दुःख के दुरुपयोग से किसी का दुःख नष्ट नहीं होता और न सुख का सम्पादन ही होता है, अपितु उत्तरोत्तर दुःख की वृद्धि ही होती रहती है। परन्तु दुःख का सदुपयोग करने से साधक दुःख से रहित हो जाता है और फिर उसके द्वारा न तो किसी के सुख का अपहरण होता है और न किसी के लिए उसका जीवन दुःखद रहता है। दुःख रहित महापुरुषों से ही साधकों को दुःख के सदुपयोग का प्रकाश मिलता है। दुःख के सदुपयोग के द्वारा प्रत्येक दुःखी प्रत्येक परिस्थिति में दुःख-रहित हो सकता है और फिर उसका जीवन सभी के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

दुःख से भयभीत प्राणियों में ही हिंसात्मक वृत्तियों की उत्पत्ति होती है। गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि हिंसा किसी को भी अभीष्ट नहीं है, कारण, कि

हिंसा अपने और दूसरों के विकास में बाधक है। यदि साधक दुःख के सदुपयोग द्वारा दुःख के भय तथा भोग से रहित हो जाये, तो उसके जीवन में अहिंसा की अभिव्यक्ति स्वत: होती है। हिंसा व्यक्ति का अपना उत्पन्न किया हुआ दोष है और अहिंसा का प्रादुर्भाव मंगलमय विधान से होता है। दुःख-रहित जीवन विधान से अभिन्न हो जाता है और उसी जीवन से पथ-प्रदर्शन मिलता है। विधान-विरोधी जीवन सभी के लिए अहितकर है।

दुःख से भयभीत प्राणी ही लोभ, मोह, काम, क्रोध आदि विकारों में आबद्ध हो जाता है। जिसके जीवन में हानि का भय नहीं है, उसमें लोभ की उत्पत्ति नहीं होती। जो वियोग के भय तथा संयोग की दासता से रहित है, उसमें मोह की उत्पत्ति नहीं होती। जो सुख के प्रलोभन तथा अधिकार-लालसा से रहित है, उसमें काम, क्रोध आदि विकारों की उत्पत्ति नहीं होती। दुःख के भय से ही सुख का प्रलोभन और अधिकार के अपहृत होने के भय से ही अधिकार-लालसा पोषित होती है। अर्थात् भयभीत होने से ही समस्त विकार उत्पन्न होते हैं। परन्तु यह रहस्य वे ही विचारशील जानते हैं, जिन्होंने दुःख के सदुपयोग के द्वारा अपने को दुःख के भय तथा भोग से रहित कर, वास्तविक जीवन से अभिन्नता प्राप्त की है।

दुःख का भय दुःख से भी अधिक भयंकर है। प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में दुःख उतना ही आता है, जितना उसके विकास के लिए आवश्यक है। असह्य दुःख होते ही दुःख की निवृत्ति स्वतः हो जाती है। इस दृष्टि से दुःख से भयभीत होना दुःखी की भारी भूल ही है। दुःख के भय से प्राप्त शक्ति का ह्रास और शारीरिक तथा मानसिक रोगों की उत्पत्ति होती है। इतना ही नहीं, दुःख से भयभीत प्राणी प्राप्त विवेक का अनादर कर बैठता है। जिसके करते ही बेचारा अकर्तव्य, असाधन और आसक्तियों में आबद्ध हो जाता है, जो विनाश का मूल है। इस दृष्टि से दुःख के भय का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

दुःख का प्रभाव साधक को देहाभिमान से रहित होने का पाठ पढ़ाता है और दुःख का भय देहाभिमान को पोषित करता है। देह का सदुपयोग भले ही हितकर हो, पर उसका अभिमान तो प्राणियों के

विकास में बाधक ही है। देह के अभिमान से देह की वास्तविकता में कोई अन्तर नहीं होता और देहाभिमान-रहित होने से देह के सदुपयोग में कोई बाधा नहीं होती, अपितु देह का सदुपयोग स्वतः होने लगता है। देहाभिमानियों की देह नाश न हो, उसमें सतत परिवर्तन न हो-ऐसा नियम नहीं है। और देहाभिमान-रहित होने पर देह को जब तक रहना है, वह न रहे-ऐसा भी विधान नहीं है। देह के अभिमान से देहाभिमानी का सर्वनाश होता है और देहाभिमानरहित होते ही साधक सर्वतोमुखी विकास का पात्र हो जाता है।

दुःख का भय देहाभिमान को पुष्ट करता है। इस कारण दुःख का भय सर्वथा त्याज्य है। दुःख के भय से दुःख घटता नहीं है और न मिटता ही है, अपितु डरने से दुःख दूना हो जाता है और न डरने से आधा रह जाता है। यदि दुःख का प्रादुर्भाव अहितकर होता, तो उससे भयभीत होना स्वाभाविक था। परन्तु जब दुःख विकास की भूमि है, तब उससे भयभीत होने का कोई कारण ही नहीं है। दुःख अरुचिकर भले ही हो, पर हितकर अवश्य है। कटु औषधि रोग-निवृत्ति के लिए सेवन करना अनिवार्य है। उसी प्रकार दुःख विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है। सुख देकर दुःख लेना महत् पुरुषों का स्वभाव है। अपने दुःख से तो पशु-पक्षी भी दुःखी होते हैं। पर सत्पुरुषों का कोमल हृदय पर-पीड़ा से पीड़ित होता है, जिससे जीवन में त्याग तथा प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, जिसके होते ही राग-द्वेष निर्मूल हो जाते हैं। राग-द्वेष-रहित जीवन में ही सत्य, अहिंसा आदि की अभिव्यक्ति होती है और फिर साधक वास्तविक जीवन से अभिन्न हो जाता है।

दुःख का प्रादुर्भाव जीवन की यथार्थता का प्रत्यक्ष अनुभव कराने में समर्थ है, जो विकास का मूल है। वर्तमान वस्तुस्थिति का बोध बिना हुए न तो तत्व-जिज्ञासा ही जाग्रत होती है और न प्रेमास्पद की प्रियता की उत्कट लालसा ही उदित होती है। तत्व-जिज्ञासा की जागृति में ही कामनाओं की निवृत्ति निहित है और कामनाओं के नाश से ही प्राप्त वस्तु अवस्था आदि से असंगता होती है। इस दृष्टि से तत्व-जिज्ञासा का जाग्रत होना अनिवार्य है, जो वर्तमान वस्तुस्थिति के बोध में ही निहित है और वह एकमात्र दुःख से ही साध्य है। इस कारण दुःख सर्वदा

हितकर ही है। पर दुःख से भयभीत होना, उसका चिन्तन करना, उसके प्रभाव को न अपनाना साधक की असावधानी है।

असावधानी प्राणी को मृत्यु की ओर और सावधानी अमरत्व की ओर अग्रसर करने में समर्थ है। अत: प्रत्येक साधक को असावधानी का शीघ्रातिशीघ्र अन्त करना परम आवश्यक है। वह तभी सम्भव होगा, जब साधक आये हुए दुःख से सजग होकर वर्तमान वस्तुस्थिति का अध्ययन करे, जिसके करते ही जीवन की वास्तविकता का प्रत्यक्ष अनुभव होगा, जो तत्त्व-जिज्ञासा तथा प्रेमास्पद की प्रियता की माँग जगाने में समर्थ है। तत्व-जिज्ञासा से ही तत्व-साक्षात्कार होता है और प्रेमास्पद की प्रियता ही प्रेमियों को प्रेमास्पद से अभिन्न करती है।

दुःख का भय तथा दुःख को दबाना दुःख-निवृत्ति में सहायक नहीं हैं, अपितु बाधक हैं। दुःख के भय से भयभीत बेचारा दुःखी प्राप्त वस्तु सामर्थ्य एवं योग्यता का सदुपयोग नहीं कर पाता और दबा हुआ दुःख कालान्तर में कई गुणा अधिक होकर प्रकट होता है। इस कारण एकमात्र दुःख का प्रभाव ही दुःखी को दुःख-रहित करने में समर्थ है। उत्पन्न हुए संकल्पों की पूर्ति तथा अपूर्ति-युत परिस्थितियाँ प्राकृतिक नियमानुसार स्वत: आती और जाती हैं-यह सभी का निज-अनुभव है। जिसको परिस्थितियों के आने और न रहने का अनुभव है, वह परिस्थितियों से अलग है। ममता के कारण अलग होने पर भी बेचारा प्राणी अनुकूलता की दासता तथा प्रतिकूलता के भय में आबद्ध हो जाता है।

गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह विदित होता है कि जब आई हुई अनुकूलता न चाहते हुए भी चली ही जाती है, तो जाने वाली वस्तु की दासता से क्या लाभ? और न चाहते हुए भी प्रतिकूलता आ ही जाती है, तो उससे भयभीत होना कुछ अर्थ नहीं रखता। इतना ही नहीं, जो सदैव नहीं रहेगा, उसकी दासता और जिसका आना अनिवार्य है, उसका भय निरर्थक ही है। अनुकूलता के वियोग तथा प्रतिकूलता के संयोग में व्यथा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। व्यथा का प्रभाव व्यथित को आये हुए दुःख के प्रभाव से प्रभावित कर, अनुकूलता की दासता और प्रतिकूलता के भय से

रहित होने की प्रेरणा देता है। पर प्रमादवश प्राणी अनुकूलता की उपस्थिति के प्रभाव से जितना प्रभावित होता है, उतना उसकी अनुपस्थिति से नहीं होता। वह दोनों का ज्ञाता है और उपस्थिति एवं अनुपस्थिति, दोनों ही अवस्थाएँ हैं।

उपस्थिति की सत्यता उसके व्यक्तित्व में इतनी गहराई से अंकित है कि वह अनुपस्थिति में भी उसका चिन्तन करता रहता है। यह जानते हुए भी कि इसका अस्तित्व नहीं है, प्राणी उससे निराश नहीं होता। उसके मूल में भूल क्या है? इस पर विचार करना अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा, जब साधक अनुकूलता के वियोग से उत्पन्न वेदना से और प्रतिकूलता के संयोग से उत्पन्न व्यथा से पीड़ित हो, दोनों अवस्थाओं की अनुपस्थिति का अनुभव अपनाये और सुख की दासता तथा दुःख के भय से रहित हो जाये। तभी उसके ज्ञान और जीवन में एकता होगी। जिसके होते ही सर्वतोमुखी विकास स्वतः हो जाता है, यह निर्विवाद सिद्ध है। उत्पन्न हुई उपस्थिति की अनुपस्थिति अनिवार्य है। यह व्यक्ति का अपना ज्ञान है। इस ज्ञान के प्रकाश में यदि साधक प्राप्त वस्तुओं की ममता और अप्राप्त वस्तुओं की कामना से रहित हो जाय, तो अत्यन्त सुगमतापूर्वक अनुत्पन्न हुए नित्य जीवन की जिज्ञासा जाग्रत होती है, जो वस्तु अवस्था, परिस्थिति आदि से असंग कर, अमर जीवन से अभिन्न कर देती है।

प्राणी प्रमादवश, जो अप्राप्त है अथवा जिससे नित्य सम्बन्ध नहीं है, उसका चिन्तन करता है और जो नित्य प्राप्त है, उसमें आत्मीयता स्वीकार नहीं करता। इतना ही नहीं, जिसका वियोग हो गया है, उसकी स्मृति का आश्रय लेकर वह दुःख भोगता रहता है और जिससे नित्य-योग हो सकता है, उससे विमुख रहता है। इसके मूल में प्रधान कारण दुःख के प्रभाव को न अपनाना ही है। अनुकूलता के वियोग से उत्पन्न व्यथा हमें उत्पन्न हुई वस्तुओं से असंग होने का पाठ पढ़ाने के लिए मंगलमय विधान से मिली थी। पर प्राणी "जो नहीं है", उसका चिन्तन और "जो है", उसकी विस्मृति को अपना कर, वास्तविक जीवन से विमुख हो जाता है। यह साधक की अपनी भूल है, जिसका शीघ्रातिशीघ्र अन्त करना अनिवार्य है।

यह कैसा आश्चर्य है कि प्राणी वियोगकाल में भी संयोग-काल की सत्यता, सुन्दरता एवं सुखरूपता के चिन्तन को जीवित रखता है-यह जानते हुए कि न चाहते हुए भी जिस वस्तु व्यक्ति आदि का वियोग हो गया है, वह अब किसी भी प्रकार मिल नहीं सकता। उसका अस्तित्व अब उस रूप में नहीं है, जिस रूप में मिला था और उसका चिन्तन करना किसी भी दृष्टि से हितकर नहीं है, अपितु अहितकर ही है। चिन्तन मात्र से उत्पत्ति-विनाशयुक्त वस्तु की उपलब्धि नहीं होती, यह नियम है। प्रत्येक परिस्थिति विधान से निर्मित है। चिन्तन करने, न करने से उसका संयोग-वियोग नहीं होता। इस कारण "जो नहीं है", उसका चिन्तन सर्वथा त्याज्य है और "जिससे नित्य सम्बन्ध सम्भव नहीं है", उसका वियोग अनिवार्य है। यदि वियोग-काल में उन वस्तुओं का अभाव स्वीकार कर लिया जाय, तो मंगलमय विधान से आया हुआ वियोग, 'नित्य-योग' प्रदान कर सकता है। नित्य-योग के बिना संयोग की दासता तथा वियोग का भय नाश नहीं होता। उसके हुए बिना वास्तविक जीवन से अभिन्नता सम्भव नहीं है।

इस दृष्टि से उत्पन्न हुई वस्तुओं का वियोग बड़े ही महत्व की वस्तु है। पर प्रमादवश प्राणी उनके वियोग को अपनी क्षति तथा अवन्नती मानता है। इतना ही नहीं, वह अपने को अभागा तथा पापी मान बैठता है। प्राकृतिक विधान के अनुसार प्रत्येक वस्तु का नाश सतत हो रहा है। उत्पत्ति-विनाश के क्रम में स्थिति केवल आभासमात्र है, उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। जिस प्रकार जल-प्रवाह रूप से निरन्तर जा रहा है, पर प्राणी यह मान बैठता है कि वही जल है, जिसे मैं देख रहा हूँ। उसी प्रकार समस्त दृश्य बदल रहा है। इतना ही नहीं, जिन इन्द्रियों के द्वारा दृश्य की प्रतीति हो रही है, उन इन्द्रियों की शक्ति का भी सतत ह्रास हो रहा है। जिस बुद्धि-दृष्टि से इन्द्रिय-दृष्टि में परिवर्तन भासित होता है, वह बुद्धि-दृष्टि भी इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव को खा कर सम हो जाती है और जो अहं-भाव इन्द्रिय-दृष्टि तथा बुद्धि-दृष्टि का उपयोग करता है, वह भी प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर अग्रसर हो, परम शान्ति के लिए व्याकुल हो उठता है।

इस दृष्टि से भोग्य वस्तु भोगने की शक्ति और भोक्ता-तीनों में ही

जातीय एकता एवं गुणों की भिन्नता स्पष्ट सिद्ध होती है। जो इन तीनों का आश्रय और प्रकाशक है, उसी का स्वतन्त्र अस्तित्व है। उसकी तीव्र जिज्ञासा तथा लालसा ही साधक को बास्तविक जीवन से अभिन्न कर सकती है। परन्तु प्राणी भूतकाल की घटनाओं के अर्थ को न अपनाकर उनका चिन्तन करता रहता है, जिससे सत्य की जिज्ञासा तथा अनन्त की लालसा शिथिल हो जाती है। अप्राप्त वस्तु अवस्था, परिस्थिति आदि की कामनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं और प्राप्त वस्तु, व्यक्ति आदि में ममता हो जाती है, जिससे अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न हो जाते हैं और स्थिरता एवं शान्ति सुरक्षित नहीं रहती। जिसके न रहने से प्राणी असमर्थता, पराधीनता, जड़ता, अभाव आदि में आबद्ध हो जाता है।

यदि साधक घटनाओं के अर्थ को अपनाकर उन घटनाओं को भूल जाय, तो अत्यन्त सुगमतापूर्वक ममता तथा कामनाओं का नाश हो सकता है, जिसके होते ही है। उससे निराश होना भूल है। उसमें आत्मीयता स्वीकार करना अत्यन्त आवश्यक है।

"नहीं" में "है"-बुद्धि स्वीकार कर, उसकी दासता में आबद्ध युक्तियुक्त है? इस समस्या पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है। अब यदि कोई व्यक्ति प्रमादवश कहे कि सभी तो साधक नहीं हो सकते। तो यह धारणा भ्रमात्मक है; कारण, कि ऐसा मानना कि हमारा कोई साध्य नहीं है, हम पर कोई दायित्व नहीं है- मानव-जीवन की घोर निन्दा है।

प्राकृतिक नियमानुसार, प्रत्येक भाई-बहन साधक हैं। सभी की माँग एक है। परिस्थिति के अनुरूप सभी को अपना दायित्व पूरा करना है। साध्य को भूलना तथा दायित्व को पूरा न करना व्यक्ति की असावधानी है और कुछ नहीं, जिसका मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। यदि केवल सुख-दुःख भोगने के लिए मानव-जीवन मिला होता, तो साध्य की विस्मृति और दायित्व को पूरा न करना कोई आश्चर्य की बात न होती। परन्तु सुख की दासता और दुःख का भय किसी भी भाई-बहन को रुचिकर नहीं है।

प्रमादवश कोई यह भले ही कहे कि सुख जाये नहीं और दुःख आये

नहीं। पर क्या यह सम्भव है? कदापि नहीं। असम्भव को सम्भव और सम्भव को असम्भव मान बैठना अपने द्वारा अपना सर्वनाश करना है। अतः सुख-दुःख भोगने मात्र के लिए मानव-जीवन नहीं है। वस्तुओं का सदुपयोग एवं व्यक्तियों की सेवा करना अनिवार्य है, पर उनकी दासता में आबद्ध होना असावधानी है। यह सभी का दैनिक अनुभव है कि प्रिय वस्तुओं एवं व्यक्तियों से प्रतिदिन वियोग बिना अपनाये कोई भी भाई तथा बहन नहीं रह सकते। गहरी नींद तथा समाधि की आवश्यकता सभी अनुभव करते हैं। जाग्रत और स्वप्न में ही उत्पन्न हुए दृश्य का साथ रहता है, पर सुषुप्ति के बिना केवल जाग्रत और स्वप्न-अवस्था से किसी को सन्तोष नहीं होता, अपितु अनेक प्रकार की व्यथा उत्पन्न होती है, जो किसी को अभीष्ट नहीं है।

इस दृष्टि से दृश्य से अतीत के जीवन की माँग स्वाभाविक है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति के गोल चक्र में घूमते रहने से स्थायी विश्राम ही हाथ लगती है, जो अभीष्ट नहीं है। विश्राम की भूमि में ही उस सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है, जो साधक को उस जीवन से अभिन्न कर देती है, जिसमें असमर्थता, पराधीनता, नीरसता, अभाव आदि की गन्ध भी नहीं है। इस कारण विश्राम प्राप्त करना अनिवार्य है। पर वह तभी सम्भव होगा जब "नहीं" में 'नहीं'-बुद्धि स्वीकार कर, "है" की आवश्यकता जाग्रत हो, जो दुःख के प्रभाव में ही निहित है।

असत् को 'असत्' जान लेने पर भी यदि जीवन में दुःख का प्रभाव नहीं है, तो उस जाने हुए असत् का त्याग दुर्लभ हो जाता है। दुःख का अर्थ यह नहीं है कि व्यक्तिगत जीवन में परिस्थिति-जनित दुःख ही दुःख है, प्रत्युत् निज-विवेक के प्रकाश में बुद्धि-दृष्टि से सुख में भी दुःख का दर्शन होता है, कारण, कि सुख का सम्पादन पराधीनता को स्वीकार किए बिना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से साधक को प्रत्येक परिस्थिति में एकमात्र दुःख का ही दर्शन होता है। दुःख के दर्शन-मात्र से सुख की आशा और उसका प्रलोभन एवं सुख-भोग की रुचि शेष नहीं रहती और फिर अपने आप जीवन का मौलिक प्रश्न जाग्रत होता है। मौलिक प्रश्न से निराश होना और उसके हल करने में हार स्वीकार करना, साधक की असावधानी है।

मौलिक-प्रश्न कहते ही उसको हैं, जिसकी पूर्ति अनिवार्य हो। परिस्थिति-भेद से प्रश्न के बाह्य रूप में अनेक भेद हो सकते हैं। व्यथाओं से घिरा हुआ व्यक्ति कहेगा-"मेरे दुःख की निवृत्ति हो"। अशान्ति से पीड़ित कहेगा-'मुझे चिर-शान्ति चाहिए"। सन्देह की वेदना से व्यथित प्राणी कहेगा-"मुझे निस्सन्देहता चाहिए"। असमर्थ कहेगा-"मुझे सामर्थ्य चाहिए"। पराधीन कहेगा-"मुझे स्वाधीनता चाहिए"। जड़ता से थका हुआ प्राणी कहेगा-"मुझे चेतना चाहिए"। इत्यादि। बाह्यरूप अनेक होने पर भी मौलिक प्रश्न एक ही है। कोई-कोई साधक ऐसा कहेगा कि "मुझे ऐसा सुख चाहिए, जिसमें दुःख न हो"।

दुःख-रहित सुख, भय-रहित शान्ति और पराधीनता-रहित अनुकूलता की माँग प्राणियों में रहती ही है। दुःख का प्रभाव इन सभी प्रश्नों को हल करने में समर्थ है। उसका आश्रय जो अविनाशी नहीं है, वह प्रवृत्ति जो सर्व-हितकारी नहीं है, वह निवृत्ति जो अभिमानशून्य नहीं है, साधक के मूल प्रश्न के हल करने में बाधक हैं।

अब यदि कोई कहे कि जब हमें अविनाशी का ज्ञान ही नहीं है, उसमें आस्था ही नहीं है, तो हम उसके आश्रित कैसे हो सकते हैं? तो इस समस्या पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि अविनाशी का बोध न होने पर भी जो नाशवान् है, अर्थात् न रहने वाला है, उसका आश्रय तो सुरक्षित रह ही नहीं सकता। अतः यदि किसी को अविनाशी में आस्था नहीं है, तो निराश्रयता को अपनाकर, जिसका आश्रय नहीं लेना चाहिए, उससे मुक्त हो सकता है। उससे मुक्त होते ही स्वतः अविनाशी का बोध हो जाता है, यह अनुभव-सिद्ध है।

अतः अविनाशी में आस्था तथा उसका बोध न होने पर भी विनाशी का आश्रय त्याग कर, प्रत्येक साधक अविनाशी से अभिन्न हो सकता है। विनाशी के आश्रय के त्याग की सामर्थ्य दुःख के प्रभाव में ही निहित है। यह केसी विडम्बना है कि जिसका त्याग स्वतः हो रहा है, उसके त्याग में भी असमर्थता प्रतीत होती है ! इस असमर्थता के मूल में छिपी हुई सुख-लोलुपता है, जो एकमात्र दुःख के प्रभाव से ही मिटती है। अल्पकाल की

सुखद अनुभूति के लिए दीर्घकाल तक दुःख भोगते रहना, कहाँ तक युक्ति-युक्त है? इतना ही नहीं, सुखद अनुभूति उसी क्षण में होती है, जिस क्षण में निष्कामता उदित होती है।

कामना-निवृत्ति से निष्कामता की अभिव्यक्ति स्थायी रूप से होती है और कामना-पूर्ति काल में निष्कामता अल्पकाल के लिए स्वतः आती है। प्राणी प्रमादवश उस सरस अनुभूति को वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि के आश्रित मान बैठता है। उसका भयंकर परिणाम यह होता है कि नवीन कामना उत्पन्न हो जाती है और बेचारा प्राणी पुनः उसी व्यथा से व्यथित होने लगता है, जो कामना-उत्पत्ति के पूर्व और पूर्ति के पश्चात् थी। यद्यपि प्राकृतिक नियमानुसार कामना-उत्पत्ति से पूर्व जो स्थिति है, कामना पूर्ति के अन्त में अल्पकाल के लिए वही स्थिति आती है, परन्तु साधक सजगतापूर्वक अपने को उस अनुभव से अभिन्न नहीं करता, अर्थात् निज-अनुभव का अनादर करता है। यह उसकी जड़ता तथा असावधानी है।

साधक के जीवन में जड़ता तथा असावधानी के लिए कोई स्थान ही नहीं है। असह्य वेदना जड़ता तथा असावधानी को खाकर निज-अनुभव से अभिन्न कर देती है और फिर लेशमात्र भी नाशवानपरिवर्तनशील वस्तु अवस्था आदि का आश्रय नहीं रहता। पर उनका सदुपयोग स्वतः होने लगता है। परिस्थिति के सदुपयोग में विकास, और उसके आश्रय में सर्वनाश निहित है, यह निर्विवाद सिद्ध है।

प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक प्रवृत्ति का आरम्भ और अन्त है। ऐसी कोई प्रवृत्ति है ही नहीं, जिसका आरम्भ हो और अन्त न हो। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि कोई भी प्रवृत्ति अखण्ड नहीं हो सकती। जो अखण्ड नहीं हो सकती, वह सहयोगी साधन भले ही हो, उसे साध्य नहीं कह सकते। इस दृष्टि से प्रत्येक प्रवृत्ति निवृति' की पोषक है। जिस प्रवृत्ति का परिणाम निवृत्ति नहीं है, वह प्रवृत्ति दूषित है, त्याज्य है।

व्यक्तिगत सुख की आशा को लेकर जो प्रवृत्ति आरम्भ होती है, उसका परिणाम निवृत्ति नहीं होता, प्रत्युत् प्रवृति के अन्त में भी प्रवृत्ति की ही रुचि शेष रहती है। यद्यपि प्रत्येक प्रवृत्ति से प्राप्त सामर्थ्य का व्यय ही होता है, तथापि दूषित प्रवृत्तियों की

रुचि असमर्थता में भी बनी रहती है। उस दशा में प्राणी जो नहीं कर सकता है तथा जो नहीं करना चाहिए, उसी के चिन्तन में आबद्ध हो जाता है। उसका बड़ा ही भयंकर परिणाम यह होता है कि प्राणी उत्तरोत्तर चेतना से विमुख हो, जड़ता में ही आबद्ध होता जाता है, जो विनाश का मूल है। असमर्थता-काल में प्रवृत्ति की रुचि प्राणी को पराधीनता-जनित पीड़ा में आबद्ध करती है, जो किसी को भी स्वभाव से प्रिय नहीं है।

यदि पराधीनता-जनित वेदना से पीड़ित प्राणी प्रवृत्ति की रुचि का नाश कर दे, तो अत्यन्त सुगमतापूर्वक सहज निवृत्ति को अपनाकर, असमर्थता का अन्त कर सकता है। फिर अपने आप सर्व-हितकारी प्रवृत्ति आरम्भ होती है, जो कर्ता को करने के राग से रहित करने में हेतु है। इस कारण प्रवृत्ति वही सार्थक है, जो किसी के लिए अहितकर न हो, अपितु सर्व-हितकारी हो। सर्व-हितकारी प्रवृत्ति सीमित होने पर भी असीम है। कारण, कि उसका अन्त सर्व-हितकारी भावना में ही होता है। प्राकृतिक नियमानुसार कर्म सीमित और भाव असीम होता है। सर्व-हितकारी प्रवृत्ति असीम सद्भावनाओं में सजीवता लाती है और सद्भावनाएँ सर्व-हितकारी प्रवृत्ति को पुष्ट बनाती हैं। सर्व-हितकारी प्रवृत्ति कितनी ही अल्प क्यों न हो, कर्ता को विभुता से अभिन्न करती है, अर्थात् सर्व-हितकारी प्रवृत्ति के अन्त में कर्ता करने के राग से रहित हो, असीम जीवन से अभिन्न हो जाता है।

इस दृष्टि से सर्व-हितकारी प्रवृत्ति बड़े ही महत्व की वस्तु है। सर्व-हितकारी प्रवृति के अन्त में अपने आप आने वाली सहज निवृत्ति आवश्यक सामर्थ्य प्रदान करती है। ज्यों-ज्यों प्राप्त सामर्थ्य का सद्व्यय होता जाता है, त्यों-त्यों आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति स्वतः होती रहती है, अर्थात् सर्व-हितकारी कार्य के लिए सामर्थ्य विधान से बिना ही माँगे मिलती है।

सुख-भोग की रुचि का सर्वांश में नाश हुए बिना सर्व-हितकारी प्रवृत्ति स्वभावत: नहीं होती। पर जब दुःख का प्रभाव सुख-भोग की रुचि का नाश कर देता है, तब सर्व-हितकारी प्रवृत्ति स्वतः होने लगती है। आत्मख्याति तथा लोकरंजन की कामना से प्रेरित सर्व-हितकारी प्रवृत्ति

वास्तव में सर्व-हितकारी नहीं है, अपितु मान तथा भोग की जननी है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। कारण, कि मान तथा भोग में आबद्ध प्राणी देहाभिमान से रहित नहीं हो पाता, जिसके बिना हुए किसी के भी मौलिक प्रश्न हल नहीं हो सकते। इस दृष्टि से मान तथा भोग की रुचि का अन्त करना अनिवार्य है, जिसके होते ही प्रत्येक परिस्थिति में सर्व-हितकारी प्रवृत्ति द्वारा प्राप्त सामर्थ्य का सदव्यय होने लगता है, जो विकास का मूल है।

सर्व-हितकारी प्रवृत्ति के अन्त में अथवा काम-रहित होने पर मंगलमय विधान से जो निवृत्ति स्वतः आती है, वही वास्तविक निवृत्ति है। संकल्पपूर्वक जिस निवृत्ति का सम्पादन किया जाता है, वह निवृत्ति होने पर भी घोर प्रवृत्ति ही है। काम-रहित हुए बिना बलपूर्वक जो निवृत्ति प्राप्त की जाती है, वह साधक को अभिमान—शून्य नहीं होने देती, जिसके बिना हुए साधन-रूप निवृत्ति की अभिव्यक्ति नहीं होती, अपितु अभिमानयुक्त निवृत्ति व्यक्तित्व के मोह का ही पोषण करती है और परस्पर भेद उत्पन्न कर देती है, जो विनाश का मूल है। अभिमान-शून्य निवृत्ति शान्ति, सामर्थ्य तथा स्वाधीनता की जननी है और अभिमानयुक्त निवृत्ति आंशिक शक्ति भले ही प्रदान करे, पर शान्ति तथा स्वाधीनता का तो विनाश ही करती है।

इस कारण अभिमान-रहित निवृत्ति ही वास्तविक निवृत्ति है। उसी की अभिव्यक्ति साधक के मौलिक प्रश्नों के हल करने में हेतु है। प्रवृत्ति और निवृत्ति दायें-बायें पैर के समान हैं। इन दोनों से ही साधक सत्पथ पर आरूढ़ होता है, परन्तु स्वार्थभाव से उत्पन्न प्रवृत्ति और अभिमानयुक्त निवृत्ति तो प्राणियों को सत्पथ से विमुख ही करती हैं।

प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक प्रवृत्ति के आदि और अन्त में निवृत्ति स्वतः सिद्ध है। जो तथ्य स्वतः सिद्ध है, उसकी खोज की जाती है, उसको उत्पादित नहीं किया जाता। अत: साधन-रूप निवृत्ति की खोज करना है तथा उससे अभिन्न होना है, उसको उत्पन्न नहीं करना है। उत्पत्ति-विनाश तो एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। प्रत्येक उत्पत्ति विनाश में और विनाश उत्पत्ति में विलीन होता रहता है। सहज निवृत्ति स्वत: प्राप्त होती है।

परन्तु उसके लिए प्रत्येक साधक को काम-रहित होना अनिवार्य है, जो दुःख के प्रभाव से ही साध्य है। प्रभाव कृत्रिम नहीं है, अपितु स्वतः होता है।

जब साधक मौलिक प्रश्नों को हल किये बिना रह नहीं सकता, तब आयी हुई असमर्थता तथा व्यथा का प्रभाव अपने आप होता है, जिसके होते ही उसका त्याग स्वत: हो जाता है, जिसकी उपलब्धि किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है और उसकी उत्कट लालसा जाग्रत होती है, जिसकी प्राप्ति सम्भव है। अर्थात् कामनाएँ मिट जाती हैं और मौलिक समस्याएँ स्वत: हल हो जाती हैं। पर यह तभी सम्भव होगा, जब साधक सर्व-हितकारी प्रवृत्ति के द्वारा अथवा प्राप्त की ममता और अप्राप्त की कामना से रहित होकर सहज निवृत्ति सुरक्षित करने का अथक प्रयास करे, जो विवेक-सिद्ध है।

दुःख का प्रभाव प्राप्त विवेक के आदर में हेतु है। सुख के प्रलोभन से ही प्राणी निज-विवेक का अनादर कर, अपना सर्वनाश कर बैठता है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। अर्थात् प्रत्येक साधक के लिए निज-विवेक का अनादर सर्वथा त्याज्य है, जो असह्य वेदना से ही सम्भव है।

दुःख-रहित सुख, भय-रहित शान्ति एवं पराधीनता-रहित अनुकूलता की माँग प्राणी मात्र में स्वभाव से है। प्राकृतिक नियमानुसार सुखद अनुभूति के आदि और अन्त में दुःख का भास होता है। यदि सुख का अन्त दुःख में न होता, तो सुख जीवन का लक्ष्य हो सकता था। पर ऐसा किसी का अनुभव नहीं है। उस पर भी सुख में कितनी मधुरिमा है कि उसका आकर्षण-यह जानते हुए भी कि अन्त में दुःख ही दुःख शेष रहता है-सुख के प्रलोभन को जीवित रखता है। इसी कारण प्राणी में सहज भाव से यह कल्पना होती है कि यदि दुःख- रहित सुख मिलता, तो बड़ा ही अच्छा होता। यदि दुःख-रहित सुख का अर्थ सुख-दुःख से अतीत का जीवन स्वीकार कर लिया जाये, तब तो यह माँग पूरी हो सकती है, किन्तु कामना-पूर्ति-जनित सुखद अनुभूति को ही सुख के अर्थ में लिया जाये, तो दुःख-रहित सुख की कल्पना भ्रममूलक है। कारण, कि जब सुख का भास दुःख से ही होता है, तब परिणाम में दुःख ही रहेगा। अत: दुःख-रहित सुख का अर्थ सुख-दुःख से

अतीत के जीवन से अभिन्नता ही उपयुक्त है। इस माँग की पूर्ति हो सकती है। कब? जब दुःख का प्रभाव सुखद अनुभूति में दुःख का दर्शन कराने में समर्थ हो जाये, जो सम्भव है।

सम्भव को असम्भव और असम्भव को सम्भव मानना भूल है। जो सम्भव है, उसकी उत्कट लालसा ही उसकी प्राप्ति में मुख्य हेतु है। इस दृष्टि से सुख-दुःख से अतीत के जीवन की उत्कट लालसा का जाग्रत करना ही साधक का परम पुरुषार्थ है। दुःख का प्रभाव ही कामनाओं का नाश करने में और उत्कट लालसा जगाने में हेतु है। दुःखी की सबसे बड़ी भूल यही है कि वह आये हुए दुःख से भयभीत होता है, दुःख को भोगता रहता है, पर दुःख के प्रभाव को नहीं अपनाता, जिसके बिना अपनाये दुःख का सर्वांश में अन्त किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। मंगलमय विधान से दुःख का प्रादुर्भाव दुःखियों के दुःख का नाश करने के लिए ही हुआ है। उससे भयभीत होना साधक की अपनी कायरता है, जिसका विकासोन्मुख जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

सुख, शान्ति सभी को स्वभाव से ही प्रिय हैं। परन्तु सुख-सामग्री के आश्रित शान्ति, भय-रहित, शान्ति नहीं है। भययुक्त शान्ति शान्ति का आभास मात्र है, शान्ति नहीं। अर्थात् भययुक्त शान्ति 'अशान्ति' की जननी है और कुछ नहीं। साधक की माँग भय-रहित शान्ति की है, जिसकी उपलब्धि किसी परिस्थिति पर निर्भर नहीं है। वस्तु व्यक्ति, परिस्थिति आदि से सम्पादित बल के द्वारा अपनी शान्ति को सुरक्षित रखने का प्रयास भ्रममूलक है। कारण, कि बल का उपयोग समान बल पर अथवा अधिक बल पर नहीं हो सकता, अपितु निर्बलों के प्रति ही होता है। यह प्राकृतिक नियम है कि बल के दुरुपयोग से कालान्तर में सबल स्वयं निर्बल हो जाता है।

इतना ही नहीं, उसकी विरोधी सत्ता की उत्पत्ति भी हो जाती है और वही दुर्दिन उसे स्वयं देखने पड़ते हैं, जो उसने बल के दुरुपयोग के द्वारा निर्बलों को दिखाये थे। बल के सदुपयोग से परस्पर एकता होती है और फिर सबल तथा निर्बल का भेद शेष नहीं रहता। पर बल का सदुपयोग तभी सम्भव है, जब सबल निर्बलों के दुःख से दुःखी हो, करुणित हो जाये और दुःखी सुखियों को देख, प्रसन्न हो जाये।

यह सभी को विदित है कि सर्वांश में कोई भी देश, वर्ग, समाज एवं व्यक्ति सबल तथा निर्बल नहीं है। आंशिक बल तथा निर्बलता सभी में है। व्यक्ति जिस अंश में सबल है, उस अंश में किसी निर्बल को देख, करुणित हो और जिस अंश में निर्बल है, उस अंश में किसी सबल को देख, प्रसन्न हो, तो परस्पर की भिन्नता एकता में परिवर्तित हो जाती है, जिसके होते ही भय-रहित शान्ति का प्रादुर्भाव होता है। इस दृष्टि से दुःखियों को देख, करुणित और सुखियों को देख-प्रसन्न होना प्रत्येक देश, वर्ग, समाज एवं व्यक्ति के लिए अनिवार्य है और यही सर्वोत्कृष्ट सेवा है। सेवा की सजीवता तथा पूर्णता त्याग में निहित है, अर्थात् जब तक प्रत्येक भाई-बहन मिली हुई वस्तुओं की ममता का अन्त नहीं करेंगे और अप्राप्त वस्तुओं की कामना से रहित नहीं होंगे, तब तक प्राप्त वस्तु सामर्थ्य, योग्यता, आदि का सद्व्यय सम्भव नहीं है। कारण, कि ममता एवं कामना ने ही दो व्यक्तियों, वर्गों, देशों आदि में भेद उत्पन्न कर, संघर्ष का पोषण किया है। भेद रहते हुए केवल बाह्य सामग्री के सम्पादन मात्र से कोई भी भयभीत शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता, अपितु सेवा और त्याग के बिना वह स्वयं सबल से भयभीत होगा और निर्बलों को भयभीत करता रहेगा, जो अशान्ति का मूल है।

सेवा और त्याग को सजीव बनाने में एकमात्र प्रेम ही मूल तत्व है। इस कारण प्रेम के साम्राज्य की स्थापना सभी के लिए अत्यन्त आवश्यक है। उसके लिए प्रत्येक भाई-बहन को भौतिकवाद की दृष्टि से शरीर और विश्व की एकता स्वीकार करना अनिवार्य है। कारण, कि किसी भी प्रकार शरीर और विश्व का विभाजन सम्भव नहीं है। जिस प्रकार प्रत्येक प्राणी को अपने शरीर की रक्षा अभीष्ट है, उसकी क्षति प्रिय नहीं है, उसी प्रकार सभी की रक्षा अभीष्ट हो और किसी की क्षति अपने को सहन न हो, तभी वास्तविक भौतिकवाद सिद्ध हो सकता है। ममता और कामना को जीवित रखना और अपने-अपने सुख को सुरक्षित रखने में लगा रहना भौतिकवाद नहीं है, अपितु संघर्षवाद, विनाशवाद और भोगवाद है, जो सर्वदा सभी के लिए अहितकर है।

"शरीर विश्व के काम आ जाये"-इसके अतिरिक्त अपना और कोई उद्देश्य न रहे, तभी भौतिकवाद

की दृष्टि से प्रेम के साम्राज्य की स्थापना हो सकती है। अध्यात्मवाद ने मानव समाज को सर्वात्मभाव का पाठ पढ़ाया है, अर्थात् निज-स्वरूप से भिन्न कुछ है ही नहीं, समस्त विश्व अपनी ही एक अवस्था मात्र है और कुछ नहीं है। इस दृष्टि से अध्यात्मवाद के द्वारा भी प्रेम के साम्राज्य की स्थापना हो सकती है। कारण, कि अपने में अपनी प्रियता स्वाभाविक है। प्रियता की जागृति परस्पर भेद, भिन्नता, संघर्ष आदि के नाश में हेतु है। जगत् और उसका प्रकाशक अपना ही निज-स्वरूप है, अपने से भिन्न की सत्ता ही नहीं है, यही अध्यात्मवाद की एकता है। जगत् को मिथ्या कहना मात्र ही अध्यात्मवाद नहीं है, प्रत्युत् भेद और भिन्नता का अत्यन्त अभाव ही अध्यात्मवाद है।

आस्तिकवाद ने प्रेमास्पद से भिन्न में आस्था, श्रद्धा तथा विश्वास ही नहीं किया और प्रेमास्पद की आत्मीयता को ही अपना सर्वस्व माना और उन्हों के नाते निष्काम भाव से विश्व की सेवा की। इतना ही नहीं, उसने समस्त विश्व में प्रेमास्पद की अनुपम लीला का ही दर्शन किया। आस्तिकवाद प्रीति और प्रियतम से भिन्न को जानता ही नहीं, प्रत्युत् प्रीति से अभिन्न होकर अनेक रूपों में प्रीतम को लाड़ लड़ाने का पाठ आस्तिकवाद ने पढ़ाया है। इस कारण आस्तिकवाद ने भी प्रेम के साम्राज्य की ही स्थापना की है। भय-रहित शान्ति की अभिव्यक्ति सेवा, त्याग तथा प्रेम में ही निहित है। परन्तु जब तक साधक दुःख के प्रभाव से प्रभावित नहीं होता, तब तक जीवन में सेवा, त्याग तथा प्रेम की अभिव्यक्ति नहीं होती। इस दृष्टि से सर्वतोमुखी विकास दुःख के प्रभाव में ही निहित है।

पराधीनता-रहित अनुकूलता मानव मात्र को स्वभाव से ही प्रिय है। परन्तु यदि अनुकूलता का अर्थ कामना-पूर्ति-जनित सुख को सुरक्षित रखना है, तब तो पराधीनता-रहित अनुकूलता की कल्पना विडम्बना मात्र है। जो अनुकूलता प्रतिकूलता में परिवर्तित होती है, उसे अनुकूलता मानना, क्या भूल नहीं है? वास्तविक अनुकूलता वही है, जिसमें सभी प्रतिकूलताएँ विलीन हो जाएँ और वह सर्वदा अखण्ड रूप से ज्यों-की-त्यों अविचल रहे। इसके अतिरिक्त अनुकूलता का कोई और अर्थ स्वीकार करना, अनुकूलता के नाम पर प्रतिकूलता को पोषित करना है।

पराधीन हुए बिना कोई भी प्राणी कामना-पूर्ति-जनित सुख का सम्पादन नहीं कर सकता। इस दृष्टि से सुख के भोगी को पराधीन होना ही पड़ता है और परिणाम में दुःख ही हाथ लगता है, जो स्वभाव से किसी को अभीष्ट नहीं है।

सुख की आशा में दुःख भोगते रहना भले ही किसी को सहन हो, परन्तु परिणाम में दुःखी होना सभी को असह्य है। इसी कारण पराधीनता-रहित अनुकूलता की माँग स्वभाव से ही जाग्रत होती है, जिसकी पूर्ति अवश्यम्भावी है। उत्पन्न हुए संकल्पों से तादात्म्य स्वीकार कर, प्राणी उनकी पूर्ति में पराधीनता-युक्त अनुकूलता को अपनाता है और देश, काल, वस्तु व्यक्ति, अवस्था आदि के अधीन हो जाता है। जिसके अधीन होकर प्राणी संकल्प-पूर्ति का सुख भोगता है, उसको सर्वदा सुरक्षित रखने में वह स्वाधीन नहीं है। इस कारण संकल्प-पूर्ति की उपयुक्त परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना कुछ अर्थ नहीं रखता। अतः पराधीनता-रहित जीवन ही जीवन है।

यह सभी को विदित है कि संकल्प-पूर्ति की सुखानुभूति जाग्रत और स्वप्नावस्था में ही सम्भव है। परन्तु उस सुख का भोग अखण्ड रूप से न तो किसी प्राणी को रुचिकर ही है और न किसी परिस्थिति में सम्भव ही है। जिस प्रवृत्ति से अरुचि होती है, वह प्रवृत्ति वास्तविक जीवन नहीं है। जीवन में तो सर्वदा उत्तरोत्तर नित-नवप्रियता की ही वृद्धि होती है। जो रुचिकर भी न हो और सम्भव भी न हो, उससे उपरति अपने आप होती है। इसी कारण प्राणी जाग्रत तथा स्वप्नावस्था से सुषुप्ति को अधिक महत्व देता है। प्रिय से प्रिय वस्तु तथा व्यक्ति का त्याग गहरी नींद के लिए भला किसने नहीं किया? इस दृष्टि से संकल्प-पूर्ति की अपेक्षा संकल्प का लय अधिक महत्व की वस्तु है। सुषुप्ति में संकल्पों का लय प्राकृतिक नियम से होता है, उसे कोई भी प्राणी अपने आप प्राप्त नहीं कर सकता। औषधियों के द्वारा सुषुप्तिवत् अवस्था प्राप्त की जाती है, किन्तु वह सुषुप्ति प्राकृतिक सुषुप्ति के समान नहीं होती। सर्वांश में सुषुप्ति अवस्था प्राप्त करना व्यक्ति के अधीन नहीं है। इस दृष्टि से सुषुप्ति में भी पराधीनता रहती है।

जाग्रत और स्वप्नावस्था की अपेक्षा सुषुप्ति अधिक सुखदायक है।

उसमें विषमता का दर्शन नहीं है और सुखानुभूति के साथ-साथ जाग्रत और स्वप्न के समान दुःखानुभूति भी नहीं है, अर्थात् जाग्रत और स्वप्न में दुःख और सुख, दोनों का भास है। पर सुषुप्ति में दुःख का भास नहीं है। फिर भी जड़ता और पराधीनता से रहित सुषुप्ति भी नहीं है।

यदि साधक विवेकपूर्वक परिस्थिति के अनुकूल आवश्यक संकल्पों को कर्तव्य-बुद्धि से पूरा कर, अनावश्यक संकल्पों को त्याग, निर्विकल्पता प्राप्त करे, तो उसे जाग्रत अवस्था में ही सुषुप्ति के समान दुःख-निवृत्ति का दर्शन होगा और जड़ता तथा पराधीनता का अन्त हो जायेगा। अतएव सुषुप्ति की अपेक्षा निःसंकल्पता अधिक महत्व की वस्तु है। परन्तु निर्विकल्पता-जनित शान्ति में रमण करना भी तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म पराधीनता ही है। निर्विकल्पता-जनित शान्ति का सम्पादन अनिवार्य है। कारण, कि उसके बिना साधक वास्तविक स्वाधीनता की ओर अग्रसर ही नहीं हो सकता। निर्विकल्पता–जनित शान्ति से स्वाधीनता का पुजारी विवेकपूर्वक असंग हो सकता है।

शान्ति स्वभाव से ही सामर्थ्य की जननी है। इस कारण शान्ति का प्रादुर्भाव होने पर साधक उससे असंग हो सकता है, जिसके होते ही स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश होता ही है, यह अनन्त का मंगलमय विधान है। विधान के अधीन प्राणी स्वाधीन है, पराधीन नहीं। कारण, कि विधान सभी के लिए सर्वदा हितकर होता है। उससे किसी का अहित नहीं होता। इतना ही नहीं, विधान और जीवन में एकता होती है। इस दृष्टि से विधान की अधीनता में स्वाधीनता है, पराधीनता नहीं। स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश अनिवार्य है। परन्तु उसमें सन्तुष्ट हो, अह-भाव-रूपी अणु को जीवित रखना पराधीनता के सूक्ष्मातिसूक्ष्म बीज का पोषण करना है। इस कारण स्वाधीनता में सन्तुष्ट रहने की अभिरुचि का नाश करना अनिवार्य है।

जिसके मंगलमय विधान से प्राणी उत्तरोत्तर विकास की ओर अग्रसर होता है, उसकी आत्मीयता स्वीकार करना अह-भाव को प्रीति में परिणत कर देना है। किन्तु विश्राम तथा स्वाधीनता के बिना आत्मीयता सजीव नहीं होती, अर्थात् जो कुछ भी चाहता है, वह किसी से वास्तविक

आत्मीयता नहीं कर सकता और जो किसी भी वस्तु अवस्था आदि में ममता रखता है, वह भी किसी को अपना नहीं बना सकता। आत्मीयता के बिना अगाध, अनन्त, नित-नव प्रियता की जागृति किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से पराधीनता-रहित अनुकूलता प्रियता की जागृति में निहित है।

अपना संकल्प रखते हुए कोई भी प्रियता से अभिन्न नहीं हो सकता, यह नियम है। अत: जब साधक दुःख के प्रभाव से प्रभावित हो, सुख की दासता से रहित होता है, तब वह अपने संकल्प को विश्व के संकल्प में विलीन कर सकता है, जिसके करते ही अकर्तव्य का नाश और कर्तव्य-परायणता की अभिव्यक्ति स्वत: होती है। फल की आशा से रहित कर्तव्य-पालन पराधीनता-रहित अनुकूलता से अभिन्न करता है अथवा साधक सर्व संकल्पो को त्याग, विवेक—पूर्वक अवस्थातीत जीवन से अभिन्न होकर, स्वाधीनता पाता है, जिससे जीवन अपने लिए उपयोगी होता है अथवा अपने संकल्पों को सर्व के आश्रय तथा प्रकाशक के संकल्प में विलीन करने पर भी साधक स्वाधीन हो, प्रेम का अधिकारी हो जाता है। प्रेम का प्रादुर्भाव होने पर पराधीनता-रहित अनुकूलता स्वतः प्राप्त होती है। कारण, कि प्रेम अनन्त का स्वभाव और प्रेमी का जीवन है।

अतः पराधीनता-रहित अनुकूलता के लिए यह अनिवार्य है कि अपना कोई संकल्प न रहे। प्रत्येक साधक अपनी-अपनी रुचि, योग्यता एवं सामर्थ्य के अनुसार संकल्प-रहित होने के लिए अधिकार-लालसा से रहित हो, अपने संकल्पों को विश्व के संकल्प में विलीन करे अथवा विवेक-पूर्वक देहाभिमान रहित हो, सर्व-संकल्पों से असंग हो जाये अथवा आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक शरणागत हो, अनन्त के संकल्प में अपने संकल्पों को विलीन कर, आत्मीयता-पूर्वक प्रीति से अभिन्न हो जाये। पर यह तभी सम्भव होगा, जब पराधीनता-जनित वेदना असह्य हो जाय, किसी भी मूल्य पर पराधीनता और परिच्छन्नता सहन न कर सके। पराधीनता का सर्वांश में नाश करना सभी साधकों के लिए अनिवार्य है, जो दुःख के प्रभाव से ही साध्य है।

उपसंहार

दुःख का भय तथा भोग प्राणियों को सुख की दासता में आबद्ध कर, जड़ता एवं पराधीनता से युक्त कर देता है, जो किसी भी साधक को स्वभाव से अभीष्ट नहीं है। परन्तु दुःख का प्रभाव व्यक्ति को सजगता प्रदान करता है, जिससे साधक को जड़ता तथा पराधीनता असह्य हो जाती है, अर्थात् वह वर्तमान वस्तुस्थिति से भलीभाँति परिचित हो जाता है। प्राकृतिक नियमानुसार, प्रत्येक परिस्थिति सुख तथा दुःख से युक्त है। सजगता सुख की दासता तथा दुःख के भय से रहित होने के लिए प्रेरित करती है।

इस दृष्टि से सजगता विकास की भूमि है। सुख की दासता 'करुणा' का और दुःख का भय प्रसन्नता' का अपहरण कर लेता है। परन्तु जब सजगता साधक को सुख की दासता में आबद्ध नहीं रहने देती, तब वह दुःखियों को देख, करुणित हो उठता है, जिसके होते ही सुख का प्रलोभन शेष नहीं रहता, अपितु प्राप्त सुख-सामग्री दुःखियों की धरोहर हो जाती है। सजगता दुःखी को दुःख के भय से रहित कर, दुःख के प्रभाव से प्रभावित करती है।

दुःख का प्रभाव परस्पर भेद तथा भिन्नता का अन्त करने में समर्थ है। भेद तथा भिन्नता का अन्त होते ही साधक के जीवन में उदारता की अभिव्यक्ति होती है, जिसके होते ही साधक दुःखियों को देख, करुणित और सुखियों को देख, प्रसन्न होने लगता है। करुणा सुख-भोग की रुचि को खाकर, प्राप्त सुख के सद्व्यय में साधक को प्रवृत्त कर देती है और प्रसन्नता नीरसता का अन्त कर साधक को निष्काम बना देती है।

इस दृष्टि से उदारता की अभिव्यक्ति विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है, जो एकमात्र सजगता से ही साध्य है। इतना ही नहीं, सजगता ही जीवन की जननी है और असावधानी ही मृत्यु है। असावधानी के समान और कोई भारी भूल नहीं है। ऐसी कोई अवन्नती तथा ह्रास नहीं है, जिसके मूल में असावधानी न हो। असावधानी कोई प्राकृतिक दोष नहीं है, अपितु साधक का अपना ही बनाया हुआ दोष है। इस कारण उसका अन्त

करना प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा, जब साधक दुःख के प्रभाव से प्राप्त सजगता को सुरक्षित रखे।

सजगता एक अलौकिक प्रकाश है, जो असावधानी-रूपी अन्धकार के नष्ट करने में समर्थ है। सजगता किसी कर्म का फल नहीं है, अपितु अनन्त की अनुपम देन है। सजगता का प्रभाव सर्वांश में और असावधानी आंशिक होती है। यद्यपि आंशिक सावधानी मानव मात्र में रहती ही है, परन्तु उसे सजगता मानना मिथ्या गुण के अभिमान में अपने को आबद्ध करना है, जो वास्तव में जड़ता है।

सजगता आते ही आंशिक असावधानी सदा के लिए नष्ट हो जाती है और फिर आंशिक गुणों के अभिमान की उत्पत्ति नहीं होती। यह नियम है कि गुणों के अभिमान में ही आंशिक दोष पोषित होते रहते हैं। इस कारण गुणों का अभिमान दोषों का मूल है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। दुःख का प्रभाव दोष-जनित वेदना जाग्रत कर, सजगता प्रदान करता है। अतः दुःख के प्रभाव में ही सजगता निहित है।

सजगता से प्राप्त उदारता साधक को हृदयशील बना देती है। हृदयशीलता की अभिव्यक्ति होते ही साधक किसी को न तो बुरा ही समझता है और न किसी का बुरा ही चाहता है और न उसमें बुराई करने की सामर्थ्य ही रहती है। प्राकृतिक नियमानुसार दोष के नाश में ही दिव्य गुणों की अभिव्यक्ति निहित है। बुराई को 'बुराई जानकर बुराई न करना, कोई महत्व की बात नहीं है। बुराई की उत्पत्ति ही न हो, यही वास्तव में बुराई से रहित होना है। बलपूर्वक बुराई को न करना, बीज रूप से बुराई को सुरक्षित रखना है, वह कभी भी वृक्ष के रूप में परिणत हो सकती है। इस कारण बुराई के बीज का नाश अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा, जब सजगतापूर्वक प्राप्त उदारता सुरक्षित रहे। उदारता को सुरक्षित बनाए रखने के लिए, "वर्तमान सभी का निर्दोष है"-इस महामन्त्र को अपना लेना अनिवार्य है। उदारता से उदित निष्कामता में ही असंगता निहित है।

प्रसन्न रहने के लिए किसी अभ्यास विशेष की अपेक्षा नहीं है, प्रत्युत् सहज निष्कामता अनिवार्य है।

सभी अभ्यास शरीर से तद्रूप होने पर ही होते हैं। जिससे असंग होना है, उसी का आश्रय लेना युक्तियुक्त नहीं है। निष्कामता आते ही स्वतः असंगता आती है। कारण, कि काम ही संग में हेतु है। इस दृष्टि से निष्काम हुए बिना असंगता किसी भी अभ्यास से साध्य नहीं है। असगता का चिन्तन असंगता की उत्कट लालसा की जागृति में भले ही हेतु हो, किन्तु निष्कामता के बिना असंगता प्राप्त नहीं होती। असंगता के बिना निर्वासना नहीं आती और उसके बिना स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश नहीं होता, जो जीवन की माँग है।

पराधीनता सहन करते रहना ही जड़ता में आबद्ध होना है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। पराधीनता असह्य हो जाय, तभी निष्कामता-पूर्वक असंगता प्राप्त होती है, यह निर्विवाद है। क्रिया, चिन्तन, स्थिरता से तादात्म्य तथा उसकी ममता ही संग है। ममता और तादात्म्य के नाश से ही असंगता सिद्ध होती है। यद्यपि सभी अवस्थाएँ समष्टि-शक्तियों से निर्मित हैं, परन्तु ममता तथा तादात्म्य के कारण उन अवस्थाओं का अभिमान प्राणी अपने में आरोपित कर लेता है। उसका भयंकर परिणाम यह होता है कि बेचारा साधक दीनता तथा अभिमान की अग्नि से दग्ध होता रहता है। इतना ही नहीं, अनुकूलता की दासता और प्रतिकूलता के भय में आबद्ध हो जाता है।

अतएव सभी अवस्थाओं से असंग होना है। पर वह तभी सम्भव होगा, जब प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में शान्ति का सम्पादन किया जाय। उसके लिए अवस्थातीत जीवन की जिज्ञासा तथा उत्कट लालसा अनिवार्य है। वास्तव में अवस्थातीत जीवन ही जीवन है। प्रत्येक अवस्था परिवर्तनशील तथा पर-प्रकाश्य है। उससे तादात्म्य बनाये रखना भारी भूल है। दुःख का प्रभाव भूलजनित सुख के प्रलोभन को खाकर सजगता, उदारता, निष्कामता एवं असंगता प्रदान करने में समर्थ है। उदारता जगत् के लिए उपयोगी होती है और निष्कामता-पूर्वक असंगता अपने लिए उपयोगी होती है।

उदारता की पूर्णता में असंगता और असंगता की सिद्धि में उदारता ओतप्रोत हैं। अपनी-अपनी रुचि, योग्यता एवं सामर्थ्य के अनुसार कोई उदारता को अपनाकर, असंग हो जाता है और कोई असंग होकर, उदार

होता है। यह नियम है कि उदारता की अभिव्यक्ति होने पर जब जीवन जगत् के लिए उपयोगी सिद्ध हो जाता है, तब अपने लिए जगत् की अपेक्षा नहीं रहती और फिर स्वत: असंग होने की सामर्थ्य आ जाती है। यह अनन्त का मंगलमय विधान है। असंगता से जीवन अपने लिए उपयोगी सिद्ध होता है। इस दृष्टि से उदारता में असंगता निहित है।

सजगता-पूर्वक असंग होने पर भी जीवन अपने लिए उपयोगी होता है और फिर पराधीनता की गन्ध भी नहीं रहती। स्वाधीनता की अभिव्यक्ति होने पर भी जीवन जगत् के लिए हितकर सिद्ध होता है। कारण, कि चाह-रहित की चाह सभी को होती है। अत: असंगता में भी उदारता निहित है। हृदयशील साधक उदारता उदार होते हैं। भाव-शक्ति की सबलता से हृदयशीलता और विचारशक्ति की प्रबलता से निष्कामता आती है, जो असंगता में हेतु है।

जिस अनन्त की अहैतुकी कृपा से मानव मात्र को भाव-शक्ति, विवेक-शक्ति तथा सामर्थ्य मिली है, उसको लिए जीवन उपयोगी तभी हो सकता है, जब साधक उदारता तथा असंगता से प्राप्त शान्ति में रमण नहीं करता एवं स्वाधीनता में सन्तुष्ट नहीं होता। तब उसे अनन्त की कृपा-शक्ति स्वत: अनन्त की आस्था, श्रद्धा, विश्वास एवं आत्मीयता प्रदान करती है, जिससे अगाध प्रियता उदित होती है और फिर जीवन अनन्त के लिए उपयोगी सिद्ध होता है।

अहं-भाव-रूपी अणु में ही जगत् का बीज, तत्व की जिज्ञासा एवं अगाध-प्रियता की उत्कट लालसा विद्यमान हैं। पराधीनता में जीवन-बुद्धि, अर्थात् वस्तु व्यक्ति, परिस्थिति, अवस्था आदि के द्वारा सुख की आशा ही जगत् का बीज है। सुख की आशा ने ही व्यक्ति को अधिकार-लालसा में आबद्ध कर दिया है, जिससे बेचारा प्राणी राग तथा क्रोध से आक्रान्त हो जाता है। राग से जड़ता तथा क्रोध से विस्मृति उत्पन्न होती है, जो अवन्नती का मूल है।

दु:ख का प्रभाव सुख के प्रलोभन को नष्ट कर साधक को अधिकार-लालसा से रहित कर देता है और फिर स्वत: कर्तव्यपरायणता, अर्थात् सेवाभाव उदित होता है, जिसके होते ही अह-रूपी अणु में से

जगत् का बीज नष्ट हो जाता है। जगत् का बीज नष्ट होने पर निष्कामता की अभिव्यक्ति होती है। निष्कामता की भूमि में ही जिज्ञासा-पूर्ति के लिए स्वतः विचार का उदय होता है।

जिस प्रकार सूर्य का उदय होने पर अन्धकार शेष नहीं रहता, उसी प्रकार विचार का उदय होते ही अविचार शेष नहीं रहता। अर्थात् स्वत: तत्व-जिज्ञासा की पूर्ति हो जाती है, जिसके होते ही स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश हो जाता है। स्वाधीनता का आश्रय पाकर अह-रूपी अणु का सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाग शेष रहता है। अगाध-प्रियता की जागृति के बिना अहं का अत्यन्त अभाव सम्भव नहीं है। यद्यपि स्वाधीनता अविनाशी तत्व है, परन्तु उसके आश्रित अहं को जीवित रखना भूल है।

जिस प्रकार क्रिया, चिन्तन और स्थिति का आश्रय पाकर परिचिछन्नता जीवित रहती है, उसी प्रकार शान्ति तथा स्वाधीनता का आश्रय पाकर अह-रूपी अणु का सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाग शेष रहता है। यह नियम है कि जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता, वह अन्य सत्ता के आश्रित अपने को जीवित रखता है। इसी कारण विश्राम तथा स्वाधीनता के आश्रित अह जीवित रहता है। विश्राम में सामर्थ्य और स्वाधीनता में अमर जीवन निहित है।

सामर्थ्य और अमरत्व को पाकर सन्तुष्ट हो जाना अपने को अगाध-प्रियता से विमुख रखना है। इस कारण विश्राम और स्वाधीनता एकमात्र अगाध-प्रियता की जागृति में साधन रूप हैं। साधन में साध्यबुद्धि साधन का मोह है, जो साधक के अहं को जीवित रखता है। साधक का वास्तविक स्वरूप परम—शान्ति, अखण्ड—स्मृति एवं अगाध-प्रियता है। जो साधक का स्वरूप है, वही साध्य का स्वभाव है। साधक साध्य के स्वभाव से अभिन्न होकर कृतकृत्य होता है। इस दृष्टि से दुःख के प्रभाव में ही जीवन की पूर्णता निहित है।

मानवता के मूल सिद्धांत

मानवता के मूल सिद्धांत में ग्यारह नियम दिये गए हैं, यह नियम मानव-मात्र के लिए कल्याणलारी और जीवन के सर्वतोमुखी विकास में सहायक हैं। प्रथम चार, आठवाँ, नवाँ और ग्यारहवाँ आन्तरिक जीवन से तथा पाँचवा, छठाँ, सातवाँ और दसवाँ बाह्य जीवन से अधिक सम्बन्ध रखने वाले हैं। इस प्रकार ये नियम शारीरिक, मानसिक, आन्तरिक और सामाजिक जीवन के सभी अङ्गों का साङ्गोपाङ्ग विकास करते हुए साधक को वास्तविक जीवन से अभिन्न कराने में समर्थ हैं।

प्रार्थना

(प्रार्थना आस्तिक प्राणी का जीवन है)

मेरे नाथ !
आप अपनी
सुधामयी,
सर्व-समर्थ,
पतितपावनी,
अहैतुकी कृपा से
दु:खी प्राणियों के हृदय में
त्याग का बल
एवं
सुखी प्राणियों के हृदय में
सेवा का बल
प्रदान करें,
जिससे वे
सुख-दु:ख के बन्धन से
मुक्त हो,
आपके पवित्र प्रेम का
आस्वादन कर
कृतकृत्य हो जायें ।

ॐ आनन्द! ॐ आनन्द! ॐ आनन्द!!!

प्रार्थना की व्याख्या

प्रार्थना प्राणी की वास्तविक पुकार है। ज्यों-ज्यों अपनी निर्बलताओं से प्राणी परिचित होता जाता है, त्यों-त्यों स्वभाव से ही प्रार्थना होने लगती है। अपनी निर्बलताओं का ज्ञान विकास का मूल है, क्योंकि वर्तमान की

आवश्यकता से ही भविष्य की उपलब्धि होती हे ! आवश्यकता उसी की होती हे जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता और मानी हुई भिन्नता हो। मानी हुई भिन्नता प्रमाद को उत्पन्न कर प्राणी को अनेक निर्बलताओं में आबद्ध कर देती है। ज्यों-ज्यों निर्बलता-जनित वेदना बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों उन निर्बलताओं का अन्त करने के लिए स्वभाव से ही प्रार्थना होने लगती है। प्रार्थना उसी के लिए होती है जिसकी प्राप्ति अनिवार्य है। इस दृष्टि से प्रार्थना सफलता की कुंजी है। प्रार्थना प्राणि-मात्र को स्वभाव से ही अभिष्ट है। दार्शनिक दृष्टि तथा मान्यताओं का भेद होने पर भी प्रार्थना सभी की एक है। कारण कि स्वाभाविक आवश्यकता सबकी एक और अस्वाभाविक इच्छाएँ अनेक हैं। प्रार्थना का उद्गम स्थान स्वाभाविक आवश्यकता है, जो बीज रूप से प्राणि-मात्र में एक ही है। अस्वाभविक इच्छाओं में भेद होने से मान्यताओं में भले ही भेद हो, परन्तु स्वाभाविक आवश्यकता एक होने से मानव-मात्र का जीवन एक है। इस दृष्टि से मानव-सेवा-संघ की प्रार्थना मानवमात्र के लिए हितकर है। उस प्रार्थना का प्रथम वाक्यांश है "मेरे नाथ"।

"मेरे" और "नाथ" इन शब्दों से जो ध्वनि निकलती है वह प्रार्थी में प्रियता, निर्भयता तथा निश्चिन्तता जाग्रत करती है। कारण कि "मेरे" शब्द में आत्मीयता की अभिव्यक्ति है। आत्मीयता प्रियता की जननी है। प्रियता स्वभाव से ही रसरूप है। इस कारण प्रियता नीरसता का अन्त करने में समर्थ है। नीरसता का अन्त होते ही खिन्नता मिट जाती है, जिसके मिटते ही क्षोभ तथा क्रोध आदि विकारों का अन्त हो जाता है। क्षोभ का अन्त होने से प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग होने लगता है और क्रोध का अन्त होते ही विस्मृति मिट जाती है, अर्थात् कर्तव्यपरायणता स्वतः आा जाती है।

'नाथ" उसी को कह सकते हैं जो समर्थ तथा रक्षक है। उसके होते हुए निश्चिन्तता तथा निर्भयता स्वभाव से ही आ जाती है। निश्चिन्तता व्यर्थ-चिन्तन तथा निराशा को खा लेती है और निर्भयता प्राप्त का सदुपयोग कराने में समर्थ होती है। अत: "मेरे नाथ" वाक्याशं के अर्थ का स्फुरण होते ही निराशा में आशा और असफलता में सफलता का दर्शन होने लगता है

और जीवन एक नवीन उत्साह तथा उत्कटा से परिपूर्ण हो जाता है।

इस प्रार्थना में प्रार्थी अपनी मूल निर्बलताओं को जानकर प्रार्थनीय की कृपा शक्ति की महिमा पर श्रद्धा करता है। मूल निर्बलताएँ मुख्य रूप से तीन प्रकार की हैं :-

1. जीवन की माँग, अर्थात् मृत्यु का भय प्राणि मात्र में स्वभाव से है।
2. सामर्थ्य की माँग, अर्थात् अपनी असमर्थता के दोष से भी प्राणि-मात्र भली-भांति परिचित है।
3. पवित्रता, अर्थात् जो भूल हो चुकी है उससे छुटकारा पाने की रुचि भी प्राणि-मात्र में स्वभाव से है। यह नियम है कि जिससे प्रार्थना की जाती है उसकी महिमा में श्रद्धा करना अनिवार्य हो जाता है। निर्बलता के अनुरूप प्रार्थना और प्रार्थना के अनुसार प्राध्य की स्तुति स्वभाव से ही होने लगती है। इस कारण इस प्रार्थना में अपने प्राध्य की कृपा-शक्ति की महिमा में चार प्रकार के विशेषण स्वीकार किये गये हैं सुधामयी,सर्व-समर्थ, पतितपावनी और अहैतुकी।

सुधामयी होने से मृत्यु का भय शेष नहीं रहता और सर्व-सर्मथ होने से असमर्थता का दोष मिट जाता है। पतित-पावनी होने से पवित्रता आ जाती है और अहैतुकी होने के कारण प्राणि-मात्र उस कृपा-शक्ति का अधिकारी हो जाता है। निर्बलताएँ तीन प्रकार की हैं और हमारे जो अपने प्राध्य हैं उनकी कृपा में चार विशेषण हैं। इस दृष्टि से प्रार्थी और प्राध्य के बीच नि:संकोच सम्बन्ध की स्थापना हो सकती है, अर्थात् हम सब प्रार्थी होकर स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति और अस्वाभाविक इच्छा की निवृत्ति कर सकते हैं। इस दृष्टि से उपर्युक्त प्रार्थना मानव-मात्र के विकास का अचूक उपाय है।

इस प्रार्थना में इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है वर्ग विशेष आदि के लिए नहीं की गई है, अपितु विश्व में एकता स्वीकार कर प्राणि-मात्र के हित के लिए की गई है। दूसरी बात यह है कि इस प्रार्थना में, जो अपने-आप विधान के अनुसार हो रहा है, उसका विरोध नहीं किया गया है, अर्थात् प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग की प्रार्थना है, किसी अप्राप्त परिस्थिति की माँग नहीं है। यह सभी को मान्य

होगा कि प्रत्येक परिस्थिति सुख तथा दुःख से युक्त है। प्रत्येक प्राणी किसी-न -किसी अंश में सुखी और किसी-न-किसी अंश में दुःखी है, अथवा यो कहो कि वर्तमान परिवर्तनशील जीवन सुख तथा दुःख से युक्त है। यह सभी को मान्य होगा कि जिसमें सतत् परिवर्तन है, उसमें न तो स्थिति ही सिद्ध हो सकती है और न उसका स्वतंत्र अस्तित्व ही हो सकता है। जिसका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं, उसको जीवन स्वीकार करने में निज-विवेक का विरोध है। यह अवश्य कह सकते हैं कि प्राप्त परिस्थिति वास्तविक जीवन न होने पर भी वास्तविक जीवन की साधन-सामग्री अवश्य है। इस दृष्टि से सुख तथा दुःख का सदुपयोग ही मानव-मात्र का कर्तव्य है। उसी कर्तव्यपरायणता को अपनाने के लिए इस प्रार्थना में दुःखी प्राणियों के हृदय में त्याग का और सुखी प्राणियों के हृदय में सेवा का बल प्रदान करने की उस अपने नाथ से, जिसकी कृपा सुधामयी, सर्व-समर्थ, पतितपावनी एवं अहैतुकी है, प्रार्थना की गई है।

यदि हम गम्भीरतापूर्वक विचार करें, तो यह स्पष्ट विदित होगा कि कोई भी दुःखी दुःख के भय से उस समय तक रहित नहीं हो सकता, जब तक उसमें त्याग का बल न आ जाय और कोई भी सुखी उस समय तक सुख भोग की आसक्तियों से मुक्त नहीं हो सकता, जब तक उसमें सेवा का बल न आ जाये। यह नियम है कि दुःख के भय और सुख की दासता से रहित हुए बिना परस्पर में एकता नहीं हो सकती, अर्थात् समस्त विश्व एक जीवन है, यह अनुभव नहीं हो सकता और इसके हुए बिना संघर्षों का अन्त सम्भव नहीं है। अर्थात् शान्ति की स्थापना उस समय तक नहीं हो सकती, जब तब सुखियों औद दुःखियों में अभिन्नता न हो जाए। अब यदि कोई यह कहे कि भला, बेचारा दुःखी क्या त्याग करेगा? तो यह कहना होगा। कि जिसके अभाव से दुःखी दुःख भोग रहा है, यदि उसकी वासना का त्याग करने में समर्थ हो जाय, तो भयंकर दुःख अपने-आप मिट जाता है, जिसके मिटते ही सुख-दुःख से अतीत के जीवन में प्रवेश हो जाता है। प्राकृतिक नियम के त्याग से उदारता और उदारता से त्याग की पुष्टि होती है। कोई भी सुखी पर-दुःख से दुःखी हुए बिना करुणित नहीं हो सकता और करुणित हुए बिना सुख-भोग की रुचि

का से कहीं मधुर और सरस है। सुख-भोग की रुचि का अन्त होने पर ही बेचारा सुखी, सुख की दासता से मुक्त हो सकता है। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि दुरी का कर्तव्य है 'त्याग' और सुखी का कर्तव्य है 'सेवा'। सवाश में तो कोई व्यक्ति केवल सुखी अथवा केवल दु:खी होता नहीं। अत: जिस अंश में प्राणी दु:खी हो, उस अंश में त्याग और जिस अंश में सुखी हो, उस अंश में सेवा को अपनाकर सुख-दुःख से अतीत के जीवन का अधिकारी मानव-मात्र हो सकता है।

समस्त विश्व एक जीवन है। यही भौतिक-दर्शन की पराकाष्ठा है। प्राणि-मात्र के वर्तमान जीवन में सुख-दुःख है, यह मानव-मात्र की अनुभूति है। सुख-दुःख के सदुपयोग में ही कर्तव्य-परायणता की पराकाष्ठा है। इस दृष्टि से प्रार्थना का वह अंश, जिसमें प्राणि-मात्र में सेवा और त्याग की सामर्थ्य प्रदान करने की बात कही गई है, भौतिक विकास की चरम सीमा है और विश्व-शन्ति का सुगम उपाय है।

प्रार्थना का वह भाग जिसमें प्राणि-मात्र के सुख-दुःख के बन्धन से मुक्त होने की बात कही है, अध्यात्मवाद की परावधि है। कारण, कि सुख की दासता तथा दुःख के भय - से मुक्त होने पर ही व्यक्ति देहाभिमान से रहित हो सकता है। देहाभिमान का गल जाना ही वास्तव में अध्यात्मवाद है ! कारण, कि सभी वस्तु, अवस्था तथा परिस्थितियों से अतीत के जीवन में प्रवेश पाना ही अध्यात्मवाद है। देहाभिमान के रहते हुए क्रिया, चिन्तन एवं स्थिति आदि अवस्थाओं से असंगता सम्भव नहीं है और सुख की दासता तथा दुःख का भय रहते हुए देहाभिमान का अन्त नहीं हो सकता। इस दृष्टि से उक्त प्रार्थना में प्राणियों के सुख तथा दुःख के बन्धन से मुक्त होने की प्रार्थना की गई है। यह नियम है कि देहाभिमान गलते ही अपने आप निर्वासना आ जाती है। वासनाओं का अन्त होते ही भेद तथा भिन्नता स्वत: गल जाती है, जिसके गलते ही पवित्र प्रेम की अभिव्यक्ति अपने-आप होती है, जो वास्तव में आस्तिकवाद है। अत: प्रार्थना के अन्तिम भाग में पवित्र प्रेम का आस्वादन कर कृतकृत्य होने की प्रार्थना की गई है।

यद्यपि प्रेम पवित्र ही है, परन्तु पवित्र विशेषण केवल इस कारण

लगाया गया है कि जिससे प्रेम के उच्चतम स्तर का प्रकाशन हो सके। वास्तव में तो प्रेम क्षति और पूर्ति से रहित है, प्रेम की तो प्राप्ति ही होती है। प्रेम की प्राप्ति में ही जीवन की पूर्णतया है, क्योंकि प्रेम स्वाभाव से ही सभी को अभीष्ट है। इतना ही नहीं, प्रेम में, प्रेम का ही आदान-प्रदान है। कारण, कि प्रेम के बदले में प्रेम ही हो सकता है, और कुछ नहीं। इस दृष्टि से प्रेमी और प्रेमास्पद दोनों ही परस्पर में प्रेमी तथा प्रेमास्पद है। प्रेम स्वभाव से ही दिव्य, चिन्मय तथा रसरूप है। पवित्र प्रेम की अभिव्यक्ति होने पर प्रेमी बेमन का हो जाता है, अर्थात् उसके पास अपना मन नहीं रहता। प्रेमास्पद के मन की बात ही उनकी अपने मन की बात है। प्रेमास्पद का रस ही उसका अपना रस है। वियोग तथा मिलन दोनों दशाओं में प्रेम की उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती है, क्षति नहीं। प्रेम दूरी तथा भेद को शेष नहीं रहने देता। इस कारण प्रेम की प्राप्ति में जीवन की पूर्णता निहित है, जो आस्तिकवाद की पराकाष्ठा है।

प्रार्थना के प्रथम अंश में उससे आत्मीयता तथा नित्य सम्बन्ध स्वीकार किया है, जिसकी कृपा सुधामयी, सर्व-समर्थ, पतितपावनी, तथा अहैतुकी है। दूसरे अंश में प्राणि-मात्र से एकता स्वीकार कर सुखियों में सेवा और दुःखियों में त्याग के बल की बात कही गई है, जो वास्तव में कर्तव्यपरायणता है। तीसरे अंश में सुख की दासता और दुःख के भय से मुक्त होने की बात कही गई है, जो वास्तविक आध्यात्मिकता है। चतुर्थ भाग में प्राप्य से पवित्र प्रेम की याचनाकर कृतकृत्य होने की प्रार्थना की गई है, जो आस्तिकवाद की पराकाष्ठा है। इस प्रार्थना में व्यक्तिगत रूप से अपने लिए कोई माँग नहीं की गई। अथवा यों कहो कि विश्व-जीवन से अलग कोई व्यक्तिगत प्रेमी और प्रेमास्पद में एकता स्वीकार की गई है।

अब यदि कोई कहे कि प्रार्थना करने मात्र से क्या समानता हो सकती है? तो यह कहना होगा कि विकास की दृष्टि से यह नियम है कि भावनाओं के अनुरूप ही कर्म और कर्म के अनुसार ही परिस्थिति बनती है। अत: प्रार्थना में की हुई पवित्र भावनाओं से कर्म की शुद्धि और कर्म की शुद्धि से अनुकूल परिस्थिति अवश्य बन सकती हैं। परन्तु पवित्र भावनाओं में सजीवता तथा दृढ़ता लाने के लिए यथाशक्ति प्राप्त परिस्थिति के

अनुसार कर्तव्य-पालन करना अनिवार्य है। यह नियम है कि ज्ञान, भाव तथा कर्म की एकता होने पर ज्ञान के अनुरूप जीवन स्वत: हो जाता है। अत: इस प्रार्थना में सभी समस्याओं का हल निहित है। पर यह रहस्य वे ही जान सकते हैं, जो विकल्प-रहित विश्वास के आधार पर प्राप्य की सत्ता स्वीकार करते हैं और निज-विवेक के प्रकाश में अपनी निर्बलताओं को जानते हैं। अपनी निर्बलताओं के ज्ञान में और अनन्त की महिमा की श्रद्धा में प्रार्थना स्वत: सिद्ध है। अब यदि कोई यह कहे कि जिसे अनन्त की महिमा में स्वभाव से श्रद्धा न हो, वह प्रार्थना कैसे कर सकता है? तो कहना होगा कि अपनी निर्बलता के ज्ञान में ही किसी की महानता की स्वीकृति स्वत: सिद्ध है, क्योंकि किसी की आवश्यकता का अनुभव होना ही उसके होने में हेतु हो जाता है, जिसकी वह आवश्यकता है। अत: किसी आवश्यकता का होना ही अनन्त की सत्ता स्वीकार करने में स्वत: सिद्ध है। प्रार्थना वही नहीं कर सकता, जिसे अपनी आवश्यकता का ज्ञान न हो। भला, क्या कोई ऐसा व्यक्ति है, जिसकी कोई आवश्यकता न हो? यदि नहीं है, तो प्रार्थना करना सभी के लिए स्वाभाविक हो जाता है। अन्तर केवल इतना है कि उपर्युक्त प्रार्थना में जीवन की सभी समस्याओं का हल है और उसमें किसी सम्प्रदाय विशेष का समर्थन अथवा विरोध नहीं है, अपितु सभी समस्याओं को हल करने की माँग है। इस दृष्टि से उक्त प्रार्थना मानव-मात्र को अवश्य करनी चाहिए।

पहला नियम

आत्म-निरीक्षण, अर्थात् प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपने दोषों को देखना।

आत्म-निरीक्षण का वास्तविक अर्थ है-अपने पर अपना नेतृत्व करना। अपना निरीक्षण अपने बनाये हुए दोषों की निवृत्ति का सबसे पहला उपाय है। अपने निरीक्षण के बिना निर्दोषता की उपलब्धि सम्भव नहीं है, क्योंकि निज-विवेक के प्रकाश में देखे हुए दोष सुगमता से मिटाये जा सकते हैं।

अपना निरीक्षण करने पर असत्य का ज्ञान एवं सत्य से एकता

और प्राप्त बल तथा योग्यता का सदुपयोग स्वतः होने लगता है। यदि हम असत्य को नहीं देख सके, अथवा सत्य से अभिन्न और अपने कर्तव्य से परिचित नहीं हुए, तो समझना चाहिए कि हमने अपना निरीक्षण नहीं किया, अर्थात् अनन्त की अहैतु की कृपा से प्राप्त विवेक का आदर नहीं किया। कारण, कि विवेक के आदर में ही अपने निरीक्षण की पूर्णता निहित है। अपना यथेष्ट निरीक्षण करने पर किसी अन्य गुरु या ग्रन्थ की आवश्यकता ही नहीं रहती। कारण, कि जिसके प्रकाश में सब कुछ हो रहा है, उसमें अनन्त ज्ञान तथा अनन्त शक्ति विद्यमान है। अपना निरीक्षण करते-करते प्राणी उससे अभिन्न हो जाता है, जो वास्तव में सबका सब कुछ होते हुए भी सबसे अतीत है। अपना निरिक्षण हमें बल के सदुपयोग और विवेक के आदर की प्रेरणा देता है। बल के सदुपयोग से निर्बलताएँ और विवेक के आदर से अविवेक स्वत: मिट जाता है।

प्रत्येक प्राणी अपने से अधिक बलवानों से किसी-न-किसी प्रकार के बल के अपने प्रति सदुपयोग की आशा करता है, पर वह स्वयं अपने प्राप्त बल का निर्बलों के प्रति दुरुपयोग करता है, यह प्राप्त विवेक का अनादर नहीं तो क्या है?

बल का अर्थ है-सभी प्रकार के बल, अर्थात् तन-बल, धन-बल, विद्या-बल और पद अथवा प्रभुता-बल इत्यादि। धन के दुरुपयोग से ही समाज में निर्धनता, विद्या अर्थात् ज्ञान-विज्ञान और कलाओं के दुरुपयोग से अविवेक की वृद्धि, तन-बल के दुरुपयोग से हिंसा और चोरी, प्रभुता के दुरुपयोग से विरोधी शासन का जन्म तथा इसी प्रकार के अनेक दुर्गुणों की वृद्धि होती है।

प्रत्येक प्राणी को अपनी रक्षा स्वभावत: प्रिय है, फिर भी वह स्वयं अहिंसक न रहकर दूसरों की हिंसा में प्रवृत्त होता है, जिससे हृदय वैर-भाव से भर जाता है। यही संघर्ष का मूल है। अत: संघर्ष मिटाने के लिए प्रत्येक भाई-बहन को अपना हृदय वैर-भाव से रहित करना होगा। वैर-भाव से रहित होने के लिये अहिंसक होना अत्यन्त आवश्यक है। अपनी रक्षा की प्रियता का विवेक हमें अहिंसक होने की प्रेरणा देता है, जो अनादि सत्य है। पर आज तो हम वैज्ञानिक आविष्कारों द्वारा हिंसात्मक प्रयोगों से संघर्ष मिटाने की बात सोच रहे हैं, जो सर्वथा

असम्भव है। कारण, कि विवेक के अनादर से ही प्राणी के मन में संघर्ष उत्पन्न हुआ है। अतएव जब तक विवेकपूर्वक मन का संघर्ष न मिटेगा, तब तक समाज में होने वाले संघर्ष कभी नहीं मिट सकते, चाहे वे वैयक्तिक हों या कौटुम्बिक अथवा सामाजिक।

प्रत्येक अपराधी अपने प्रति क्षमा की आशा करता है और दूसरों को दंड देने की व्यवस्था चाहता है। वह अपने प्रति तो दूसरों को अहिंसक, निर्वैर, उदार, क्षमाशील, त्यागी, सत्यवादी और विनम्रता आदि दिव्य गुणों से पूर्ण देखना चाहता है, किन्तु स्वयं उसी प्रकार का सद्व्यवहार दूसरों के प्रति नहीं करता। अपने प्रति मधुरता-युक्त सम्मान की आशा करता है, पर दूसरों के प्रति अपमान एवं कटुतापूर्ण असद्व्यवहार करता है, जो वास्तव में भूल है। इसका परिणाम यह होता है कि प्राणी अपने प्रति रागी और दूसरों के प्रति द्वेषी हो जाता है, जो सभी दु:खों का मूल है।

अपने प्रति होने वाले अन्याय को धैर्य के साथ हर्षपूर्वक सहन करते हुए यदि अन्यायकर्ता को क्षमा कर दिया जाये, तो द्वेष प्रेम में बदल जाता है और अपने द्वारा होने वाले अन्याय से स्वयं पीड़ित होकर जिसके प्रति अन्याय हो गया है उससे क्षमा माँग ली जाये एवं इस प्रकार उससे क्षमा-याचना के द्वारा अपने प्रति न्याय करके स्वयं दंड स्वीकार कर लिया जाये, तो राग त्याग में बदल जाता है।

जब राग और द्वेष, त्याग और प्रेम में बदल जाते हैं, तब असंगता और अभिन्नता स्वत: आ जाती है, अथवा यों कहो कि मुक्ति और भक्ति स्वत: प्राप्त हो जाती है, यही वास्तविक आनन्द है।

अपना निरीक्षण करने पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जब हम राग से प्रेरित होकर इन्द्रियों की ओर गतिशील होते हैं, तब इन्द्रिय-जन्य ज्ञान के आधार पर हमें अनेक प्रकार की विषमताओं का भास होता है और इन्द्रिय-जन्य स्वभाव में प्रवृत्त होने से हम क्रिया-जन्य सुख की आसक्ति तथा परतन्त्रता, जड़ता आदि में भी आबद्ध हो जाते हैं। इतना ही नहीं, अन्त में हम शक्तिहीनता का अनुभव कर स्वाभाविक विश्राम अर्थात् निवृत्ति को अपनाते हैं, जिसके फलस्वरूप शक्तिहीनता मिटती जाती है और बिना प्रयत्न के ही आवश्यक शक्ति की उपलब्धि होती जाती है।

शक्तिहीनता, जड़ता, विषमता आदि दु:खों से दु:खी होकर यदि हम निवृत्ति द्वारा संचित शक्ति का व्यय न करके विषयों से विमुख होकर अन्तर्मुख हो जायें, तो भोग योग में,जड़ता चेतना में, विषमता समता में, पराधीनता स्वाधीनता में और अनेकता एकता में बदल जाती है। फिर स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति एवं अस्वाभाविक इच्छाओं की निवृत्ति स्वत: ही हो जाती है, जो मानव की माँग है।

अपनी वर्तमान वस्तुस्थिति का यथेष्ट एवं स्पष्ट परिचय प्राप्त करना ही वास्तविक आत्म-निरीक्षण है। उसके बिना हम अपने को निदोंष नहीं बना सकते। मानव में दोष-दर्शन की दृष्टि स्वत: विद्यमान है। पर प्रमादवश प्राणी उसका उपयोग अपने जीवन पर न करके अन्य पर करने लगता है, जिसका परिणाम बड़ा ही भयंकर एवं दु:खद सिद्ध होता है। पराये दोष देखने से सबसे बड़ी हानि यह होती है कि प्राणी अपने दोष देखने से वंचित हो जाता है और मिथ्याभिमान में आबद्ध होकर हृदय में घृणा उत्पन्न कर लेता है। यद्यपि हृदय प्रीति का स्थल है, घृणा का नहीं। पर ऐसा तभी सम्भव है, जब मानव पराये दोष न देख कर अपने दोष देखने में सतत प्रयत्नशील बना रहे। अपने तथा पराये दोष देखने में एक बड़ा अन्तर यह है कि पराये दोष देखते समय हम दोषों से सम्बन्ध जोड़ लेते हैं, जिससे कालान्तर में स्वयं दोषी बन जाते हैं। पर अपना दोष देखते ही हम अपने को दोषों से असंग कर लेते हैं, जिससे स्वत: निर्दोषता आ जाती है, जो सभी को प्रिय है। अत: यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि दोष-दर्शन की दृष्टि का उपयोग केवल अपने ही जीवन पर करना है, किसी अन्य पर नहीं।

यद्यपि अनादि सत्य-तत्व बीज रूप से प्रत्येक मानव में विद्यमान है, पर उसका आदर न करने से प्राणी उस सत्य से विमुख हो गया है एवं परिवर्तनशील वस्तु, अवस्था और परिस्थितियों में आबद्ध होकर उसने अपने को दीन, हीन अभिमानी और परतन्त्र बना लिया है। इस दु:खद बन्धन से छुटकारा पाने के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि प्राणी प्राप्त विवेक के प्रकाश में, जो चिर सत्य है, अपनी दशा का निरीक्षण करे और वस्तु, अवस्था आदि से असंग होकर

दुराचार को सदाचार में परिवर्तित करके अपने को निर्विकार बनाये।

यह प्रत्येक मानव का अनुभव है कि दृश्य का सम्बन्ध सुख-दुःख में आबद्ध करता है और दृश्य से असंग होने पर किसी प्रकार का दुःख शेष नहीं रहता। प्रिय-से-प्रिय वस्तु और व्यक्ति से सम्बन्ध स्वीकार करके भी प्राणी उससे अपने को अलग करना चाहता है। कारण, कि सबसे अलग हुए बिना यह चिर-शांति तथा शक्ति नहीं पाता, जो उसे स्वभाव से ही प्रिय है। यह निर्विवाद सिद्ध है कि प्राणी प्रिय-से-प्रिय प्रवृत्ति से थक कर गहरी नींद के लिए प्रत्येक व्यक्ति और वस्तु आदि से अलग होना चाहता है। यद्यपि सुषुप्ति में किसी भी प्रकार का वैषम्य तथा दुःख शेष नहीं रहता तथापि उससे भी प्राणी स्वयं उपरत हो जाता है और किसी ऐसे जीवन की खोज करता है जिसमें सुषुप्ति के समान साम्य तथा दुःख-रहित तो हो, किन्तु संज्ञा-शून्यता न हो। उस स्थिति के उपलब्ध हो जाने पर जब वह उससे भी उत्थान देखता है, जब उत्थान-रहित अलौकिक, अनन्त, नित्य, चिन्मय जीवन के लिए व्याकुल होता हैं। अर्थात् निर्विकल्प बोध की लालसा करता है, जो सभी अवस्थाओं से अतीत और स्वत: सिद्ध है। इस स्वत: सिद्ध अनन्त जीवन की रुचि मानव मात्र में स्वभाव से ही विद्यमान है। अवस्थाओं से विमुख होते ही उस अवस्थातीत जीवन का अनुभव हो जाता है, जिसके लिए सभी अवस्थाओं से विमुख होना अनिवार्य है।

अपना निरीक्षण ही वास्तविक सत्संग, स्वध्याय और अध्ययन है। कारण, कि अपने निरीक्षण के बिना प्राणी उस सत्य-तत्व एवं ज्ञान की उपलब्धि ही नहीं कर सकता जो उसमें सदैव विद्यमान है। अत: अपने निरीक्षण द्वारा ही हम वास्तविक सत्य-तत्व एवं ज्ञान को उपलब्ध कर सकते हैं।

अपना निरीक्षण करते ही जिस विवेक से असत्य का दर्शन होता है वही विवेक उसे सत्य से अभिन्न भी कर सकता है और उसी के द्वारा सत्य से अभिन्न तथा असत्य से निवृत्त होने का उपाय प्राप्त होता है। आत्म-निरिक्षण के बिना कोई भी सद्ग्रन्थ तथा सद्गुरू से मिला प्रकाश अपने काम नहीं आता। वह केवल मस्तिष्क का संग्रह बन जाता है जो कि नक्शे की नदी के तुल्य है! नक्शा हमें

वास्तविकता तक पहुँचाने का साधन है, परन्तु उसे देखकर सन्तोष करने से न तो बूंद जल मिलेगा, न प्यास बुझेगी।

अपने निरीक्षण के साथ-ही-साथ हमें सद्ग्रन्थ तथा सत्पुरूषों के प्रकाश का उपयोग करना चाहिए। आत्म निरीक्षण द्वारा जब हम अपनी सभी प्रियताओं को जान लेते हैं, तब फिर प्रियता तथा हित निहित न हो।

जब हम प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपनी वर्तमान वस्तु-स्थिति का विश्लेषण करते हैं तब हमें अपने में भोगों की इच्छा, अर्थात् इन्द्रिय-जन्य स्वभाव में प्रवृत्ति तथा वास्तविक स्वाधीनता अर्थात् वस्तु, अवस्था एवं परिस्थितियों से अतीत के जीवन की अभिलाषा-ये दो बातें दिखाई देती हैं। जिन्हें भोग-इच्छा कहते है उनकी उत्पत्ति एकमात्र 'यह' को 'मैं' स्वीकार करने पर,

अथवा 'यह' को अपना मानने पर होती है। यद्यपि 'यह' को 'मैं' मान लेना निज-ज्ञान के विपरीत है, फिर भी हम उस ज्ञान का अनादर करके 'यह' अर्थात् शरीर से तद्रूप होकर अपने को भोग-वासनाओं में आबद्ध कर लेते हैं, जो सभी दु:खों का मूल है। 'यह' को 'मैं' मान लेने पर तो 'यह' की सत्यता दृढ़ होती है और 'यह' को 'अपना' मान लेने पर 'यह' के प्रति प्रियता उत्पन्न होती है। वही धीरे-धीरे कालान्तर में आसक्ति का रूप धरण कर लेती है। 'यह' की सत्यता और प्रियता में आबद्ध प्राणी अपने वास्तविक नित्य-जीवन से विमुख हो जाता है।

'यह' के न रहने पर भी जो रहता है, अथवा जब 'यह' नहीं था, तब भी जो था एवं जिसके प्रकाश से 'यह' प्रकाशित है, वही वास्तव में अपना नित्य अनन्त जीवन है। उस नित्य जीवन के अनुभव बिना किसी को भी चिर-शांति एवं स्थायी प्रसन्नता नहीं मिल सकती, यह निविवाद सिद्ध है।

यदि प्राणी निज-विवेक के प्रकाश में न तो 'यह' को 'मैं' स्वीकार करे और न 'यह' को 'अपना' माने तो अपने आप ही रहता, साथ ही उससे अभिन्नता हो जाती है जो भक्तों का भगवान् तत्ववेत्ताओं का निज-स्वरूप, योगियों का योग तथा सभी का सब कुछ है।

'यह' और 'मैं' का विभाजन 'है' से अभिन्न करने का उपाय है। जिस प्रकार हल्दी और चूना मिलने से लालिमा उत्पन्न होती है और दोनों के

विभाजन से लालिमा मिट जाती है, उसी प्रकार 'यह' और 'मैं' के विभाजन से 'अहं' और 'मम' रूपी लालिमा सदा के लिए मिट जाती है और केवल अनन्त नित्य जीवन ही शेष रहता है, जो वास्तव में मानव की माँग है।

भौतिकवादी 'मैं' और 'वह' को 'यह' में विलीन कर विश्व से अभिन्न हो जाते हैं। आस्तिकवादी 'यह' और "में" को 'वह' मैं विलीन कर दिव्य चिन्मय हो जाते हैं और अध्यात्मवादी 'यह' और 'वह' को 'मैं' में विलीन कर आत्म-तत्व से अभिन्न हो जाते हैं।

भौतिकवाद विश्व की एकता, अर्थात् करुणा एवं प्रसन्नता में रत करता है। आस्तिकवाद में केवल प्रेम-ही-प्रेम शेष रहता है। अध्यात्मवाद अपने में ही सब कुछ पा लेता है।

भौतिकवाद देह-विश्व की एकता सिद्ध कर प्राणी को कर्तव्यनिष्ठ बनाकर सुख-दुःख का सदुपयोग करने में समर्थ है आस्तिकवाद प्राणी को सुख-दुःख से अतीत अखण्ड, अनन्त रस प्रदान करता है और अध्यात्मवाद प्राणी को अखण्ड एक रस प्रदान करता है। भौतिकवाद की परावधि अध्यात्मवाद में अभिन्न कर आस्तिकवाद में प्रवेश कराती है।

भौतिकवाद में प्राणी तभी तब आबद्ध हैं जब तक कर्तव्य परायणता सर्वाश में सिद्ध नहीं होती, अर्थात् जब तब वह विश्व से मिली हुई वस्तुएँ, सामर्थ्य, योग्यता आदि विश्व की सेवा में समर्पित कर समाज के ऋण से मुक्त हो, निरभिमानता से अभिन्न नहीं हो जाता।

सारी सृष्टि 'यह' के अर्थ में आ जाती है। शरीर संसार-रूपी सागर का एक बिन्दु मात्र है। अत: शरीर-रूपी बिन्दु को संसार-रूपी सागर की सेवा में लगा देना ही शरीर का सर्वोत्कृष्ट सदुपयोग है। कारण, कि व्यक्तिगत जीवन समाज के अधिकारों का समूह-मात्र है और कुछ नहीं। जब प्राणी समाज के अधिकारों को सुरक्षित रखते हुए अपने अधिकार को भूल जाता है, तब आस्तिकवाद और अध्यात्मवाद में उसका स्वत: प्रवेश हो जाता है। फिर अति सुगमतापूर्वक 'यह' और 'मैं' का विभाजन हो जाता है। प्राणी अधिकार लोलुपता के कारण ही 'यह' में आबद्ध हो गया है। यदि प्राप्त विवेक के प्रकाश में प्राणी उन सभी इच्छाओं का अन्त कर दे, जिनमें समाज का हित और प्रसन्नता निहित न हो, तो बहुत सुगमतापूर्वक उसका मन

निर्विकल्प हो जाता है। मन के निर्विकल्प होते ही बुद्धि सम हो जाती है। बुद्धि के सम होते ही आवश्यक शक्ति का विकास होता है। फिर प्राणी अपनी स्वाभाविक लालसा को पूरा कर कृतकृत्य हो जाता है। उसका गुणों से परिपूर्ण हो जाता है, अथवा यों कहो कि वह अपना निर्माण कर लेता है। इस प्रकार व्यक्ति के निर्माण से स्वत: ही सुन्दर समाज का निर्माण होने लगता है। अत: अपने निरीक्षण द्वारा अपने को निर्दोष बनाना परम आवश्यक है।

अपना निरीक्षण करने पर हमें यह भलीभाँति विदित हो जाता है कि प्राप्त शक्ति का सद्व्यय प्राणियों को स्वभाव से ही प्रिय है। कारण, कि जब कोई हमारे साथ व्यवहार करता है और उसमें किसी प्रकार का दोष होता है, तब हम उसके उस व्यवहार को उचित नहीं मानते, तथापि वही व्यवहार प्रमादवश हम स्वयं दूसरों के प्रति कर बैठते हैं।

मिथ्या, कटु और आवश्यकता से अधिक या कम बोलना " किसी को प्रिय नहीं होता। हम यही आशा करते हैं कि हमसे जो कोई बोले प्रिय, सत्य, हितकर और आवश्यकतानुसार बोले। बोलने के सम्बन्ध में इस प्रकार का ज्ञान हमें किसी ने सिखाया नहीं है। यह हममें स्वयं विद्यमान है। बोलने की शक्ति का सद्व्यय करने पर वाणी में सत्यता आ जाती है। उसके शब्दों का प्रभाव स्वत: होने लगता है, यहाँ तक कि उसके बोले हुए वाक्यों पर प्रकृति भी कार्य करने लगती है। ऐसा यथार्थ बोलने वालों का अनुभव है।

उसी प्रकार हमें प्रत्येक इन्द्रिय के व्यवहार पर निज-ज्ञान के प्रकाश में यथेष्ट दृष्टिपूर्वक निरीक्षण रखना चाहिए, जिससे इन्द्रियों की शक्ति का दुर्व्यय न हो। पर यह तभी सम्भव होगा, जब मन में केवल वे ही संकल्प उत्पन्न हों, जो शुद्ध हों और जिनका सम्बन्ध वर्तमान परिस्थिति से हो, अर्थात् अनावश्यक और अशुद्ध संकल्पों के त्याग करने पर ही इन्द्रियों का व्यवहार शुद्ध हो सकेगा। उसका परिणाम यह होगा कि आवश्यक संकल्पों की पूर्ति और अनावश्यक संकल्पों की निवृत्ति स्वत: हो जायेगी, अर्थात् मन में निर्विकल्पता आ जाएगी। मन के निर्विकल्प होते ही मन के द्वारा जो शक्ति इन्द्रियों की ओर प्रवाहित होती थी वह बुद्धि की ओर

आरोहित होकर बुद्धि में विलीन हो जायेगी। फिर बुद्धि सम होकर उस अनन्त ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित हो जायेगी, जिससे वह मन, इन्द्रिय आदि को शुद्ध प्रकाश देकर व्यवहार में सुन्दरता प्रदान कर सकेगी।

हमारी चेष्टाओं में दोष तभी आते हैं जब बुद्धि के द्वारा मिले हुए वास्तविक प्रकाश का मन और इन्द्रियाँ अनादर करने लगती हैं एवं हम इन्द्रियों के उस कृत्य का समर्थन करते रहते हैं जो बुद्धि के प्रकाश से रहित है। बस, यही भूल अपना निरीक्षण न करने से होती है। हमारी बुद्धि दूसरों का निरीक्षण करने में तो बड़ी ही कुशलता का परिचय देती है, परन्तु उस कुशलता का उपयोग हमें अपने मन, इन्द्रिय आदि के निरीक्षण में करना चाहिए।

हम जिनके साथ रहते हैं उनकी बात पर विश्वास न करके अपना विश्वास खो बैठते हैं और दु:खी होकर कहने लगते हैं कि हमारी बात का कोई विश्वास ही नहीं करता। इस प्रकार परस्पर में अविश्वास होने से बड़ी भयंकर उलझनें उत्पन्न हो जाती हैं। जीवन कलह का केन्द्र बन जाता है। अपना असत्य सत्य और दूसरों का सत्य असत्य प्रतीत होने लगता है। इससे जीवन में खिन्नता, नीरसता, एवं उत्साहहीनता आदि अनेक विकार भर जाते हैं। इस भयंकर परिस्थिति का परिवर्तन करने के लिए हमें अपनी प्रत्येक चेष्टा द्वारा सत्यता, मधुरता, प्रियता एवं हितचिन्तकता का परिचय देना चाहिए और अपने साथियों के असत् तथा कटुतापूर्ण व्यवहार की आलोचना न करते हुए उनकी इच्छानुसार जैसा वे कहें सुन लेना चाहिए, जिससे उन्हें विश्वास हो जाए कि हमारी बात सहर्ष सुनली जाती है। कुछ ही दिनों में हमारे साथी अपने स्वभाव को स्वत: बदलने लगेंगे। यद्यपि हमें किसी के असत्य का अनुसरण नहीं करना है, तथापि अपने सत्य के समान ही उसका आदर अवश्य करना है, क्योंकि किसी के असत्य को असत्य कहने का हमें अधिकार ही नहीं है। यदि कोई अपने असत्य को सत्य प्रकाशित करता है, तो हमें हर्षपर्दूक सुन लेना चाहिए। उसका अनादर पूर्वक कटुतापूर्ण उत्तर नहीं देना चाहिए। इसका परिणाम यह होगा कि उसका असत्य उसे स्वयं दिखने लगेगा। फिर वह बेचारा स्वत: ही विवश होकर असत्य

का त्याग करने लगेगा, क्योंकि अनादर कने भयं से ही प्राणी असत्य को सत्य सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। हमारे आलोचक जब स्वभाव से हमारे समक्ष हमारे सत्य का अनादर और अपने असत्य का प्रतिपादन करने लगे, उस समय यदि हम प्रतिवाद करने लगे, तो इससे परस्पर संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। अत: यदि हमें ठीक-ठीक सत्य का दर्शन हो गया है, तो हमें चाहिये कि हम साथी के असत्य को असत्य न कहकर उसे सत्य को देखने की दृष्टि प्रदान करें, जिससे वह स्वयं अपने असत्य को देखकर अपने को सत्यार्थी बनाने के लिए तत्पर हो जाए।

अपना निरीक्षण करने में प्राणी जिन स्वाभाविक रुचियों को बनाये रखता है, उन्हीं के अनुसार उसे सत्य का दर्शन मिलता है। यद्यपि सत्य सभी रुचि-रंजित स्वभावों से अतीत है, क्योंकि प्रत्येक रुचि किसी-न-किसी परिचिन्नता के अभिमान पर ही जीवित है, तथापि असत्य को प्रकाशित करने में भी सत्य ही समर्थ है।

आत्म निरीक्षण करने से यह भी प्रकाश मिलता है कि न्याय और प्रेम से ही पारस्पारिक एकता, प्रियता एवं मधुरता सुरक्षित रह सकती है। पर न्याय अपने प्रति और प्रेम अन्य के प्रति करना होगा। अपने पर न्याय करने से निर्दोषता आ जाती है और दूसरों के प्रति प्रेम करने से स्नेह की एकता एवं स्वरूप की अभिन्नता का अनुभव होने लगता है न्याय का वास्तविक अर्थ है- बल का सदुपयोग तथा प्रेम का वास्तविक अर्थ है अपने अधिकार को भूलकर दूसरे के अधिकारों की रक्षा करते हुए बुराई का उत्तर भलाई से देने में प्रसन्नता का अनुभव करना। कारण, कि प्रेम किसी प्रकार का भेद तथा दूरी नहीं रहने देता। वास्तविक एकता का अनुभव हो जाने पर प्राणी बड़ी ही सुगमता से बुराई का उत्तर भलाई से दे सकता है। जिस प्रकार दाँतों से यदि जीभ कट जाती है तो वह कभी उन्हें तोड़ने की बात नहीं सोचती। इतना ही नहीं, यदि दाँतों में कुछ फेंस गया हो, तो उसे निकालने का भी प्रयत्न करती है।

आत्म-निरीक्षण से हमें यह भी प्रकाश मिलता है कि सुख का वितरण करने के लिए और दु:ख को अपनाने के लिए सभी के साथ एकता स्थापित करनी चाहिए, क्योंकि हम अपना दु:ख मिटाने के लिए अपने से अधिक सुखियों की ओर आशा लगाये

रहते हैं। प्राप्त सुख द्वारा अपने से अधिक दुःखियों की आशा पूरी करने में हिचकते रहना ही प्रमाद है। इस प्रमाद को मिटाने के लिए विवेक का आदर करना ही महामंत्र है। अपने अनुभूत ज्ञान का नाम ही विवेक है, सीखे हुए ज्ञान का नाम विवेक नहीं, वह तो केवल मस्तिष्क का संग्रह है।

अपना निरीक्षण करने पर यह भी अनुभव होता है कि प्रवृत्ति के अन्त में निवृत्ति और निवृत्ति के अन्त में प्रवृत्ति स्वत: होने लगती है। पर राग-युक्त प्रवृत्ति प्रमादवश वासनाओं के जाल में आबद्ध करती है, जिससे प्राणी अनेक ऊँच-नीच योनियों को प्राप्त होकर, अनेक प्रकार के सुख-दुःख भोगता रहता है अर्थात् आनन्द से विमुख हो जाता है, यद्यपि आनन्द से जातीय तथा स्वरूप की एकता और सुख-दुःख से केवल मानी हुई एकता है। कामना की उत्पत्ति में दुःख और पूर्ति में सुख प्रतीत होता है। कामनाओं की उत्पत्ति का मूल कारण शरीर से एकता स्वीकार करना है, जो वास्तव में भूल है। क्योंकि जिसे अपने से भिन्न जानते हैं, उसे अपना स्वरूप मान लेना, अर्थात् उससे आत्मीयता स्वीकार करना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

जिस विवेक से प्रमाद को 'प्रमाद' जानते हैं, उसी विवेक से प्रमाद का अन्त हो सकता है, अर्थात् विवेक द्वारा स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों शरीरों से असंग होते ही निर्वासना आ जाती है और वासनाओं का अन्त होने पर राग त्याग में बदल जाता है। तब प्रेमास्पद के नाते स्वार्थरहित सर्वहितकारी प्रवृत्ति केवल प्रेमास्पद के प्रसन्नतार्थ ही होने लगती है। प्रेमी को सभी में अपने प्रियतम का दर्शन होने लगता है, अर्थात् यह अनुभव होता है कि जो कुछ है उसमें अपना प्रियतम ही है और कुछ नहीं। वासनारहित निवृत्ति आ जाने पर तो ऐसा बोध स्वतः होता है कि प्रेमास्पद से भिन्न और कभी कुछ हुआ ही नहीं। उस अवस्था में शरीर द्वारा होने वाली प्रवृत्तियाँ स्वतः स्वार्थ रहित सर्व-हितकारी सद्भावना से प्रेरित होने लगती हैं। स्वार्थरहित सर्वहितकारी प्रवृत्ति वास्तव में निवृत्ति के ही समान उसके बदले में कुछ भी लेने की रुचि शेष नहीं रहने देती। स्वार्थ रहित होते ही किसी प्रकार का भोग शेष नहीं रहता और भूोंग का अन्त होते ही प्राणी

अपने में ही अपने परम प्रेमास्पद कें अनुभव कर कृतकृत्य हो जाता है। अत: यह निर्विवाद सत्य है कि वासना रहित निवृत्ति और सर्वहितकारी प्रवृत्ति दोनों ही आदरणीय तथा अनुसरणीय हैं।

सर्वहितकारी प्रवृति और वासना-रहित निवृत्ति ही मानव-जीवन की दो मुख्य साधनाएँ हैं। जीवन इन दोनों भागों में ही विभाजित होना चाहिए। ये दोनों साधनाएँ जिस एक के प्रकाश से प्रकाशित होती हैं, वही एक सभी का सब कुछ है और उससे सभी की अभिन्नता हो सकती है।

वासनायुक्त निवृत्ति स्वार्थयुक्त प्रवृत्ति तो सर्वथा निन्दनीय है, क्योंकि वासनायुक्त निवृत्ति प्राणी को मिथ्याचारी और स्वार्थयुक्त प्रवृत्ति उसे विषयासक्त बना देती है। वासना रहित निवृत्ति भेद से अभेद की ओर और स्वार्थरहित प्रवृत्ति भिन्नता से अभिन्नता की ओर प्रेरित करती है। अभिन्नता स्वार्थ को खाकर साधक को साध्य से एक कर देती है। इसी प्रकार वासना-रहित निवृत्ति देहाभिमान को खाकर साधक को अपने लक्ष्य में प्रतिष्ठित कर अभेद कर देती है। फिर उसके जीवन में किसी प्रकार का अभाव शेष नहीं रहता, अर्थात् 'यह' (संसार) 'वह' (परमात्मा) और 'मैं' तीनों की वास्तविक एकता हो जाती है।

अपना निरीक्षण करने पर यह भी ज्ञात होता है कि प्राप्त का अनादर और अप्राप्त का चिन्तन करते रहने से प्राप्त शक्ति का दुरुपयोग होता है, सदुपयोग नहीं होता। आदरपूर्वक वर्तमान का सदुपयोग न करने से आगे-पीछे का व्यर्थ-चिन्तन होने लगता है, जिससे सार्थक-चिन्तन उदित ही नहीं हो पाता। सार्थक-चिन्तन को बिना उसकी ओर प्रगति ही नहीं हो सकती जो एकमात्र स्मरण, चिन्तन एवं ध्यान से ही प्राप्त होता है। प्राणी उस समय तक किसी-न-किसी चिन्तन में लगा ही रहता है, जब तक उस अनन्त जीवन को प्राप्त नहीं कर लेता, जो सभी अवस्थाओं, वस्तुओं एवं परिस्थितियों से अतीत है। उसका अनुभव करने के लिए तो हमें सब प्रकार के चिन्तन से रहित होना ही होगा। जिस प्रकार स्वार्थ-भाव मिटाने के लिए सेवा-भाव अनिवार्य है, उसी प्रकार व्यर्थ-चिन्तन मिटाने के लिए सार्थक-चिन्तन भी परमावश्यक है। जब तक अप्राप्त परिस्थिति से निराश होकर प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग

न किया जाए, तब तक व्यर्थ-चिन्तन का होना स्वाभाविक ही है। प्राप्त परिस्थिति ही सर्वोत्कृष्ट साधन-सामग्री है'-ऐसा मानने या जानने से ही प्राणी अप्राप्त परिस्थिति से निराश हो सकता है, क्योंकि प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय तथा साधन-सामग्री है और कुछ नहीं। साधन में साध्य तथा जीवन-बुद्धि भूल है। साधक साधन द्वारा ही साध्य से अभिन्न होता है। अत: प्रत्येक साधक को सभी परिस्थितियों में अनन्त-नित्य जीवन को प्राप्त करने के लिए प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना चाहिए। यह तभी सम्भव होगा जब परिस्थिति को साधन और परिस्थितियों से अतीत नित्य, दिव्य तथा चिन्मय जीवन को साध्य (लक्ष्य) जाने या माने।

अपने निरीक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक परिस्थिति अपूर्ण है। किसी की अपेक्षा कोई भले ही ऊँची या नीची प्रतीत होती हो, पर वास्तव में तो सभी परिस्थितियाँ समान अर्थ रखती हैं, कारण, अपने को प्राप्त परिस्थिति से अधिक सुखमय तथा अधिक दु:खमय परिस्थिति का भास प्रत्येक परिस्थिति में होता है। प्राणी अपने से दु:खियों को देखकर अपने को सुखी और सुखियों को देखकर दु:खी मान लेता है, अथवा यों कहो कि अप्राप्त काल में ही परिस्थिति की सत्यता और सुन्दरता प्राणी को आकर्षित करती है। प्राप्त होने पर उसमें वैसा आकर्षण नहीं रहता। फिर तो उससे भी आगे बढ़ने की स्वाभाविक रुचि उत्पन्न हो जाती है। इससे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि हमें उसी को प्राप्त करना है जो सभी परिस्थितियों से अतीत है। उसको प्राप्त करने के लिए किसी परिस्थिति विशेष की आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग द्वारा अपने को उससे असंग करना है और अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन से रहित करना है। परिस्थिति के चिन्तन से रहित होने पर स्वत: ही आस्तिकों (भक्तों) में भगवत्-चिन्तन और जिज्ञासुओं में तत्व-चिन्तन होता है जो व्यर्थ-चिन्तन को खाकर उन्हें क्रमश: शरणागति और अचिन्तता प्रदान करता है। फिर प्राणी बड़ी ही सुगमता से अपने लक्ष्य को प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है।

अपने निरीक्षण से यह भी विदित होता है कि साम्य के बिना शाति नहीं, पर वास्तविक साम्य किसी परिस्थिति-विशेष में नहीं, प्रत्युत सभी

परिस्थितियों से अतीत में, अथवा अपने-अपने स्थान पर ठीक बने रहने में ही है। सभी परिस्थितियों से अतीत स्थान पर ठीक बने रहने में जो साम्य है वह एक दूसरे के पारस्परिक अधिकारों को सुरक्षित रखते हुए प्रीति की एकता रखता है। यह तभी सम्भव है जब व्यक्तिगत जीवन सामाजिक अधिकारों का समूह बन जाए और समाज ही व्यक्तिगत जीवन हो जाए। पर ऐसा तभी हो सकेगा जब मानव कर्तव्य को ही अपना अधिकार माने तथा अधिकार लालसा से रहित होकर अचिन्त हो जाये।

यह भी सभी का अनुभव है कि प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में है और निवृत्ति आ जाने पर स्वाभाविक ही स्वत: शक्ति का संचय हो जाता है, अर्थात् प्रवृत्ति से उत्पन्न हुई निर्बलताएँ मिट जाती हैं। इससे यह निर्विवाद सिद्ध है कि प्रत्येक प्रवृत्ति शक्ति का व्यय और प्रत्येक निवृत्ति शक्ति का संचय कराने में समर्थ है। यदि प्राणी प्रवृत्ति के दोषों से दु:खी होने पर उसकी वासना से रहित हो, स्वतः प्राप्त निवृत्ति को अपनाकर अचिन्त हो जाये, तो भोग योग में, राग वैराग्य में, पराधीनता स्वाधीनता में तथा जड़ता चिन्मयता में परिणत हो जाती है। फिर जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता है उससे अभिन्नता और जिससे केवल मानी हुई एकता है उससे भिन्नता हो जाती है, अर्थात् किसी प्रकार की विषमता एवं खिन्नता शेष नहीं रहती। यह भलीभाँति अनुभव हो जाता है कि प्रत्येक प्रवृत्ति केवल छिपे हुए राग की वास्तविकता का परिचय कराती है और निवृत्ति द्वारा प्रवृत्तियों का अन्तकर, प्रवृत्ति और निवृत्ति से अतीत अनन्त नित्य जीवन का पाठ पढ़ाती है। बस, यही आध्यात्मिक तथा आस्तिक जीवन है। अतएव अपने निरीक्षण द्वारा प्राणी अत्यन्त सुगमतापूर्वक आध्यात्मिक उत्थान तथा आस्तिक जीवन का अनुभव कर कृतकृत्य हो सकता है।

दूसरा नियम

की हुई भूल को पुनः न दोहराने का व्रत लेकर सरल विश्वासपूर्वक प्रार्थना करना।

जब अपने निरीक्षण से हम अपने बनाये हुए दोषों को देख लेते हैं, तब उनको मिटाने के लिए प्रायश्चित

तथा व्रत एंव तप और प्रार्थना करना अनिवार्य हो जाता है। कारण, कि प्रायश्चित के बिना भूल को न दोहराने का संकल्प दृढ नहीं रह सकता तथा व्रत के बिना भूल का पुनः उत्पन्न न होना और निर्दोषिता की प्राप्ति सम्भव नहीं है एवं प्रार्थना के बिना व्रत को पूरा करने की शक्ति और निरभिमानता सम्भव नहीं है।

प्रार्थना-रहित तप में सीमित अहंभाव की दृढ़ता होती है, जो साधक को गुणों के अभिमान में आबद्ध कर देती है। गुणों का अभिमान वास्तव में दोषों का मूल है। अत: व्रत के पालन करने में जो कठिनाइयाँ आये उनको तप जानकर सहर्ष सहन कर लिया जाए तथा आवश्यक शक्ति और निरभिमानता के लिए सरल विश्वासपूर्वक प्रार्थना की जाये, तो दोषों की निवृत्ति और निदोंषता की प्राप्ति स्वत: हो जायेगी, यह बात निर्विवाद सिद्ध है। निरभिमानता का वास्तविक अर्थ यह है कि गुणों का संग न हो और दोषों की उत्पत्ति न हो।

भूल को भूल जान लेने पर जो वेदना उत्पन्न होती है। वही साधक के मन में प्रायश्चित करने की भावना जाग्रत करती है। जो भूल हो चुकी है उसको न दोहराया जाये, यही वास्तव में सर्वोत्कृष्ट प्रायश्चित है, किन्तु उस प्रायश्चित को सजीव और सफल बनाने के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि भूल द्वारा जिस सुख का उपभोग किया है उसे दुःख में बदल कर सुख की आसक्ति को मिटा दें और किसी-न-किसी ऐसे तप को अपना लिया जाय जिससे पुन: भूल न करने की दृढ़ता आ जाये एवं असावधानी मिट जाये, हृदय की दुर्बलता का अन्त हो जाये और पुनः उस प्रकार के सुख की आशा ही न हो, जिसके राग से प्रेरित होकर भूल की गई थी, क्योंकि सुख की आशा से प्रेरित होकर ही प्राणी भूल द्वारा उत्पन्न होने वाले सुख का उपयोग करता है। अविवेक-जन्य चित्त की अशुद्धि से ही सुख भोग की प्रवृत्ति होती है, जैसे कि लोभ के दोष से धन के उपभोग की लालसा तथा हानि का भय, मोह के दोष से संयोग की दासता तथा वियोग का भय, अभिमान के दोष से मान की लालसा तथा अपमान का भय और काम के दोष से कामना-पूर्ति की दासता तथा अपूर्ति का भय उत्पन्न होता है।

प्रायश्चित के द्वारा चित्त शुद्ध हो जाने पर भोगशक्ति अर्थात् सुख-

लोलुपता मिट जाती है। सुख-लोलुपता के मिट जाने पर दुःख जैसी कोई वस्तु शेष नहीं रहती, क्योंकि कोई ऐसा दुःख है ही नहीं, जिसका जन्म किसी-न-किसी प्रकार के सुख-भोग से न हो।

सुख-दुःख का अभाव होते ही हृदय में आनन्द की गंगा स्वत: लहराने लगती है। प्रायश्चित करने पर व्रती जीवन का आरम्भ होता है। व्रती जीवन से ही निदोंष होने की लालसा सबल तथा स्थायी होती है, जो भूल को उत्पन्न ही नहीं होने देती और असंयम एवं असावधानी को खाकर सतत् जागृति प्रदान करती है, जिससे प्राणी साधन-युक्त जीवन द्वारा लक्ष्य की ओर प्रगतिशील होता है तथा बड़ी-से-बड़ी कठिनाइयों को सहर्ष सहन कर लेता है। यही वास्तव में तप है। तप से आवश्यक शक्ति का विकास अपने-आप होता है और सभी निर्बलताएँ मिटने लगती हैं।

व्रतयुक्त जीवन को सुरक्षित रखने के लिए आस्तिक सरल विश्वासपूर्वक प्रार्थना का और भौतिकवादी तपश्चर्या का आश्रय लेता है।

प्रार्थना से निरभिमानता और निर्भयता आती है, तप से निर्बलता मिट जाती है। निरभिमानता आने पर अहभाव शेष नहीं रहता और निर्बलता मिटने पर आवश्यक बल प्राप्त होता है। ज्यों-ज्यों प्राणी प्राप्त बल का सदुपयोग करता जाता है, त्यों-त्यों आवश्यक बल स्वतः मिलता जाता है। पर जब बल का उपयोग भोग में होने लगता है, तब अनेक प्रकार की निर्बलताएँ स्वतः आने लगती हैं। बल का सदुपयोग निर्बलों की सेवा में है। निर्बलों की सेवा करते-करते हृदय शुद्ध होने लगता है। हृदय शुद्ध होते ही सत्य की खोज और परम व्याकुलता स्वत: जाग्रत हो जाती है, जो अहभाव को खाकर साधक को वह नित्य जीवन प्रदान करती है जो सभी परिस्थितियों से अतीत है। तपी और प्राथों दोनों ही समान हो जाते हैं। तपी बल को अपने तप का फल मानता है और प्रार्थी उसे प्रभु की देन जानता है। यद्यपि कोई भी बल किसी व्यक्ति की निजी सम्पति नहीं है, जो 'है' उसी से सब कुछ मिलता है। प्राणी भिन्न-भिन्न प्रकार के उपचारों द्वारा 'है' की खोज करता है। 'है' किसी की उपज नहीं है, प्रत्युत खोज है, पर इस रहस्य को कोई विरले तत्वदर्शी ही जानते हैं।

प्रार्थना व्यथित हृदय की पुकार तथा निर्बल का बल एंव आस्तिक का जीवन है। लक्ष्य की आवश्यकता का अनुभव करना ही वास्तव में प्रार्थना है। इस दृष्टि से प्राणि-मात्र प्रार्थना करता है। अन्तर केवल इतना है कि आस्तिक केवल एक से और नास्तिक अनेक से प्रार्थना करता है। आस्तिक की प्रार्थना सेवा करने के लिए और नास्तिक की प्रार्थना भोग के लिए होती है। आस्तिक प्रार्थना द्वारा मिले हुए बल को अपना नहीं मानता, प्रत्युत निर्बलों का अधिकार मानता है और नास्तिक प्राप्त बल को अपनी निजी सम्पत्ति मानकर दीनता तथा अभिमान आदि विकारों में आबद्ध हो जाता है, जो दुःख का मूल है। 'है' को स्वीकार न करना और जो 'नहीं' है उसी पर विश्वास करना नास्तिकता है। 'नहीं' को 'नईं' जानकर 'है' के लिए परम व्याकुल होना आस्तिकता है। 'है' से अभिन्न होने पर 'नहीं' जैसी कोई वस्तु ही शेष नहीं रहती। फिर सब प्रकार के अभावों का अभाव हो जाता है। अभावों की वेदना 'नहीं' से विमुख करके 'है' की ओर गतिशील करती है। जिसमें प्रवृत्ति तो हो, किन्तु प्राप्ति न हो उसी को 'नहीं समझना चाहिए और स्वाभाविक निवृत्ति आ जाने पर जिसकी स्वतः सिद्ध प्राप्ति हो, उसी को 'है' जानना चाहिए।

प्राप्त शक्ति का सद्व्यय करने पर ही प्रार्थना करने का अधिकार मिलता है। शक्ति का संग्रह तथा अपव्यय करने पर की हुई प्रार्थना सफल नहीं होती, क्योंकि वह तो अनधिकार चेष्टा है। अथवा यों कहो कि प्रार्थना वास्तव में सच्चाई की भूख है और कुछ नहीं। अत: ज्यों-ज्यों सत्य की खोज तथा उसकी अभिलाषा सबल होती जाती है, त्यों-त्यों प्रार्थना प्रार्थी का जीवन बनती जाती है और जब तक प्रार्थना, प्रार्थी तथा जिससे प्रार्थना की जाती है वे तीनों एक नहीं हो जाते, तब तक प्रार्थना होती ही रहती है।

इस दृष्टि से प्रार्थना मानव-जीवन का आवश्यक अंग है। प्रतिकूल परिस्थितियों में प्रार्थना से ही नित-नव उत्साह की वृद्धि होती है और अनुकूल परिस्थितियों में उससे प्राप्त शक्ति का सद्व्यय करने की क्षमता प्राप्त होती है। अत: प्रत्येक अवस्था में प्रार्थना से प्राणी का हित ही होता है।

प्रार्थना असमर्थ का अन्तिम प्रयास, सफलता का अचूक अस्त्र और

आवश्यक सामर्थ्य प्रदान करने वाला महामन्त्र है। अथवा यों कहो कि यह दुःखियों की वास्तविक साधना है। प्रार्थना प्रत्येक परिस्थिति में सुगमतापूर्वक हो सकती है, क्योंकि उसके लिए किसी अन्य साधन-सामग्री की अपेक्षा नहीं है। इस दृष्टि से प्रार्थना प्राणिमात्र की सहज साधना है।

प्रार्थना के सम्बन्ध में जो कुछ कहा जाये, कम है, क्योंकि यह निराशा को आशा में, निर्बलता को बल में और असफलता को सफलता में परिवर्तित कर प्राणी को उसका अभीष्ट प्राप्त कराने में समर्थ है।

तीसरा नियम

विचार का प्रयोग अपने पर और विश्वास का दूसरों पर, अर्थात् न्याय अपने पर और प्रेम तथा क्षमा अन्य पर।

मानव-मात्र में विश्वास और विचार की शक्ति स्वभावत: विद्यमान है, कारण कि ऐसा कोई मानव नहीं है, जिसका किसी-न-किसी पर विश्वास न हो और कुछ-न-कुछ जानता न हो। पर दोनों का यथेष्ट उपयोग वे ही कर पाते हैं जिनका जीवन साधन-युक्त है।

विश्वास एकता प्रदान करता है और विचार निर्दोषता। अत: अपने को निर्दोष बनाने के लिए विचार की और जिनसे भिन्नता प्रतीत होती है उनसे एकता स्थापित करने के लिए विश्वास की अत्यन्त आवश्यकता है। विचार, अर्थात् निजज्ञान का प्रकाश अपने दोषों का दर्शन कराता है तथा उनको मिटाने का उपाय प्रदर्शित करता है, कारण कि विचार से न्याय की स्थापना होती है। न्याय वही सार्थक होता है जो अपने पर किया जाए, क्योंकि अपना दोष-दर्शन जितनी स्पष्टता से प्रत्यक्ष होता है, उतना अन्य का नहीं। न्याय कोई अनिष्टकर विधान नहीं है, प्रत्युत अपने सुधार का वास्तविक साधन है।

प्राकृतिक नियमानुसार कोई भी व्यक्ति अपनी दृष्टि में अपराधी होकर नहीं रहना चाहता, इस कारण अपने द्वारा अपने प्रति न्याय अनिवार्य है। यह सभी को विदित है कि प्रत्येक दोषी को भूतकाल के दोषों का ज्ञान होता है। इस दृष्टि से जो भूल कर चुका है। उसी के आधार पर वह अपने को

दोषी मानता है। वर्तमान निर्दोषता को सुरक्षित रखने पर ही मानव अपनी दृष्टि में अपने को आदर के योग्य अनुभव करता है। परन्तु जब तक वह सर्वाश में निर्दोष नहीं हो जाता, तब तक न तो वर्तमान निर्दोषता ही सुरक्षित रहती है और न अपने में से अपराधी भाव का ही अभाव होता है। इस कारण जाने हुए और किए हुए दोषों का सर्वाश में त्याग अनिवार्य हैं। प्रत्येक दोष दोष-जनित सुख-लोलुपता के आधार पर जीवित रहता है, अथवा यों कहो कि उसकी पुनरावृत्ति होती रहती है। दोष जनित वेदना में ही सुख-लोलुपता का नाश निहित है। दोष को दोष जान लेने मात्र से चेतना तो आती है, परन्तु दोष जनित सुख-लोलुपता दोषी में निर्दोषता को सुरक्षित नहीं रहने देती और वह अपने अन्दर आशिक निर्दोषता को देख दोषजनित व्यथा को दबा देता है। इतना ही नहीं, वह पर दोष दर्शन पर निर्दोष होने की लालसा को शिथिल भी बना लेता है। इसका बड़ा ही भयंकर परिणाम यह होता है कि अपने प्रति न्याय करने की रुचि शिथिल हो जाती है और व्यक्ति अपराधी होने पर भी दूसरों की दृष्टि में निरपराधी बने रहने का दम्भ करने लगता है।

अपने प्रति अपने द्वारा न्याय किये बिना उस दम्भ का नाश नहीं होता। हम अपराधी बने रहें, पर दूसरे हमें निरपराधी मान लें, यह धारणा अपने प्रति न्याय नहीं करने देती। दूसरे हमें भले ही अपराधी मानते रहें, किन्तु हम अपनी दृष्टि में निदोंष होकर ही चैन से रहेंगे, यह विकल्प-रहित निर्णय ही अपने प्रति न्याय करने की सामर्थ्य प्रदान करता है।

की हुई भूल को भूल स्वीकार करते ही अपने आप भूलजनित वेदना जाग्रत होती है, जिसके होते ही मानव पर दोष दर्शन से रहित हो जाता है और उत्पन्न हुई वेदना सबल तथा तीव्र हो जाती है, जो भूल-जनित सुख-लोलुपता के नाश में हेतु है। दोष-जनित सुख-लोलुपता का नाश होते ही दोष उत्पन्न ही नहीं होते और फिर स्वत: नित्य-प्राप्त निर्दोषता से अभिन्नता हो जाती है, यही न्याय का फल है।

की हुई भूल को निज विवेक के प्रकाश में स्पष्ट रूप से जानना, भूल-जनित वेदना से पीड़ित होना और भूल-जनित सुख- का सर्वाश में नाश

करना एवं नित्य-प्राप्त स्वत: सिद्ध निर्दोषता से अभिन्न होना ही वास्तविक न्याय है, जो प्रत्येक मानव अपने प्रति अपने ही द्वारा कर सकता है। वास्तविक न्याय किसी अन्य के द्वारा कभी भी सम्भव नहीं है। अत: प्रत्येक भाई-बहन को अपने प्रति अपने द्वारा न्याय करना अनिवार्य है।

निर्दोषता से अभिन्न होने पर भी यदि कोई दोषी मानता रहे, तो उससे लेशमात्र भी चिन्तित तथा भयभीत नहीं होना चाहिए, अपितु निश्चिन्तता तथा निर्भयता को अपनाकर शान्ति तथा प्रसन्नता को सतत सुरक्षित रखना नितान्त आवश्यक है। वास्तविक न्याय की स्थापना किसी अन्य के द्वारा सम्भव नहीं है। न्याय वही कर सकता है जो अपराधी के अपराधी होने से पीड़ित है। अपराध के बदले में दु:ख देने की वृत्ति रखकर न्याय सम्भव नहीं है। कारण, किसी के अपराधी होने की जो पीड़ा है वह तो करुणा उदित करती है। करुणा जिसके प्रति होती है उसका हित करुणित को अभीष्ट होता है। हित अपराध के नाश में है, अपराधी के नाश में नहीं। अपराधी निरपराध हो जाये, यह सद्भावना स्वभाव से अपने ही में अपने प्रति होती है, अथवा उन वीतराग तत्वविद् महापुरूषों में होती है जिनके जीवन में सर्वात्मभाव की अभिव्यक्ति हो गई है। इसी कारण विधान बनाने का वास्तविक अधिकार वीतराग तत्व-वेत्ताओं को है, अन्य को नहीं।

जिन भाई-बहनों का हृदय करुणा से भरपूर नहीं है, उनके द्वारा किया हुआ न्याय वास्तव में न्याय नहीं है, वे अपराधी को पीड़ा देकर, असमर्थ बनाकर दूसरों के प्रति होने वाले अपराधों की रोकथाम करते हैं उस बेचारे अपराधी को वे निरपराध नहीं बना सकते। भला कहीं निरपराध हुए बिना दुसरों के प्रति बुराई करने की प्रवृत्ति का नाश हो सकता है? कदापि नहीं। इस दृष्टि से कोई भी राष्ट्र न तो व्यक्ति को निदोंष बना सकता है और न समाज में सर्वांश में निर्दोषता की स्थापना ही कर सकता है। यदि ऐसा सम्भव होता, तो किसी भी देश में गुप्तचर, न्यायशाला, कारागार, फौज, पुलिस आदि की आवश्यकता ही न होती, न विध्वंसक वैज्ञानिक आविष्कार ही होते और न समाज की शक्ति और सम्पत्ति का बहुत बड़ा भाग विनाशकारी कायों में व्यय होता।

क्या यह सभी को विदित नहीं है कि युद्ध के अनन्तर विजयी देश पराजित देश को असमर्थ बनाने का प्रयास करते हैं? उसका परिणाम यह होता है कि कालान्तर में पराजित देश शक्ति सम्पादन कर पुन: युद्ध में तत्पर होता है। किसी को निर्बल बनाकर भयभीत करना और पुन: युद्ध को जन्म देना, क्या यही न्याय है? क्या इस न्याय से ही शान्ति की स्थापना और संघर्ष का नाश हो सकता है? व्यक्ति और समाज में निर्दोषता की गंगा लहरा सकती है? कदापि नहीं। पर यदि मानव अपने प्रति अपने द्वारा न्याय करना अपना ले, तो निर्दोष जीवन से अत्यन्त सुगमतापूर्वक समाज में निर्दोषता की स्थापना हो सकती है, परस्पर संघर्ष का नाश हो सकता है और विश्व में शान्ति की स्थापना हो सकती है, यह निर्विवाद सिद्ध है।

प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक व्यक्ति की रचना में भिन्नता है। यहाँ तक कि पिता, पुत्र, सहोदर भाई-बहन की रुचि, स्वभाव, योग्यता, सामर्थ्य आदि में भी समानता नहीं है। अपराध की प्रवृत्ति के मूल में व्यक्तिगत सुख का प्रलोभन है। किसी के हास, विनाश तथा दु:ख से अपने सुख का सम्पादन करना ही मूल अपराध है। इस कारण निरापराधता की अभिव्यक्ति जीवन में तभी हो सकती है, जब मानव व्यक्तिगत सुख लोलुपता से रहित हो जाए। किसी अन्य के सम्बन्ध में ऐसा कोई नापतौल नहीं है कि कितनी पीड़ा और क्षति से उसकी सुख-लोलुपता मिट सकती है। यही मूल कारण है कि 'पर' के द्वारा न्याय नहीं हो पाता। यदि भूल से अधिक दण्ड दिया गया, तो अपराधी में क्षोभ तथा क्रोध की उत्पत्ति होती है, जो उसे कर्तव्य से च्युत कर घोर अपराधी बना देती है। यदि अपराध से कम दण्ड मिला, तो अपराधी में प्रलोभन उत्पन्न होता है, जिसके होते ही पुन: अपराध करने की वृत्ति उत्पन्न होती है। न्याय का अर्थ किसी को दण्डित करना नहीं है, अपितु अपराधी स्वयं अपने अपराध को जान निरापराधी होने के लिए तत्पर हो जाये, यही वास्तविक न्याय है।

अब यदि कोई यह कहे कि अपराधी अपना अपराध स्वीकार करने के लिए राजी नहीं है और उसके द्वारा निर्बलों की बड़ी क्षति हो रही है, तो ऐसी दशा में क्या बलपूर्वक उसे अपराध करने से नहीं रोकना है। इन

समस्या पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि यदि मोह तथा प्रलोभन से विवश हो अपराध को सहयोग न दिया जाये और उस पर क्रोध भी न किया जाये, तो कोई भी अपराधी अकेला होकर बिना दूसरों के सहयोग तथा समर्थन के अपराध में प्रवृत्त नहीं हो सकता। बुराई का समर्थन और सहयोग बुराई को पोषित करता है। निर्दोष जीवन से ही निर्दोषता विभु होती है। बलपूर्वक दोषों को दबाया जा सकता है, मिटाया नहीं जा सकता। बल के सदुपयोग से निर्बलों को सबल बना सकते हैं और बल के दुरुपयोग से सबल को निर्बल बनाकर प्रतिहिंसा की भावना को उत्पन्न किया जाता है। निर्बल सबल हो जाये, यह न्याय है, सबल को निर्बल करना न्याय नहीं है। सबल और निर्बल में एकता हो जाए, यह न्याय है, परस्पर संघर्ष को जन्म देना न्याय नहीं है, अपितु न्याय के वेश में घोर अन्याय ही है। इन सब कारणों से यह स्पष्ट विदित होता है कि न्याय अपने प्रति, अपने द्वारा ही हो सकता है और उससे निदोंषता से अभिन्नता हो सकती है।

यदि प्राणी न्यायपूर्वक अपना सुधार स्वयं कर ले, तो फिर उसे राष्ट्रीय, सामाजिक तथा प्राकृतिक न्याय और दंड-विधान की आवश्यकता ही नहीं रहती, अर्थात् वह दूसरों के शासन से सदा के लिए मुक्त हो जाता है। कारण, कि शासन की आवश्यकता का उदय ही तब होता है जब प्राणी अपने पर अपने विवेक का शासन नहीं करता। वास्तविक स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए अपने पर अपना शासन, अर्थात् नेतृत्व और न्याय करना परम आवश्यक है, जो निर्दोष बनाने में समर्थ है। हमें यही सीखना और सिखाना है कि जिन-जिन से जितनी-जितनी निकटता हो, उनके प्रति उतना ही कठोर न्याय बरतना चाहिए। इस दृष्टि से सबसे कठोर न्याय हमें अपने मन, इन्द्रिय आदि के प्रति करना चाहिए और ज्यों-ज्यों किसी-न-किसी प्रकार की दूरी होती जाय, त्यों-त्यों न्याय को प्रेम तथा क्षमा में बदलते जाना चाहिए। निकटवर्तियों का सुधार न्याय से और दूरवर्तियों का सुधार प्रेम तथा क्षमा से ही सम्भव है।

संयम, तप, उदासीनता, नियंत्रण, असहयोग, उपेक्षा आदि के ही अंग हैं। इनके प्रयोग के बिना निकटवर्तियों का हित सम्भव नहीं है। न्याय में सर्वदा हित-

कामना विद्यमान रहती है, द्वेष नहीं लालच तथा भय-रहित होने पर ही प्राणी न्याय के वास्तविक स्वरूप को जान पाता है और उसका प्रयोग कर सकता है। न्याय में दुराग्रह, क्रोध आदि विकारों के लिए कोई स्थान ही नहीं है। कारण, कि क्रोध की उत्पत्ति तो अपनी कामना-पूर्ति के लिए होती है और न्याय में जिसके प्रति न्याय किया जाता है उसके हित की लालसा रहती है। न्याय में सत्याग्रह होता है, दुराग्रह नहीं। क्योंकि न्याय का जन्म विचार से होता है, प्रमाद से नहीं। सत्याग्रह असत्य को खाकर सत्य से अभिन्न करता है। इस दृष्टि से सत्याग्रह आदरणीय और दुराग्रह निन्दनीय है। न्याय किसी को ऋणी नहीं रहने देता। न्याय अपने को क्षमा नहीं करता। न्याय बल का दुरुपयोग नहीं होने देता। न्याय निर्बल को सबल और बलवान को उदार बनाने में समर्थ है। न्याय बलपूर्वक अन्याय मिटाने का पक्षपाती पदार्थों और हिंसक को अहिंसक होने की प्रेरणा देता है। न्यायपूर्वक बल का उपयोग करने से न तो किसी का विनाश होता है और न किसी के अधिकारों का अपहरण होता है।

न्याय, प्रेम तथा क्षमा का पोषक है, विरोधी नहीं। न्याय विभाजनपूर्वक एकता का समर्थक है, अर्थात् उसकी माँग है कि अपने-अपने स्थान पर सभी के अधिकार सुरक्षित रहें, सभी के विकास के साधन प्रस्तुत हों और कर्तव्यपरायणता को ही प्राणी अपना वास्तविक अधिकार माने। कारण, कि अधिकार तो कर्तव्य का ही दास है। किसी और की उदारता से किसी के अधिकार की रक्षा स्थायी रूप से सुरक्षित नहीं रह सकती। अत: अपने पर स्वयं न्याय करके कर्तव्य द्वारा दूसरे के अधिकारों की रक्षा को ही अपना अधिकार मानना चाहिए। दूसरे के अधिकारों की रक्षा को अपना अधिकार मानना ही वास्तव में प्रेम है।

दूसरों के प्रति क्षमा तथा प्रेम ही किया जा सकता है। क्षमाशीलता महान बल है, कायरता नहीं। क्षमाशीलता के विना वैर-भाव का सर्वांश में नाश सम्भव नहीं है। निर्वैरता एकता की जननी है। भेद और भिन्नता का नाश होते ही परस्पर स्नेह की एकता हो जाती है और फिर समस्त संघर्ष सदा के लिए मिट जाते हैं। अब गंभीरतापूर्वक विचार यह करना है कि क्षमाशीलता का स्वरूप क्या है?

जिसने अपने प्रति बुराई की है, क्या उसने स्वयं अपने को बुरा नहीं बनाया है? क्या कोई बुरा हुए बिना किसी के प्रति बुराई कर सकता है? कदापि नहीं। अपने प्रति होने वाली बुराई का दुःख तो सभी प्राणियों को स्वभाव से ही होता है, परन्तु जो क्षमाशील महापुरूष हैं उन्हें इस बात की व्यथा होती है कि इस बेचारे ने अपने को बुरा बना लिया है, इस कारण इसके द्वारा किसी के प्रति बुराई होती है। यह बुरा न रहे, तो इसके द्वारा किसी के प्रति बुराई न होगी। प्राकृतिक नियमानुसार किसी को भला बनाने का उपाय है- उसके प्रति भलाई करना, उसे बुरा न समझना, उसका बुरा न चाहना और उसके प्रति किसी प्रकार की भी बुराई न करना। यह तभी सम्भव होगा, जब सिद्धान्त रूप से यह स्वीकार कर लिया जाय कि न्याय अपने प्रति और क्षमा तथा प्रेम अन्य के प्रति करना अनिवार्य है। प्रत्येक कर्म कर्ता का ही रूपान्तर है, अथति कर्म के रूप में कर्ता स्वयं ही प्रकट होता और कर्म स्वयं फल बनता है। इस दृष्टि से कर्ता, कर्म और फल के स्वरूप में कर्ता में कर्ता ही है। जिसने हमारे प्रति बुराई की है, उसने अपने बुरा बदले में हम उसके साथ बुराई करें। इतना ही नहीं, बुराई करने के लिये हमें अपने को स्वयं बुरा बनाना पड़ेगा। किसी की की-हुई बुराई से हमारी उतनी क्षति नहीं हो सकती, जितनी स्वयं को बुरा बनाने से होती है। अत: व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक हित की दृष्टि से क्षमाशीलतापूर्वक अपने प्रति होने वाली बुराई के बदले में भलाई करना अत्यन्त आवश्यक है। यह तभी सम्भव होगा, जब जिसने बुराई की है, उसके बुरा होने की वेदना हो, उसकी की हुई बुराई के द्वारा हमें क्षोभ तथा क्रोध न हो। क्रोध-रहित होते ही कर्तव्य की, निज-स्वरूप की और प्रेमास्पद की स्मृति स्वतः जाग्रत होती है। इस दृष्टि से क्षमाशीलता बड़े ही महत्व की वस्तु है। उसमें सभी का हित निहित है। क्षमाशीलता की भूमि में ही प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, जो वास्तविक जीवन है।

यह प्राकृतिक नियम है कि क्षमाशीलता को अपनाये बिना परस्पर विकास सम्भव नहीं है। बुराई के बदले में बुराई करने से उत्तरोत्तर बुराई की वृद्धि होती रहती है, कारण कि बुराई की प्रतिक्रिया बुराई ही होती है। अतः बुराई का अन्त बुराई न करने

में है। इस दृष्टि से सर्वंश में भेद तथा भिन्नता का नाश करने के लिए क्षमा तथा प्रेम के समान और कोई सफल साधन नहीं है।

प्रेम भिन्नता को अभिन्नता में, क्रोध को क्षमा में, संकीर्णता को व्यापकता में और कृपणता को उदारता में परिवर्तित कर देता है। फिर ब्राह्य भाषा, वेष, वर्ण और कर्म आदि के भेद रहने पर भी प्रीति की एकता सुरक्षित रहती है क्योंकि प्रेम नित-नव प्रीति का पोषक और रक्षक है। प्रेम की उत्पत्ति सरल विश्वास से अथवा यथार्थ ज्ञान से होती है। जिसे हम अपना मान लेते हैं उससे स्वत: ही प्रेम होने लगता है और जिसे हम सब प्रकार से जान लेते हैं उससे भी अपने-आप प्रेम हो जाता है। अधूरा विश्वास तथा सन्देहयुक्त ज्ञान प्रेम का विनाशक है। प्रेम के बिना नित-नव रस की उपलब्धि सम्भव नहीं है। रस-रहित जीवन निरर्थक जीवन है। रस से ही जीवन की सार्थकता है रसयुक्त जीवन किसी के लिए भी दु:खद नहीं होता, क्योंकि स्वयं खिन्न होने पर ही प्राणी दूसरों को दु:खी करता है। जिसका हृदय रस तथा प्रसन्नता से भरा है उसी से समाज को प्रसन्नता प्राप्त हो सकती है। प्रसन्नता सदा उसी के हृदय में निवास करती है। जिसका हृदय प्रेम और क्षमा से भरपूर है। क्षमा माँगने से निर्दोषता और क्षमा करने से निर्वैरता स्वत: आ जाती है। वैरभाव-रहित हृदय में ही प्रीति की गंगा लहराती है। अपने प्रति किये गये अपराधों को क्षमा करना और अपने द्वारा होने वालें अपराधों के लिए क्षमा माँगना महान बल है, निर्बलता नहीं। क्षमा माँगने का वास्तविक अर्थ है कि जिस अपराध के लिए क्षमा प्रार्थना की गई है उस अपराध को फिर कभी किसी के प्रति न किया जाये और क्षमा करने का तात्पर्य यह है कि अपने प्रति होने वाली बुराई को सदा के लिए भुला दिया जायें एवं हदय निर्वैरता तथा प्रीति से भर जायें।

निर्वैरता के बिना परस्पर का संघर्ष मिट नहीं सकता और निर्वैरता क्षमाशीलता तथा प्रेम के बिना सम्भव नहीं है केवल बल के प्रयोग द्वारा संघर्ष कुछ काल के लिए दब-सा जाता है, मिटता नहीं। बल तो निर्बलों की धरोहर है और कुछ नहीं। बल के द्वारा निर्बलों के विकास और रक्षा के साधन उत्पन्न किये जा सकते हैं। बल का उपयोग किसी के विनाश में करना

अपने को निर्बल बनाना है, क्योंकि इससे प्रतिहिंसा की भावना जाग्रत होती हैं, जिससे कालान्तर में घोर संघर्ष उत्पन्न होता है।

अपने को निर्दोष बनाने और परस्पर प्रीति की एकता का संचार एवं संघर्ष का उन्मूलन करने के लिए अपने प्रति न्याय तथा दूसरों के प्रति प्रेम और क्षमा का प्रयोग करना परम आवश्यक है।

चौथा नियम

जितेन्द्रियता, सेवा, भगवचिन्तन और सत्य की खोज द्वारा अपना निर्माण।

अपना निर्माण करने, अर्थात् अपने को सुन्दर बनाने के लिए इन्द्रिय-लोलुपता से जितेन्द्रियता की ओर, स्वार्थ से सेवा की ओर, विषय-चिन्तन तथा व्यर्थ-चिन्तन से भगवत्-चिन्तन तथा सार्थक-चिन्तन की ओर एव असत्य से सत्य की ओर गतिशील होना नितान्त आवश्यक है, कारण कि जब तक प्राणी अपने पर अपना शासन नहीं कर लेता, अपनी बनायी हुई पराधीनताओं का त्याग करके स्वाधीन नहीं हो जाता, निरर्थक-चिन्तन और चेष्टाओं से रहित नहीं होता, अपने को सहदय और उदार नहीं बना लेता, सत्य के प्रति प्रियता नहीं उत्पन्न कर लेता, तब तक वह अपने को सुन्दर नहीं बना सकता-यह निर्विवाद सत्य है।

इन्द्रिय-लोलुपता अविवेक-सिद्ध है। यदि मानव प्राप्त समस्त दृश्य से अपने को असंग करले, तो बहुत ही सुगमता पूर्वक जितेन्द्रियता प्राप्त हो सकती है, अर्थात् भोग से भोक्ता का मूल्य बढ़ जाता है, जिसके बढ़ते ही भोग की रुचि तत्व की जिज्ञासा में, अथवा प्रेमास्पद की प्रियता में परिवर्तित हो जाती है। इस दृष्टि से शरीर आदि वस्तुओं से असंग होना अनिवार्य है। असंगता किसी अभ्यास से सिद्ध नहीं होती, अपितु निज विवेक के आदर से ही साध्य है, कारण कि समस्त अभ्यास शरीर के तादात्म्य से ही किये जाते हैं। करने की रुचि ने ही देहाभिमान को पोषित किया है और देहाभिमान से ही सुख का प्रलोभनय

उत्पन्न होता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि प्राणी परिस्थिति का सदुपयोग न करे। करने के फलस्परूप कुछ पाने का जो प्रलोभन है उसी से प्राणी में देहभिमान पोषित होता है, जिसके होते ही उत्पन्न हुई वस्तुओं में सत्यता, सुन्दरता एवं सुखरूपता भासती है, जो इन्द्रिय-लोलुपता की भूमि है। अत: यह निर्विवाद सिद्ध है कि विवेक पूर्वक तीनों शरीरों से असंग होने पर ही वास्तविक जितेन्द्रियता की अभिव्यक्ति होती है।

देहाभिमान रहते हुए बलपूर्वक जितेन्द्रियता प्राप्त करने का प्रयास विषयासक्ति के नाश में समर्थ नहीं होता, अपितु तप-पूर्वक अल्प काल के लिए विषयाशक्ति दब जाती है, नष्ट नहीं होती। इस कारण विषयासक्ति का नाश एकमात्र विचार से ही सम्भव है। विचार-रूपी सूर्य का उदय होते ही विषयासक्ति रूपी अन्धकार स्वत: नष्ट हो जाता है। इस दृष्टि से तप और त्याग दोनों ही के द्वारा जितेन्द्रियता सिद्ध होती है। तप से शक्ति का सम्पादन होता है और त्याग से निर्वासन आती है, जिससे सर्वाश में समस्त आसक्तियों का अन्त हो जाता है, जो वास्तविक जितेन्द्रियता है। इन्द्रिय-लोलुपता परिवर्तनशील सुख की ओर तथा जितेन्द्रियता हित की ओर प्रेरित करती है। सुख और हित में अवस्थाओं एवं परिस्थितियों के अधीन हो जाता है, अर्थात् उसकी स्वाधीनता पराधीनता में बदल जाती है। इतना ही अनेक निर्बलताएँ अपने आप आ जाती है। इसके विपरीत हित को अपनाने पर पराधीनता स्वाधीनता में हदयहीनता सहृदयता में, परिच्छिन्नता अपरिच्छिन्नता में और निर्बलता सबलता में बदल जाती है, क्योंकि हित हमें 'पर' से 'स्व' की ओर प्रेरित करता है। हित का अभिलाषी प्राणी 'यह' से 'है' की ओर अग्रसर होता है, अर्थात् वह दृश्य से होकर सर्व प्रकाशक में प्रतिष्ठित हो जाता है। फिर विषय इन्द्रियों में, इन्द्रियाँ मन में, मन बुद्धि में और बुद्धि उसमें लीन हो जाती है जो सबसे अतीत है। इस प्रकार बुद्धि के सम होने पर मन में निर्विकल्पता आ जाती है, फिर इन्द्रियाँ विषय-विमुख होकर मन से अभिन्न हो जाती हैं-बस यही जितेन्द्रियता का वास्तविक स्वरूप है। जितेन्द्रियता प्राप्त होते ही शक्तिहीनता और पराधीनता का अन्त

हो जाता है, क्योंकि इन्द्रिय-जय से आवश्यक शक्ति का विकास स्वत: होने लगता है।

पर जब तक स्वार्थ-भाव निर्मूल नहीं हो जाता, तब तक जितेन्द्रियता की उत्कृष्ट लालसा जाग्रत नहीं होती, जिसके बिना हुए मानव सतपथ पर अग्रसर नहीं हो सकता। इस दृष्टि से स्वार्थ-भाव का अन्त करना अनिवार्य है। स्वार्थ-भाव गलाने के लिए सुखासक्ति का नाश अनिवार्य है, जो एकमात्र सेवा से साध्य है। सेवा की अभिव्यक्ति दुःखियों को देख करुणित और सुखियों को देखप्रसन्न होने में ही नीहित है।सेवा के बिना सुखासक्ति निर्मूल नहीं होती, कारण कि सुख का सद्व्यय सेवा द्वारा ही सम्भव है। सेवा-भाव उदित होते ही प्राणि-मात्र से, जिसके होते ही दुःखियों को देख सेवक का हृदय करुणा से परिपूर्ण होता है और फिर सेवक प्राप्त - कर देता है। ऐसा करते ही सुख की दासता शेष नहीं रहती, यही विकास का मूल है। विश्व का विभाजन सम्भव नहीं है। इन्द्रिय दृष्टि से भिन्नता प्रतीत होने पर भी जिस प्रकार शरीर और शरीर के अवयवों में एकता है उसी प्रकार समस्त विश्व के साथ एकता स्वतः सिद्ध है। एकता दुःखियों को देखने पर करुणा और सुखियों को देखने पर प्रसन्नता प्रदान करती है। करुणा सुख-भोग की रुचि को खा लेती है और प्रसन्नता निष्कामता से अभिन्न करती है। भोग की रुचि का नाश होते ही योग और निष्कामता आते ही असंगता स्वतः प्राप्त होती है। योग से सामर्थ्य और असंगता से स्वाधीनता स्वत: प्राप्त होती है। इस दृष्टि से सेवा-भाव बड़े ही महत्व की वस्तु है। इतना ही नहीं, सेवा सेवक को सेव्य से अभिन्न कर देती है, अथवा यों कहोकि सेवक का अस्तित्व सेवा से भिन्न और कुछ नहीं रहता। सेवा सेव्य का स्वभाव और सेवक का जीवन है। सेवा से सेव्य को रस मिलता है और जगत् का हित होता है। सुन्दर समाज का निर्माण एकमात्र सेवा में ही निहित है सेवा से जीवन जगत् के लिए, अपने लिए एवं सेव्य के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। सेवा-भाव जाग्रत होते ही प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता का सद्व्यय स्वतः होने लगता है, जो जगत् के लिए उपयोग है। सेवा से प्राप्त वस्तु आदि की ममता और अप्राप्त वस्तु आदि की कामना शेष नहीं रहती।

सेवा से पराधीनता स्वाधीनता में, जड़ता चिन्मयता एवं मृत्यु अमरत्व में विलीन हो जाती है। इस दृष्टि से सेवा अपने लिए उपयोगी सिद्ध होती है। सेवा सेव्य में आत्मीयता जाग्रत करती है आत्मीयता में ही अगाध, अनन्त, नित-नव प्रियता निहित है, जिससे सेव्य को रस मिलता है। अतएव सेवा सेव्य के लिए भी उपयोगी सिद्ध होती है। मानव जिसमें अविचल आस्था स्वीकार करता है वही उसका सेव्य है और उसी के नाते सेवा की जाती है। सेवा भौतिकवादियों को विश्व-प्रेम, अध्यात्मवादियों को आत्मरति एवं भक्तों को प्रभु-प्रेम प्रदान करने में समर्थ है। प्रेम का आरम्भ किसी के प्रति हो, अन्त में वह विभु हो जाता है, कारण कि दर्शन अनेक होने पर भी वास्तविक जीवन एक है। उससे अभिन्नता मानव-मात्र की सेवा द्वारा हो सकती है।

यह नियम है कि जिसके नाते सेवा की जाती है सेवक अन्त में उसी की प्रीति हो जाता है। प्रीति का आरम्भ आत्मीयतापूर्वक स्मरण-चिन्तन से ही होता है। स्मरण किया स्वत: होती है। यह सभी को विदित है कि मानव जिसकी आवश्यकता अनुभव करता है उसका और जिसको अपना मानता है उसका चिन्तन स्वतः होने लगता है। इस दृष्टि से चिन्तन किसी अभ्यास विशेष का नाम नहीं है, अर्थात् स्वाभाविक आवश्यकता एवं प्रियता की जागृति ही चिन्तन है। सेव्य को आत्मीयता तभी सजीव होती है जब सेवक चाहरहित होता है ओर अपने में अपना करके कुछ नहीं जानता, अर्थात् अचाह तथा ममता रहित होने पर ही प्रेमियों में प्रेमास्पद का, भक्तों में भगवान् का और जिज्ञासुओं में तत्व का चिन्तन स्वतः होने लगता है। अत: भगवत्-चिन्तन तथा सार्थक चिन्तन द्वारा प्रत्येक मानव अपना निर्माण कर सकता है।

प्रत्येक मानव स्वभाव से ही मृत्यु से भयभीत हो अमरत्व की और सन्देह से पीड़ित हो निस्सन्देहता की आवश्यकता अनुभव करता है। मृत्यु का भय तथा सन्देह की उत्पत्ति असत् के संग ही से होती है। असत् को असत् जानते ही असत् की निवृत्ति और सत् की प्राप्ति स्वत: हो जाती है। सत् की जिज्ञासा असत् की कामनाओं को खाकर जिज्ञासु को तत्व-ज्ञान से

अभिन्न कर देती है और फिर मृत्यु का भय तथा सन्देह की गन्ध भी नहीं रहती। अत: मानव मात्र को सत्य की खोज करना अनिवार्य है। खोज उसी की होती है जिससे देश-काल की दूरी न हो तथा जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व हो, अर्थात् जो उत्पत्ति-विनाश-रहित, सर्वत्र सर्वदा हो। उत्पन्न हुई वस्तु आदि की ममता तथा उनसे तादात्म्य स्वीकार करने पर ही प्राणी सत् से विमुख हो असत् के संग में आबद्ध होता है, किन्तु बीज रूप से मानव-मात्र में सत् की जिज्ञासा विद्यमान है। असत् के संग से उत्पन्न हुई कामनाओं ने जिज्ञासा को शिथिल कर दिया है। स्वाभाविक आवश्यकता की जागृति जिज्ञासा को सबल बनाती है। ज्यों-ज्यों जिज्ञासा सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों उत्पन्न हुई कामनाएँ अपने आप निवृत्त होती जाती हैं। कामनाओं का नाश होते ही स्वत: विचार की अभिव्यक्ति होती है जो अविचारका नाश कर जिज्ञासु को तत्व-ज्ञान से अभिन्न कर देता है। सत्य की खोज करने मात्र का ही मानव पर दायित्व है। उसकी प्राप्ति मंगलमय विधान से स्वत: होती है। असत् और सत् में एक बड़ा अन्तर यह है कि असत् की कामनाएँ प्राणी को प्रवृति में आबद्ध कर अभाव ही प्रदान करती हैं, अथवा यों कहो कि सभी कामनाएँ कभी भी के जिज्ञासु को सत् से अभिन्न कर देती है। सत् की तीव्र जिज्ञासा-मात्र से ही सत् की प्राप्ति स्वत: होती है। इस कारण असत् की कामनाओं को त्याग सत् की खोज करना अनिवार्य है। है। जिसमें बेचारा प्राणी परिच्छिन्नता में आबद्ध हो दीनता तथा अभिमान की अग्नि से दग्ध होता रहता है। सत् की जिज्ञासा सीमित अहम भाव को खाकर दिव्य, चिन्मय, नित्य जीवन से अभिन्न कर देती है। कामनाएँ अनेक और जिज्ञासा एक होती है। कामनाएँ उत्पत्ति-विनाश की ओर और जिज्ञासा अविनाशी की ओर अग्रसर करती है, अथवा यों कहो कि जिज्ञासा नित्य जीवन की होती है और कामनाएँ अनित्य जीवन की। यह सभी को विदित है कि सभी कामनाएँ किसी की पूरी नहीं होती और कुछ कामनाएँ सभी की पूरी होती हैं। इतना ही नहीं, कामना-पूर्ति के अन्त में नवीन कामनाओं की उत्पत्ति स्वतं: होती रहती है। इस कारण अन्त में कामना-

आपूर्ति ही शेष रहती है। कामना-पूर्ति-आपूर्ति की द्वन्द्वात्मक स्थिति अह्मू-भाव को पोषित करती। परन्तु जब प्राणी कामना-आपूर्ति की खोज करता है, तब सत्य की जिज्ञासा अह्मू-भाव को खाकर सतू से अभिन्न करती है। जिज्ञासा द्वन्द्वात्मक स्थिति नहीं रहने देती इसलिए जिज्ञासा परिच्छिन्नता को खाकर अमर जीवन से अभिन्न करती है। इस दृष्टि से यह स्पष्ट है कि कामनाएँ अहम्-भाव की पोषक हैं और जिज्ञासा उसकी नाशक है।

जिस प्रकार निर्बलता बल की आवश्यकता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, उसी प्रकार अनित्य जीवन नित्य जीवन की माँग के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, अर्थात अनित्य जीवन का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता, उसकी प्रतीति भले ही हो, किन्तु प्राप्ति नहीं होती। अनित्य जीवन का आकर्षण ही कामनाओं के रूप में उत्पन्न होता है। नित्य जीवन की माँग ही सत् की खोज के रूप में प्रकट होती है। इसी कारण खोज मात्र से ही सत् की प्राप्ति होती है। अत: सत् की खोज द्वारा मानव-मात्र अमरत्व से अभिन्न हो सकता है, यह निर्विवाद सिद्ध है। सत् की खोज का वास्तविक अर्थ कर्म, सम्बन्ध तथा विश्वास का त्याग। सारांश यह है कि संदेह की वेदना सत्य की खोज जाग्रत करती है। सरल विश्वास भगवत्-चिन्तन में प्रवृत्त करता है। हृदयशीलता सेवा को सजीव बनाती है और स्वाधीनता की माँग जितेन्द्रियता के लिए विवश करती है। इन चारों से मानव का निमार्ण होता है। अत: अपना निर्माण करना अनिवार्य है।

प्रत्येक मानव अपनी-अपनी रुचि, योग्यता, सामर्थ्य एवं सत्य की खोज द्वारा अपना निर्माण कर सकता है। समस्त संयम, तप आदि जितेन्द्रियता में, कर्तव्य की पराकाष्ठा सेवा में, समस्त उपासनाएँ प्रियता की जागृति, अर्थात् भगवत्-चिन्तन में और निज-विवेक के प्रकाश से प्रकाशित जाने हुए असत् के त्याग में ही सत्य की खोज, या यों कहिये कि सत् से अभिन्नता निहित है। इस दृष्टि से प्रत्येक मानव अपने विकास का आरम्भ चाहे जिस साधन से करे, प्रत्येक साधन की पूर्णता में सभी साधनों का समावेश हो

जाता है। साधन की भिन्नता होने पर भी साध्य की एकता ही सिद्ध होती है। आरम्भिक साधन की पराकाष्ठा में ही अन्य सभी साधन स्वत: आ जाते हैं। भिन्नता आरम्भ में है, अन्त में नहीं। व्यक्तिगत योग्यता में भेद होने से भिन्नता स्वाभाविक है और साध्य की एकता होने से सभी साधनों की परावधि साध्य की अगाध प्रियता में ही है। प्रत्येक साधक अपने साध्य की प्रियता होकर साध्य से अभिन्न होता है, यही मानव-जीवन की पूर्णता है।

पाँचवां नियम

दूसरों को कर्तव्य को अपना अधिकार, दूसरों की उदारता को अपना गुण और दूसरों की निर्बलता को अपना बल न मानना।

कर्तव्य और अधिकार परस्पर भिन्नता को एकता में परिवर्तित करते हैं। इस दृष्टि से किसी का कर्तव्य ही किसी का अधिकार होता है। कर्तव्यनिष्ठ प्राणियों से सभी के अधिकार सुरक्षित होते हैं और यही विकास का मूल है। परन्तु तब वह अधिकार लालसा में आबद्ध हो जाता है, जिसके होते ही अधिकार-पूर्ति में राग और अपूर्ति में क्षोभ तथा क्रोध उत्पन्न होता है, जो सर्वनाश का मूल है। राग प्राणी को पराधीनता, जड़ता, अभाव आदि दोषों में आबद्ध करता है, जो किसी को अभीष्ट नहीं है। राग रूपी भूमि में ही समस्त कामनाएँ उत्पन्न होती हैं। उत्पन्न कामनाओं की पूर्ति-अपूर्ति में बेचारा प्राणी सुख की दासता तथा दु:ख के भय में आबद्ध हो जाता है सुख की दासता ही वह सुदृढ़ श्रृंखला है जो प्राणी को देहाभिमान में आबद्ध कर देती है, जो समस्त विकारों का मूल है और दु:ख का भय दु:खी को असमर्थ बना देता है, कारण कि दु:ख के भय से प्राप्त सामर्थ्य का ह्रास ही होता है। इस दृष्टि से राग का अन्त करना मानव-मात्र के लिए अनिवार्य है। पर वह तभी सम्भव होगा जब किसी के कर्तव्य को अपना अधिकार न माने और दूसरों के अधिकार को अपना कर्तव्य माने। अधिकार-लालसा का नाश होते ही नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होती, बल्कि दूसरों के अधिकार की रक्षा करते ही विद्यमान

राग निवृत्त हो जाता है। यह सभी को विदित है कि सामर्थ्य तथा निज-विवेक के अनुरूप कर्तव्यपालन में प्राणी असमर्थ नहीं है। इस कारण सभी भाई बहन स्वाधीनतापूर्वक कर्तव्यनिष्ठ हो विद्यमान राग से रहित हो सकते है। अपने अधिकार की पूर्ति में कोई भी व्यक्ति स्वाधीन नहीं है। इसी कारण अधिकार-अपूर्ति में प्राणी क्षोभ तथा क्रोध में आबद्ध हो जाता है। बल-पूर्वक अधिकार-पूर्ति कराने से परस्पर गहरी भिन्नता उत्पन्न होती है, जो संघर्ष का मूल है। कर्तव्यपरायणता से ही पारस्पारिक कर्तव्य की भावना पोषित होती है, जो एकता की जननी है। प्राकृतिक नियमानुसार जो जीवन में है, वही विभु होता है। अत: कर्तव्यपरायणता से ही समाज में पारस्परिक कर्तव्यपरायणता आती है और अधिकार-लालसा से ही दूसरों में अधिकार की माँग उत्पन्न होती है। इस कारण अपने अधिकार का त्याग और दूसरों के अधिकार की रक्षा करना ही विकास का मूल है। पर यह तभी सम्भव होगा जब दूसरों के कर्तव्य को अपना अधिकार न मानें, प्रत्युत् दूसरे के अधिकार को अपना कर्तव्य माने, जिससे विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाय और नवीन राग की उत्पत्ति ही न हो। राग-रहित भूमि में ही योगरूपी वृक्ष लगता है और योगरूपी वृक्ष में ही तत्व-ज्ञान रूपी फल लगता है, जो प्रेम-रूपी रस से परिपूर्ण है। इस दृष्टि से राग-रहित होने में ही समस्त विकास निहित है।

अपने अधिकारों का त्याग किये बिना कोई भी व्यक्ति राग तथा क्रोध-रहित नहीं हो सकता। यह सभी को विदित है कि अधिकारों की अपूर्ति क्षुभित तथा क्रोधित कर देती है। क्षुब्ध होते ही व्यक्ति संतुलन खो बैठता है। असंतुलन आते ही क्रोध की अग्नि प्रज्जवलित हो जाती है, जिसके होते ही सजगता तथा सावधनी शेष नहीं रहती और विस्मृति का जन्म होता है। कर्तव्य की विस्मृति अकर्तव्य को उत्पन्न करती है, स्वरूप की विस्मृति देहाभिमान में आबद्ध करती है एवं प्रेमास्पद की विस्मृति अनेक आसक्तियों को जन्म दे प्रीति से विमुखकर देती है। इस कारण मानव-जीवन में क्षोभ तथा क्रोध का कोई स्थान ही नहीं है। अकर्तव्य के आते ही जीवन जगत् के लिए, देहाभिमान दृढ़ होते ही जीवन अपने लिए और आसक्तियों में आबद्ध होते ही जीवन

प्रभु के लिए उपयोगी सिद्ध नहीं होता। इस दृष्टि से क्षोभ तथा क्रोध के समान और कोई भयंकर विकार नहीं है, जिसकी निवृत्ति अपने अधिकारों के त्याग में ही निहित है। अत: दूसरे के कर्तव्य को अपना अधिकार मानना भूल है और सर्वथा त्याज्य है।

दूसरों की उदारता को अपना गुण मानने पर मिथ्या देहाभिमान पोषित होता है, जो समस्त विकारों का मूल है। अत: किसी भी मानव को किसी की उदारता को अपना गुण नहीं मानना चाहिए। जो मानव दूसरों की उदारता को अपना जिसके होते ही नीरसता सरसता में, कटुता मधुरता में और भिन्नता अभिन्नता में विलीन हो जाती है, जो विकास का मूल हे !

देहाभिमान से ही प्राणी अपने में गुणों का आरोप कर लेता है। वास्तव में तो समस्त दिव्य गुण स्वत: सिद्ध हैं, किसी की उपार्जित वस्तु नहीं है। जब मानव निज-विवेक के प्रकाश में अपने जाने हुए तथा किए हुए दोषों का त्याग कर देता है, तब नित्य प्राप्त निर्दोष तत्व से उसकी स्वत: अभिन्नता हो जाती है, जिसके होते ही जीवन निवांसना, निर्वैरता, निर्भयता समता, मुदिता आदि से परिपूर्ण हो जाता है और परिच्छिन्नता स्वत: नष्ट हो जाती है। भेद और भिन्नता की गन्ध भी नहीं रहती, जिससे सर्वतोमुखी विकास स्वत: होता है।

उदारता के बिना प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता आदि का सद्व्यय नहीं हो सकता। दु:खियों को देख करुणित और सुखियों को देख प्रसन्न होने में ही उदारता की पराकाष्ठा है। दूसरों की उदारता का आदर करते हुए उदार होने का मानव मात्र को अथक प्रयास करना है, तभी प्राणी सुखासक्ति का अन्त कर स्वाधीन हो सकता है। पर यह तभी सम्भव होगा जब किसी की उदारता को अपना गुण न माने, अपितु उदारता-पूर्वक प्राप्त सुख का सद्व्यय करता रहे। तभी परस्पर एकता सुरक्षित रह सकती है, जो वास्तविक जीवन से अभिन्न करने में समर्थ है।

प्राकृतिक नियमानुसार प्राप्त बल का सदुपयोग निर्बलों की सेवा में ही हो सकता है। प्राणी निर्बलों की अपेक्षा ही अपने को सबल मान लेता है। इतना ही नहीं, निर्बलों के बिना अपनी सबलता का भास ही नहीं होता। इस दृष्टि से सबलता निर्बलों की देन है। प्राकृतिक नियमानुसार

जिसकी जो देन है, उसे उसी की सेवा में व्यय करना है। अत: बल निर्बल की धरोहर है, उसे अपना मानना भूल है। जो व्यक्ति, समाज, वर्ग अथवा देश किसी की निर्बलता को अपना बल मान लेता है, उसमें मिथ्या अभिमान की उत्पत्ति होती है, जिसके होते ही वह प्राप्त बल का दुरुपयोग कर बैठता है। प्राकृतिक नियमानुसार बल के दुरुपयोग में ही निर्बलता निहित है, अर्थात् बल के दुरुपयोग से सबल निर्बल होता है। इसी कारण कालान्तर में विजयी पराजित और पराजित विजयी होता है। अत: किसी की निर्बलता को अपना बल न मानें, अपितु यह भलीभाँति जान लें कि बल निर्बल की धरोहर है, बल के द्वारा निर्बलों की सेवा कर, सीमित बल के अभिमान से रहित हो, प्राणी अनन्त बल से अभिन्न हो सकता हैं, जो विकास का मूल है।

यह सभी को विदित है कि कोई भी व्यक्ति, समाज, वर्ग देश आदि सर्वांश में सबल अथवा निर्बल नहीं होता। प्राकृतिक नियमानुसार आंशिक सबलता तथा निर्बलता सभी में विद्यमान है। आंशिक बल का सदुपयोग करने से बल की वृद्धि और उसके दुरुपयोग से बल का ह्रास होता है। इस कारण बल का दुरुपयोग सभी के लिए अहितकर है। बल के दुरुपयोग का मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं हैं, अपितु सदुपयोग करना अनिवार्य है, जो सभी के लिए सर्वदा हितकर है। पर यह तभी सम्भव होगा जब किसी की निर्बलता के आधार पर अपने को सबल न माने। यही परस्पर संघर्ष के नाश का महामंत्र है, जिसका अनुसरण प्रत्येक व्यक्ति, समाज, वर्ग, देश आदि को करना परमावश्यक है। अत: यह निर्विवाद सिद्ध है कि किसी के कर्तव्य को अपना अधिकार, किसी की उदारता को अपना गुण एवं किसी की निर्बलता को अपना बल न मानने में ही सुन्दर समाज का निर्माण तथा अपना कल्याण निहित है पर यह रहस्य वे ही जान पाते हैं जिन्होंने निज-विवेक के प्रकाश अपनी वस्तुस्थिति का अध्ययन कर वास्तविक जीवन की खोज की है।

छठा नियम

पारिवारिक तथा जातीय सम्बन्ध न होते हुए भी पारिवारिक भावना के अनुरूप ही पारस्परिक सम्बोधन तथा सद्भाव, अर्थात कर्म की भिन्नता होने पर भी स्नेह की एकता।

यह सभी को भलीभाँति विदित है कि प्रत्येक उत्पत्ति के मूल में कोई एक अनुत्पन्न तत्व है। यदि ऐसा न हो तो उत्पत्ति, स्थिति और लय सिद्ध नहीं हो सकते। इस दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति विश्व रूपी सागर की एक बूंद है। सिन्धु और बिन्दु में गुणों की भिन्नता होने पर भी जातीय तथा स्वरूप की एकता है। गुणों की भिन्नता होने से कर्म की भिन्नता और जातीय तथा स्वरूप की एकता होने से लक्ष्य की एकता स्वाभाविक है।

जिस प्रकार कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रिय के कर्म में भेद होने पर भी लक्ष्य की एकता रहती है, अर्थात् शरीर के प्रत्येक अवयव की आकृति और उनके कर्म में भिन्नता होने पर भी प्रीति में एकता होती है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति, समाज, वर्ग एवं देश की रचना में भिन्नता होने पर भी स्नेह तथा लक्ष्य की एकता अनिवार्य है। पर यह तभी सम्भव होगा जब अनेक प्रकार के भेद होने पर भी परस्पर सम्बोधन तथा सद्भाव पारिवारिक तथा जातीय एकता के तुल्य ही किया जाये। सद्भावपूर्वक पारिवारिक सम्बन्ध के अनुरूप सम्बोधन तथा कर्म में पवित्रता परस्पर प्रीति की एकता सुरक्षित रखने में हेतू है। सम्बन्ध कर्तव्य का प्रतीक है, अधिकार का नहीं। कर्तव्य-पालन से ही प्राणी मिली हुई वस्तु, सामर्थ्य योग्यता का सद्व्यय कर सकता है। मिले हुए के सदुपयोग में ही सुन्दर समाज का निर्माण निहित है। अपने अधिकार के त्याग से ही जीवन में निष्कामता की अभिव्यक्ति होती है। इस दृष्टि से प्रत्येक स्वीकृति कर्तव्य की प्रतीक है। कर्तव्य का सम्बन्ध 'पर' के प्रति है और निष्कामता 'स्व' के लिए हितकर है। कर्तव्य के बिना परस्पर एकता सम्भव नहीं है और निष्कामता के बिना असंगता तथा आत्मीयता सजीव नहीं होती। असंगता के बिना स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश नहीं

होता और आत्मीयता के बिना अगाध, अनन्त, नित-नव प्रियता जाग्रत नहीं होती, जो वास्तविक जीवन है। इस कारण कर्तव्य-परायणता तथा निष्कामता का सम्पादन प्रत्येक भाई-बहन के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

यह सभी को मान्य है कि समस्त विश्व का आश्रय और कारण एक है। कारण में एकता होने पर भी कार्य में भिन्नता होती है।, यह वैज्ञानिक सत्य है। इतना ही नहीं, प्रत्येक कार्य अपने कारण के आश्रित ही रहता है, अर्थात् कार्य में सत्ता कारण की ही होती है, परन्तु फिर भी कारण की अपेक्षा कार्य में गुणों की भिन्नता हो जाती है। जिससे एकता में अनेकता प्रतीत होती है। अनेकता भासित होने पर भी एकता का संचार हो, इसके लिए यह आवश्यक है कि पारस्पारिक व्यवहार आत्मीयतापूर्वक किया जाये। वह तभी सम्भव होगा जब सर्वात्मभाव स्वीकार किया जाये, अथवा यह जान लिया जाये कि प्रत्येक वस्तु और व्यक्ति विश्वरूपी सागर की ही लहरें हैं अथवा यह मान लिया जाये कि जो सर्व का आश्रय तथा प्रकाशक है, समस्त विश्व उसी की अनुपम लीला है। इस प्रकार अनेकता में एकता का दर्शन बहुत ही सुगमतापूर्वक हो सकता है, जिसके होते ही राग तथा द्वेष शेष नहीं रहते। राग का अन्त होते ही स्वाधीनता की अभिव्यक्ति और द्वेष का अन्त होते ही प्रेम का प्रादुर्भाव स्वत: होता है, जो सभी की माँग है।

सद्भाव के बिना हृदयशीलता उदित नहीं होती, जो प्रीति का उद्गम है। प्रीति ही एक ऐसा अलौकिक तत्व है जिसकी जागृति होते ही अकर्तव्य और आसक्ति निर्मूल हो जाते हैं। अकर्तव्य और आसक्ति के नाश में ही कर्तव्परायणता तथा असंगता निहित है। कर्तव्यपरायणता में सुन्दर समाज का निर्माण तथा असंगता में अपना कल्याण निहित हैं इस दृष्टि से मानव-मात्र को सद्भाव सुरक्षित रखना अनिवार्य है। सद्भावनापूर्वक सम्बोधन से ही पारस्परिक व्यवहार में पवित्रता आती है, जिससे सच्चरित्रता सुदृढ़ होती है और व्यक्ति तथा समाज का निर्माण होता है जो विकास का मूल है।

साधन-रूपी स्वीकृति ही वास्तविक स्वीकृति है। स्वीकृति के

अनुरूप ही प्रवृत्ति होती है। सर्व-हितकारी प्रवृत्ति तभी सम्भव है जब उन सभी स्वीकृतियों का अन्त कर दिया जाये जो कर्तव्य की प्रतीक नहीं हैं।

अकर्तव्य और असाधन का नाश करने के लिए ही मानव समाज में भिन्न-भिन्न प्रकार के सम्बन्धों की स्थापना की गई है। अतएव सम्बन्ध के अनुरूप ही सम्बोधन अनिवार्य है। देहाभिमान में आबद्ध प्राणी अपवित्रता से रहित तभी हो सकता है जब वह अपनी सांस्कृतिक मर्यादा एवं सामाजिक व्यवस्था के अनुरूप स्वीकार किये गये सम्बन्धों के अनुसार ही पारस्परिक सम्बोधन तथा सद्व्यवहार करे।

व्यवहार-शुद्धि के बिना स्वार्थभाव नष्ट नहीं होता। उसका नाश हुए बिना राग-रहित होना सम्भव नहीं है। राग की भूमि में ही समस्त विकारों की उत्पत्ति होती है। इस कारण प्रत्येक भाई-बहन को निर्विकारता से अभिन्न होने के लिए राग-रहित होना अनिवार्य है। विकारयुक्त जीवन न तो अपने लिए उपयोगी है और न अन्य के लिए ही। किसी को भी बेईमान साथी नहीं चाहिए। ईमानदार व्यक्ति की माँग सबको है, अथवा यों कहो कि जो अपनी मांग है वही विश्व की माँग है। सद्व्यवहार अनेकता में एकता और भिन्नता में अभिन्नता की स्थापना करता है। भिन्नता से स्वार्थ-भाव और अभिन्नता से सेवा भाव की वृद्धि होती है। स्वार्थ-भाव रहते हुए किसी का भी विकास सम्भव नहीं है। इस कारण भिन्नता का नाश अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा जब अनेक भेद होने पर भी प्रीति की एकता स्वीकार की जाये। प्रीति की एकता ही वास्तविक एकता है कर्म की भिन्नता प्रीति की एकता में बाधक नहीं है, अपितु प्रीति की एकता कर्म की भिन्नता रहते हुए भी अभिन्नता प्रदान करने में समर्थ है। भिन्नता की भूमि में ही कामनाओं की उत्पत्ति होती है, जो विनाश का मूल है। इस कारण भिन्नता को अभिन्नता में विलीन करना अनिवार्य है। अत: प्रत्येक भाई बहन को पारिवारिक भावना के अनुरूप ही पारस्परिक सम्बोधन तथा सद्भाव रखना अनिवार्य है, जो विकास का मूल है।

सातवां नियम

निकटवर्ती जन-समाज की यथाशक्ति क्रियात्मक रूप से सेवा करना।

यह सभी को विदित है कि वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता के रूप में जिस किसी भाई-बहन को जो कुछ मिला है, वह व्यक्तिगत नहीं है, अपितु समष्टि शक्तियों से ही निर्मित है। यह नियम है कि मिले हुए के सदुपयोग में ही प्राणी का विकास निहित है। अत: प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता द्वारा निकटवर्ती जन-समाज की यथाशक्ति सेवा करना अनिवार्य है। सेवा-भाव से की हुई प्रत्येक प्रवृत्ति अल्प हो अथवा विशेष, समान अर्थ रखती है। सेवा का फल चित्त की शुद्धि है किसी परिस्थिति विशेष की प्राप्ति नहीं। प्राप्त का सदुपयोग आवश्यक वस्तु सामर्थ्य एवं योग्यता की प्राप्ति में भी हेतु है। पर यह सेवा का गौण फल है मुख्य नहीं। सेवा का आरम्भ दु:खियों को देख करुणित और सुखियों को देख प्रसन्नता ही वास्तविक सेवा का स्वरूप है। करुणा सुख-भोग को खा लेती है और प्रसन्नता काम रहित कर देती है। सुख-भोग की रुचि का नाश होते ही मिली हुई वस्तु, सामर्थ्य एवं योग्यता का सदुपयोग समीपस्थ प्राणियों के हित में स्वत: होने लगता है, जिसके होते ही परस्पर एकता का संचार और भिन्नता का नाश अपने आप होता है। भिन्नता के नाश में ही सुन्दर समाज का निर्माण निहित है और श्रम-रहित होते ही देहाभिमान गल जाता है, जो अपने कल्याण में हेतु है। इस दृष्टि से सेवा में ही सुन्दर समाज का निर्माण एवं व्यक्ति का कल्याण है।

सुख-भोग की रुचि का नाश हुए बिना नित्य-योग की प्रप्ति सम्भव नहीं है। किसी अभ्यास विशेष से अल्पकाल के लिए शान्त हो जाना एक अवस्था विशेष है, नित्य-योग नहीं। नित्य योग साधक को नित्य-जीवन से अभिन्न करता है, जो सभी को अभीष्ट है। इस कारण सुख-भोग की रुचि का अन्त करना अनिवार्य है, जो एकमात्र करुणित होने से ही सम्भव है। ममता-युक्त करुणा तो पशु, पक्षी आदि में भी होती है, किन्तु उससे चित्त शुद्ध नहीं होता। चित्त की शुद्धि तभी होती है, जब ममता-रहित करुणा हो।

भौतिकवादी की दृष्टि से समस्त विश्व एक है। अध्यात्मवादी की दृष्टि से वह अपनी ही एक अवस्था

विशेष है और आस्तिकवादी की दृष्टि से अनन्त की अनुपम लीला है। इस कारण सभी अपने हैं, कोई पराया नहीं है। इस सद्भाव के बिना सेवा-भाव की जागृति सम्भव नहीं है। यह सभी को विदित है कि भाव असीम और कर्म सीमित होता है। परन्तु असीम भाव से सीमित कर्म में पवित्रता आती है और उससे कर्ता निष्काम हो जाता है। निष्कामता की अभिव्यक्ति होते ही भोग स्वत: योग में विलीन हो जाता है, अत: समीपस्थ प्राणियों की सेवा भोगी को योगी बना देती है। योग कल्पतरू के समान है। दु:खियों की दु:ख-निवृत्ति योग में ही निहित है। इतना ही नहीं, समस्त विकास की भूमि चिर-विश्राम ही है, जो योग से साध्य है। निज विवेक के आदर में ही पवित्र भाव की अभिव्यक्ति होती है। पवित्र भाव से भावित कर्म द्वारा कर्ता काम-रहित होता है। काम-रहित होते ही सर्वतोमुखी विकास स्वत: होता है। कारण प्राप्त विवेक का आदर करना मानव-मात्र के लिए अत्यन्त आवश्यक है। निजविवेक के अनादर से ही स्वार्थ-भाव की उत्पत्ति होती है, जो सुख-भोग की रुचि, प्रवृत्ति और आशा में प्राणी को आबद्ध करता है और जो विनाश का मूल है।

सेवा-भाव की अभिव्यक्ति होने पर ही स्वार्थ-भाव का सर्वाश में नाश होता है। इस दृष्टि से प्रत्येक वर्तमान कर्तव्यकर्म सेवा-भाव से प्रभावित होकर ही करना है। वर्तमान कर्तव्य-कर्म आस्तिक की पूजा, अध्यात्मवादी का साधन और भौतिकवादी का स्वधर्म है। पूजा की पूर्णता पुजारी को प्रेम से अभिन्न करती है और साधन असाधन को खाकर साधक को साध्य से अभिन्न करता है। स्वधर्म राग-द्वेष-रहित कर कर्ता को चिर-शांति प्रदान करने में हेतु है। प्रत्येक दृष्टिकोण से की हुई सेवा विकास का मूल है। दार्शनिक भेद होने पर वास्तविकता में कोई भेद नहीं होता कारण कि दर्शन अनेक और जीवन एक है।

सेवक की प्रत्येक प्रवृत्ति निर्मोहता, निर्लोभता और निष्कामता से युक्त होती है। उसके जीवन में कोई और तथा गैर नहीं है। सभी अपने हैं और अपने होने से स्वभाव से ही प्रिय हैं। प्रियता निष्कामता के बिना विभु नहीं होती। सीमित प्रियता आसक्तियों की जननी है और असीम प्रियता में ही प्रेम का प्रादुर्भाव होता है, जो वास्तविक जीवन है। इस कारण

निकटवतों प्राणियों की सेवा करना अनिवार्य है।

यह सभी को विदित है प्रत्येक परिस्थिति सुख-दुःख-युक्त है। सुख का सदुपयोग दुःखियों की सेवा में ही है। इस कारण प्राप्त सुख दुःखियों की धरोहर है। उसे लक्ष्य पर दृष्टि रखते हुए, आदरपूर्वक, पवित्र भाव से दुःखियों को भेंट करना है। तभी मानव सुख की दासता से रहित हो सकता है, जिसके होते ही दुःख का भय स्वत: नष्ट हो जाता है। सेवा सुखी एवं दुःखी में एकता और स्वार्थभाव भिन्नता उत्पन्न करता है। एकता में शान्ति की स्थापना होती है और भिन्नता से संघर्ष का जन्म होता है। शान्ति सामर्थ्य की जननी और संघर्ष विनाश का मूल है। अत: प्रत्येक कर्म सेवा-भाव से ही करना है। यदि किसी कारण सेवा नहीं कर सकते तो त्याग अनिवार्य है। त्याग से सेवा की सामर्थ्य आती है और सेवा से त्याग परिपक्व होता है। सेवा और त्याग में ही कर्तव्य की पूर्णता है। सेवा के अन्त में त्याग और त्याग की पूर्णता में सेवा स्वतः होने लगती है।

सेवा-भाव असीम और क्रिया ससीम होती है। असीम भाव से ससीम क्रिया में पवित्रता आती है और पवित्र क्रिया से असीम भाव सजीव होता है। सेवा करने के लिए सभी अपने हैं और अपने लिए केवल वे ही अपने हैं जो सभी के प्रकाशक तथा आश्रय हैं। जो सर्व का प्रकाशक है, वह सभी का परम सुहृद् है। उसी के नाते सेवा करना है। सेवा का क्रियात्मक रूप भले ही ससीम हो, पर भाव असीम होना चाहिए। ससीम भाव से की हुई सेवा परस्पर व्यक्तियों, वर्गों और देशों में संघर्ष उत्पन्न करती है। सेवा की पूर्णतया प्रेम के प्रादुर्भाव में है, संघर्ष में नहीं। अत: प्रत्येक सेवा-कार्य के मूल में भाव असीम होना अनिवार्य है। किसी ह्रास में किसी का विकास करने की भावना सेवा नहीं है, अपितु स्वार्थ-भाव है। सेवा वही कर सकता है जिसने सर्व-हितकारी सद्भावना को अपनाया है। सभी के हित में रति होने पर ही सेवा-भाव सजीव होता है। अत: सेवा-भाव से प्रभावित होकर ही निकटवर्ती जन-समाज की क्रियात्मक रूप से सेवा करते हुए प्रत्येक भाई-बहन अपना कल्याण तथा सुन्दर समाज का निर्माण कर सकता है, यह निर्विवाद सिद्ध है।

आठवां नियम

शारीरिक हित की दृष्टि से आहार-विहार में संयम तथा दैनिक कार्यों में स्वावलम्बन।

मानव-जीवन बड़े ही महत्व की वस्तु है, कारण कि इसी जीवन में प्राणी साधन-परायण होकर वास्तविक जीवन अर्थात चरम लक्ष्य से अभिन्न होकर कृतकृत्य हो सकता है। अत: मानव मात्र पर यह दायित्व है कि मिली हुई वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता का सद्व्यय करे। वह तभी सम्भव होगा जब वह शारीरिक हित की दृष्टि से आहार-विहार में संयम तथा दैनिक कार्यों में यथाशक्ति स्वावलम्बन को अपनाये। परन्तु सुख-लोलुपता के कारण मानव शारीरिक हित की दृष्टि को त्याग सुख-भोग में प्रवृत होता है। उसका बड़ा ही भयंकर परिणाम यह होता है कि बेचारा प्राणी देहाभिमान में आबद्ध हो जाता है और उसे भोग का परिणाम रोग, शोक आदि भोगना पड़ता है। अत: मानव-जीवन की सार्थकता सुख के प्रलोभन को त्याग हित में रत होने में है। अहितकर चेष्टाओं में प्रवृत्त होना जीवन का अनादर है, प्राकृतिक नियम का विरोध है और अनन्त के मंगलमय विधान का उल्लंघन है, जो सर्वनाश का मूल है। यह सभी को विदित है कि पशु-जीवन में प्राकृतिक नियम का यथेष्ट पालन है, परन्तु मानव मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग कर हितकर प्रवृत्तियों से विमुख तथा सुखकर विलास में आबद्ध हो अपने को दीन-हीन बना लेता है और साधनयुक्त जीवन से वंचित हो जाता है। इस कारण सुख-बुद्धि को त्याग, हित-बुद्धि को अपनाना प्रत्येक भाई-बहन के लिए परम आवश्यक है।

आहार का उपयोग प्राण अर्थात् जीवनी-शक्ति बनाये रखने में और विहार का सम्बन्ध मानसिक सन्तुलन को सुरक्षित रखने में है। अत: आहार वही उपयोगी है जिससे जीवनी-शक्ति का पोषण हो और विहार वही हितकर है जिससे विद्यमान राग की निवृत्ति हो। वह आहार जो सुखकर है, पर हितकर नहीं और वह विहार, जिससे नवीन राग की उत्पत्ति हो सर्वथा त्याज्य है। यह सभी को मान्य है कि प्राण-शक्ति क्षीण होने पर प्राणी असमर्थता में आबद्ध होता है, जिससे वर्तमान कर्तव्य-कर्म पूरा नहीं होता,

जिसके बिना हुए जीवन जगत् के लिए उपयोगी नहीं होता। अत: जीवनी-शक्ति को सुरक्षित रखने के लिए हितकर आहार अनिवार्य है।

आहार बहुधा तीन प्रकार के होते है - हितकर, रुचिकर तथा सुखकर। हितकर आहार वही है जो स्वभाव से सात्विक और सुपच हो तथा जिसकी प्राप्ति किसी के अहित से न हो अर्थात् जिसका उत्पादन हिंसात्मक न हो। खाद्य पदार्थों में कुछ वस्तुएँ ऐसी हो सकती हैं जो स्थूल शरीर के लिए तो उपयोग हो, किन्तु सूक्ष्म शरीर के लिए हानिकारक हो। भोजन-विज्ञान की दृष्टि से आहार का निर्णय करते समय इस बात का ध्यान रहे कि स्थूल शरीर के पोषण के लिए प्रमादवश सूक्ष्म शरीर का अहित न हो जाये, कारण कि शरीर का नाश होने पर भी सूक्ष्म शरीर शेष रहता है। ही नहीं, स्थूल शरीर के रहते हुए ही सूक्ष्म शरीर को रखना अनिवार्य है, कारण कि सूक्ष्म शरीर के अशुद्ध होते वर्तमान विकास में बाधा होती है और भावी विकास भी होता है। अत: आहार का सम्बन्ध केवल शरीर के अंगों को को भी स्वस्थ रखना है। वह तभी सम्भव होगा जब उस आहार का, जो सूक्ष्म शरीर के लिए हितकर नहीं है, त्याग कर दिया जाये। क्षोभ, क्रोध, असहनशीलता आदि दोषों का सम्बन्ध सूक्ष्म शरीर के अस्वस्थ होने से ही है अत: आहार वही उपयोगी है जिससे स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों शरीरों का हित हो। साधारणतया इस रहस्य पर दृष्टि नहीं रहती, जो वास्तव में प्रमाद है।

रुचिकर और सुखकर भोजन में केवल इतना अन्तर है कि रुचि षडरसों में-से किसी रस विशेष की होती है और सुखकर भोजन में वस्तु विशेष का आग्रह होता है। रुचिकर आहार शरीर की माँग है और सुखकर आहार स्वाद की आसक्ति है। यद्यपि स्वाद भी आहार का एक अंग है, उससे शरीर में भोजन पचाने के रसों की निष्पत्ति होती है, किन्तु स्वाद की आसक्ति के कारण वस्तु विशेष का आग्रह हो जाता है, रस विशेष का नहीं। इस भूल से अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। हितकर और रुचिकर भोजन सदैव करना है। विद्यमान राग की निवृत्ति की दृष्टि से औषधि के समान कभी-कभी सुखकर भोजन भले ही कर लिया जाये, किन्तु उसमें कोई ऐसी वस्तु न हो जो सूक्ष्म शरीर के लिए अहितकर हो। स्वाद अभ्यास

से बनता है, स्वभाव से नहीं होता। स्वभाव से रस में स्वाद है, वस्तु में नहीं। तीव्र तथा उत्तेजक रसों का अधिक मात्रा में सेवन करने से रसना की शक्ति क्षीण हो जाती है, जिसके होने से स्वाभाविक स्वाद ग्रहण करने की शक्ति नहीं रहती। इस कारण सात्विक वस्तुओं में रुचि नहीं रहती और राजस तथा तामस वस्तुएँ रुचिकर प्रतीत होती है। इस बनावटी रुचि का नाश करने के लिए वस्तुओं के आग्रह को त्याग रस का आग्रह रखना चाहिए। शरीर को सभी रसों की माँग होती है। अतः जिस वस्तु में स्वभाव से जो रस विद्यमान है, उसे उसी रूप में सेवन करने से सात्विक आहार में रुचि हो जाती है और राजस अथवा तामस आहार रुचिकर नहीं रहता। सात्विक आहार करने से आहार में आसक्ति नहीं होती। पर राजस तथा तामस आहार से रज और तम की वृद्धि होती है, जो ह्रास का मूल है।

भोजन वास्तव में यज्ञ है, उपभोग नहीं। इस दृष्टि से भोजन में उन्हीं वस्तुओं को लेना चाहिए जिनसे प्राण-देवता की सके। यज्ञ में उन्हीं वस्तुओं का उपयोग होता है, अर्थात् आहुति दी जाती है, जो हितकर हों और हित उन्हीं वस्तुओं से होता है जो स्वभाव से सात्विक हों।

भोजन कब और कैसे करना चाहिए, इनकी जानकारी भी आवश्यक है। स्वास्थ्य की दृष्टि से दिन के दूसरे पहर में और रात्रि के प्रथम पहर में ही भोजन कर लेना चाहिए। भोजन शान्ति तथा प्रसन्नचित्त से चबा-चबा कर करना चाहिये, जिससे राल (Saliva) पर्याप्त मात्रा में मिल जाए। इस सम्बन्ध में किसी-किसी ने तो यहाँ तक कह दिया है कि भोज्य पदाथों को पिओ और पेय पदाथों को खाओ, अथति भोज्य पदाथों को इतना चबाओ कि वह तरल बन जायें। भोजन की मात्रा न तो अधिक हो, न कम। भोजन उतनी ही मात्रा में करना चाहिए जिससे पेट का भान न हो। पेट का भान न्यून या अधिक आहार करने पर ही होता है। ये दोनों ही स्थितियाँ अप्राकृतिक हैं। कुछ-न-कुछ शारीरिक श्रम बिना किये भोजन करना अहितकर है। अतएव कुछ श्रम करने के पश्चात् ही भोजन करना चाहिए। भोजन की उत्पत्ति तथा उसके पचाने का सम्बन्ध सूर्य से है। इसी कारण दिन के दूसरे पहर के भीतर

और रात्रि के प्रथम पहर में भोजन करना हित कर होता है। भोजन उन्हीं लोगों का बनाया हुआ स्वास्थ्यकर होता है जिनसे कर्म, विचार तथा स्नेह की एकता हो। भोजन करते समय इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि अपने समीप कोई ऐसा प्राणी तो नहीं है जिसने भोजन न किया हो। जहाँ तक हो सके बाँटकर ही भोजन करना चाहिये। भोजन बनाते तथा बनवाते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि बनाये हुए भोजन में से दूसरों को भी देना है। केवल अपने लिए ही भोजन बनाना अथवा बनवाना उचित नहीं हैं, क्योंकि प्रत्येक प्राणी ने उस अवस्था में भी भोजन किया है जब कि वह स्वयं नहीं बना सकता था। इस निर्विवाद सत्य का सदैव आदर करना चाहिए। स्मरण रहे कि हमें जो कुछ मिला वह किसी की देन है। अतएव देने के योग्य होने पर देकर भोजन करना चाहिए।

विहार मन, इन्द्रिय आदि का भोजन है। इस सम्बन्ध में भी यथेष्ट ध्यान रखना अनिवार्य है। मन, इन्द्रिय आदि में उत्पन्न हुए वेग को दबाना अथवा अमर्यादित ढंग से पूरा करना अहितकर है। जो वेग उत्पन्न हो उसको नियमानुकूल, साधन-बुद्धि से पूरा करना चाहिए। वेग छिपे हुए राग का परिणाम है। जिस राग को विवेकपूर्वक नहीं मिटा पाते, उसकी वास्वतिकता का अनुभव करने के लिए नियमित एवं मर्यादित प्रवृत्ति अनिवार्य है। प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में मन, इन्द्रिय आदि के शान्त तथा स्थिर होने पर ही आवश्यक शक्ति का विकास होता है, जो उन्नति का मूल है।

छींक, प्यास, भूख, निद्रा एवं मल-मूत्र आदि शारीरिक वेगों का यथासमय तुरन्त निवारण करना ही स्वास्थ्यकर है।काम-वेग के सम्बन्ध की बात पर भी विचार करना आवश्यक है। मनोविज्ञान की दृष्टि से काम का वेग शरीर के अन्य सभी वेगों से बलवान तथा प्रधान है। जब तक सर्व इन्द्रियों का ब्रह्मचर्य सिद्ध नहीं हो जाता, तब तक काम पर विजयी होना सम्भव नहीं। शरीर की सत्यता तथा सुन्दरता एवं इन्द्रियजन्य ज्ञानका सद्भाव जब तक है, काम का अन्त नहीं हो पाता। अत: काम पर विजयी होने के लिए शरीर की वास्तविकता का यथेष्ट ज्ञान तथा अपने अभीष्ट में अत्यन्त प्रियता का जाग्रत होना अनिवार्य है, कारण कि लक्ष्य की

प्रियता का रस सभी इच्छाओं को खाकर तीव्र लालसा उत्पन्न करता है। अत: यह काम का अन्त करने में समर्थ है। किसी आस्तिक का कथन है कि राम की लालसा काम को खाकर राम से अभिन्न कर देती है। इस के अतिरिक्त जहाँ तक हो सके व्यक्तिगत दैनिक कार्य अपने आप कर लेना चाहिए। किसी अन्य की सहायता उस समय तक न ली जाए जब तक कोई विवशता न आ जाए, कारण कि स्वयं अपना काम अपने-आप न करने से श्रम के महत्व का अनादर होता है, जिससे प्राणी आलसी, विलासी और संग्रही बन जाता है। इससे सिक्के का महत्व बढ़ता है, जो प्राणी में संग्रह की भावना उत्पन्न करता है। इससे प्राणी में तो मिथ्याभिमान आ जाता है और समाज में दरिद्रता की वृद्धि होती है। अत: स्वावलम्बन को अपनाकर समाज में श्रम दरिद्रता का नाश होना सम्भव है तथा अपने को आलस्य, अभिमान एवं विलासिता से मुक्त कर वास्तविक जीवन का अधिकारी बना लेना है। अत: प्रत्येक भाई-बहन को शारीरिक हित की दृष्टि से आहार-विहार में संयम तथा दैनिक कार्यों में स्वावलम्बी होना परम आवश्यक हे।

नवां नियम

शरीर श्रमी, मन संयमी, बुद्धि विवेकवती, हृदय अनुरागी तथा अहं को अभिमान-शून्य करके अपने को सुन्दर बनाना।

अपने को सुन्दर बनाने के लिए उपर्युक्त नियम का अक्षरश: पालन करना अनिवार्य है। शरीर श्रमी, अर्थात् आलस्य और अकर्मण्यता का अन्त कर वर्तमान कर्तव्य-कर्म को अधिकार-लालसा से रहित, लक्ष्य पर दृष्टि रखते हुए पवित्र भाव से पूरा करना प्रत्येक भाई-बहन के लिए अत्यन्त आवश्यक है। वर्तमान कार्य को जमा रखने से न तो भूतकाल की भूलों के चिन्तन का ही नाश होता है और न भविष्य ही उज्ज्वल बनता है। इस कारण वर्तमान कर्तव्य-कर्म बड़े ही महत्व की वस्तु है। आवश्यक एवं यथेष्ट श्रम के बिना वास्तविक विश्राम के साम्राज्य में प्रवेश ही नहीं होता।

आलस्य और विश्राम में मिथ्याचार में आबद्ध रहता है, ऊपर से अकर्मण्य रहने पर भी व्यर्थ-चिन्तन द्वारा मानसिक शक्ति का ह्रास करता रहता है, जो अनर्थ का मूल है। इस दृष्टि से मानव-जीवन में आलस्य तथा अकर्मण्यता का कोई स्थान ही नहीं है, अपितु नित-नव उत्साहपूर्वक वर्तमान कर्तव्य-कर्म करना अनिवार्य है, जो विकास का मूल है। इतना ही नहीं, कर्तव्यनिष्ठ हुए बिना समय का आदर नहीं हो पाता। समय के अनादर में जीवन का घोर अनादर है। समय लगा कर वस्तुएँ प्राप्त हो सकती हैं, किन्तु किसी भी वस्तु के बदले में बीता हुआ समय हाथ नहीं आ सकता। इस दृष्टि से समय बड़ा मूल्यवान है। अत: समय का आदर करने के लिए श्रमी होना अनिवार्य है। श्रम का वास्तविक अर्थ यह नहीं है कि सामर्थ्य-विरोधी कार्य करने का प्रयास करें, अपितु श्रम द्वारा प्राप्त सामर्थ्य का सद्व्यय होता है और जो कार्य कर सकते हैं वह पूरा हो जाता है। जो नहीं कर सकते हैं उसकी उत्पत्ति ही नहीं होती, जिसके न होने से मन में संयम अपने आप आने लगता है। यह सभी को विदित है कि आवश्यक कार्य की पूर्ति तथा अनावश्यक कार्य की निवृत्ति के बिना मानसिक शान्ति सुरक्षित नहीं रहती, जो ह्रास का मूल है। अनावश्यक और अशुद्ध संकल्पों का त्याग अर्थात् विवेक तथा सामर्थ्य विरोधी संकल्पों का नाश करना अनिवार्य है, जिसके करते ही आवश्यक तथा शुद्ध संकल्प स्वत: पूरे होने लगते हैं, यह प्राकृतिक नियम है। परन्तु संकल्प-पूर्ति के सुख का भोग करने से संयम सिद्ध नहीं होता, कारण कि संकल्प-पूर्ति के सुख का भोग नवीन संकल्पों की उत्पत्ति में हेतु है। यह सभी भाई-बहनों का अनुभव है कि सभी संकल्प किसी के भी पूरे नहीं होते और कुछ संकल्प सभी के पूरे होते है। संकल्प-पूर्ति के सुख का भोग नवीन संकल्प को जन्म देता है। अत: अशुद्ध संकल्पों की पूर्ति का तो मानव के जीवन में कोई स्थान ही भोग भी नहीं करना है, अर्थात् संकल्प-पूर्ति ही जीवन का उद्देश्य है, इस प्रमाद का नाश करना अनिवार्य है। तब अपने आप प्रत्येक संकल्प-पूर्ति के अन्त में संकल्प-निवृत्ति आती है, जिसके आते ही साधक शान्ति के साम्राज्य में प्रवेश पाता है। यद्यपि संकल्प-पूर्ति के सुख की अपेक्षा संकल्प-निवृति की की शान्ति में रमण

करने से भी संयम सिद्ध नहीं होता। अत: न तो संकल्प-आपूर्ति के दु:ख में भयभीत होना है और न संकल्प पूर्ति के सुख का भोग तथा संकल्प-निवृत्ति की शान्ति रमण करना है, अपितु दु:ख-सुख तथा शान्ति से असंग होने में संयम की पूर्णता है।

शारीरिक श्रम द्वारा आवश्यक कार्य की पूर्ति और अनावश्यक कार्य की निवृत्ति होने पर मन का संयम आरम्भ होता है। प्राकृतिक नियमानुसार एक साधन की पूर्णता में दूसरे साधन का आरम्भ निहित है। अत: शरीर के श्रमी होने पर मन में संयम का आरम्भ होता है, जिसके होते ही मन निर्विकल्प हो जाता है। मन की निर्विकल्पता सिद्ध होते ही बुद्धि सम होती है, कारण की संकल्प की उत्पत्ति होने पर ही बुद्धि विवेचन करती है। मन की निर्विकल्पता से ही बुद्धि में समता आती है, जो वास्तव में योग है। योग कल्पतरू के सामान है। उससे जिज्ञासुओं को विचार प्रेमियों को प्रेम और भौतिकवादियों को आवश्यक सामर्थ्य मिलती है। मन के संयमी होने पर बुद्धि स्वत: विवेकवती हो जाती है, जिसके होते ही देह-देही-विभाजन अपने-आप हो जाता है और फिर निवासना आ जाती है, जिसके आते ही निर्वैरता, निर्भयता, समता, मुदिता आदि दिव्य गुणों की अभिव्यक्ति स्वत: होती है। इतना ही नहीं, विवेकवती बुद्धि होते ही प्रत्येक भानव को अपने कर्तव्य और दूसरों के अधिकार का स्पष्ट बोध हो जाता है, जो विकास का मूल है।

वासनाओं के नाश में ही निर्मोहता निहित है और देह-देही-विभाजन होते ही पराधीनता तथा जड़ता का अभाव हो जाता है, अथति स्वाधीनता तथा चिन्मय जीवन से अभिन्नता होती है। इस कारण विवेकवती बुद्धि से ही स्वाधीनता प्राप्त होती है, किन्तु स्वाधीनता में भी सन्तुष्ट नहीं होना है, तभी हृदय में अनुराग की अभिव्यक्ति होती है। अनुरागी हृदय में ही सेवा-भाव सजीव होता है। दु:खियों को देख करुणित तथा सुखियों को देख प्रसन्न होना अनुरागी हृदय का स्वभाव ही है। इतना ही नहीं, अनुराग के बिना भक्ति-रस की अभिव्यक्ति किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। यह सभी को मान्य है कि निष्कामता के बिना परम शान्ति और विवेकपूर्ण असंगता के बिना स्वाधीनता तथा

चिन्मय जीवन से अभिन्नता और अनुराग के बिना नित-नव रस की अभिव्यक्ति अर्थात् अगाध प्रियता की जागृति सम्भव नहीं है, जो वास्तविक जीवन है। वर्तमान कर्तव्य-कर्म की पूर्णता में ही सुन्दर समाज का निर्माण तथा संयम का आरम्भ है। संयम की पूर्णता में ही आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति तथा निज-विवेक का आदर निहित है। विवेक युक्त होते ही समता के साम्राज्य में प्रवेश होता है, जिस से साधक बड़ी ही सुगमता पूर्वक जड़ता से रहित हो जाता है। जड़ता के नाश में ही चिन्मय जीवन से अभिन्नता निहित है। इस दृष्टि से समता बड़े ही महत्व की वस्तु है, परन्तु समता से उदित स्वाधीनता में भी सन्तुष्ट नहीं होता है, तभी अहम् रूपी अणु का नाश होता है, जिसके होते ही निरभिमानता तथा अपरिच्छिन्नता का प्रादुर्भाव होता है, जो विकास की पराकाष्ठा है।

कर्तव्यपरायणता से विद्यमान राग का नाश होता है और संयम में नवीन राग उत्पन्न नहीं होता। विवेकयुत् होते ही उत्पत्ति नहीं होती और गुणों का भोग नहीं होता। राग-रहित भूमि में ही योगरूपी वृक्ष उगता है और उस पर ही तत्व ज्ञान रूपी फल लगता है, जो प्रेम रूपी रस से परिपूर्ण है। बस, यही मानव-जीवन की पूर्णता है। अत: आलस्य का अन्त करने के करने के लिए विवेकयुत्, राग-द्वेष से रहित होने के लिए अनुरागी और परिच्छिन्नता का नाशकर प्रत्येक भाई-बहिन को अभिमानशून्य होना अनिवार्य है। शरीर, मन, बुद्धि, हृदय तथा अहम् सभी मानव-मात्र को प्राप्त हैं। अत: जो प्राप्त है उसको सर्वांग सुन्दर बनाने का दायित्व मानव मात्र पर है। इस कारण उपर्युक्त नियम का पालन कर अपने को सुन्दर बनाना अनिवार्य है।

दसवां नियम

सिक्के से वस्तु, वस्तु से व्यक्ति, व्यक्ति से विवेक तथा विवेक से सत्य को अधिक महत्त्व देना।

गम्भीरतापूर्वक यथेष्ट विचार करने पर यह प्रत्येक भाई तथा बहन को विदित होगा कि सिक्के का आविष्कार वस्तुओं और श्रम के परस्पर आदान-प्रदान में माध्यम मात्र के लिए है। सिवचके की जीवन में कोई आवश्यकता नहीं है। हाँ, यह अवश्य है कि जिन धातुओं से सिक्का निर्मित हुआ है, वे धातु भले ही उपयोगी सिद्ध हाँ, सिक्का तो कवल राष्ट्र का प्रतीकात्मक चिन्ह मात्र है। उसके द्वारा व्यवहार में सुविधा होती है। परन्तु सिक्के का संग्रह तो बहुत ही दुःखद सिद्ध हुआ है। आलस्य, अकर्मण्यता तथा अभिमान के पोषण में सिक्के का बहुत बड़ा हाथ है। यद्यपि सभी दोषों की उत्पत्ति अविवेक-सिद्ध है, किन्तु उनका पोषण करने में सिक्के का मुख्य स्थान है। आज सिक्के के बल पर साधारण व्यक्ति बड़े-बड़े विज्ञानवेत्ताओं तथा कलाकारों को खरीद लेता है, अर्थात् शारीरिक तथा बौद्धिक श्रम सिक्के के अधीन हो गया है, जिसका बड़ा भयंकर परिणाम हुआ है, जो सभी विचारशीलों को विदित है।

जीवन में आवश्यकता वस्तुओं की है, जिनकी उत्पत्ति एक मात्र प्राकृतिक पदार्थ तथा शारीरिक एवं बौद्धिक श्रम में ही निहित है। उत्पादित वस्तुओं का संग्रह उस सीमा तक सुविधापूर्वक सम्भव नहीं है, जिस सीमा तक सिक्के का संग्रह कर लिया जाता है। संग्रह की रुचि आलस्य को जन्म देती है। आलस्य की वृद्धि होने पर आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन में विघ्न होता है। सिक्के का संग्रह आलसी व्यक्तियों को दैनिक आवश्यकताओं को पूरा करने में पूरा-पूरा सहयोग देता है, जिससे वे बेचारे उत्तरोत्तर अकर्मण्यता की ओर अग्रसर होते रहते हैं, जो विनाश का मूल है। इतना ही नहीं, सिक्का उन बेचारों को अभिमानी बना देता है, जिससे वे अपने ही द्वारा अपना सर्वनाश कर बैठते हैं।

मानव सेवा संघ की नीति में वस्तुओं का उत्पादन सिक्के के संग्रह के लिए करना भूल है। इस भूल का अन्त करना अनिवार्य है। यह तभी सम्भव होगा जब सिक्के से वस्तुओं को अधिक महत्व दिया जाये। वस्तुएँ प्राणी-मात्र के लिए उपयोगी हैं। उनका उत्पादन तथा संग्रह प्राणियों की सेवा के लिए करना अत्यन्त आवश्यक है। इसी कारण वस्तुओं से व्यक्तियों को अधिक महत्व देना नितान्त आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति

समाज का अविभाज्य अंग है। पर व्यक्तियों में उन व्यक्तियों को अधिक महत्व दिया जाये जिन्होंने प्राप्त विवेक का आदर कर अविवेक का अन्त कर दिया है, अर्थात् जो विवेकयुत् हैं। विवेकयुत् होने पर ही अपने कर्तव्य और दूसरों के अधिकार का बोध होता है। यह सभी को मान्य होगा कि जिन्होंने अपने अधिकार को त्याग कर दूसरों के अधिकार की रक्षा की है, वे ही विवेकीजन परस्पर एकता सुरक्षित रखने में समर्थ हुए हैं और उन्हीं के द्वारा शान्ति की स्थापना तथा संघर्ष का नाश हुआ है। इसी कारण व्यक्ति से विवेक को अधिक महत्व देना परम आवश्यक है। विवेकयुत् होने पर ही व्यक्ति लोकमान्य हो सकता है। इतना ही नहीं, विवेक का आदर करने पर ही निष्कामता, निर्मोहता आदि दिव्य गुणों की अभिव्यक्ति होती है, अर्थात् जाने हुए असत् के त्याग में विवेक ही हेतु है। इस दृष्टि से विवेक साधन और सत्य साध्य है। इस कारण विवेक से सत्य को अधिक महत्व देना है।

उपर्युक्त नियम का पालन करने पर अपना कल्याण तथा सुन्दर समाज का निर्माण बड़ी ही सुगतमापूर्वक हो सकता है। यह निर्विवाद सिद्ध है कि सुन्दर समाज के निर्माण में परस्पर एकता का सुरक्षित रहना अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा जब सिक्के से वस्तु को अधिक महत्व दिया जाये। वस्तुओं के उत्पादन में शारीरिक तथा बौद्धिक श्रम का मुख्य स्थान है। अत: श्रमी होने के लिए सिक्के का महत्व घटाना और वस्तुओं सद्व्यय किये बिना प्राणियों की यथोचित सेवा सम्भव नहीं है। अतः वस्तुओं से व्यक्तियों को अधिक महत्व देना परम आवश्यक हे।

यदि व्यक्तियों से विवेक को अधिक महत्व न दिया गया तो कर्तव्यपरायणता तथा दूरदर्शिता न रहेगी, जो विनाश का मूल है। इस कारण यह अनिवार्य है कि एक विवेकयुत् पुरुष का मूल्य अनेक व्यक्तियों से कहीं अधिक है। बहुसंख्या मात्र को महत्व देना और विवेकीजन का अनादर करना, अनर्थ में हेतु है। अतः व्यक्तियों की अपेक्षा विवेक को अधिक महत्व देना अनिवार्य है। यद्यपि प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक भाई-बहन को विवेकरूपी प्रकाश प्राप्त है, तथापि मोह-वश जब प्राणी विवेक का अनादर करता है, तब वह अपने

कर्तव्य तथा लक्ष्य से विमुख हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि न तो व्यक्ति का कल्याण ही होता है, न सुन्दर समाज का निर्माण ही। इस कारण विवेक का उपयोग एकमात्र सत्य की खोज में है। अत: विवेक से सत्य को अधिक महत्व देना है, अर्थात् सत्य से अभिन्न होने के लिए ही विवेक का उपयोग है। केवल दर्शनिक दृष्टिकोण का आविष्कार करने मात्र के लिए ही विवेक नहीं मिला है। प्राकृतिक नियमानुसार दर्शन अनेक और जीवन एक है। दार्शनिक भेद होने पर परस्पर विवाद से बचने के लिए विवेक से सत्य को अधिक महत्व देना अनिवार्य है। उपर्युक्त नियम का अनुसरण करने पर बड़े ही व्यक्तित्व का कल्याण तथा सुन्दर समाज का निर्माण हो सकता है, यह निर्विवाद सिद्ध है।

ग्यारह्वां नियम

व्यर्थ चिन्तन-त्याग तथा वर्तमान के सदुपयोग द्वारा भविष्य को उज्ज्वल बनाना !

यह सभी को विदित है कि व्यर्थ-चिन्तन से किसी प्रकार का हित नहीं होता, अपितु प्राप्त सामर्थ्य का ह्रास ही होता है। इस कारण उसका अन्त करना अनिवार्य है व्यर्थ-चिन्तन भुक्त-अभुक्त इच्छाओं का परिणाम है और कुछ नहीं। मानव जो कर चुका है अथवा जो करना चाहता है अथवा सुने हुए, देखे तथा किए हुए का जो प्रभाव उसके चित्त में अंकित है, वही व्यर्थ चिन्तन के रूप में प्रकट होता है। परन्तु साधक असावधानी के कारण उस चिन्तन से तादात्मय जोड़ लेता है तथा उसका विरोध एवं समर्थन करने लगता है। उसका परिणाम यह होता है कि वह बेचारा व्यर्थ-चिन्तन में आबद्ध होकर सार्थक-चिन्तन तथा अचिन्तता से विमुख हो जाता है।

यह प्राकृतिक नियम है कि जिसकी प्राप्ति कर्म-सापेक्ष है अथवा जो पर-प्रकाश्य है अथवा जिससे सतत् परिवर्तन हो रहा है तथा जो उत्पत्ति-विनाश-युक्त है, जिससे देश-काल की दूरी है, उसका चिन्तन व्यर्थ-चिन्तन है, कारण कि चिन्तन मात्र से उसकी उपलब्धि नहीं होती। प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता का विवेकपूर्ण

सदुपयोग करने पर ही आवश्यक वस्तु सामर्थ्य तथा योग्यता की उपलब्धि मंगलमय विधान से स्वत: होती है। अत: वस्तु अवस्था, परिस्थिति आदि की प्राप्ति में उनका चिन्तन कुछ अर्थ नहीं रखता, अपितु प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में बाधक ही होता है।

इस दृष्टि से व्यर्थ-चिन्तन सभी के लिए अहितकर ही है। अब यदि कोई यह कहे कि आगे-पीछे का चिन्तन किए बिना वर्तमान कर्तव्य-कर्म की सिद्धि सम्भव नहीं है, तो यह मानना असावधानी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। कर्तव्यनिष्ठ मानव भूतकाल की घटनाओं के अर्थ को अपनाकर वर्तमान कर्म को सुन्दरतापूर्वक एवं सांगोपांग करता है। घटनाओं का अर्थ पथ-प्रदर्शन करता है और उनका चिन्तन तो राग-द्वेष में ही आबद्ध करता है, जो ह्रास का मूल है। भविष्य की आशाओं में आबद्ध होना और लक्ष्य-पूर्ति के लिए वर्तमान कार्य को पूरा न करना भारी भूल है। इस भूल का अन्त किये बिना कभी भी भविष्य उज्ज्वल नहीं हो सकता, कारण कि एकमात्र वर्तमान के सदुपयोग में ही भविष्य की उज्ज्वलता निहित है। वर्तमान की सरसता भविष्य को सुन्दर बनाती है। वर्तमान उन्हीं का सरस होता है। जो प्राप्त परिस्थिति का आदरपूर्वक स्वागत करते हुए सदुपयोग करते हैं और अपने को अनुकूलता की दासता तथा प्रतिकूलता के भय में आबद्ध नहीं रखते, अपितु उदारता तथा त्याग को अपनाकर प्राप्त अनुकूलता तथा प्रतिकूलता का सदुपयोग करते हैं। प्रत्येक परिस्थिति मंगलमय विधान से निर्मित है। उसके सदुपयोग में ही साधक का विकास निहित है। परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि रखना प्रमाद है। इतना ही नहीं, प्रत्येक भाई-बहन को सभी परिस्थितियों से अतीत दिव्य चिन्मय जीवन से अभिन्न होना अनिवार्य है, जो वास्तविक जीवन है। पर यह तभी सम्भव होगा जब मानव सजगतापूर्वक व्यर्थ-चिन्तन का अन्त करने के लिए अथक रूप से प्रयत्नशील रहे, जो विकास का मूल है।

व्यर्थ चिन्तन की प्रतीति अधिकतर तभी होती है जब साधक शान्ति-सम्पादन का प्रयास करता हैं किसी कार्य में लगे रहने पर व्यर्थ-चिन्तन का भास नहीं होता। विश्रामकाल में ही व्यर्थ-चिन्तन का प्रवाह प्रकट होता है, जिसके होते ही

शान्ति भंग हो जाती है और साधक बलपूर्वक उसे मिटाने का प्रयास करता है, किन्तु सफल नहीं हो पाता, कारण कि न चाहने पर जो चिन्तन उत्पन्न हुआ है उसका नाश तभी होगा जब उससे असहयोग कर लिया जाये तथा उससे तादात्म्य तोड़ दिया जाये। असहयोग करते ही उत्पन्न हुआ व्यर्थ-चिन्तन निर्जीव हो जाता है और तादात्म्य मिटते ही उसका समूल नाश हो जाता है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने विश्राम अर्थात् परम शान्ति का महत्व स्वीकार किया है। परम शान्ति सर्वतोमुखी विकास की भूमि है। इस कारण उस का सुरक्षित रखना परम आवश्यक है। पर वह तभी सम्भव होगा जब व्यर्थ-चिन्तन का नाश हो जाये। विश्राम की भूमि में ही आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है और विश्राम में ही विचार का उदय तथा विरह की जागृति होती है। इस दृष्टि से विश्राम का सम्पादन मानव-मात्र के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यह सभी को मान्य है कि प्रत्येक प्रवृत्ति के आदि और अन्त में विश्राम स्वत: सिद्ध है। पर उसमें आस्था, श्रद्धा तथा विश्वास न होने के कारण विश्राम में प्रियता उदित नहीं होती। उसका परिणाम यह होता है कि विश्राम-काल में आगे-पीछे का व्यर्थ-चिन्तन होने लगता है। विश्राम की प्रियता विश्राम से अभिन्न करने में समर्थ है। यह नियम है कि प्रियता जिसमें उदित होती है, वह उसे उससे अभिन्न कर देती है जिस की वह प्रियता है। इस दृष्टि से विश्राम के वास्तविक महत्व को स्वीकार करना मानव-मात्र के लिए परम आवश्यक है। बलपूर्वक किये हुए सार्थक-चिन्तन से व्यर्थ-चिन्तन नष्ट नहीं होता, अपितु व्यर्थ-चिन्तन के त्याग से सार्थक-चिन्तन स्वत: जाग्रत होता है। इस दृष्टि से व्यर्थ-चिन्तन के त्याग में ही पुरूषार्थ की परावधि है। व्यर्थ-चिन्तन के रहते हुए बलपूर्वक किया हुआ सार्थक चिन्तन साधक को मिथ्या अभिमान में ही आबद्ध रखता है, जो ह्रास का मूल है। अतः प्रत्येक भाई-बहन को शीघ्रातिशीघ्र व्यर्थ-चिन्तन का अन्त करना अनिवार्य है।

नीरसता की भूमि में ही व्यर्थ-चिन्तन की उत्पत्ति होती है। नीरसता का नाश करने के लिए वर्तमान को सरस रखना अत्यन्त आवश्यक है। वह तभी सम्भव होगा जब आये हुए सुख-दुःख का सदुपयोग

किया जाय। सुख का सदुपयोग सेवा तथा दुःख का सदुपयोग त्याग है। दुःखियों को देख करुणित और सुखियों को देख हर्षित होना ही सर्वोत्कृष्ट सेवा है। शरीर आदि प्राप्त वस्तुओं की ममता और अप्राप्त वस्तुओं की कामना का अन्त कर अहम् और मम से सर्वाश में रहित होना ही वास्तविक त्याग है। सेवा और त्याग में ही प्रत्येक परिस्थिति का सदुपयोग निहित है। परिस्थितियों के सदुपयोग से ही सभी परिस्थितियों से अतीत दिव्य चिन्मय नित्य-जीवन से अभिन्नता और उत्कृष्ट परिस्थिति की प्राप्ति होती है, किन्तु परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना परिस्थितियों की दासता में आबद्ध होना है, जिसके होते ही वर्तमान नीरस हो जाता है और व्यर्थ-चिन्तन उत्पन्न होता है। इस कारण प्रत्येक परिस्थिति साधन-सामग्री है, जीवन नहीं। साधन-दृष्टि से सभी परिस्थितियाँ समान अर्थ रखती हैं। अत: प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में ही भविष्य की उज्ज्वलता निहित है। पवित्र भाव से लक्ष्य पर दृष्टि रखते हुए वर्तमान कर्तव्य-कर्म को करना अनिवार्य है। भौतिकवादी विश्व के नाते, आध्यात्मवादी आत्मा के नाते एवं आस्तिकवादी प्रभु के नाते प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग कर सकते हैं। यह नियम है कि जिसके नाते कार्य किया जाता है, कर्ता अन्त में उसी की प्रीति हो जाता है। प्रीति की जागृति में ही जीवन की पूर्णता है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने व्यर्थ-चिन्तन को त्याग वर्तमान के सदुपयोग द्वारा भविष्य को उज्ज्वल बनाया है।

मूक-सत्संग तथा नित्य-योग

*व्यक्ति के कल्याण और सुन्दर समाज के निर्माण के उद्देश्य की पूर्ति के लिए **"मूक-सत्संग तथा नित्य-योग"** महत्त्वपूर्ण उच्चतर सोपान है। इस का जो भी विवेचन है, वह अनुमानित नहीं है, प्रत्युत् जिन्होंने स्वाधीनतापूर्वक स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश पाया है, श्रम-रहित जीवन में नित्य-योग की अभिव्यक्ति का दर्शन किया है, उनके अनुभूत सत्य के आधार पर मानव-समाज की असफलता की पीड़ा से करुणाई-हृदय के उद्गार एवं सर्वहितकारी सद्भाव से वह पूरित है।*

मूक-सत्संग तथा नित्य-योग

अहंकृति-रहित होते ही मंगलमय विधान से स्वतः नित्य-योग की अभिव्यक्ति होती है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब साधक निज विवेक के प्रकाश में अपने लक्ष्य के सम्बन्ध में विकल्परहित होता है। अपने ही द्वारा अपने लक्ष्य का निर्णय वास्तविक सर्वप्रथम प्रयास है। इस प्रयास के बिना साधक स्वाधीनतापूर्वक सत्पथ में अग्रसर नहीं हो सकता। जिसकी जो माँग है, उससे वह स्वतः परिचित है, यह प्राकृतिक तथ्य है। इसी आधार पर मानव मात्र मूक-सत्संग के द्वारा नित्य-योग प्राप्त करने में सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है। मूक-सत्संग वास्तविक सत्संग है। विचार-विनिमय आदि का प्रयास वास्तविक सत्संग का सहयोगी अंग है, अर्थात् विचार-विनिमय से मूक-सत्संग की सामर्थ्य आती है। इस कारण मूक-सत्संग के साथ-साथ अपने ही द्वारा अपने सम्बन्ध में विचार-विनिमय अनिवार्य है।

मूक-सत्संग कोई अभ्यास नहीं है, अपितु समस्त साधनों की भूमि है। मूक सत्संग किया नहीं जाता, आवश्यक कार्य के अन्त में स्वत: होता है। जो स्वत: होता है, उसमें अपनी आस्था, श्रद्धा और विश्वास हो, तो बडी ही सुगमतापूर्वक साधन की अभिव्यक्ति तथा असाधन का नाश हो जाता है। किया हुआ साधन साधक के अहभाव को ज्यों-का-त्यों सुरक्षित रखता है, जो भेद तथा भिन्नता का प्रतीक है। अहंकृति ने ही नित्य-प्राप्त से विमुख किया है और साधकों को गुण तथा दोष के अभिमान में आबद्ध कर दिया है। गुणों के अभिमान से दोष पोषित होते हैं। जब साधक अपने में कोई विशेषता नहीं पाता, तब अधीर हो, वास्तविकता के लिए परम व्याकुल होता है। व्याकुलता की अग्नि समस्त दोषों को भस्मीभूत करने में सर्वदा समर्थ है। व्याकुलता की जागृति प्राकृतिक विकास-क्रम है। वही व्याकुलता सहज, स्वाभाविक रूप से साधक को सत्पथ पर अग्रसर करती है। व्याकुलता के बिना कभी किसी का विकास नहीं हुआ। वास्तविकता से निराश न होने पर व्याकुलता स्वत: जाग्रत होती है। व्याकुलता मिटाई नहीं जा सकती, अपितु लक्ष्य से अभिन्न होने

पर स्वत: अगाध प्रियता में परिणत होती है। इस दृष्टि से व्याकुलता सफलता की कुञ्जी है। ज्यों-ज्यों साधक में नित-नव उत्साह तथा उत्कण्ठा सबल होती जाती है, त्यों-त्यों व्याकुलता स्वतः तीव्र होती जाती है। व्याकुलता अहंकृति के नाश में समर्थ है। अहंकृति ने ही साधक को परिच्छिन्नता में आबद्ध किया है। परिच्छिन्नता से ही भेद तथा भिन्नता पोषित होती है। प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक भिन्नता में किसी-न-किसी प्रकार की एकता निहित है, किन्तु अहंकृति उस एकता का अनुभव नहीं होने देती। अहंकृति ने साधक को देहाभिमान में आबद्ध किया है, जो विनाश का मूल है।

देहादि वस्तुओं के आश्रय से ही लक्ष्य की प्राप्ति होगी, यही मूल भूल है। इस भूल के रहते हुए अहंकृति का अन्त सम्भव नहीं है। देहादि वस्तुओं के सदुपयोग का दायित्व है, पर उनके आश्रय से अपना हित होगा, यह धारणा भ्रम-मूलक है। देहादि के रहते हुए ही उनके आश्रय का त्याग सभी साधकों के लिए अनिवार्य है। वस्तुओं के आश्रय से वस्तुएँ सुरक्षित रहेंगी, इस भ्रम का अन्त करना अत्यन्त आवश्यक है। प्राकृतिक नियमानुसार वस्तुओं के सदुपयोग से ही आवश्यक वस्तुओं की प्राप्ति होती है। वस्तुओं के आश्रय से तो लोभ, मोह आदि विकार ही उत्पन्न होंते हैं। वस्तुओं का उपयोग विश्व की सेवा में करना है। क्रियात्मक सेवा, भावात्मक सेवा को सजीव बनाती है। भावात्मक सेवा से ही साधक के जीवन में, विश्व-प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। विश्व-प्रेम की अभिव्यक्ति होने पर साधक बडी ही सुगमतापूर्वक परिवर्तनशील की दासता से रहित हो जाता है, जिसके होते ही अपने ही में अपने प्रेमास्पद को पाकर कृतकृत्य होता है। नित्य-योग के लिए अपने ही में अपने प्रेमास्पद का अनुभव अनिवार्य है, जो एकमात्र मूक-सत्संग से ही साध्य है।

अविनाशी का संग विनाशी की विमुखता में निहित है। अहंकृति-रहित होते ही साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक वस्तु, अवस्था और परिस्थिति से असंग हो जाता है, जिसके होते ही समता के साम्राज्य में प्रवेश पाता है। समता के बिना दीनता तथा अभिमान का नाश सम्भव नहीं है। समता प्रियतम की सेज है, उसी में प्रीति तथा प्रियतम का नित्य विहार है।

विषमता के रहते हुए चिन्मय जीवन से अभित्रता सम्भव नहीं है और चिन्मय जीवन के बिना पराधीनता का अन्त किसी भी प्रकार नहीं हो सकता। इस दृष्टि से विषमता का अन्त करना अनिवार्य है, जो एकमात्र अहंकृति के नाश से ही साध्य हे।

जो प्रत्येक उत्पत्ति का आश्रय तथा प्रतीति का प्रकाशक है, उसमें आस्था होने पर अविनाशी का संग हो जाता है, जिसके होते ही असाधन का नाश तथा साधन की अभिव्यक्ति होती है, जो सर्वतोमुखी विकास का मूल है। जो प्रत्येक उत्पत्ति का आश्रय तथा प्रतीति का प्रकाशक है, वह सर्वदा अनुत्पन्न तत्व ही है। उसका संग ही सत्संग है। अतएव यह निभ्रान्त सिद्ध है कि अनुत्पन्न हुए तत्व का संग मूक-सत्संग से ही साध्य है, किसी श्रमसाध्य प्रयोग से नहीं।

'मूक-सत्संग से भिन्न भी सत्संग है' , यह स्वीकार करना सत् की चर्चा को ही सत् का संग मानना है। यद्यपि सत् की चर्चा सत् के संग का सहयोगी प्रयास है, परन्तु सत् का संग नहीं है। सत् के संग में मानव सदैव स्वाधीन है। सत्संग के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है, इसी कारण वह प्रत्येक मानव के लिए साध्य है। सत् की आस्था से अथवा असत् के ज्ञान से सत् का संग स्वत: होता है। इस रहस्य को वे ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने पराधीनता से पीड़ित होकर वास्तविकता की खोज की है। स्वाधीनता के लिए किसी भी प्रकार की परतन्त्रता अपेक्षित नहीं है, अपितु स्वाधीनतापूर्वक स्वाधीनता की प्राप्ति होती है। यदि ऐसा न होता तो स्वाधीनता मानव-मात्र की माँग न होती। जो सभी की माँग है, उसकी पूर्ति में सभी स्वाधीन तथा समर्थ हैं। अतः सत्संग सभी के लिए सुलभ है, किन्तु सत् की अनास्था तथा असत् को न जानने के कारण सत्संग दुर्लभ हो गया है। मानव जीवन का परम पुरुषार्थ एकमात्र सत्संग है। सत्संग के बिना किसी को भी कभी भी वास्तविकता की प्राप्ति सम्भव नहीं है। अत: सत्संग की उत्कट लालसा जगाना अनिवार्य है। सत्संग के बिना चैन से रहना अपने ही द्वारा अपना सर्वनाश करना है। सत्संग के बिना मानव मानव नहीं है। सत् है, उसकी माँग है, पर असत् के संग से उत्पन्न हुई कामनाओं को बनाये रखना ही सत्संग

से विमुख होना है। कामना-पूर्ति की आशा में जो सुखद कल्पना है, वह कामना-पूर्ति-काल में नहीं है। यदि कामना-पूर्ति मानव का चरम लक्ष्य होता, तो प्राकृतिक नियमानुसार सभी कामनाएँ पूरी होतीं, पर ऐसा किसी मानव का अनुभव नहीं है। कामनापूर्ति और अपूर्ति का परिणाम समान है, अर्थात् दोनों ही दशाओं में पराधीनता ही रहती है, जो मानव को स्वभाव से प्रिय नहीं है। इस कारण निष्कामता से ही सत्संग होता है। निष्कामता स्वधर्म है, शरीर-धर्म नहीं।

शरीरादि वस्तुएँ परस्पर एक-दूसरे के संकल्प-पूर्ति मात्र में हेतु हैं, पर सभी वस्तुएँ पर-प्रकाश्य एवं परिवर्तनशील हैं, इस कारण सभी संकल्पों की पूर्ति नहीं होती। अत: संकल्प-पूर्ति जीवन नहीं है। संकल्प उसे नहीं कहते, जो सभी अवस्थाओं से अतीत की ओर प्रेरित करता हो। सभी अवस्थाओं से अतीत की ओर जो प्रेरित करता है वह माँग है, संकल्प नहीं। संकल्प उत्पन्न हुई वस्तुओं अर्थात् पर-प्रकाश्य से तादात्म्य तथा सम्बन्ध जोड़ता है, जिससे मानव पराधीनता, जड़ता, अभाव आदि में आबद्ध हो जाता है। उन संकल्पों की पूर्ति में, जो किसी के लिए अहितकर नहीं हैं, मिली हुई सामर्थ्य, योग्यता, वस्तु आदि का सद्व्यय करना है, जिसके करने से करने के राग की निवृत्ति तथा सुन्दर समाज का निर्माण होता है।यह मंगलमय विधान है। इस दृष्टि से मिले हुए का सदुपयोग बड़ी ही सुगमतापूर्वक हो जाता है। पर जो मिला है, वह उसी की देन है, जिसका यह सब कुछ है। मिले हुए में ममता तथा प्रतीति की कामना असत् का संग है। इस दृष्टि से निर्ममता और निष्कामता से ही सत्संग साध्य है। निर्मम तथा निष्काम होने में सभी मानव सर्वदा स्वाधीन हैं। यह कार्य सभी को स्वयं करना है। किसी अन्य के द्वारा सम्भव नहीं है। जो स्वयं करना है, वही सत्संग है। निर्मम तथा निष्काम होते ही मूक-सत्संग स्वतः सिद्ध हो जाता है, यह निर्विवाद सिद्ध है।

मूक-सत्संग से ही सर्वतोमुखी विकास होता है। सामर्थ्य की अभिव्यक्ति, विचार का उदय एवं प्रीति की जागृति मूकसत्संग की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। मूक-सत्संग अभ्यास नहीं है, अपितु सहज, स्वाभाविक, सनातन तथ्य है। इसी कारण सब कुछ करने पर, अथवा

कुछ न करने से प्राप्त होता है। अत: प्रवृत्ति के आदि और अन्त में सहज निवृत्तिपूर्वक मूक-सत्संग स्वतः होता है।

असमर्थता का एकमात्र कारण प्राप्त सामर्थ्य का दुरुपयोग तथा अहंकृति ही है। मिले हुए का दुरुपयोग न करने का निर्णय सदुपयोग में हेतु है और अहंकृति का अन्त आवश्यक सामर्थ्य प्रदान करने में समर्थ है। वैज्ञानिक दृष्टि से जो वस्तु जितनी सूक्ष्म होती है, वह उतनी ही विभु होती है और जो स्थूल होती है, वह सीमित होती है। अहम् भाव के समान सूक्ष्म और कोई वस्तु नहीं है। समस्त जगत् का बीज अहम् में ही विद्यमान है। निर्ममता एवं निष्कामतापूर्वक समर्पण-भाव ही अहम् रूपी अणु के नाश में हेतु है। अहम् का अन्त और अनन्त से अभिन्नता युगपत् होते हैं। अहम् की अन्तिम परिणति शान्ति, स्वाधीनता एवं प्रेम-तत्व से अभिन्न होना है। शान्ति किसी के आश्रय से अभिव्यक्त नहीं होती, अपितु निर्ममता से साध्य निष्कामता ही शान्ति में हेतु है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने क्रियाशीलता, चिन्तन एवं स्थिरता आदि सभी अवस्थाओं से अपने को असंग किया है। अहमरूपी अणु सूक्ष्म होने के कारण सभी अवस्थाओं से तादात्म्य भी कर लेता है और सभी से अतीत में भी प्रवेश कर सकता है; किन्तु निराश्रय होने पर स्वयं प्रेम-तत्त्व से अभिन्न होता है, जो अनन्त का स्वभाव है। प्रेम-तत्व की अभिव्यक्ति में ही मानव जीवन की पूर्णता है। दृश्य की ओर गतिशील होने पर अहरूपी अणु क्रियाशीलता, चिन्तन एवं स्थिरता के आश्रित जीवित रहता है, किन्तु अवस्थाओं का आश्रय लेने के कारण परिच्छिन्नता में आबद्ध हो जाता है। परिच्छिन्नता के रहते हुए दूरी, भेद तथा भिन्नता का अन्त सम्भव नहीं है अर्थात् परिच्छिन्नता वास्तविक योग, बोध एवं प्रेम की प्राप्ति में बाधक है। योग सामर्थ्य का, बोध अमरत्व का और प्रेम अनन्त रस का प्रतीक है। इस दृष्टि से परिच्छिन्नता का अन्त करना अनिवार्य है।

'पर' का आश्रय रहते हुए परिच्छिन्नता का नाश सम्भव नहीं है। परिच्छिन्नता ही अहंकृति की जननी है। परिवर्तनशील अवस्थाओं से असहयोग किए बिना परिच्छिन्नता का अन्त किसी भी प्रकार हो नहीं सकता। इस कारण

समस्त प्रतीतियों से विमुख होना है। प्रतीतियों से विमुख होते ही स्वतः शान्ति तथा स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश होता है, किन्तु विचारशील साधक शान्ति में रमण तथा स्वाधीनता में सन्तुष्ट नहीं होते। तब स्वत: मंगलमय विधान से प्रेम-तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है, जो वास्तविक जीवन है।

सभी प्रयत्न अप्रयत्न के सम्पादन में साधनरूप है, किन्तु अकर्मण्यता तो मानव को व्यर्थ-चिन्तन में ही आबद्ध करती है। अप्रयत्न एवं अकर्मण्यता में बड़ा भेद है। सुख के प्रलोभन का अत्यन्त अभाव होने पर साधक अप्रयत्न हो, चिन्मय जीवन से अभिन्न होता है। सुख का प्रलोभन ही पराधीनता का मूर्तिमान चित्र है और वही अहम् रूपी अणु को जीवित रखता है। इतना ही नहीं, अनेक प्रकार के दुखों का आह्वान सुख के प्रलोभन में ही निहित है। जब तक किसी प्रकार की पराधीनता सहन होती है, तब तक सुख के प्रलोभन का नाश नहीं होता; कारण, कि वस्तु अवस्था, परिस्थिति आदि का आश्रय साधक को पराधीनता में आबद्ध करता है। स्वाधीनता की उत्कट लालसा अवस्था आदि के आश्रय से असंग करती है, अर्थात् स्वाधीनता की लालसा पराधीनता को खाकर साधक को अवस्थातीत जीवन से अभिन्न करती है। जब पराधीनता असह्य हो जाती है, तब वस्तु व्यक्ति, देश-काल आदि से असहयोग स्वत: हो जाता है, किन्तु वस्तुओं के सदुपयोग से व्यक्तियों की सेवा स्वतः होती रहती है। देश-काल का आश्रय साधक को वर्तमान में वास्तविकता से अभिन्न नहीं होने देता, इस कारण वस्तु व्यक्ति, देश-काल आदि सभी से असंग होना अनिवार्य है जो एकमात्र मूक-सत्संग से ही साध्य है।

मूक-सत्संग श्रम-रहित होने का प्रतीक है। सत् सर्वत्र, सर्वदा, ज्यों-का-त्यों विद्यमान है। उससे देशकाल की दूरी नहीं है। उसका संग श्रमसाध्य नहीं है। अत: श्रम-रहित होना ही वास्तविक सत्संग का अचूक उपाय है। श्रम का मूल पराधीनता में जीवन-बुद्धि के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जो नित्य-प्राप्त है, उसमें आस्था न होने से ही पराधीनता सहन होती है। अप्राप्त की कामना ही नित्य-प्राप्त से दूरी उत्पन्न कर देती है। मिले हुए से

तादात्म्य हो गया है, जिसका अन्त करना अनिवार्य है। मिले हुए का तादात्म्य किसी श्रमयुक्त साधन से नाश नहीं हो सकता, अपितु श्रमयुक्त साधन तादात्म्य को पोषित ही करता है। श्रम तो एकमात्र परिस्थिति के सदुपयोग अर्थात् वस्तु योग्यता, सामर्थ्य के सद्व्यय में ही उपयोगी है; किन्तु निष्कामता के बिना वस्तु आदि का सदुपयोग भी श्रम-रहित नहीं कर पाता। इस कारण निष्काम होकर ही वस्तु योग्यता, सामर्थ्य आदि का सदुपयोग करना हितकर सिद्ध होता है। निष्काम होने में स्वाधीनता की उत्कट लालसा अर्थात् पराधीनता की असह्य वेदना ही हेतु है।

अविनाशी का संग किए बिना असाधन का नाश तथा साधन की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। इस दृष्टि से मूक सत्संग ही वास्तविक सत्संग है। जो हो रहा है, उससे असहयोग और जो है' उसका संग मूक-सत्संग है। असहयोग से असत् की निवृत्ति और सत् का संग स्वतः होता है। अहम् रूपी अणु के सहयोग से ही जो हो रहा है, उसके प्रभाव से प्रभावित हो, मानव जो है उससे विमुख हो जाता है। इस कारण अचाह होने पर भी जिसकी प्रतीति हो रही है, उससे असहयोग अनिवार्य है। प्रतीति का प्रभाव सहयोग से ही अपने पर शासन करता है। असहयोग-मात्र से साधक प्रतीति के प्रभाव से मुक्त हो जाता है और फिर बड़ी ही सुगमतापूर्वक जाग्रतसुषुप्ति हो जाती है, जो सर्वतोमुखी विकास का मूल है। क्रियाशीलता, चिन्तन एवं स्थिति का आश्रय न रखना ही वास्तव में असत् से असहयोग तथा सत् का संग है। अप्रयत्न तथा अचिन्त होने-मात्र को मूक-सत्संग स्वीकार करना भूल है।

प्रयत्न और अप्रयत्न, चिन्तन तथा अचिन्त होना अवस्थाएँ हैं। अवस्थाओं के आश्रय का त्याग मूक-सत्संग है। अप्रयत्न अहंकृति के नाश में और अचिन्तता चिन्तन-जनित सुख की आसक्ति से मुक्त करने में हेतु है। इस दृष्टि से अप्रयत्न तथा अचिन्त होना अनिवार्य है। पर उसे ही मूक-सत्संग मान लेना भूल है। सत्संग अहम्भाव को सत् से अभिन्न करता है और अचिन्तता अहम् में आवश्यक सामर्थ्य तथा विचार का उदय एवं विरह की जागृति प्रदान करती है। यह नियम है कि विचार का उदय तथा विरह की जागृति जिसमें होती है, उसे खाकर

वास्तविकता से अभिन्न कर देती है, अर्थात् दूरी भेद और भिन्नता शेष नहीं रहती तथा अहरूपी अणु योग, बोध और प्रेम में स्वतः सदा के लिए परिणत हो जाता है। योग, बोध और प्रेम अनन्त का स्वभाव तथा साधक का जीवन है। मानव-जीवन के विकास की परावधि योग, बोध तथा प्रेम में निहित है, जो एकमात्र मूक-सत्संग से ही साध्य है।

मूक-सत्संग मानव का अन्तिम पुरुषार्थ है। इसी कारण मानव-मात्र उसका अधिकारी है। मूक-सत्संग से निराश होना भारी भूल है। उसके लिए प्रयत्नशील न होने के समान और कोई असावधानी नहीं है। जिसकी उपलब्धि में सभी स्वाधीन हैं, उससे निराश होने के समान और कोई प्रमाद नहीं है। यद्यपि प्राकृतिक नियमानुसार स्वतः मूक-सत्संग होता है, परन्तु अहंकृति के अभिमान के कारण उस पर दृष्टि नहीं रहती। निर्ममता एवं निष्कामता पूर्वक अप्रयत्न होते ही स्वतः होने वाले मूक-सत्संग का अनुभव होता है। मूक-सत्संग होने पर 'करना' 'होने' में और 'होना' 'है' में विलीन हो जाता है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने सर्वांश में जाने हुए असत् का त्याग किया है। वस्तु अवस्था, परिस्थिति आदि में जीवन-बुद्धि स्वीकार न करना ही सर्वांश में असत् के त्याग में हेतु है। जो जीवन नहीं है, उसमें जीवन-बुद्धि स्वीकार न करना ही वास्तविक जीवन से अभिन्न होने का अचूक उपाय है, अर्थात् असत् का त्याग और सत् का संग युगपद् होते हैं। जो जीवन नहीं है, उसमें जीवन-बुद्धि न रहना ही वास्तविक जीवन से अभिन्न होना है। वास्तविक जीवन से अभिन्न होना ही मानव-जीवन की सार्थकता है। अत: वास्तविकता से किसी भी परिस्थिति में निराश नहीं होना है, अपितु नित-नव आशा जाग्रत करना है।

जिससे निराश नहीं होना है, उससे निराश होने पर उसकी आशा उत्पन्न होती है, जिससे निराश होना अनिवार्य है। इस भूल का अन्त करने के लिए यह प्रश्न आवश्यक है कि वह कौन सा जीवन है जो सभी का अपना है और उसकी उपलब्धि का अचूक उपाय क्या है? जिसकी उपलब्धि किसी परिस्थिति विशेष की अपेक्षा रखती है, वह जीवन सभी का जीवन नहीं हो सकता, कारण, कि परिस्थिति

दो व्यक्तियों की भी सर्वांश में समान नहीं होती। जिसकी प्राप्ति प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग से होती है, वही वास्तव में सभी का अपना जीवन है। इस दृष्टि से वास्तविक जीवन से निराश होने के समान और कोई भारी भूल नहीं है। यह सभी को विदित है कि कामना-पूर्ति में कोई भी स्वाधीन नहीं है; किन्तु अचाह होने में सभी मानव स्वाधीन हैं। अचाह होते ही प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग की सामर्थ्य स्वतः आती है। यह मंगलमय विधान है। प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करते ही मानव बड़ी ही सुगमता से अप्रयत्नपूर्वक मूक-सत्संग का अधिकारी हो जाता है। अप्रयत्न का अर्थ अकर्मण्यता तथा आलस्य नहीं है, अपितु जो करना चाहिए, उसके करने का ही परिणाम है। जो नहीं करना चाहिए, अथवा जिसे नहीं कर सकते, उस कार्य के जमा रखने से ही जो करना चाहिए, उसका करना दुष्कर हो जाता है। इसी दशा में मानव अकर्मण्य हो, कर्तव्य विमूढ हो जाता है। प्राकृतिक नियमानुसार जिसे जो करना चाहिए, उसके करने में वह सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है, तो फिर अकर्मण्यता का जीवन में स्थान ही कहाँ है? परन्तु जिन साधकों की पराधीनता में ही जीवन-बुद्धि हो जाती है, वे अपने कर्तव्य को भूल, दूसरों के कर्तव्य पर ही दृष्टि रखते हैं। उसका बड़ा ही भयंकर परिणाम होता है। जब अचाह, अप्रयत्न एवं आत्मीयता से ही वास्तविक जीवन की उपलब्धि होती है, तो फिर पराधीनता का जीवन में स्थान ही कहाँ है? पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपनी ओर देखने का अथक प्रयास किया है।

प्राकृतिक नियमानुसार मानव-मात्र को साधननिष्ठ होने के लिए आवश्यक वस्तु सामर्थ्य, योग्यता आदि सब कुछ जन्मजात प्राप्त है, तो फिर हार मानकर बैठ जाना, पराधीनता को अपनाना क्या विधान का अनादर नहीं है? विधान का अनादर करना किसी भी मानव के लिए उचित नहीं है, अपितु विधान के आदर में ही जीवन का आदर है। विधान के अधीन होते ही स्वाधीनता स्वतः प्राप्त होती है, जो विकास का मूल है।

यह सभी को विदित है कि श्रम का आरम्भ और अन्त विश्राम में ही निहित है, तो फिर विश्राम में

अविचल आस्था न करना और उसे सुरक्षित न रखना, क्या अपनी ही बनाई हुई भूल नहीं है? अपनी भूल मिटाने का दायित्व अपने ही पर है, अन्य पर नहीं। अत: प्रत्येक मानव को मूक-सत्संग स्वतः करना है। मूक-सत्संग ही वास्तविक सत्संग है और इसकी सिद्धि में ही मानव के पुरुषार्थ की परावधि है, अथवा यों कहो कि मूक-सत्संग मानव-मात्र का स्वधर्म है। स्वधर्मनिष्ठ हुए बिना सर्वतोमुखी विकास सम्भव नहीं है, अर्थात् जो अपने को करना है, उसे कोई दूसरा नहीं कर सकता और जो दूसरों को करना है, उसका दायित्व अपने पर नहीं है। सत्संग अपने ही द्वारा अपने को सुलभ है। उसके लिए 'पर' की अपेक्षा नहीं है। अपने में अपनी आस्था न होने से सत्संग दुर्लभ हो जाता है। अपने जाने हुए का अपने पर प्रभाव न हो और उसके द्वारा दूसरों को समझाने का प्रयास हो, क्या यह अपने ही द्वारा अपनी हत्या नहीं है? समस्त साधनों की अभिव्यक्ति सत्संग में निहित है, तो फिर क्या सत्संग ही मानव का परम पुरुषार्थ नहीं है? सत्संग के बिना सर्वांश में असाधन का नाश तथा साधन की अभिव्यक्ति किसी प्रकार हो नहीं सकती। अतः सत्संग मानव का वर्तमान कर्तव्य है। इसी दृष्टि से मूक-सत्संग का सम्पादन सभी के लिए अनिवार्य है। यद्यपि सभी को मूक-सत्संग अपनाना ही पड़ता है, परन्तु उस पर दृष्टि न रहने से उसकी वास्तविकता का बोध नहीं होता।

मूक-सत्संग होते ही आगे-पीछे का चिन्तन अपने-आप उत्पन्न होता है, जो एक-मात्र भुक्त-अभुक्त का प्रभाव है। यदि उत्पन्न हुए चिन्तन से तादात्म्य न स्वीकार किया जाय, अपितु उससे असहयोग कर लिया जाय, तो प्राकृतिक नियमानुसार उत्पन्न हुआ चिन्तन स्वत: नाश हो जाता है, जिसके होते ही सार्थक चिन्तन, परम शान्ति एवं विचार का उदय तथा प्रीति की जागृति स्वत: होती है। कर्तव्य की विस्मृति का नाश मूक-सत्संग से स्वतः हो जाता है अर्थात् कर्तव्य की स्मृति तथा उसके पालन की सामर्थ्य मूक-सत्संग से स्वत: अभिव्यक्त होती है। यह प्राकृतिक नियम है कि जो मानव को करना अपेक्षित है, उसके लिए आवश्यक सामर्थ्य, योग्यता एवं वस्तु आदि स्वतः प्राप्त होती है। इस दृष्टि से प्रत्येक मानव स्वाधीनतापूर्वक वह कर सकता है, जो उसे करना है और वह पाता है जो उसे पाना है। अर्थात्

दायित्व को पूरा करने में तथा माँग की पूर्ति होने में लेश-मात्र भी असमर्थता तथा परतन्त्रता नहीं है, परन्तु कामनाओं की निवृत्ति तथा माँग की जागृति सुरक्षित रखना अनिवार्य है। कामनाएँ मानव को देहादि वस्तुओं में आबद्ध करती हैं और माँग की जागृति देहाभिमान गलाने में हेतु है, कारण कि मानव की जो माँग है, उसकी पूर्ति किसी भी उत्पन्न हुई वस्तु अवस्था, परिस्थिति आदि से सम्भव नहीं है। माँग की जागृति और वस्तु अवस्था आदि के तादात्म्य का नाश युगपद होते हैं। देहादि का तादात्म्य मिटते ही अहंकृति स्वतः नाश हो जाती है, जिसके होते ही मूक-सत्संग स्वतः सिद्ध होता है।

अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मसमर्पण से भी मूक-सत्संग स्वतः प्राप्त होता है। कारण, कि अहं का अन्त होते ही ममता, कामना आदि का नाश स्वत: हो जाता है और फिर परम शान्ति की अभिव्यक्ति अपने-आप होती है, जो वास्तव में मूक-सत्संग है। वर्तमान कर्तव्य -कर्म को यदि मानव फलासति तथा कर्त्तृत्व के अभिमान से रहित होकर, पवित्र भाव से कर डाले, तो प्रत्येक कार्य के अन्त में मूक-सत्संग स्वतः होने लगता है।

जाने हुए का प्रभाव तथा सुने हुए में अविचल आस्था एवं मिले हुए का दुरुपयोग न करने पर मूक-सत्संग स्वतः हो जाता है। इस दृष्टि से समस्त कार्य-क्रम मूक-सत्संग की सिद्धि के लिए ही अपेक्षित है। यह नियम है कि जो कुछ किया जाता है, उसके अन्त में न करने की स्थिति स्वत: आती है और प्रत्येक कार्य का आरम्भ न करने से ही होता है। इस दृष्टि से कार्य के आदि और अन्त में जो है, वही मूक-सत्संग है। मूक-सत्संग सभी को स्वत: प्राप्त है; किन्तु मानव असावधानी के कारण उससे विमुख हो जाता है। लक्ष्य का यथार्थ निर्णय करते ही असावधानी स्वत: मिट जाती है, जिसके मिटते ही जो नहीं करना चाहिए, उसकी उत्पत्ति ही नहीं होती और जो करना चाहिए, वह स्वतः ही होने लगता है। इस दृष्टि से असावधानी का अन्त करना अनिवार्य है, जो एकमात्र अपने सम्बन्ध में विचार करने से ही साध्य है।

सत्संग मानव-मात्र के लिए अनिवार्य है, कारण, कि उसके बिना उत्पन्न हुए असाधनों की निवृत्ति तथा साधनों की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है।

जब तक साधक में साधन की अभिव्यक्ति नहीं होती, तब तक साधक असाधन के रहते हुए बलपूर्वक अपने में साधन का आरोप करता है। यद्यपि प्राकृतिक नियमानुसार किया हुआ साधन नाश नहीं होता, परन्तु असाधन के रहते हुए किया हुआ साधन वर्तमान में सिद्धिदायक नहीं होता। सफलता मानव-मात्र का जन्मजात अधिकार है। असफलता का कारण एकमात्र असाधनों का उत्पन्न हो जाना है। उत्पत्ति का विनाश प्राकृतिक तथ्य है; किन्तु सत्संग के बिना असाधनों की उत्पत्ति होती ही रहती है और साधक बलपूर्वक साधन करता ही रहता है। इस द्वन्द्वात्मक स्थिति का अन्त करना प्रत्येक साधक के लिए अत्यन्त आवश्यक है, जिसकी पूर्ति सत्संग से ही साध्य है। सत्संग मानव-मात्र का स्वधर्म है। स्वधर्म उसे कहते हैं जिसकी सिद्धि अपने द्वारा साध्य है। सत्संग मानवमात्र स्वाधीनता पूर्वक कर सकता है। इतना ही नहीं, सत्संग वर्तमान का पुरुषार्थ है। इस दृष्टि से बड़ी ही सावधानी पूर्वक प्रत्येक मानव को सत्संग के लिए अथक प्रयास करना है। पर यह तभी सम्भव होगा, जब मानव अपने द्वारा सत्संग करने की स्वाधीनता को स्वीकार करे।

असाधनों की उत्पत्ति प्राकृतिक दोष नहीं है और साधनों की अभिव्यक्ति व्यक्तिगत उपज नहीं है। समस्त असाधनों की उत्पत्ति भूल-जनित है, इसी कारण उनका विनाश अनिवार्य है। भूल मानव की अपनी बनायी हुई है, इस कारण उसके विनाश का दायित्व अपने ही पर है। भूल जाने हुए की होती है अर्थात् जब मानव अपने जाने हुए का आदर नहीं करता, तब जो दशा उत्पन्न होती है, वह भूल का ही परिणाम है। प्राकृतिक नियमानुसार भूल से असाधनों की उत्पत्ति तो होती है, पर वह साधन की माँग का नाश नहीं कर पाती। साधन की माँग मानव की स्वाभाविक माँग है, उसकी पूर्ति होती है। उससे निराश होना अपने ही द्वारा अपना विनाश करना है। अतएव भूल का अन्त कर, असाधन के नाश एवं साधन की अभिव्यक्ति में सभी को स्वाधीनता है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब मानव अपने को सत्संग में स्वाधीन मानता है।

जाने हुए असत् के संग से ही मानव सत्संग से विमुख हुआ है।

सत्संग से विमुख होने पर ही सत् से दूरी, भेद तथा भिन्नता भासती है। सत् सर्वत्र तथा सर्वदा ज्यों-का-त्यों है। जो है, उससे निराश होना अपनी ही भूल है। असत् का ज्ञान जिससे होता है, वही सत् है। प्रत्येक मानव अपने में अपने जाने हुए असत् को पाता है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि सत् अप्राप्त नहीं है। यदि सत् अप्राप्त होता, तो असत् का ज्ञान ही न होता। असत् का ज्ञान यह स्पष्ट कर देता है कि सत् प्राप्त है, किन्तु मानव जाने हुए असत् के त्याग से सत् का संग नहीं करता। यही मानव की अकर्मण्यता तथा असावधानी है, जिसका शीघ्रातिशीघ्र अन्त करना अनिवार्य है, जो एकमात्र वर्तमान में ही हो सकता है। सत्संग के प्रयास को भविष्य पर छोड़ना भारी भूल है। सत्संग वर्तमान का परम पुरुषार्थ है। सत्संग करने पर सभी समस्याओं का हल स्वत: हो जाता है, अर्थात् मानव-जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति में सत्संग ही एक-मात्र हेतु है। इस दृष्टि से सत्संग का बड़ा ही महत्व है। इतना ही नहीं, सत्संग मानव से भिन्न किसी अन्य प्राणी के लिए सम्भव ही नहीं है, अर्थात् मानव-जीवन में ही सत्संग की उपलब्धि होती है। यदि यह कह दिया जाय कि सत्संग के लिए ही मानव-जीवन मिला है, तो अत्युक्ति नहीं होगी। जिसके लिए जीवन मिला है, उसको न करना भारी भूल है। भूल मिटाने का दायित्व अपने ही पर है। भूल को भूल जान लेने पर उसका त्याग न करना अपने ही द्वारा अपने को धोखा देना है, जो विनाश का मूल है।

असत् के संग से ही देहाभिमान की उत्पत्ति होती है, जिसके होते ही समस्त विकार पोषित होते हैं और फिर मानव पराधीनता, जड़ता, असमर्थता, अभाव आदि में आबद्ध हो जाता है। असत का त्याग, अर्थात् सत् का संग मानव को स्वयं करना है। सत्संग के लिए किसी वस्तु आदि की अपेक्षा नहीं है। जिसकी उपलब्धि किसी वस्तु आदि की अपेक्षा नहीं रखती, उसकी प्राप्ति श्रम-रहित होने पर स्वतः होती है। श्रम से प्राप्त होने वाली वस्तु मानव-मात्र के लिए सर्वदा सुलभ नहीं है, वर्ना श्रम-रहित होने से जिसकी प्राप्ति होती है, वह मानव-मात्र के लिए साध्य है। इस दृष्टि से सत्संग मानव-मात्र के लिए साध्य है। प्रत्येक प्रवृत्ति से पूर्व और प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में जो श्रम-रहित स्थिति

स्वतः आती है, उसमें करने से बड़ी ही सुगमतापूर्वक सत्संग सिद्ध होता है।

यह सभी को मान्य है कि प्रत्येक कर्म का आरम्भ तथा अन्त होता है और कर्मजनित परिणाम भी सदैव नहीं रहता। जो सदैव नहीं रहता, वह जीवन नहीं है। अत: जीवन की प्राप्ति कर्मसापेक्ष नहीं है, अपितु सत्संग से ही साध्य है। कर्म की अपेक्षा मिली हुई योग्यता, सामर्थ्य आदि के सदुपयोग में है। वस्तु आदि का में है। पर-सेवा से सुन्दर समाज का निर्माण की निवृत्ति होती है। करने का राग देहाभिमान, जो विनाश का मूल है। न करने की स्थिति स्वतः सिद्ध है, परन्तु करने के राग के कारण उसका स्पष्ट बोध नहीं होता, जिसके न होने से सत्संग सिद्ध नहीं होता और उसके सिद्ध हुए बिना असाधन की निवृत्ति तथा साधन की अभिव्यक्ति नहीं होती। साधन की अभिव्यक्ति होने पर ही साधन तथा जीवन में एकता होती है, जो सर्वतोमुखी विकास का मूल है।

समस्त साधनों की परावधि योग, बोध और प्रेम की अभिव्यक्ति में है। योग से असमर्थता का, बोध से जड़ता तथा अभाव का और प्रेम से नीरसता का नाश होता है, जिसके होते ही मानव कृतकृत्य हो जाता है। योग, बोध और प्रेम मानवमात्र की अपनी माँग है। माँग. की पूर्ति अनिवार्य है। जिसकी पूर्ति अनिवार्य है, उससे निराश होना भूल है। असमर्थता से ही मानव अकर्तव्य, असाधन एवं आसक्तियों में आबद्ध हो गया है, जो एकमात्र असत् के संग से उत्पन्न हुई है। सत्संग से असमर्थता सदा के लिए मिट जाती है। अतएव सत्संग के बिना चैन से रहना अपने ही द्वारा अपना सर्वनाश करना है। जिसकी प्राप्ति मानव-मात्र के लिए सम्भव है, उससे निराश हो जाना, उसके बिना चैन से रहना, उसकी उपेक्षा करना, उसे वर्तमान का कार्य न मानना तथा उसका सम्पादन अपने-आप न करना, अपने विनाश का बीज बोना है।

असमर्थता प्राकृतिक दोष नहीं है, अपितु प्रमाद-जनित है, कारण, कि किसी को वह नहीं करना है, जिसे वह कर नहीं सकता। जब मानव मिली हुई वस्तु योग्यता, सामर्थ्य का उपयोग उसमें कर बैठता है जो नहीं करना चाहिए, तब जो करना चाहिए उसके करने में अपने को असमर्थ पाता है। यह असमर्थता उसने

स्वयं उत्पन्न की है। इसके मिटाने का दायित्व उसी पर है।

जो नहीं करना चाहिए, उसके न करने-मात्र से वह स्वतः होने लगता है, जो करना चाहिए। इस दृष्टि से अकर्तव्य को अपनाने से ही मानव कर्तव्य से विमुख होता है। कर्तव्य - परायणता में असमर्थता तथा पराधीनता नहीं है, अपितु सर्वदा स्वाधीनता है। कर्तव्य परायणता सत्संग से स्वत: आ जाती है। जो नहीं करना चाहिए उसको करना और जो नहीं कर सकते उसके करने की सोचते रहना, अपने ही द्वारा अकर्तव्य को अपना लेना है, जो असमर्थता का मूल है। जो कर सकते, उसको समर्पित करना है। अकर्तव्य का त्याग करने पर कर्तव्य परायणता स्वत: आ जाती है। जो नहीं करना चाहिए, उसके न करने से वर्तमान निर्दोषता सुरक्षित रहती है, जो विकास की जननी है। जो नहीं कर सकते, उसको समर्पित करने से कालान्तर में आवश्यक सामर्थ्य स्वत: आ जाती है। कर्तव्य का सम्बन्ध प्राप्त परिस्थिति से है। अप्राप्त परिस्थिति का आह्वान वे ही लोग करते रहते हैं, जो कर्तव्य के नाम पर व्यक्तिगत सुख-भोग की रुचि में आबद्ध हैं। कर्तव्य निष्ठ होने के लिए तो प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना है, किसी अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन नहीं करना है। प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग से ही सभी परिस्थितियों से अतीत के जीवन में प्रवेश एवं आवश्यक वस्तु योग्यता, सामर्थ्य की प्राप्ति होती है। यह मंगलमय विधान है। इस दृष्टि से मानव प्रत्येक परिस्थिति में सत्संग के द्वारा असमर्थता का अन्त कर सकता है, जो विकास का मूल है। सामर्थ्य का अर्थ किसी परिस्थिति पर निर्भर नहीं है, अपितु प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में निहित है, जिसकी स्वाधीनता मानव-मात्र को स्वतः प्राप्ता है। परिस्थिति के आश्रय तथा उपयोग द्वारा अपने सुख को सुरक्षित रखने का प्रयास करना और परिस्थितियों से अतीत के जीवन की खोज न करना, अथवा उसमें आस्था न रखना पराधीनता में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना है, जो वास्तव में प्रमाद है। प्रमाद का नाश एकमात्र सत्संग से ही सम्भव है, किसी अन्य प्रकार से नहीं। इस कारण मानव का प्रथम और अन्तिम पुरुषार्थ 'सत्संग' ही है।

सत्संग की उपलब्धि में पराधीनता तथा असमर्थता की गध भी नहीं है। इसी कारण मानव पर सत्संग का दायित्व है। दायित्व को पूरा करते ही माँग की पूर्ति स्वतः होती है, यह विधान है।

विधान के आदर में ही जीवन का आदर है। विधान को अपना लेने से ही विधायक में आस्था, श्रद्धा तथा विश्वास स्वत: होता है, जिसके होते ही आत्मीयता की अभिव्यक्ति होती है, जो प्रियता की जननी है। प्रियता की जागृति में ही जीवन की पूर्णता निहित है। इस दृष्टि से मानव-मात्र को विधान का आदर करना अनिवार्य है। जिस प्रकार असत् के संग से समस्त दोषों की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार सत्संग से स्वत: निर्विकारता, परम-शान्ति, स्वाधीनता आदि दिव्य-जीवन की अभिव्यक्ति होती है। इस कारण सत्संग ही एकमात्र मानव-जीवन का परम पुरुषार्थ है। बड़ी-से-बड़ी कठिनाइयों को सहन करते हुए सत्संग अत्यन्त आवश्यक है। सत्संग के लिए सब कुछ दिया जा सकता है, पर सत्संग किसी मूल्य पर छोड़ा नहीं जा सकता। असत् के संग ने ही मानव को अनेक प्रकार के दोषों में आबद्ध कर दिया है। दोषयुक्त जीवन की माँग न तो जगत् को है, न अपने को ही, और न दोषयुक्त जीवन में प्रेम का ही प्रादुर्भाव होता है। अतएव निर्दोषता सुरक्षित रखना मानव-मात्र के लिए अनिवार्य है, जो एकमात्र असत् के त्यागपूर्वक सत्संग से ही साध्य है। सत्संग कोई अनुष्ठान अथवा अभ्यास नहीं है, अपितु मानव का स्वधर्म है। स्वधर्मनिष्ठ हुए बिना धर्मी का सर्वतोमुखी विकास नहीं होता। इस कारण स्वधर्मनिष्ठ होने में ही पुरुषार्थ की परावधि है। इस दृष्टि से सत्संग मानव-मात्र का अपना सर्वस्व है, कारण, कि सत्संग से ही मानव की अनुपम, अद्वितीय, पूर्ण जीवन से अभिन्नता होती है।

एक बार का किया हुआ सत्संग सदा के लिए हो जाता है। इस कारण सत्संग अभ्यास नहीं है। जिसे एक बार करना है, उसके करने से करने का राग सदा के लिए निवृत हो जाता है, जिसके होते ही कर्त्तृत्व का अभिमान गल जाता है और फिर सदा के लिए भोग की रुचि का नाश हो जाता है। कर्त्तृत्व के न रहने पर भोगत्व-भाव की उत्पत्ति ही नहीं होती, अर्थात् जो कर्ता नहीं है, वह भोक्ता भी

नहीं रहता। भोग-वासनाओं का नाश होते ही मानव स्वतः योग से अभिन्न होता है। इस दृष्टि से सत्संग से नित्य-योग की अभिव्यक्ति होती है। नित्य-योग ही वास्तविक योग है। संयोग तथा योग में एक बड़ा भेद यह है कि संयोग मानव को पराधीनता में आबद्ध करता है और योग मानव को स्वाधीनता से अभिन्न करता है।

पराधीनता में आबद्ध होते ही मानव में जड़ता उत्पन्न होती है जिसके होते ही जाने हुए असत् का संग हो जाता है, जो विनाश का मूल है। संयोग की दासता में वियोग का भय निहित है। संयोग की दासता का अन्त होते ही वियोग का भय सदा के लिए स्वत: नाश हो जाता है, अर्थात् नित्य-योग की अभिव्यक्ति होती है, जो सर्वतोमुखी विकास का मूल है। नित्य-योग के बिना आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति, अर्थात् असमर्थता का नाश नहीं होता, जिसके बिना हुए मानव प्राप्त वस्तु योग्यता, सामर्थ्य तथा परिस्थिति आदि का सदुपयोग नहीं कर पाता, जिसके न करने से जीवन जगत् के लिए उपयोगी नहीं होता। यह नियम है कि जिसका जीवन जगत् के लिए उपयोगी नहीं होता, उसमें जगत् की दासता रहती है, जो अवन्नती का मूल है।

असमर्थता प्राकृतिक दोष नहीं है, अपितु भूल-जनित है। भूल का नाश हो सकता है। इस कारण असमर्थता का अन्त अवश्यम्भावी है। सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होने पर जो नहीं करना चाहिए, उसकी उत्पत्ति ही नहीं होती और जो करना चाहिए, वह स्वतः होने लगता है, अर्थात् अकर्तव्य का नाश तथा कर्तव्य -परायणता सामर्थ्य की अभिव्यक्ति में ही निहित है, जो एकमात्र नित्य-योग से ही साध्य है।

मानव के पुरुषार्थ का अन्त सत्संग में ही निहित है। सत्संग से प्रत्येक मानव की नित्य-योग, बोध एवं प्रेम से अभिन्नता होती है। 'होने' और 'करने' में एक बड़ा भेद है। सत्संग के बिना करने का होता। जब तक 'करना' 'होने' में परिणत नहीं होता, तब तक निरभिमानता नहीं आती। निरभिमानता के बिना परिच्छिन्नता का नाश नहीं होता। परिच्छिन्नता का अन्त हुए बिना भेद तथा भिन्नता का सर्वांश में नाश नहीं होता, जो असाधनों का मूल है।

परिच्छिन्नता का अन्त होते ही कर्तव्य परायणता, असंगता एवं आत्मीयता स्वत: सिद्ध होती है, जिसके होते ही मानव योग, बोध तथा प्रेम से अभिन्न होता है, जो वास्तविक जीवन है। इतना ही नहीं, साधक का जीवन ही साध्य का स्वभाव है। साधक की अभिन्नता साध्य के स्वभाव से होती है। साध्य का स्वभाव ही साध्य को रस प्रदान करने में समर्थ है। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक के लिए अहंकृति-रहित सत्संग करना अनिवार्य है।

यद्यपि सत्संग के सहयोगी उपायों को भी सत्संग कहते हैं, परन्तु वास्तविक सत्संग तो अहंकृति–रहित होने से ही सिद्ध होता है, अर्थात् मूक-सत्संग ही सत्संग है, जो प्रत्येक मानव को प्राप्त हो सकता है। जाने हुए का प्रभाव यह प्रेरणा देता है कि मिली हुई वस्तु योग्यता, सामर्थ्य आदि को अपना मत मानो, अर्थात् जो कुछ मिला है, वह व्यक्तिगत नहीं है, अपितु किसी की देन है। जिसकी देन है, उसे भले ही न देखा हो, पर यह सभी को मान्य है कि जो अपना नहीं है, वह किसी से मिला है। उस दाता का नाम कुछ भी रख लो, अथवा उसको मत मानो, तब भी उसकी देन उसके अस्तित्व एवं उदारता को सिद्ध करने में समर्थ है। इन्द्रिय-दृष्टि से जिसे नहीं देखा है, क्या वह नहीं है? ऐसा मानना भूल है। भला किस उत्पन्न हुई वस्तु ने अपने उस आश्रय को कि जिससे वह उत्पन्न हुई है, अनुभव किया है? कदापि नहीं। क्या कोई भी उत्पत्ति बिना आश्रय के होती है? क्या मूल उत्पत्ति किसी उत्पत्ति से होगी? नहीं। मूल उत्पत्ति किसी अनुत्पन्न तत्व से ही होती है।

अत: इन्द्रिय तथा बुद्धि-दृष्टि से जिसकी प्रतीति है, उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। यदि उसका स्वतन्त्र अस्तित्व होता, तो प्रवृत्ति के अन्त में उसकी प्राप्ति होती और प्रत्येक प्रवृत्ति स्वतः निवृत्ति में विलीन न होती। किन्तु प्रवृत्ति से प्राप्त सामर्थ्य का व्यय होता है और अन्त में असमर्थता की अनुभूति होती है। उस दशा में विवश होकर मानव निवृत्ति को अपनाता है, जिसके अपनाते ही पुनः सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि सामर्थ्य किसी की देन है, व्यक्तिगत नहीं है। मिले हुए के उपयोग में जो स्वाधीनता है, वह भी वैधानिक है, व्यक्तिगत नहीं है। मिले हुए का दुरुपयोग मानव की अपनी

भूल है और उसका सदुपयोग वैधानिक है। इस दृष्टि से अकर्तव्य अपना दोष है और कर्तव्य परायणता स्वभाव-सिद्ध है। जो स्वभाव-सिद्ध है, उसका अभिमान आरोपित करना अपनी भूल है और जो भूल-जनित है, उसे प्राकृतिक मान लेना अपने को धोखा देना है, जिससे अपने ही द्वारा अपना सर्वनाश होता है।

जाने हुए का आदर न करना असत् का संग है, जिसका त्याग मानव-मात्र के लिए अनिवार्य है। जाने हुए का आदर करते ही मिले हुए में ममता नहीं रहती। अत: प्रत्येक मानव को स्वतः अनुभव हो जाता है कि जो मिला है, अपना नहीं है। इस अनुभव से निर्विकारता की अभिव्यक्ति होती है, जो सभी को स्वभाव से प्रिय है। जो स्वभाव से प्रिय है, वही साधन है। इस दृष्टि से असत् के त्याग से ही असाधन का नाश तथा साधन की अभिव्यक्ति होती है। जाने हुए का आदर सत्संग है, जिसके करते ही निर्ममता से उदित निर्विकारतारूपी साधन की अभिव्यक्ति स्वत: होती है। निर्विकारता का उदय होते ही स्वत: निष्कामता आ जाती है, जिसके आते ही परम शान्ति की अभिव्यक्ति होती है, जिसके होते ही असंगता सिद्ध होती है, जो मानव को स्वाधीनता से अभिन्न करती है। स्वाधीनता में ही दिव्य-चिन्मय अमर जीवन निहित है। इस दृष्टि से सत्संग से मानव अपने लिए उपयोगी सिद्ध होता है।

जब मानव अपनी वास्तविक माँग से परिचित होता है, तब उसे यह स्पष्ट विदित होता है कि जीवन को अपने लिए जगत के लिए एवं जगत्पति के लिए उपयोगी होना है; कारण, कि ऐसा हुए बिना किसी-न-किसी अंश में पराधीनता बनी ही रहती है, जो मानव को जड़ता तथा अभाव आदि में आबद्ध करती है। इस कारण पराधीनता किसी भी मानव को स्वभाव से प्रिय नहीं है। जो स्वभाव से प्रिय नहीं है, उसका सर्वांश में अन्त करना अनिवार्य है, जो एकमात्र सत्संग से ही हो सकता है। यह नियम है कि जो अपने लिए उपयोगी सिद्ध होता है, वही जगत के लिए भी उपयोगी होता है और जो अपने तथा जगत् के लिए उपयोगी होता है, वही उसके लिए भी उपयोगी होता है, जिसने उसका तथा जगत् का निर्माण किया है। अत: अपनी वास्तविक माँग से अपरिचित रहना किसी भी मानव के लिए उचित

नहीं है। अपनी माँग का परिचय तभी होता है, जब मानव जाने हुए का आदर करता है। असत् का त्याग तथा सत् के संग का उद्गम जाने हुए के प्रभाव में ही निहित है।

जाने हुए का अनादर प्राकृतिक दोष नहीं है, अपितु मानव की भूल है। भूल को भूल जानते ही उसका अन्त करना अनिवार्य है, जो एकमात्र सत्संग से ही साध्य है। असत् के ज्ञान तथा सत् की आस्था से ही सत्संग सिद्ध होता है। सन्देह उसी में होता है जिसकी प्रतीति हो, भास हो, परन्तु जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व न हो और आस्था उसी में होती है, जिसको इन्द्रिय तथा बुद्धि-दृष्टि से न देखा हो, फिर भी उसकी माँग हो। जब मानव देखे हुए में अपने को नहीं पाता, तब उसे स्वभाव से अपने की माँग होती है। अपने की माँग ही में उसकी आस्था निहित है, जिसे जानते नहीं हैं। देखे हुए के सम्बन्ध में जब सन्देह होता है, तब क्या है? यह जिज्ञासा जाग्रत होती है। जिज्ञासा की जागृति मिले हुए की ममता तथा देखे हुए की कामना को दवा लेती है। ममता और कामना का अन्त होने पर सत्संग स्वत: हो जाता है, जिसके होते ही कर्तव्य परायणता, असंगता एवं आत्मीयता स्वतः प्राप्त होती है, जो जीवन को जगत् के लिए, अपने लिए एवं जगतपति के लिए उपयोगी सिद्ध करने में समर्थ है। अतएव यह स्पष्ट विदित होता है कि सत्संग में ही जीवन की पूर्णता निहित है।

सत्संग में ही मानव स्वाधीन है और सत्संग में ही सर्वतोमुखी विकास निहित है। इस दृष्टि से प्रत्येक मानव स्वाधीनतापूर्वक अपने विकास में अग्रसर हो सकता है। विकास से निराश होना अपनी भूल है। भूल का अन्त करने में सदैव सजग और तत्पर रहना अत्यन्त आवश्यक है। अहंकृति-रहित होने पर विश्राम प्राप्त होता है, जिसके होते ही सत् अर्थात् अविनाशी जीवन से संग हो जाता है, जिसके होते ही मिले हुए का तादात्म्य शेष नहीं रहता और फिर बड़ी ही सुगमतापूर्वक असंगता से प्राप्त चिन्मय-जीवन से अभिन्नता होती है, जिसके होते ही मानव अपने ही में अपने प्रेमास्पद का अनुभव कर कृतकृत्य हो जाता है। पर यह रहस्य उन्हीं साधकों को स्पष्ट होता है, जो जाने हुए असत् का त्याग करने को उद्यत हैं। निर्ममता, अचाह तथा अप्रयत्नपूर्वक सत्संग होता है।

निर्ममता उन्हीं को प्राप्त होती है, जो निज-विवेक के प्रकाश में बुद्धिदृष्टि से यह स्पष्ट अनुभव करते हैं कि जो कुछ मिला है उस पर अपना स्वतन्त्र अधिकार नहीं है और न मिले हुए का ही स्वतन्त्र अस्तित्व है। यह अनुभव मानव को निर्मम बना देता है। निर्मम होते ही मिली हुई वस्तु योग्यता, सामर्थ्य आदि की दासता शेष नहीं रहती, जिसके मिटते ही निर्विकारता की अभिव्यक्ति अपने-आप होती है और फिर मिले हुए का सदुपयोग होने लगता है, जिसके होते ही समस्त बाह्य संघर्ष स्वत: मिट जाते हैं, परस्पर विश्वास तथा एकता आ जाती है, जो भौतिक विकास मे हेतु है, अर्थात् पारिवारिक तथा सामाजिक सभी प्रश्न हल हो जाते हैं। पर इतना ही जीवन नहीं है, कारण, कि मानव की वास्तविक माँग अभाव के अभाव की है। उसके लिए निष्कामता को अपनाना अनिवार्य होता है। निष्कामता सत्संग है; कारण, कि कामनापूर्ति में पराधीनता और नवीन कामना की उत्पत्ति होती है, जो मानव को अभाव में आबद्ध करती है। यदि कामनापूर्ति के अन्त में नवीन कामना की उत्पत्ति न होती, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक कामनापूर्ति के प्रलोभन का अन्त हो जाता, जिसके होते ही स्वाधीनता के साम्राज्य में मानव प्रवेश पा जाता, पर कामनापूर्ति के सुख-भोग से तो नवीन कामना का जन्म होता ही है। इस कारण निष्कामता के बिना न तो पराधीनता का ही नाश होता है और न परम शान्ति की ही अभिव्यक्ति होती है। इतना ही नहीं, शान्ति-सम्पादन के बिना आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति भी नहीं होती, जिसको बिना हुए जाने हुए का आदर, मिले हुए का सदुपयोग और सुने हुए में अविचल आस्था, श्रद्धा तथा विश्वास सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से शान्ति के सम्पादन से ही सत् का संग होता है। शान्ति का सम्पादन अहंकृति-रहित होने से स्वतः हो जाता है। जिसे कुछ नहीं चाहिए, वही मानव सुगमतापूर्वक अहंकृति-रहित होता है। प्राप्त वस्तु योग्यता, सामर्थ्यं आदि की ममता और अप्राप्त वस्तु आदि की कामना ने ही अहंकृति को जन्म दिया है और अहंकृति ने ही मानव को विश्राम से वंचित किया है। श्रम-रहित हुए बिना जो 'है' , उसका अर्थात् सत् का संग सम्भव नहीं है. इस

कारण अहंकृति-रहित होना प्रत्येक मानव के लिए अनिवार्य है।

यह सभी को मान्य होगा कि 'करने' से जो कुछ मिलता है, वह सदैव नहीं रहता। जो सदैव नहीं रहता, वह मानव-जीवन का चरम लक्ष्य नहीं हो सकता। जिन उपादानों से कर्म-अनुष्ठान सिद्ध होता है, वे सदैव नहीं रहते, अर्थात् कृति का फल और उसके साधन नित्य नहीं हैं और न व्यक्तिगत हैं। जिन वस्तुओं में नित्यता नहीं है और जो व्यक्तिगत नहीं हैं, उनके आश्रय से अविनाशी जीवन की माँग पूरी नहीं हो सकती। इस कारण अहंकृति-रहित होना आवश्यक हो जाता है, जो एकमात्र निर्ममता एवं निष्कामता से ही साध्य है। जब मानव यह अनुभव कर लेता है कि मुझे जो कुछ मिला है, वह व्यक्तिगत नहीं है, अपितु किसी की सेवा-सामग्री है, तब बड़ी ही सुगमतापूर्वक निष्काम हो जाता है, जिसके होते ही चिर-विश्राम पाता है। विश्राम की भूमि में ही आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति, विचार का उदय एवं प्रीति की जागृति होती है। सामर्थ्य से कर्तव्य परायणता, विचार के उदय से अविचार की निवृत्ति तथा बोध की प्राप्ति, और प्रीति की जागृति से नित–नव रस की अभिव्यक्ति स्वत: होती है, जो वास्तविक जीवन है। कर्तव्य परायणता के अन्त में मानव को योग स्वतः प्राप्त होता है। इस दृष्टि से योग, बोध और प्रेम से मानव की अभिन्नता होती है। योग, बोध और प्रेम का कभी नाश नहीं होता। इस दृष्टि से सत्संग से ही अविनाशी जीवन की प्राप्ति होती है, जो एकमात्र अहंकृति के नाश में ही निहित है। अहकृति का अन्त किए बिना नित्य–प्राप्त नित्य-जीवन से अभिन्नता कदापि नहीं हो सकती।

नित्य-जीवन की माँग मानव की अपनी माँग है, जिसकी पूर्ति अनिवार्य है। माँग की पूर्ति से निराश वे ही मानव होते हैं, जो असत् का त्याग, अर्थात् सत्संग नहीं करते। इस निराशा से ही बेचारा मानव असत् के संग से उत्पन्न हुई कामनाओं में आबद्ध हो जाता है, जिसके होते ही प्राणी सुख की दासता तथा दुःख के भय से आक्रान्त रहता है, जो किसी भी सजग मानव को स्वभाव से प्रिय नहीं है। इस कारण अहंकृति-रहित होकर विश्राम का

सम्पादन प्रत्येक कार्य के आदि और अन्त में करना अनिवार्य है।

प्राकृतिक नियमानुसार कार्य-क्षेत्र में दो व्यक्ति भी सर्वांश में समान नहीं हैं, कारण, कि वस्तु योग्यता, सामर्थ्य, रुचि आदि में भेद है। वे सभी को समान प्राप्त नहीं हैं, किन्तु विश्राम के साम्राज्य में सभी मानव समान हैं। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि विश्राम का सम्पादन मानव-मात्र के लिए अत्यन्त आवश्यक है। समता के बिना दीनता तथा अभिमान का नाश नहीं होता और उसके बिना हुए भेद तथा भिन्नता का अन्त नहीं होता। भेद के रहते हुए बोध तथा भिन्नता के रहते हुए प्रेम की अभिव्यक्ति नहीं होती। इतना ही नहीं, विषमता के रहते हुए योग की प्राप्ति भी नहीं होती। अतएव योग, बोध तथा प्रेम से अभिन्न होने के लिए समता आवश्यक है, जो एक मात्र विश्राम से ही साध्य है। इस दृष्टि से विश्राम में ही मानव-मात्र की सफलता निहित है और विश्राम ही एक ऐसा तथ्य है, जो सभी को समान रूप से प्राप्त हो सकता है। जो प्राप्त हो सकता है, उसकी उपेक्षा करना, उससे निराश होना, उसको वर्तमान जीवन की वस्तु न मानना तथा उसके लिए सजगतापूर्वक तत्पर न रहना भारी भूल है, जिसका मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

अहंकृति-रहित होते ही स्वत: विश्राम प्राप्त होता है। किन्तु न चाहने तथा न करने पर भी किए हुए का जो प्रभाव अपने में अंकित है, वह अपने-आप उत्पन्न होता है, जिसे साधक व्यर्थ-चिन्तन तथा मन की चंचलता के नाम से कथन करते हैं और उसे शान्ति के सम्पादन में विघ्न मानते हैं। पर बात ऐसी नहीं है। अहंकृति-काल में तो जो किए हुए का प्रभाव अंकित है, वह स्पष्ट रूप से विदित नहीं होता, परन्तु रहता है। जिस प्रकार दबा हुआ रोग विदित नहीं होता, उसी प्रकार कार्य में लगे रहने पर, जो कर चुके हैं और जो करना चाहते हैं, उसका प्रभाव प्रतीत नहीं होता। अहंकृति-रहित होते ही वह प्रभाव प्रकट होता है, नाश होने के लिए। प्राकृतिक नियमानुसार कोई उत्पत्ति ऐसी होती ही नहीं, जिसका नाश स्वतः न हो जाय। अहंकृति ही कारण है उस प्रभाव का, जो अंकित है। इस दृष्टि से किसी कृति विशेष से कृति के प्रभाव का नाश नहीं होता। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब

विश्राम के द्वारा उस प्रभाव से साधक मुक्त होता है।

अहंकृति–रहित होने पर जो व्यर्थ-चिन्तन उत्पन्न होता है, उससे भयभीत नहीं होना है और न उसका सुख लेना है, न उसका समर्थन करना है और न विरोध, अपितु उससे असहयोग रखना है। जिससे असहयोग हो जाता है, उसका प्रभाव अपने पर नहीं रहता। असहयोग विरोध नहीं है। विरोध से तो द्वेष की उत्पत्ति होती है और समर्थन से राग की। असहयोग से राग-द्वेष का नाश होता है, जो विकास का मूल है। जब साधक यह जानता है कि चिन्तन मेरे न चाहने पर भी हो रहा है, बिना करे हो रहा है, व्यर्थ-चिन्तन के रूप में जो है, उसका वर्तमान में अस्तित्व नहीं है, तो जो कर नहीं रहे हैं और जिसे चाहते नहीं हैं, उसके प्रभाव से प्रभावित होना, क्या अपनी भूल नहीं है? जिसका अस्तित्व ही नहीं है, उससे भयभीत होना, क्या प्रमाद नहीं है? अतएव अपने-आप होने वाले व्यर्थ-चिन्तन से अपने को असहयोग करना है, और कुछ नहीं। असहयोग करने से अपने पर उसका प्रभाव नहीं होगा। अपना समर्थन तथा विरोध न मिलने से वह व्यर्थ-चिन्तन अपने-आप सदा के लिए नाश हो जायगा। परन्तु बार-बार यह निरीक्षण करना कि नाश हुआ कि नहीं, इससे विरोधपूर्वक सम्बन्ध बन जायगा, जो उसका नाश नहीं होने देगा। अतएव बड़ी ही सजगतापूर्वक, जो हो रहा है, उससे सम्बन्ध-विच्छेद करना है। उसका तादात्म्य ही उसे जीवित रखता है। सम्बन्ध-विच्छेद से तादात्म्य नाश हो जायगा। साधक अपना आश्रय देकर ही उसे जीवित रखता है। जिसका नाश अभीष्ट हो, उसको आश्रय न दो, उसका समर्थन तथा विरोध मत करो, उसे अस्तित्वहीन जानो। नहीं की निवृत्ति बिना ही श्रम के स्वत: होती है और है की प्राप्ति में भी श्रम हेतु नहीं है। इस कारण विश्राम-मात्र से ही जो अस्तित्व-हीन है, उसका नाश होगा और जिसका अस्तित्व है, उससे योग तथा उसका बोध एवं उसमें प्रेम स्वतः होगा। इस दृष्टि से विश्राम में ही सर्वतोमुखी विकास निहित है।

भुक्त-अभुक्त का प्रभाव ही व्यर्थ-चिन्तन के रूप में प्रतीत होता है। मानव जो कर चुका है अथवा जो करना चाहता है, वही भुक्त और

अभुक्त है। करने के प्रभाव का नाश तभी सम्भव है, जब साधक अहंकृति-रहित होने पर जो प्राप्त होता है उसका अनुभव कर सके। अहंकृति-रहित होते ही साधक को अपनी वास्तविक माँग की स्मृति तथा वर्तमान दशा का परिचय होता है, जिसके होते ही साधक में सजगता आती है। सजगता आते ही, क्या नहीं करना चाहिए, उसका स्पष्ट ज्ञान होता है, जिसके होते ही, की हुई भूल न दोहराने का निर्णय बड़ी ही सुगमतापूर्वक हो जाता है और फिर वर्तमान निर्दोषता में आस्था होती है, जिसके होते ही जीवन में एक नवीन उत्साह जाग्रत होता है, जो मानव को वास्तविकता की खोज करने में तत्पर कर देता है, जो विकास का मूल है। कृति का महत्व पर-हित में ही है। अपने लिए किसी भी मानव को कभी-भी कुछ भी नहीं करना है। पर यह रहस्य उस समय तक स्पष्ट नहीं होता, जब तक मानव अपनी वास्तविक माँग को भली-भाँति अनुभव नहीं कर लेता। मानव की जो माँग है, उसकी पूर्ति किसी परिस्थिति आदि के आश्रित नहीं है। जो कुछ करते हैं, उससे जिसकी उत्पत्ति होती है, वह सदैव नहीं रहता और कर्मानुष्ठान भी 'पर' के आश्रय के बिना नहीं होता। इस दृष्टि से कर्म और उसका फल स्वाधीनता प्रदान करने में समर्थ नहीं है। कर्तव्य का महत्व तो केवल इसी बात में है कि मिली हुई वस्तु योग्यता, सामर्थ्य के द्वारा शरीर, परिवार, समाज आदि की सेवा की जाय, जिससे संग्रह की रुचि का नाश हो उस जीवन में प्रवेश हो जाय, जो अविनाशी है।

अविनाशी जीवन की माँग मानव की अपनी माँग है, जिसकी पूर्ति अहंकृति-रहित असंग होने पर ही सम्भव है। अहंकृति-रहित हुए बिना प्राप्त वस्तु योग्यता, सामर्थ्य से तादात्म्य का नाश नहीं होता और उसके नाश हुए बिना अवस्थातीत जीवन में प्रवेश नहीं होता, जो अनुत्पन्न, नित्य जीवन है। अहंकृति का मूल काम है। काम की निवृत्ति एकमात्र विचार-सिद्ध है, कारण, कि उसकी उत्पत्ति अविवेक से होती है। अविवेक का अन्त विवेक के आदर में निहित है। विवेक के आदर की सामर्थ्य शान्ति में ही उदित होती है। इस कारण निर्ममता तथा निष्कामतापूर्वक शान्ति का सम्पादन अनिवार्य है। निर्ममता तथा निष्कामता

जाने हुए असत् के त्याग से ही सिद्ध होती है। अतएव सत्संग से जिसकी उपलब्धि होती है, उसकी प्राप्ति कर्म-सापेक्ष नहीं है। कर्तव्य -कर्म से तो केवल दूसरों के अधिकार की रक्षा तथा करने के राग की निवृत्ति होती है। वह भी तब, जब अपने अधिकारों का त्याग कर दूसरों के अधिकारों की रक्षा की जाय। अधिकार-लोलुपता में आबद्ध मानव कर्तव्य -कर्म करते हुए भी कर्त्तृत्व के अभिमान तथा राग से रहित नहीं हो सकता। अधिकारों के त्याग की सामर्थ्य एकमात्र विचार से ही साध्य है; कारण, कि अधिकार-लोलुपता अविचार से ही उत्पन्न होती है। अहंकृति-रहित शान्ति का सम्पादन होने पर जिज्ञासा-पूर्ति के लिए स्वत: विचार का उदय होता है, यह मंगलमय विधान है। जब तक निष्कामता से साध्य समता की अभिव्यक्ति नहीं होती, तब तक अविचार की निवृत्ति के लिए विचार का उदय भी नहीं होता।

विचार कोई श्रम-साध्य प्रयोग नहीं है, अपितु आवश्यकता होने पर उसकी अभिव्यक्ति स्वत: होती है, जो अविचार के नाश में समर्थ है। निष्कामता किसी श्रम–साध्य प्रयोग से सिद्ध नहीं होती, अपितु कामनापूर्ति में पराधीनता और अपूर्ति में अभाव रहता ही है, इस वास्तविकता का अनुभव करने पर साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक अपने को निष्काम स्वीकार करता है। निष्कामता स्वधर्म है, सत्संग है, शरीर-धर्म नहीं। शरीर-धर्म का पालन श्रम-साध्य है। स्वधर्म के पालन में श्रम की गंध भी नहीं है। स्वधर्मनिष्ठ होने पर शरीर-धर्म का पालन प्राकृतिक नियमानुसार स्वतः होने लगता है और फिर अपने-आप देहाभिमान गल जाता है, जिसके गलते ही स्वत: चिर-विश्राम की अभिव्यक्ति होती है। इस दृष्टि से सत्संग का बड़ा ही महत्व है। चाह-रहित होने में जो विकास निहित है, वह किसी अन्य प्रकार से सम्भव नहीं है। चाह-रहित होने का प्रश्न मानव का मौलिक प्रश्न है। कामना-पूर्ति तो अन्य योनियों में भी होती है, किन्तु अचाह-पद की प्राप्ति तो एकमात्र मानव ही को होती है। इस दृष्टि से चाह-रहित होना मानव-मात्र के लिए अनिवार्य है।

निष्काम होने पर आवश्यक कामनाओं की पूर्ति अपने-आप होती

रहती है और अनावश्यक कामनाओं की उत्पत्ति नहीं होती। निष्काम साधक के लिए आवश्यक वस्तु योग्यता, सामर्थ्य प्रदान करने को प्रकृति लालायित रहती है। निष्कामता की महिमा का वर्णन करना सम्भव नहीं है। निष्काम होने पर ही निष्कामता के महत्व का अनुभव होता है। योगियों का योग, विचारशीलों का बोध एवं प्रेमियों का प्रेम निष्कामता की भूमि में ही पोषित होता है। निष्काम होने में प्रत्येक मानव सर्वदा स्वाधीन है और कामना-पूर्ति में सभी प्राणी सर्वदा पराधीन हैं। स्वाधीनता का पुजारी स्वाधीनतापूर्वक निष्काम हो सकता है। निष्कामता मानव की वर्तमान माँग है, उसे शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त करना अनिवार्य हे।

जिसे कुछ नहीं चाहिए, वह सभी का अपना हो सकता है, अर्थात् सर्वात्मभाव की अभिव्यक्ति भी निष्कामता में ही निहित है। निष्काम होने पर ही परम शान्ति तथा असंगता की अभिव्यक्ति होती है, जो चिन्मय जीवन से अभिन्न करने में समर्थ है।

जिसे कुछ भी चाहिए, वह किसी को अपना नहीं कह सकता और न सुने हुए प्रभु में अविचल आस्था ही सुरक्षित रख पाता है और न दूसरों से सुख की आशा का ही त्याग कर पाता है। इतना ही नहीं, कामनायुक्त प्राणी ही अपने दुःख का कारण दूसरों को मानता है। अतएव मानव निष्काम हुए बिना राग-द्वेष-रहित नहीं हो सकता, जिसके बिना हुए त्याग तथा प्रेम की अभिव्यक्ति नहीं होती, जो वास्तविक जीवन है, कारण, कि त्याग अमरत्व से और प्रेम अनन्त रस से अभिन्न करता है।

अहंकृति के आश्रित ही अहम्भावरूपी अणु जीवित रहता है,जिसके रहते हुए सर्वांश में भेद तथा भिन्नता का अन्त नहीं होता, जो विनाश का मूल है। अहंकृति-रहित होते ही अह-रूपी अणु स्वत: नाश हो जाता है, जिसके होते ही योग, बोध तथा प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। इस दृष्टि से अहंकृति-रहित होना अनिवार्य है, जो एकमात्र सत्संग से ही साध्य है।

अहंकृति मानव को सत् से विमुख कर देती है तथा असत् से उसका सम्बन्ध जोड़ देती है। उसका बड़ा ही भयंकर परिणाम यह होता है कि असत् के संग-मात्र से ही अकर्तव्य, असाधन और आसक्ति उत्पन्न होती है, जो विनाश का मूल है।

अहंकृति-रहित होने के लिए प्रत्येक कार्य के आरम्भ और अन्त में मानव को सजगतापूर्वक स्वतः आने वाली शान्ति को सुरक्षित रखना है। ज्यों-ज्यों शान्ति स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति, कर्तव्य परायणता, विचार का उदय तथा प्रीति की जागृति स्वत: होती जाती है; कारण, कि शान्ति में ही समस्त साधनों की अभिव्यक्ति होती है। शान्ति रस-रूप है। नीरसता की भूमि में ही असाधन उत्पन्न होते हैं। अतएव शान्ति समस्त साधनों की जननी है। सावधान साधक शान्ति का सम्पादन तो करते हैं, पर उसमें रमण नहीं करते। शान्ति में रमण न करने से स्वाधीनता के रस की अभिव्यक्ति होती है। जब साधक स्वाधीनता के रस में सन्तुष्ट नहीं होता, तब स्वतः प्रेम-तत्व की अभिव्यक्ति होती है, जिसके होते ही अहंरूपी अणु सदा के लिए गल जाता है। प्रेम-तत्व में प्रेम के अतिरिक्त प्रेमी का कोई अस्तित्व नहीं है। किसी भी अहंकृतियुक्त उपाय से नीरसता का सर्वांश में नाश नहीं होता। क्रिया-जनित सुख से नीरसता दब जाती है, मिटती नहीं। दबी हुई नीरसता पूर्व की अपेक्षा अधिक तीव्र होकर प्रकट होती है। नीरसता के रहते हुए काम का नाश नहीं होता, जो समस्त विकारों का मूल है।

नीरसता का अन्त करने के लिए शान्ति, स्वाधीनता एवं प्रेम की अभिव्यक्ति अनिवार्य है, जो एकमात्र सत्संग से ही सम्भव है। 'है' में आस्था और उसका संग तभी सम्भव होगा, जब मानव श्रम-रहित होने का स्वभाव बनाए। अकर्मण्यता मानव को श्रम-रहित नहीं होने देती और आवश्यक कार्य जमा रखने से भी मानव श्रमित ही होता है। श्रमित होने से असमर्थता आती है, अर्थात् प्राप्त सामर्थ्य का ह्रास होता है। श्रम-रहित होने के लिए वर्तमान कार्य को पूरा करना है, किन्तु क्रियाजनित सुख का भोग नहीं करना है और न किये हुए कार्य के फल में ही आस्था रखनी है। फलासति तथा कर्त्तृत्व के अभिमान से रहित प्रवृत्ति का अन्त श्रम-रहित होने में अर्थात् विश्राम में होता है, जिसके होते ही अपने-आप शान्ति का सम्पादन होने लगता है। शान्ति का सम्पादन तथा सत्संग युगपत् होते हैं। सत्संग कोई अभ्यास नहीं है, अपितु स्वधर्म है। अभ्यास के लिए शरीर आदि की अपेक्षा होती है, किन्तु सत्संग अपने ही

द्वारा उपलब्ध होता है।इस दृष्टि से सत्संग में मानव सर्वदा स्वाधीन है। जिसकी सिद्धि अपने द्वारा होती है, उसकी प्राप्ति में पराधीनता नहीं है। श्रम-साध्य सभी प्रवृत्तियाँ पराधीनता से ही सिद्ध होती हैं। पर-सेवा के लिए पराधीनता साधन-रूप भले ही हो, पर अपने लिए तो स्वाधीनतापूर्वक सत्संग ही उपयोगी है। इतना ही नहीं, सेवा की पूर्णता भी सत्संग से ही सिद्ध होती है। सेवा का क्रियात्मक रूप भले ही श्रम-साध्य हो, किन्तु उसका वास्तविक रूप तो सत्संग से ही सिद्ध होता है। सेवा की अभिव्यक्ति उसी साधक में होती है, जो किसी को बुरा न समझे। किसी को बुरा न समझना सत्संग है।

जब साधक किसी को बुरा नहीं समझता, तब अशुद्ध संकल्पों की उत्पत्ति ही नहीं होती। अशुद्ध संकल्पों का नाश होने पर अकर्तव्य का जन्म ही नहीं होता। इतना ही नहीं, द्वेष तथा विषमता भी शेष नहीं रहती। 'समता' योग तथा बोध की जननी है। द्वेष का अन्त होते ही प्रेम का प्रादुर्भाव स्वतः होता है। इस दृष्टि से सत्संग-जनित सेवा द्वारा मानव कर्तव्य परायणता, योग, बोध तथा प्रेम से अभिन्न होता है। अत: वास्तविक सेवा, सत्संग से ही साध्य है।

सेवा, त्याग, प्रेम-इन तीनों के रस में भेद है, स्वरूप में नहीं। इनमें से किसी एक की उपलब्धि होने पर तीनों ही की प्राप्ति होती है; कारण, कि ये तीनों एक ही जीवन की विभूतियाँ हैं। जीवन की पूर्णता इन तीनों ही में निहित है। श्रम-रहित होने पर साधक को सर्वप्रथम अपनी वर्तमान वस्तुस्थिति का वास्तविक परिचय होता है। भूतकाल की घटनाओं की स्मृति साधक को यह बता देती है कि भूतकाल में क्या भूल की है। उस भूल का परिचय होने पर उसके त्याग का निर्णय अनिवार्य होता है। भूल-जनित सुख-लोलुपता का अन्त भूल की वेदना में निहित है। भूल करने पर मानव अपनी ही दृष्टि में अपने को आदर के योग्य नहीं पाता, जो किसी को भी अभीष्ट नहीं है। अपनी दृष्टि में आदर के योग्य बिना हुए निश्चिन्तता तथा निर्भयता नहीं आती, जो विकास का मूल है। भय तथा चिन्तामें आबद्ध प्राणी का विकास नहीं होता, यह प्राकृतिक विधान है।

इस कारण, मानव-मात्र को भय तथा चिन्ता से रहित होना

अनिवार्य है, जो एकमात्र भूतकाल की भूल का भली भाँति अनुभव करने से ही सम्भव है। अपनी भूल का अनुभव अपने को श्रम-रहित होने पर ही होता है। इस दृष्टि से अहंकृति-रहित होकर मूक-सत्संग करना प्रत्येक मानव का अपना परम पुरुषार्थ है, जिसको बिना किये सर्वतोमुखी विकास सम्भव नहीं है। अतएव प्रत्येक कार्य के आरम्भ तथा अन्त में श्रम-रहित होना अत्यन्त आवश्यक है। कोई भी प्रवृत्ति स्वभाव से अखण्ड नहीं है। कर्ता में करने की रुचि भले ही रहे, पर वह किसी भी कर्म को निरन्तर नहीं कर सकता। प्राकृतिक नियमानुसार कर्म का आरम्भ तथा अन्त होता ही है। इतना ही नहीं, कर्म का परिणाम भी सदैव नहीं रहता। जो सदैव नहीं रहता, वह वास्तविक जीवन नहीं है। इस दृष्टि से कर्म और उसका फल नित्य नहीं हैं। इसी कारण कर्म-अनुष्ठान में मानव सर्वांश में स्वाधीन नहीं है, किन्तु श्रम-रहित होने में साधक सर्वदा स्वाधीन है। करने के राग तथा फल की आशा ने साधक को प्रवृत्ति के अन्त में विश्राम से अभिन्न नहीं होने दिया। उसका बड़ा ही भयंकर परिणाम यह हुआ कि मानव अपनी वर्तमान वस्तुस्थिति से परिचित न हो सका, जिसके बिना हुए भूल-जनित प्रवृत्तियों का अन्त न कर सका।

भूल-जनित प्रवृत्तियों से ही जीवन अनुपयोगी होता है। अनुपयोगी जीवन की माँग न व्यक्ति को है और न समाज को। उपयोगी जीवन ही सभी को अभीष्ट है। अपनी की हुई भूल का त्याग बिना किए जीवन उपयोगी नहीं होता। इस दृष्टि से भूल का अनुभव करना प्रत्येक मानव के लिए अनिवार्य है, जो एक मात्र विश्राम से ही साध्य है। विश्राम का महत्व भूल जाने से मानव शरीरादि वस्तुओं की दासता में आबद्ध हो गया है। इतना ही नहीं, उत्पन्न हुई वस्तुओं से इतना तादात्म्य हो गया है कि वस्तुओं से अतीत के जीवन में न तो आस्था ही होती है और न मानव उसकी खोज ही करता है, यद्यपि अनुत्पन्न हुए अविनाशी जीवन की माँग मानव में स्वभाव से ही है। जिसकी माँग है, उसमें आस्था न हो, अथवा उसकी खोज न की जाए, इसके समान और कोई जड़ता नहीं है। सजगता के बिना जड़ता का नाश नहीं होता और श्रम-रहित हुए बिना सजगता जाग्रत नहीं होती। श्रम-काल में तो मानव मिली हुई वस्तु योग्यता, सामर्थ्य आदि

से तद्रूप रहता है। तादात्म्य के रहते हुए वस्तुओं से अतीत के जीवन की खोज नहीं हो सकती। इस कारण वस्तुओं से तादात्म्य का अन्त करना अत्यन्त आवश्यक है।

प्राकृतिक नियमानुसार सुषुप्ति, अर्थात् गहरी नीद में मिली हुई वस्तु योग्यता आदि की विस्मृति होती है, जिसके होने पर वस्तुओं के उपयोग करने की सामर्थ्य आती है; किन्तु वस्तुओं से तादात्म्य का नाश नहीं होता, कारण, कि जड़ता में लय होने से मानव वस्तुओं से अतीत के जीवन का अनुभव नहीं कर पाता। यद्यपि वस्तुओं से अतीत का जीवन नित्य प्राप्त है, उससे देश-काल की ; किन्तु मिले हुए के तादात्म्य के कारण नित्य-प्राप्त, प्रतीत होता है और जिन उत्पन्न हुई वस्तुओं में सतत रहा है, वे अपनी प्रतीत होती हैं और उनकी कामना रहती है। यह जानते हुए भी कि सभी कामनाएँ पूरी होती, फिर भी मानव निष्काम नहीं हो पाता। यह मिली हुई वस्तुओं के तादात्म्य का ही परिणाम है। यदि मानव आवश्यक के अन्त में श्रम-रहित होकर जाग्रत में ही सुषुप्तिवत् हो जाय, तो बडी ही सुगमतापूर्वक उत्पन्न हुई वस्तुओं से अतीत के जीवन में प्रवेश पा सकता है। श्रम-रहित होने पर भी गति रहती है, पर इस रहस्य को वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने ममता और कामना का अन्त कर वास्तविक माँग का अनुभव किया है। वास्तविक माँग की जागृति श्रम-रहित होने पर ही होती है। कामनाओं की पूर्ति के लिए श्रम अपेक्षित है और श्रम के लिए शरीरादि वस्तुओं की आवश्यकता होती है।

विश्राम-काल में शरीरादि वस्तुओं की असंगता बड़ी ही सुगमतापूर्वक हो जाती है, जो मानव को पराधीनता से मुक्त कर स्वाधीनता से अभिन्न करती है। इस दृष्टि से विश्राम बड़े ही महत्व की वस्तु है। यद्यपि प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक कार्य के आरम्भ तथा अन्त में विश्राम स्वत: प्राप्त होता है, पर विश्राम के महत्व में आस्था, श्रद्धा एवं विश्वास न होने के कारण विश्राम-काल में भी मानव विश्राम से विमुख रहता है और फिर किए हुए की फलासप्ति में आबद्ध हो जाता है। यह जानते हुए भी कि किये हुए का परिणाम अविनाशी नहीं है, विश्राम का आदर ही नहीं करता। विश्राम का आदर किये बिना सत्संग सम्भव नहीं है, अर्थात् असत् का संग

बना ही रहता है, जिसके रहने से न चाहते हुए भी अनेक दोषों की उत्पत्ति होती है, अर्थात् वर्तमान निर्दोषता का बोध नहीं होता। वर्तमान निर्दोषता का अनुभव किए बिना निर्दोषता में अविचल आस्था नहीं होती, अपितु मानव भूतकाल की भूल के आधार पर निवृत्ति में भी अपने को अपराधी मानता रहता है। जब कुछ नहीं कर रहा है, तब भी अपने को अपराधी मानता है। यह मान्यता भ्रमात्मक है। इसका त्याग करना अनिवार्य है। 'कुछ न करना' अपराध नहीं है, अपितु वास्तविकता है। यदि करना अखण्ड होता, तो न करने का कोई स्थान ही न होता। करना अखण्ड नहीं है, इस अनुभव के आधार पर यह स्वीकार करना कि 'विश्राम का भी जीवन में स्थान है, मानवमात्र के लिए परम आवश्यक है। यह सभी को विदित है कि श्रम से शक्ति का ह्रास और श्रम-रहित होने पर शक्ति का संचय होता है। तो फिर विश्राम का आदर न करना, उसे न अपनाना, उसके महत्व को भूल जाना, क्या अपने को वास्तविकता से वंचित नहीं करना है? वास्तविकता से अपरिचित रहना अपने ही द्वारा अपने को धोखा देना है, जो अवन्नती का मूल है। मानव-जीवन अवन्नती से उन्नति की ओर गतिशील होने के लिए मिला है। अत: प्रत्येक मानव के लिए अपनी वर्तमान वस्तुस्थिति से भलीभाँति परिचित होना अनिवार्य है, जो एकमात्र विश्राम से ही साध्य है।

मिली हुई वस्तु योग्यता, सामर्थ्य का सदुपयोग करने में ही श्रम का महत्व है; किन्तु वास्तविक जीवन से अभिन्न होने के लिए तो विश्राम ही मूल प्रयास है। विश्राम सुरक्षित रखने के लिए आवश्यक कार्य की पूर्ति तथा अनावश्यक कार्य की निवृत्ति अभीष्ट है। सामर्थ्य और विवेक के अनुरूप जो कार्य है, उसे विश्राम को सुरक्षित रखने की दृष्टि से पूरा करना है और विवेक-विरोधी कार्य का त्याग तथा सामर्थ्य-विरोधी कार्य को समर्पित करना अनिवार्य है। आवश्यक कार्य की पूर्ति तथा अनावश्यक कार्य की निवृत्ति होने पर विश्राम स्वतः सुरक्षित रहता है। विश्राम कोई अवस्था नहीं है, अपितु वास्तविक तथ्य है। अवस्थाओं के तादात्म्य से मानव परिच्छिन्नता में आबद्ध होता है, किन्तु विश्राम के सुरक्षित रहने पर सजगता, असंगता एवं आत्मीयता आदि साधनों की

अभिव्यक्ति स्वत: होती है। और कर्तव्य निष्ठ होने के लिए आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति भी विश्राम में ही निहित है। इस दृष्टि से विश्राम सर्वतोमुखी विकास का मूल है।

सत् की चर्चा, उसके चिन्तन एवं सत् के संग में बड़ा भेद है। सत् की चर्चा तथा उसका चिन्तन श्रम–साध्य है, किन्तु सत् का संग श्रम-रहित होने से ही सम्भव है। सत् की चर्चा तथा चिन्तन करने के लिए मानव को शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि की अपेक्षा होती है, कारण, कि श्रम का सम्पादन शरीरादि के बिना सम्भव नहीं है। किन्तु सत् का संग करने के लिए शरीर के सहयोग की आवश्यकता नहीं होती। वह तो श्रम-रहित होने पर अपने आप हो जाता है। जब तक साधक उन्हीं प्रवृत्तियों को महत्व देता है, जिनके लिए उसे वस्तु योग्यता, सामर्थ्य आदि की आवश्यकता होती है, तब तक विश्राम से साध्य सत् का संग नहीं होता। सत् की चर्चा तथा उसका चिन्तन सत्संग का सहयोगी उपाय भले ही हो, पर सत्संग तो एकमात्र विश्राम से ही साध्य है। सत् की चर्चा तथा उसके चिन्तन से सत्संग की अभिरुचि जाग्रत होती है, सत् का संग नहीं होता, अर्थात् सत्संग की माँग सबल होती है। सत्संग की माँग में असत् के त्याग की सामर्थ्य निहित है; किन्तु सत् का संग तो एकमात्र अहंकृति-रहित विश्राम में ही निहित है। सत्संग का प्रभाव शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि पर स्वतः होता है।

जिस प्रकार असत् के संग के प्रभाव से इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि में अनेक दोषों की प्रतीति होती है, उसी प्रकार सत् के संग से स्वतः दोषों की निवृत्ति होती है, जिसके होते ही अपने-आप निर्दोषता से अभिन्नता हो जाती है। यद्यपि प्राकृतिक नियमानुसार करण गुण-दोष रहित होते हैं, कर्ता का चित्र ही उनमें प्रतिबिम्बित होता है। पर मानव उस प्रतिबिम्ब को इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि का ही दोष मान लेता है। यह सभी को विदित है कि प्रतिबिम्ब बिम्ब नहीं होता, अपितु प्रतिबिम्ब के द्वारा बिम्ब का बोध होता है। बिम्ब में परिवर्तन होने से प्रतिबिम्ब बदल जाता है। मानव अपनी भूल को ही इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि में आरोपित करता है और उनकी निन्दा करने लगता है। उससे उसकी बड़ी क्षति होती है। यदि श्रम-रहित होकर मानव सत्संग को

अपना ले, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक निर्दोषता से अभिन्न हो जाता है।

सत्संग के द्वारा उसमें की हुई भूल पुनः न दोहराने की सामर्थ्य आ जाती है, जिसके आते ही निर्दोषता सदा के लिए सुरक्षित हो जाती है। जिसके सुरक्षित होने से शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि में दोषों की प्रतीति नहीं होती, अपितु निर्दोषता का प्रभाव स्वत: हो जाता है, जिसके होते ही सभी करण कर्ता में विलीन हो जाते हैं और फिर कत्तां 'कत' न रहकर वास्तविक जीवन का जिज्ञासु हो जाता है। जिज्ञासा की पूर्ति होने पर प्रेम का प्रादुर्भाव स्वतः हो जाता है, जो वास्तविक जीवन है, अथवा यों कहो कि विश्रामपूर्वक सत्संग से ही मानव योग, बोध एवं प्रेम से अभिन्न होता है, जो सभी को अभीष्ट है। अपने लक्ष्य से निराश होने के। समान और कोई भारी भूल नहीं है। इस भूल का मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। अतएव योग, बोध तथा प्रेम मानवमात्र का लक्ष्य है। उसकी अभिव्यक्ति हो सकती है। उसके लिए एकमात्र अहंकृति-रहित होना अनिवार्य है। अहंकृति का उद्गम अविवेक है, जो निज-विवेक के आदर से ही मिट सकता है। जब मानव पराधीनता में ही जीवन-बुद्धि स्वीकार कर लेता है, तब अहंकृति उत्पन्न होती है, जिससे देहाभिमान पोषित होता है। अहंकृति-रहित हुए बिना देहाभिमान का अन्त हो नहीं सकता; कारण, कि करने की रुचि ही मानव को देह के तादात्म्य में आबद्ध करती है, जो पराधीनता का मूल है। प्राकृतिक नियमानुसार पराधीनता की पीड़ा स्वाधीनता की माँग जाग्रत करने में समर्थ है। स्वाधीनता की उत्कट लालसा पराधीनताजनित सुख-लोलुपता को खा लेती है और फिर मानव बड़ी ही सुगमतापूर्वक निर्ममता, निष्कामता एवं असंगता से अभिन्न होता है, जिसके होते ही निर्विकारता, परम-शान्ति एवं स्वाधीनता की अभिव्यक्ति होती है। इस दृष्टि से पराधीनता की पीड़ा में ही सर्वतोमुखी विकास निहित है।

पराधीनता में जीवन-बुद्धि स्वीकार करने के समान और कोई असावधानी नहीं है। असावधानी रहते हुए मानव जाने हुए असत् का त्याग नहीं कर सकता, जो मानव का परम पुरुषार्थ है। असावधानी का अन्त करने के लिए मानव को वर्तमान में ही सजगतापूर्वक अथक प्रयास करना है।

उसके लिए बड़ी-से-बड़ी कठिनाइयों को सहर्ष सहन करना अनिवार्य है। कठिनाइयों से भयभीत होना अपने ही द्वारा अपना विनाश करना है। प्राकृतिक नियमानुसार कठिनाई आवश्यक सामर्थ्य प्रदान करने में समर्थ है, अर्थात् कठिनाई असमर्थता का अन्त करने के लिए आती है। इसी कारण सत्संग प्रेमी मानव आई हुई कठिनाई का आदरपूर्वक स्वागत करते हैं, उससे भयभीत नहीं होते। कठिनाई प्राकृतिक तप है। तप से शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। अतएव कठिनाइयों में ही विकास निहित है। इस दृष्टि से कठिनाइयों का बड़ा महत्व है। कठिनाई आने पर पर्वत के समान अचल रहना अत्यन्त आवश्यक है। कठिनाई आने पर विचलित हो जाना असमर्थता को जन्म देना है। जो मानव कठिनाई में विचलित नहीं होते, उन्हें आवश्यक सामर्थ्य अवश्य प्राप्त होती है, यह मंगलमय विधान है। विधान का आदर करने पर सर्वतोमुखी विकास होता है, यह निर्विवाद सत्य है। सत्संग की उत्कट लालसा मानव को अनुकूलता की दासता एवं प्रतिकूलता के भय से रहित कर देती है और फिर बड़ी-से-बड़ी कठिनाइयों को सहन करना सहज हो जाता है, जो विकास का मूल है। असत् के संग से ही पराधीनता-जनित सुख का प्रलोभन तथा दुःख का भय उत्पन्न होता है। इस कारण जाने हुए असत् के संग का त्याग करना अनिवार्य है, जो अपने ही द्वारा सम्भव है। असत् का त्याग अपने को अपने ही द्वारा करना है। उसके लिए शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के सहयोग की अपेक्षा नहीं है। कामना-पूर्ति के लिए शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के सहयोग की अपेक्षा होती है। परन्तु निर्ममता, निष्कामता एवं असंगतापूर्वक सत्संग के लिए किसी भी उत्पन्न हुई वस्तु की अपेक्षा नहीं होती। वस्तु आदि की कामना जिसमें है, वह स्वयं उनका त्याग कर सकता है।

अब विचार यह करना है कि कामनाएँ, क्या अपने में नहीं हैं? उनकी पूर्ति का सुख तथा अपूर्ति का दुःख, क्या अपने को नहीं होता? जिसे सुख-दुःख होता है, उसे ही कामनाओं का त्याग करना है। जो कुछ मिला है वह अपना नहीं है-यह अनुभव अपने ही द्वारा अपने को करना है। इन्द्रिय तथा बुद्धि-दृष्टि से तो मिले हुए की प्रतीति होती है, पर उससे नित्य-

सम्बन्ध नहीं रहता। इसका अनुभव अपने ही द्वारा अपने को होता है, अथवा यों कहो कि निज-विवेक के प्रकाश में मानव स्वयं इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि को अपने से भिन्न अनुभव करता है। यह सब सामग्री हैं, स्वरूप नहीं॥ जो अपने से भिन्न है, उसकी ममता तथा कामना का त्याग अपने द्वारा सम्भव है। 'मेरा कुछ नहीं है', 'मुझे कुछ नहीं चाहिए' -यह निर्णय मानव को अपने ही द्वारा करना है। जो मिला है उसके द्वारा अपनी माँग पूरी नहीं होती। निर्ममतापूर्वक मिले हुए के सदुपयोग द्वारा मानव जगत् के लिए उपयोगी होता है, पर अपने लिए उपयोगी होना निर्ममता, निष्कामता एवं असंगता में ही निहित है। अपने लिए उपयोगी सिद्ध होने पर, मिली हुई वस्तु योग्यता, सामर्थ्य द्वारा दूसरों के अधिकार की रक्षा करना तथा अपने अधिकार का त्याग सहज हो जाता है, जिसके होते ही मानव राग-रहित होता है। राग-रहित भूमि में ही योग, बोध तथा प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। इस दृष्टि से मानव-मात्र को अपने लिए उपयोगी होने के लिए अथक प्रयत्नशील रहना है, जो एकमात्र सत्संग से ही साध्य है।

सत्संग के महत्त्व को भूल जाना अपने ही द्वारा अपना विनाश करना है। अविनाशी का संग ही सत् का संग है। उत्पन्न हुई वस्तुओं की ममता, कामना एवं तादात्म्य ने मानव को सत् से विमुख किया है। यह कैसा आश्चर्य है कि जो 'है', अर्थात् जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है, जिससे देश-काल आदि की दूरी नहीं है, अपितु जो सर्वत्र तथा सर्वदा है, उससे मानव विमुख हो जाय और जो प्रतीति-मात्र है,जिससे जातीय तथा स्वरूप की भिन्नता है एवं जो अपने को अपने-आप प्रकाशित नहीं करता, उसके पीछे दौड़े और परिणाम स्वरूप अभाव में आबद्ध हो जाय !

अभाव का अभाव करना मानव-मात्र को अभीष्ट है। इस माँग की पूर्ति हो सकती है। इससे निराश होना सर्वथा त्याज्य है, अपितु वास्तविक जीवन के लिए नित-नव उत्कण्ठा तथा उत्साह एवं नित-नव आशा होनी चाहिए। जिसकी उपलब्धि में निराशा के लिए कोई स्थान ही नहीं है, उससे निराश हो जाना अपने जाने हुए असत् का संग करना है, जो

विनाश का मूल है। जिसकी प्राप्ति मानव-मात्र के लिए अवश्यम्भावी है, उसके लिए उत्कट तीव्र लालसा का न होना भारी भूल है। इतना ही नहीं, जो लालसा-मात्र से ही प्राप्त होता है, उसे वर्तमान जीवन की वस्तु न मानना अपने ही द्वारा अपने को वास्तविक जीवन से वंचित करना है। जो मानव अपने द्वारा अपना विनाश नहीं करता, वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक वास्तविक जीवन से अभिन्न हो, कृतकृत्य हो जाता है। इस दृष्टि से सत्संग ही मानव का परम पुरुषार्थ है। यह प्राकृतिक न्याय है कि पुरुषार्थ की पूर्णता में सफलता निहित है।

पुरुषार्थ में शिथिलता तभी आती है, जब मानव अहंकृति-रहित आदि के आश्रय से ही जीना चाहता है। मिले हुए का दुरुपयोग नहीं करना है; किन्तु उसके आश्रित जीवित रहना संयोग की दासता तथा वियोग के भय का आह्वान करना है। दासता तथा भय कभी किसी को प्रिय नहीं हैं, अर्थात् प्रत्येक मानव की माँग दासता तथा भय से रहित होने की है। यह प्राकृतिक न्याय है कि दायित्व पूरा करने पर माँग की पूर्ति होती है। जाने हुए असत् के त्याग का दायित्व मानव-मात्र पर है। उसको पूरा करने की स्वाधीनता मानवमात्र को प्राप्त है। मिली हुई स्वाधीनता का सदुपयोग न करना, अपितु दुरुपयोग कर बैठना, अपने ही द्वारा अपना सर्वनाश करना है। इस दृष्टि से मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग करना सर्वथा त्याज्य है। जो मानव प्राप्त स्वाधीनता का दुरुपयोग नहीं करता, उसके जीवन में स्वाधीनता का सदुपयोग स्वतः होने लगता है। अत: स्वाधीनता का दुरुपयोग किसी को भी किसी भी परिस्थिति में नहीं करना है। स्वाधीनता के दुरुपयोग ने ही पराधीनता को जन्म दिया है। मानव का निर्माण जिसने किया है, उसने उसे पराधीनता नहीं दी है। उसे तो मानव की स्वाधीनता ही अभीष्ट है, कारण, कि मानव के निर्माता को मानव अत्यन्त प्रिय है। पराधीनता तो मानव की अपनी उपार्जित है; इसी कारण उसके अन्त करने का दायित्व उसी पर है, जो एकमात्र सत्संग से ही साध्य है।

सत्संग श्रम-रहित होने पर स्वत: हो जाता है। श्रम-रहित होने के लिए मिले हुए का सदुपयोग, जाने हुए का प्रभाव और सुने हुए में अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वास अनिवार्य है।

वस्तु योग्यता, सामर्थ्य आदि के रूप में जो कुछ मिला है, उसके द्वारा परिवार तथा समाज की सेवा करनी है। सेवा का अर्थ यह नहीं है कि उसके द्वारा किसी के दुःख का सर्वांश में नाश होगा, अपितु सेवक प्राप्त सुख का व्यय करता है। वह अपने को पर-पीड़ा से पीड़ित कर सुख के प्रलोभन से रहित कर लेता है, जिसके होते ही बड़ी ही सुगमतापूर्वक विश्राम पाता है। पर यह तभी सम्भव होगा, जब मानव मिले हुए को न तो अपना ही माने और न उसे अपने लिए माने, अपितु विश्व की सेवा की सामग्री जाने। मिले हुए के द्वारा ही समाज की क्रियात्मक सेवा होती है और उसके दुरुपयोग से ही समाज में संघर्ष होता है। संघर्ष का नाश मिले हुए के सदुपयोग में ही निहित है। इस कार्य को मानव-मात्र सुगमतापूर्वक कर सकता है। परन्तु जब तक यह आस्था तथा अनुभव नहीं होता कि श्रम-रहित होने में जो जीवन है, वही वास्तविक जीवन है, तब तक मानव मिली हुई वस्तु योग्यता, सामर्थ्य आदि का सदुपयोग नहीं कर पाता, अपितु इनके संग्रह में ही लगा रहता है। संग्रह की रुचि ने ही मानव की विश्व-जीवन के साथ एकता नहीं होने दी।

मिले हुए के सदुपयोग से आवश्यक वस्तु योग्यता, सामर्थ्य मंगलमय विधान से स्वत: प्राप्त होती है। इस कारण संग्रह की रुचि का नाश करना अनिवार्य है। उत्पादन और संग्रह में बड़ा भेद है। उत्पादन वही कर सकता है, जो मिले हुए का सदुपयोग करता है। संग्रह की रुचि अकर्मण्यता को जन्म देती है, अर्थात् मानव को कर्तव्यनिष्ठ नहीं होने देती। अकर्मण्यता, आलस्य, विलास आदि का जन्म संग्रह से ही होता है, पर यह रहस्य वे ही मानव जान पाते हैं, आदि का सदुपयोग किया है। इस दृष्टि से उत्पादन आवश्यक है और संग्रह त्याज्य है। संग्रह का बीज ममता तथा कामना है, जो असत का संग है। उत्पादन-कर्ता में सर्वहितकारी सदभावना रहती है और संग्रह-कर्ता में अपने सुख का प्रलोभन रहता है। अपने सुख का प्रलोभन अपने विनाश का बीज है; कारण, कि सुख-लोलुपता पर-पीड़ा से रहित करती है। पर-पीड़ा से रहित होते ही परस्पर संघर्ष उत्पन्न होता है, जो विनाश का मूल है। अपने सुख का प्रलोभन अपने जाने हुए

असत् का संग है। पर-पीड़ा से पीड़ित होने पर ही मानव सुख के प्रलोभन से रहित होता है, जो विकास का मूल है। पर-पीड़ा, संग्रह की रुचि का नाश कर उत्पादन में प्रवृत्त करती है। उत्पादन समाजोपयोगी है और संग्रह समाज के लिए घातक है। संग्रह की रुचि का नाश होने पर प्रत्येक कर्तव्य के अन्त में कर्ता श्रम-रहित होता है और फिर बड़ी ही सुगमतापूर्वक सत्संग से अभिन्न हो, कृतकृत्य हो जाता है। इस दृष्टि से प्राप्त वस्तु योग्यता, सामर्थ्य आदि के सदुपयोग में विश्राम निहित है।

जाने हुए का प्रभाव होने पर मानव बड़ी ही सुगमतापूर्वक देहाभिमान से रहित हो जाता है, जिसके होते ही सभी वासनाएँ स्वत: मिट जाती हैं। यह सभी को मान्य है कि वासनाओं के नाश में ही चिर-विश्राम तथा स्वाधीनता निहित है। जाने हुए के प्रभाव से असत् का त्याग तथा सत् का संग स्वतः होता है। जाने हुए के अनादर से ही मानव सत् से विमुख होता है। इतना ही नहीं, जो मानव अपने जाने हुए का आदर नहीं करता, वह सद्गुरु तथा सद्ग्रन्थ आदि के ज्ञान का भी आदर नहीं कर पाता। अपने जाने हुए का आदर करने पर सभी के ज्ञान का आदर हो जाता है, कारण, कि ज्ञान में एकता है, भिन्नता नहीं। ज्ञान किसी भाषा में आबद्ध नहीं है। भाषा तो एकमात्र माध्यम है, जाने हुए के प्रकाशन का संकेत-मात्र है, और कुछ नहीं। जिस पर अपने जाने हुए का प्रभाव नहीं होता, उस पर किसी के सन्देश, आदेश, उपदेश आदि का भी। प्रभाव नहीं होता। जिस-जिस अंश में मानव अपने जाने हुए का आदर करता है, उसी-उसी अंश में वह सद्ग्रन्थों तथा सद्पुरुषों की वाणी का आदर करता है।

प्राकृतिक नियमानुसार अर्थ की अभिव्यक्ति होने पर ही भाषा का प्रादुर्भाव होता है। किसी भाषा के अर्थ को अपनाने के लिए जाने हुए का प्रभाव अत्यन्त आवश्यक है। यदि भाषामात्र से ही वास्तविक ज्ञान का बोध होता, तो शब्दों के अर्थ में भिन्नता न होती। शब्द कल्पतरु के समान हैं। इस कारण जाने हुए का प्रभाव होने पर ही वास्तविक अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। अनुभव से पूर्व मान लेना आस्था है, ज्ञान नहीं। विकल्प-रहित आस्था ज्ञान के समान प्रतीत होती है। जाने हुए का प्रभाव मानव को निर्दोष

जीवन से अभिन्न करता है। विकल्प-रहित आस्था के आधार पर दोषों का त्याग करना पड़ता है और जाने हुए के प्रभाव से दोष स्वतः निवृत्त होते हैं। इस दृष्टि से जाने हुए के प्रभाव में विकास निहित है। जाने हुए के प्रभाव से कर्तव्य-परायणता, निर्ममता एवं निष्कामता स्वतः प्राप्त होती हैं, जिससे मानव श्रम-रहित हो, चिर-विश्राम से अभिन्न होता है। कर्तव्य -परायणता से आवश्यक तथा शुद्ध संकल्प पूरे होकर मिट जाते हैं और निर्ममता तथा निष्कामता से अनावश्यक संकल्प, अर्थात् व्यर्थ-चिन्तन नाश हो जाता है। इस कारण जाने हुए का प्रभाव मानव को चिर-विश्राम से अभिन्न करने में समर्थ है। व्यर्थ-चिन्तन का नाश हुए बिना विश्राम से अभिन्नता नहीं होती। इस दृष्टि से जाने हुए का प्रभाव अत्यन्त आवश्यक है।

व्यर्थ-चिन्तन से प्राप्त सामर्थ्य का ह्रास होता है और आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति नहीं होती, और न जिज्ञासा ही जाग्रत होती है। इस दृष्टि से व्यर्थ-चिन्तन सर्वथा त्याज्य है, जो एकमात्र जाने हुए के प्रभाव में ही निहित है। जाने हुए का प्रभाव, जो नहीं करना चाहिए उसके त्याग की प्रेरणा देता है, और जिसे नहीं कर सकते, उससे भी असंग करता है। प्राकृतिक नियमानुसार जिसे जो करना है, उसे करने की सामर्थ्य स्वत: प्राप्त होती है। अत: जो नहीं कर सकते, उसके करने का दायित्व नहीं है। परन्तु जो नहीं करना चाहिए, उसका त्याग अनिवार्य है।

त्याग विवेक-सिद्ध है, श्रम-साध्य नहीं। जाने हुए के प्रभाव से मानव विवेकवित् हो जाता है, जो विकास का मूल है। इस दृष्टि से जाने हुए के प्रभाव से भी मानव चिर-विश्राम से अभिन्न होता है।

जाने हुए के अनादर से ही मानव देहाभिमान में आबद्ध होता है, जो व्यर्थ-चिन्तन का मूल है। व्यर्थ-चिन्तन के होते हुए बलपूर्वक सार्थक-चिन्तन करने से, मानव मिथ्या अभिमान में आबद्ध होता है। इतना ही नहीं, श्रम-साध्य चिन्तन करता रहता है और व्यर्थ-चिन्तन होता रहता है। इस द्वन्द्वात्मक स्थिति में बेचारे मानव में दीनता तथा अभिमान की अग्नि प्रज्वलित होती है। जाने हुए का प्रभाव देहाभिमान से रहित कर, व्यर्थ-चिन्तन से मुक्त करता है। व्यर्थ-चिन्तन का अन्त होते ही साथक-चिन्तन स्वत:

उदित होता है। अभिमान-रहित प्रवृत्ति साधक को सहज निवृत्ति से अभिन्न करती है, जो विश्राम की मूल है। सार्थक और निरर्थक चिन्तन की द्वन्द्वात्मक स्थिति परिच्छिन्नता को जीवित रखती है। परिच्छिन्नता में आबद्ध मानव दूरी, भेद तथा भिन्नता को अपना लेता है। दूरी योग से, भेद बोध से और भिन्नता प्रेम से मानव को अभिन्न नहीं होने देती। इस कारण द्वन्द्वात्मक स्थिति का अन्त करना अनिवार्य है, जो एकमात्र जाने हुए के प्रभाव से ही सम्भव है। जाने हुए का प्रभाव सुरक्षित रखने के लिए प्रत्येक कार्य के आरम्भ और अन्त में शान्ति का सम्पादन अत्यन्त आवश्यक है। शान्ति का सम्पादन होते ही अपने आप व्यर्थ-चिन्तन की प्रतीति होती है। यदि मानव अपने आप होने वाले चिन्तन से सहयोग न करे, अपितु असहयोग कर निश्चिन्त हो जाए, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक व्यर्थ-चिन्तन का नाश होता है, जो जाने हुए के प्रभाव में ही निहित है।

व्यर्थ-चिन्तन के मिटाने तथा सार्थक-चिन्तन के करने में मानव सदैव श्रमित रहता है। यह सभी को मान्य है कि श्रम से मिली हुई सामर्थ्य का ह्रास ही होता है और विश्राम से आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है। यदि साधक जाने हुए के प्रभाव को अपना कर व्यर्थ-चिन्तन से असहयोग कर शान्त हो जाय, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक व्यर्थ-चिन्तन भी मिट जाता है और श्रम-रहित होने से स्वतः सार्थक-चिन्तन, विचार का उदय एवं आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति भी होती है। इस दृष्टि से जाने हुए का प्रभाव बड़ा ही महत्त्व पूर्ण है।

जाने हुए के प्रभाव में ही सत् का संग निहित है और जाने हुए के अनादर से ही असत् का संग होता है। असत् के संग से असाधन, अकर्तव्य, आसक्ति आदि दोषों की उत्पत्ति होती है, और सत्संग से असाधन आदि की निवृत्ति और साधन की अभिव्यक्ति होती है। साधन की अभिव्यक्ति होने पर साधन और जीवन में भेद नहीं रहता, अर्थात् एकता होती है, जो सफलता की कुञ्जी है। इन्द्रिय तथा बुद्धि-दृष्टि से जो देखने में आता है, उसके सम्बन्ध में जिज्ञासा हो सकती है; कारण, कि अधूरे ज्ञान में ही सन्देह की वेदना उत्पन्न होती है। सन्देह की वेदना में ही जिज्ञासा की जागृति निहित है। परन्तु जिसके सम्बन्ध में केवल

सुना है जिसे इन्द्रिय तथा बुद्धि-दृष्टि से देखा नहीं, उसमें ही आस्था, श्रद्धा और विश्वास होता है। अपने कारण का ज्ञान किसी कार्य को नहीं होता। यद्यपि कार्य में सत्ता कारण की ही होती है, तथापि कार्य कारण को विषय नहीं करता, अपितु उसको प्राप्त कर सकता है। इस दृष्टि से हम सबका जो आश्रय तथा प्रकाशक है, उसे हम इन्द्रिय तथा बुद्धि-दृष्टि से देख नहीं पाते, किन्तु उसकी आवश्यकता अनुभव करते हैं।

प्राकृतिक नियमानुसार कोई भी उत्पत्ति बिना आधार के और कोई भी प्रतीति बिना प्रकाशक के नहीं होती। अत: सृष्टि की उत्पत्ति तथा प्रतीति जिससे हुई है, वह आश्रय तथा प्रकाशक समस्त विश्व का है और उसमें प्रत्येक मानव अविचल आस्था, श्रद्धा तथा विश्वास कर सकता है, जिसके करते ही स्वत: आत्मीयता जाग्रत होती है, जो अगाध प्रियता की जननी है। शरीरादि उत्पन्न हुई वस्तुओं को अपना मान लेना भूल है। परन्तु जिससे समस्त सृष्टि उत्पन्न हुई है और प्रकाशित है, उसे अपना न मानना भी भारी भूल है। अर्थात् उत्पन्न हुई वस्तुओं की ममता, कामना एवं तादात्म्य बनाए रखना भी भूल है और सर्वाधार, सर्व के आश्रय एवं सर्व के प्रकाशक को अपना न मानना भी भूल है। इस भूल का अन्त करना मानव मात्र के लिए अनिवार्य है।

निर्ममता, निष्कामता एवं आत्मीयता स्वीकार न करना असत का संग है, जिसका त्याग मानवमात्र को करना है। अपनेपन से जो प्रियता जाग्रत होती है, वह अविनाशी है। इस दृष्टि से आत्मीयता में ही अगाध-अनन्त प्रियता निहित है। प्रियता स्वभाव से ही रसरूप है। प्रियता की अभिव्यक्ति में ही नीरसता का अत्यन्त अभाव है। नीरसता के नाश में ही निर्विकारता निहित है, कारण, कि नीरसता की भूमि में ही काम-क्रोध आदि दोषों की उत्पत्ति होती है। अतः नीरसता का अन्त करना अत्यन्त आवश्यक है, जो प्रियता की जागृति मात्र से बड़ी ही सुगमतापूर्वक हो जाता है। इस दृष्टि से अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक अपने निर्माता में आत्मीयता स्वीकार करना मानव-मात्र के लिए अत्यन्त आवश्यक है। जिसने मानव का निर्माण किया है, उसने अपने को इतना छिपाया है कि उसका दिया हुआ सब कुछ अपना ही मालूम होता

है। किन्तु जब मानव अपने आश्रय तथा प्रकाशक की आवश्यकता अनुभव करता है, तब वे उसे अपनी आत्मीयता प्रदान करते हैं, यह उनकी सहज कृपालुता है। आत्मीयता प्राप्त होते ही जीवन प्रीति से परिपूर्ण हो जाता है। प्रीति ने अपने प्रियतम से भिन्न को देखा ही नहीं। इस दृष्टि से प्रीति से अभिन्न होकर ही मानव अपने प्रियतम को अपने ही में पाता है, कारण कि प्रीति ही में प्रियतम का नित्य वास है और प्रीति प्रीतम ही का स्वभाव है। अतएव आस्था, श्रद्धा, विश्वास को अपना कर मानव बड़ी ही सुगमतापूर्वक वास्तविक जीवन से अभिन्न होता है।

आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक अपने को समर्पण करने पर भी चिर-विश्राम की अभिव्यक्ति होती है। इस दृष्टि से जो विश्राम मिले हुए के सदुपयोग से तथा जाने हुए के प्रभाव से प्राप्त होता है, वही विश्राम सुने हुए की अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वास से भी प्राप्त होता है। जिन साधकों में क्रियाशक्ति की प्रधानता और विचार तथा भावशक्ति गौण हैं, वे मिले हुए का दुरुपयोग न करने का निर्णय कर सत्संग प्राप्त करते हैं और कर्तव्यनिष्ठ होकर चिर-विश्राम पाते हैं, और जिन साधकों में विचारशक्ति की प्रधानता तथा भाव एवं क्रियाशक्ति गौण हैं, वे ममता, कामना को त्याग, असंग होकर चिर-विश्राम पाते हैं, और जिन साधकों में भावशक्ति की प्रधानता तथा विचारशक्ति और क्रियाशक्ति गौण हैं, वे आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक शरणागत हो, विश्राम पाते हैं। विश्राम से अभिन्न होने पर मानव-मात्र का सर्वतोमुखी विकास होता है, कारण, कि विश्राम से असत् की निवृत्ति तथा सत् का संग स्वतः हो जाता है। मिले हुए का सदुपयोग, जाने हुए का प्रभाव और सुने हुए प्रभु में अविचल आस्था सत् का संग है, जो एकमात्र अपने जाने हुए असत् के त्याग से ही सम्भव है। मिले हुए का दुरुपयोग, जाने हुए का अनादर एवं सुने हुए में अश्रद्धा असत् का संग है, जिसका मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब मानव अपनी वास्तविक माँग की पूर्ति से निराश नहीं होता। काम की निवृत्ति, जिज्ञासा की पूर्ति एवं प्रेम की प्राप्ति मानव की मौलिक माँग है, जिसकी पूर्ति एकमात्र सत्संग में ही निहित है।

प्रत्येक कार्य के आदि और अन्त में शान्ति के सुरक्षित रहने पर स्वतः सत्संग हो जाता है। अत: शान्ति को सुरक्षित रखने में ही मानव के पुरुषार्थ की परावधि है। अहंकृति और पुरुषार्थ में बड़ा भेद है। अहंकृति तो मानव को देहाभिमान में आबद्ध करती है और पुरुषार्थ देहाभिमान से रहित करता है। अहंकृति का उद्गम काम है, जो असत् के संग से उत्पन्न होता है और पुरुषार्थ का उद्गम विश्राम है, जो सत्संग से ही साध्य है। सत्संग के बिना चैन से रहना मानव-जीवन का घोर अपमान है। सत् की आस्था तथा असत् के त्याग से ही सत्संग होता है। सत्संग किसी श्रम-साध्य प्रयोग से सिद्ध नहीं होता, अपितु अहंकृति-रहित होने से ही सिद्ध होता है।

जब मानव जाने हुए असत् का त्याग नहीं करता और सुने हुए सत् में अविचल आस्था नहीं रखता, तब सत्संग से विमुख हो जाता है, जो विनाश का मूल है। प्राप्त सामर्थ्य के दुरुपयोग से असमर्थता उत्पन्न होती है। उसका परिणाम यह होता है कि मानव मिले हुए का सदुपयोग एवं जाने हुए का आदर तथा सुने हुए में अविचल श्रद्धा नहीं कर पाता। उस असमर्थता का अन्त तभी हो सकता है, जब अहंकृति-रहित शान्ति का सम्पादन किया जाय। कुछ न करने में सामर्थ्य की अपेक्षा नहीं है, अपितु जो कर चुके हैं, उसके परिणाम पर विचार करने की आवश्यकता है। किए हुए का परिणाम अविनाशी नहीं है, और मानव की माँग अविनाशी जीवन की है। माँग की जागृति में सजगता निहित है। सजगता आने पर जो नहीं करना चाहिए, उसके न करने का निर्णय स्वाभाविक हो जाता है। यह असत् का त्याग है। इसके करते ही असमर्थता मिटने लगती है और स्वतः आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है और फिर जाने हुए का प्रभाव, मिले हुए का सदुपयोग तथा सुने हुए में आस्था स्वतः होती है, जो वास्तव में सत्संग है।

मानव जीवन की सार्थकता एकमात्र सत्संग में ही निहित है। इतना ही नहीं, सत्संग ही मानवमात्र का परम पुरुषार्थ है। मानव के अतिरिक्त कोई अन्य प्राणी सत्संग नहीं कर सकता, कारण, कि मानव को स्वभाव से ही असत् का परिचय है। असत् का ज्ञान सत्संग की प्रेरणा देता है। असत् के संग से ही समस्त विकारों की उत्पत्ति होती है। इस दृष्टि से सत्संग के बिना

निर्विकारता की प्रापित किसी अन्य प्रकार से सम्भव नहीं है। निर्विकारता स्वभाव से ही सभी को प्रिय है। विकारयुक्त जीवन किसी को भी अभीष्ट नहीं है; कारण, कि मानव विकार युक्त होने से अपने को अपनी दृष्टि में आदर के योग्य नहीं पाता। इस दृष्टि से निर्विकारता में जो सौन्दर्य है, वह किसी अन्य में नहीं है।

विकारों में आबद्ध मानव कभी-भी परम-शान्ति तथा स्वाधीनता प्राप्त नहीं कर पाता। शान्ति के बिना सामर्थ्य की अभिव्यक्ति नहीं होती और स्वाधीनता के बिना चिन्मय जीवन से अभिन्नता नहीं होती, अर्थात् जड़ता का नाश नहीं होता। जड़ता ने ही मानव को कर्तव्य -परायणता, असंगता एवं आत्मीयता से विमुख किया है। कर्तव्य -परायणता के बिना जीवन जगत् के लिए, असंगता के बिना जीवन अपने लिए एवं आत्मीयता के बिना जीवन अपने निर्माता के लिए उपयोगी नहीं होता। इस दृष्टि से जड़ता का अन्त करना अनिवार्य है, जो एकमात्र सत्संग से ही साध्य है।

सत्संग के लिए असत् के आश्रय की लेशमात्र भी अपेक्षा नहीं है। हाँ, यह अवश्य है कि सत्चर्चा तथा सतचिन्तन असत् के आश्रय से हो सकता है, किन्तु चर्चा, चिन्तन सत् का, और आश्रय असत् का-यह कहाँ तक युक्ति-युक्त है ! इस पर विचार करना मानव-मात्र के लिए अनिवार्य है। यद्यपि सत् की चर्चा और सत् का चिन्तन मानव को सजगता प्रदान करता है, परन्तु सत्संग के बिना केवल चर्चा और चिन्तन से ही सन्तुष्ट हो जाना घोर प्रमाद है। इसका अर्थ यह नहीं है कि सत् की चर्चा तथा सत् का चिन्तन व्यर्थ है, परन्तु चर्चा तथा चिन्तन-मात्र को ही सत्संग मान लेना भूल अवश्य है। सत् की चर्चा के लिए किसी-न-किसी अन्य व्यक्ति की अपेक्षा होती है और सत् का चिन्तन मानव अपने द्वारा ही कर सकता है, किन्तु उसके लिए शरीर का आश्रय लेना पड़ता है। जिस कार्य के लिए पराश्रय अपेक्षित होता है, वह कार्य मानव को स्वाधीनता से अभिन्न नहीं कर सकता और स्वाधीनता के बिना वास्तविक जीवन का बोध नहीं हो सकता, जो सर्वतोमुखी विकास का मूल है। पराश्रय का अन्त करने के लिए निज-विवेक का आदर करना अत्यन्त आवश्यक है।

यह सभी को मान्य होगा कि इन्द्रिय-दृष्टि तथा बुद्धिदृष्टि निज-ज्ञान के प्रकाश में ही कार्य करती हैं, अर्थात् दृष्टि का उपयोग प्रकाश के बिना सिद्ध नहीं होता और प्रकाश ही दृश्य को सत्ता देता है। मानव को इन्द्रिय तथा बुद्धि-दृष्टि प्राप्त हैं। दृष्टि से तादात्म्य होने पर मानव प्रकाश के रहते हुए भी उससे विमुख हो जाता है। यदि मानव दृष्टि के प्रभाव से अपने को प्रभावित न होने दे, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक निज-विवेक के प्रकाश का आदर कर, असत के संग का त्याग, अर्थात् सत्संग कर सकता है। सत्संग के लिए मानव को असत् के आश्रय का त्याग करना अनिवार्य है।

जिस पर अपना स्वतन्त्र अधिकार नहीं है, जिससे नित्य-योग सम्भव नहीं है, उसका तादात्म्य ही असत् का आश्रय है। असत् के आश्रय-मात्र से ही ममता, कामना आदि दोषों की उत्पत्ति होती है। ममता के रहते हुए निर्विकारता की अभिव्यक्ति और कामना के रहते हुए चिर-शान्ति सम्भव नहीं है। निर्विकारता तथा शान्ति के बिना असमर्थता का नाश नहीं होता। असमर्थता का अर्थ सामर्थ्य का अभाव नहीं है, अपितु प्राप्त वस्तु योग्यता, सामर्थ्य आदि का दुरुपयोग ही वास्तव में असमर्थता है। जो कुछ नहीं कर सकता, वह, वह भी नहीं कर सकता, जो नहीं करना चाहिए, अर्थात् अकर्तव्य में प्रवृत्ति उसकी नहीं होती, जो कुछ नहीं कर सकता। इस दृष्टि से असमर्थता का वास्तविक अर्थ प्राप्त सामर्थ्य के दुरुपयोग के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। प्राप्त सामर्थ्य का दुरुपयोग मानव एकमात्र निज-विवेक के अनादर से ही करता है। यह सभी को विदित है कि उत्पत्ति में विनाश, संयोग में वियोग एवं सुख में दुःख निहित है, अर्थात् मृत्यु, वियोग तथा दुःख का भय मानव-मात्र अनुभव करता है। यद्यपि भययुक्त जीवन किसी को भी स्वभाव से प्रिय नहीं है, परन्तु असत् से तादात्म्य होने के कारण बेचारा मानव उत्पत्ति में विनाश का, संयोग में वियोग का तथा सुख में दुःख का स्पष्ट दर्शन नहीं कर पाता। उसका परिणाम यह होता है कि बेचारा मानव सुख की दासता तथा दुःख के भय में आबद्ध हो जाता है। सुख की दासता ने ही चिर-शान्ति से और वियोग के भय ने ही नित्य-योग से मानव को विमुख कर दिया है।

प्राकृतिक नियमानुसार चिर–शान्ति तथा नित्य–योग मानवमात्र का जन्मजात अधिकार है, किन्तु सत्संग के बिना वह अपने लक्ष्य से विमुख हो गया है। यद्यपि उसकी माँग बीज-रूप से सभी में विद्यमान है, परन्तु असत् के संग से उत्पन्न हुई संयोग की दासता ने उस विद्यमान माँग को शिथिल बना दिया है। यदि मानव भूल-जनित असत् के संग का त्याग कर, सत्संग को अपना ले, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक संयोग की दासता मिट सकती है और नित्य-योग की प्राप्ति हो सकती है। नित्य-योग के बिना चैन से रहना अपने ही द्वारा अपना विनाश करना है। नित्य-योग से निराश होना और संयोग की आशा रखना मानव की अपनी भूल है। इस भूल का अन्त करने का दायित्व मानव ही पर है। दायित्व पूरा करने की सामर्थ्य मानव को स्वतः प्राप्त है। दायित्व पूरा न करना व्यक्तिगत दोष है, जिसकी निवृत्ति किये बिना किसी भी प्रकार मानव विकासोन्मुख नहीं हो सकता। व्यक्तिगत दोष का अनुभव करना मानव-मात्र के लिए अनिवार्य है। अपने दोष का ज्ञान अपने को स्वत: निर्दोषता से अभिन्न कर देता है। निर्दोषता नित्य तत्त्व है। वह उत्पत्ति-विनाश-रहित है। इसी कारण उससे अभिन्नता होती हे।

दोष सभी उत्पन्न होते हैं। उनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता, उससे सर्वांश में एकता नहीं होती, अर्थात् किसी-न-किसी अंश में दूरी, भेद तथा भिन्नता रहती ही है। इस दृष्टि से दोषों का अन्त और निर्दोषता से एकता हो सकती है। निर्दोषता से निराश होने के समान और कोई भारी भूल नहीं है। दोषयुक्त जीवन में भी निर्दोषता की माँग रहती ही है। इससे यह निर्विवाद सिद्ध है कि दोषों का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, अर्थात् सभी दोष भूल-जनित हैं, प्राकृतिक नहीं। किन्तु निर्दोषता प्राकृतिक तथ्य है। जो प्राकृतिक तथ्य है, उसकी प्राप्ति सहज तथा स्वाभाविक होती है। पर यह रहस्य वे ही मानव जान पाते हैं, जिन्होंने जाने हुए असत् के त्याग द्वारा सत्संग को अपनाया है।

सत् की चर्चा तथा सत् का चिन्तन सत् की जिज्ञासा से आरम्भ होता है। सत् की जिज्ञासा की पूर्ति असत् के त्याग में निहित है। इस दृष्टि

से असत् के आश्रय का सर्वांश में त्याग करना ही सत्संग का सहज, सुगम तथा स्वाभाविक उपाय है। उत्पन्न हुई वस्तुओं की ममता, कामना एवं तादात्म्य ही असत् का संग है। जिस किसी को जो कुछ मिला है, वह किसी की देन है। किन्तु मिले हुए को अपना मान लेना अपनी ही भूल है। अपनी भूल का अन्त करते ही मिली हुई वस्तु योग्यता, सामर्थ्य आदि की ममता शेष नहीं रहती। निर्मम होते ही निष्कामता स्वत: आ जाती है। जब मिला हुआ ही अपना नहीं है, तो अप्राप्त की कामना कुछ अर्थ नहीं रखती। निर्मम होने पर निष्कामता स्वतः सिद्ध होती है, जो विकास की जननी है।

अब यदि कोई यह कहे कि निष्काम होने से तो भौतिक विकास ही न होगा, कारण, कि कामना से प्रेरित होकर ही मानव भौतिक उन्नति में प्रवृत्त होता है। पर वास्तविकता यह नहीं है। भौतिक विकास प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग, अर्थात् वर्तमान कर्तव्य -कर्म से होता है। अप्राप्त वस्तु योग्यता, सामर्थ्य आदि की प्राप्ति प्राप्त वस्तु योग्यता, सामर्थ्य के सदुपयोग में है, न कि कामना में। कामना में फसा हुआ मानव व्यर्थ चिन्तन में आबद्ध होता है। व्यर्थ-चिन्तन से, प्राप्त सामर्थ्य का ह्रास ही होता है, अप्राप्त सामर्थ्य की प्राप्ति नहीं होती। इतना ही नहीं, प्राप्त सामर्थ्य का ह्रास होने से वर्तमान कर्तव्य -कर्म सांगोपांग सम्पन्न नहीं होता। इस दृष्टि से कामना कर्तव्य परायणता में बाधक है, सहायक नहीं। कामनायुक्त प्राणी सदैव अपने अधिकार और दूसरों के कर्तव्य पर ही दृष्टि रखता है। निष्काम होते ही दूसरों के अधिकार की रक्षा और अपने अधिकार के त्याग की सामर्थ्य स्वत: आती है। दूसरों के अधिकार की रक्षा ही कर्तव्य का मूर्तिमान चित्र है और कर्तव्य परायणता ही भौतिक विकास की जननी है। इस दृष्टि से निष्काम होना मानव-मात्र के लिए अनिवार्य है। भौतिक उन्नति कामना-युक्त प्राणियों की होती है-इसमें लेशमात्र भी वास्तविकता नहीं है। पर-पीड़ा से पीड़ित प्राणियों ने ही भौतिक उन्नति की है और व्यक्तिगत सुखलोलुपता में आबद्ध होने से ही भौतिक अवन्नती होती है। निष्कामता के बिना व्यक्तिगत सुख-लोलुपता का नाश नहीं होता। इस कारण निर्ममतापूर्वक

निष्कामता प्राप्त करना भौतिक उन्नति के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

यह सभी को मान्य होगा कि जो मानव अपने व्यक्तिगत सुख को ही महत्व देता है, वह परिवार के लिए अनुपयोगी हो जाता है; कारण, कि व्यक्तिगत सुख के त्याग में ही तो पर-हित निहित है। जो अपने परिवार की उन्नति में ही सन्तुष्ट होता है, वह समाज के लिए अनुपयोगी हो जाता है। उसी प्रकार जो अपने वर्ग, देश, समाज की उन्नति को ही उन्नति मानता है, वही दूसरे देश, वर्ग आदि के लिए अहितकर सिद्ध होता है। यह प्राकृतिक नियम है कि जो दूसरों के जो सभी के हित में रत है, उसका हित अवश्य होता है। निर्ममता तथा निष्कामता के बिना सर्वहितकारी सद्भावना की जागृति ही नहीं होती।

सभी के विकास में अपना विकास निहित है-इस वैज्ञानिक तथ्य को अपनाये बिना भौतिक उन्नति भी नहीं हो सकती। यद्यपि भौतिक उन्नति-मात्र में ही मानव-जीवन की पूर्णता नहीं है, परन्तु भौतिक उन्नति के लिए भी वास्तविकता का आदर तथा अनुसरण अनिवार्य है। मिली हुई वस्तु योग्यता, सामर्थ्य व्यक्तिगत नहीं हैं, अपितु कर्तव्य -पालन के लिए किसी की देन है। मानव उस दाता को भले ही न माने, अथवा न जाने, परन्तु जो अपनी नहीं है, वह किसी की देन तो है ही। इस निज-अनुभव का आदर किये बिना किसी को भी चिर-शान्ति, स्वाधीनता एवं प्रेम की प्राप्ति नहीं हो सकती, जो वास्तविक जीवन है।

भौतिक विकास तथा आध्यात्मिक जीवन एक ही जीवन के दो पहलू हैं। इनमें विभाजन करना भूल के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मानव-मात्र को सुख और शान्ति चाहिए। सुख यदि भौतिक विकास है, तो शान्ति अध्यात्म जीवन है। शान्ति-रहित सुख और सुख-रहित शान्ति किसी को भी अभीष्ट नहीं है। यद्यपि सुख के भोगी को शान्ति नहीं मिलती, परन्तु शान्ति के पुजारी को सुख अवश्य मिलता है। पर यह रहस्य वे ही मानव जानते हैं, जिन्होंने सत्संग के द्वारा सुख की दासता तथा दुःख के भय का अन्त कर, चिर-शान्ति तथा नित्य-योग से अभिन्नता प्राप्त की है।

सुख-लोलुपता योग में भले ही बाधक हो, किन्तु लोलुपता-रहित सुख योग में बाधक नहीं है। सुख एक अवस्था है, जो संकल्प-पूर्ति से उत्पन्न

होती है। चिर-शान्ति अवस्थातीत जीवन है, जो एकमात्र नित्य-योग से ही साध्य है और नित्य-योग सत्संग में ही निहित है। इस दृष्टि से सत्संग ही सर्वतोमुखी विकास का मूल है। भौतिक विकास कर्तव्य-परायणता का बाह्य रूप है और नित्य-योग कर्तव्य-परायणता का आन्तरिक फल है। कर्तव्य-परायणता मानव को राग-रहित कर, नित्य-योग से अभिन्न करती है और नित्य-योग सिद्ध होने पर कर्तव्य -परायणता स्वत: आ जाती है। अपनी-अपनी रुचि के अनुसार कोई कर्तव्य निष्ठ होकर नित्य–योग प्राप्त करता है, और कोई नित्य-योग प्राप्त कर कर्तव्य निष्ठ होता है, अर्थात् कर्तव्य -परायणता में नित्य-योग एवं नित्य-योग में कर्तव्य -परायणता ओत-प्रोत हैं। परन्तु सत्संग के बिना न तो मानव विवेक-विरोधी कर्म को त्याग, कर्तव्य निष्ठ ही होता है और न विवेक-विरोधी सम्बन्ध को त्याग, नित्य-योग से ही अभिन्न होता है। अतएव सत्संग में ही सर्वतोमुखी विकास निहित है।

सत्संग कोई अभ्यास तथा अनुष्ठान नहीं है, अपितु निज-विवेक के आदर का फल है। जो मानव अपने अनुभव का आदर नहीं करता, वह सत्संग से विमुख हो जाता है। निज-अनुभव का आदर वर्तमान पुरुषार्थ है। उसके लिए भविष्य की आशा करना भारी भूल है। वर्तमान का सदुपयोग करते ही मानव भूतकाल की भूल के परिणाम से मुक्त हो जाता है और उसका भविष्य भी उज्ज्वल होता है। अतएव वर्तमान में ही निज-अनुभव का आदर कर सत्संग करना अनिवार्य है। सत्संग वर्तमान ही की वस्तु है। की हुई भूल को न दोहराने की प्रेरणा एकमात्र सत्संग से ही मिलती है। की हुई भूल को न दोहराना ही भूल का अन्त करना है। भूल के नाश में ही वास्तविकता से अभिन्नता निहित है। इस दृष्टि से भूल को 'भूल' जानकर शीघ्रातिशीघ्र भूल का अन्त करना मानव-मात्र के लिए अनिवार्य है। वास्तविकता का नाश नहीं होता, अपितु उसकी विस्मृति होती है। वास्तविकता की विस्मृति ही भूल है। उसके अतिरिक्त भूल का और कोई अस्तित्व नहीं है।

विस्मृति का अन्त करने के लिए आवश्यक कार्य की पूर्ति और अनावश्यक कार्य का त्याग अत्यन्त आवश्यक है। विवेक तथा सामर्थ्य के

अनुरूप जो कार्य है, उसके पूरा करने में कोई भी मानव पराधीन तथा असमर्थ नहीं है। इस दृष्टि से आवश्यक कार्य वास्तव में सहज तथा स्वाभाविक है, किन्तु सत्संग के बिना जो करना चाहिए तथा जिसे कर सकते हैं, वह भी कठिन-सा प्रतीत होता है। जो नहीं करना चाहिए, उसमें प्रवृत्ति तभी होती है, जब मानव निज-अनुभव का अनादर करता है, अर्थात् असत् का संग करता है। निज-अनुभव का आदर करते ही जो नहीं करना चाहिए, उसके त्याग का बल स्वतः आ जाता है और फिर कर्तव्य परायणता सहज तथा स्वाभाविक हो जाती है। कर्तव्य के अन्त में भी विश्राम स्वत: प्राप्त होता है, परन्तु निष्कामता के बिना विश्राम का बोध नहीं होता। विश्राम में ही विस्मृति का नाश तथा अखण्ड स्मृति की जागृति निहित है; कारण, कि विश्राम-काल में अपने-आप सत् का संग हो जाता है। जिस प्रकार असत् के संग से असाधन की उत्पत्ति और साधन की विस्मृति होती है, उसी प्रकार सत् के संग से असाधन का नाश तथा साधन की अभिव्यक्ति होती है। असाधन के रहते हुए बलपूर्वक किया हुआ साधन सत् की चर्चा तथा सत् का चिन्तन है, सत्संग नहीं।

सत्संग के पूर्व साधन और जीवन में एकता नहीं होती। प्राकृतिक नियमानुसार सर्वांश में असत् का संग नहीं होता, इस कारण सर्वांश में असाधन भी नहीं रहता। आंशिक साधन तो मानव-मात्र में स्वभाव से ही रहता है। सत्संग से आंशिक असाधन की निवृत्ति और सर्वांश में साधन की अभिव्यक्ति स्वतः होती है।

अत: सत्संग ही मानव का परम पुरुषार्थ है। असत् का संग भूल-जनित है, इसी कारण उसकी निवृत्ति होती है। और सत् का संग सहज तथा स्वाभाविक है, इसी से वह मानव-मात्र के लिए साध्य है। अतएव सत्संग से कभी निराश नहीं होना चाहिए, अपितु सत्संग के लिए नित्य-नव उत्साह तथा उत्कठा उत्तरोत्तर बढ़ती रहे, यही सत्संग की भूमि है। सत्संग को अस्वाभाविक मानना असत् के संग को पोषित करना है। निज-अनुभव में विकल्प न करने से सत्संग स्वत: हो जाता है।

पराधीनता में जीवन-बुद्धि स्वीकार करने से ही मानव अपने अनुभव का अनादर करता है। उसी

का यह भयंकर परिणाम होता है कि मानव आशिक साधन के अभिमान और आशिक असाधन की आसक्ति में आबद्ध हो जाता है। साधन और असाधन की द्वन्द्वात्मक स्थिति मानव में परिच्छिन्नता उत्पन्न करती है। यह सभी को मान्य है कि परिच्छिन्नता दूरी, भेद और भिन्नता की जननी है, अर्थात् परिच्छिन्नता मानव को योग, बोध तथा प्रेम से विमुख कर देती है। इस द्वन्द्वात्मक स्थिति का अन्त सत्संग के बिना किसी अभ्यास विशेष से सम्भव नहीं है, कारण, कि अभ्यास के लिए तो उत्पन्न हुई शरीरादि वस्तुओं का आश्रय लेना पड़ता है। उत्पन्न हुई वस्तुओं के आश्रय ने ही मानव को अनुत्पन्न सत् से विमुख कर दिया है। मिली हुई वस्तु योग्यता, सामर्थ्य आदि के सदुपयोग के लिए भले ही अभ्यास की अपेक्षा हो, किन्तु सत्संग के लिए तो किसी भी श्रमयुक्त अभ्यास की अपेक्षा नहीं है।

ममता, कामना, तादात्म्य के नाश में सत्संग निहित है। मिली हुई वस्तुओं की ममता का नाश वस्तुओं के अधीन नहीं है, अपितु निज-अनुभव के आदर से ही साध्य है। अपने अनुभव का आदर न करना, अपने ही द्वारा अपना विनाश करना है। किसी भी प्रलोभन तथा भय से निज-अनुभव का अनादर करना भारी भूल है। इस भूल का मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है, अपितु बड़ी-से-बड़ी कठिनाइयों को हर्षपूर्वक सहन करते हुए, निज-अनुभव का आदर करना अनिवार्य है। अनुभव का आदर करने के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है, अपितु उसे अपने ही द्वारा अपने को करना है। निज-अनुभव के आदर से उसे प्रसन्नता होगी, जिसने विवेकरूपी प्रकाश प्रदान किया है, और अपना कल्याण होगा। इस दृष्टि से निज-अनुभव का आदर बड़े ही महत्व की वस्तु है, जिसके करने में मानव-मात्र सर्वदा स्वाधीन है।

स्वाधीनतापूर्वक प्रत्येक मानव वास्तविक जीवन से अभिन्न हो सकता है, यह सत्संग की महिमा है। सत्वर्चा, सत्चिन्तन तथा सत्कर्म से मानव अपने व्यक्तित्व को सुन्दर बनाता है, परन्तु सत्संग के बिना वह व्यक्तित्व की दासता से मुक्त नहीं हो सकता। व्यक्तित्व की दासता में आबद्ध मानव अपने लिए तथा जगत् के लिए उपयोगी सिद्ध नहीं होता। जो अपने लिए तथा जगत् के लिए ही

अनुपयोगी है, वह भला अपने निर्माता, प्रकाशक तथा आश्रय के लिए उपयोगी हो ही कैसे सकता है? परन्तु सत्संग के द्वारा व्यक्तित्व की दासता से रहित होने पर मानव स्वतः सभी के लिए उपयोगी होता है।

असत्-कर्म, असत्-चिन्तन, असत्-चर्चा की अपेक्षा सत्-कर्म, सत्-चिन्तन एवं सत्-चर्चा बड़ी ही महत्त्व की वस्तु हैं, परन्तु असत् का आश्रय रखते हुए सर्वांश में सत् का संग सम्भव नहीं है। अतएव सत्-चर्चा, सत्-चिन्तन एवं सत्–कर्म के अभिमान से रहित होकर सत्संग आवश्यक है। मिली हुई वस्तु योग्यता, सामर्थ्य अपने लिए नहीं हैं, अपितु पर-सेवा के लिए हैं। जिसने यह अनुभव किया है, वह बडी ही सुगमतापूर्वक सत-चर्चा, सत्-चिन्तन एवं सत्-कर्म के अभिमान से रहित हो, सत्संग प्राप्त कर, कृतकृत्य हो जाता है। सत्संग से सत्-चर्चा, सत्-चिन्तन एवं सत्-कर्म स्वतः होता है, करना नहीं पड़ता, कारण, कि सत् का संग होते ही मिली हुई वस्तु योग्यता, सामर्थ्य का सदुपयोग तथा संयम स्वतः हो जाता है, देहाभिमान गल जाता है। इतना ही नहीं, दोषों की उत्पत्ति ही नहीं होती और गुणों का अभिमान शेष नहीं रहता। यह सत्संग की महिमा है।

यह सभी को मान्य होगा कि सत्-चर्चा, सत्–चिन्तन तथा सत्-कर्म के लिए किसी-न-किसी परिस्थिति की अपेक्षा होती है। प्रत्येक परिस्थिति स्वभाव से ही परिवर्तनशील तथा पर-प्रकाश्य है। अतएव परिस्थिति का आश्रय मानव को सत्संग से विमुख कर देता है। सत्संग के लिए प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग भले ही अपेक्षित हो; किन्तु सभी परिस्थितियों से असंग हुए बिना सत् का संग सहज तथा स्वाभाविक नहीं होता, जिसके बिना नित्य-योग किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है।

परिस्थितियों का आश्रय मानव को संयोग की दासता तथा वियोग के भय में आबद्ध करता है, जो किसी को भी अभीष्ट नहीं है। परिस्थिति का सदुपयोग भी तभी सम्भव होगा, जब जो नहीं जाय। कर्तव्य निष्ठ होने के लिए अकर्तव्य का त्याग अनिवार्य होता है। अकर्तव्य की उत्पत्ति असत् के संग से ही होती है। असत् का त्याग और अकर्तव्य का

नाश युगपद् होता है। अकर्तव्य के नाश में ही कर्तव्य -परायणता निहित है। इस दृष्टि से प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग भी सत्संग से ही साध्य है। परिस्थिति का सदुपयोग मानव को सभी परिस्थितियों से अतीत जो जीवन है, उससे अभिन्न करने में समर्थ है। परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना अपने को स्वाधीनता से विमुख कर, पराधीनता में आबद्ध करना है। स्वाधीनता मानव-मात्र की स्वाभाविक माँग है। उसकी पूर्ति एकमात्र सत्संग द्वारा नित्य-योग से होती है। परिस्थितियों का सदुपयोग विद्यमान राग की निवृत्ति में हेतु है। किन्तु अप्राप्त परिस्थितियों का आह्वान करना, नवीन राग को जन्म देना है। राग-रहित हुए बिना नित्य-योग की अभिव्यक्ति नहीं होती। अतएव परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि का त्याग, असत् का त्याग, अर्थात् सत् का संग है। सत्संग से प्राप्त परिस्थितियों का सदुपयोग और अप्राप्त परिस्थितियों की कामना का नाश स्वत: हो जाता है, जिसके होते ही नित्य-योग की अभिव्यक्ति स्वतः होती है, जो विकास का मूल है।

यह सभी को विदित है कि शरीर और विश्व एवं व्यक्ति और समाज में अविच्छिन्न सम्बन्ध है, अर्थात् इनमें विभाजन नहीं हो सकता। इस दृष्टि से सभी अपने हें। सभी को अपना स्वीकार करना सत् का संग है। यदि मानव इस तथ्य का अनादर न करे, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक कर्तव्य निष्ठ हो सकता है। कर्तव्य -परायणता मानव को वस्तु व्यक्ति, परिस्थिति, अवस्था आदि की दासता से रहित कर देती है, जो विकास का मूल है। जाने हुए का प्रभाव ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होता जाता है, त्यों-त्यों सभी विकार स्वतः नाश होते जाते हैं। इस दृष्टि से जाने हुए का प्रभाव, अर्थात् सत्संग मानव-मात्र का स्वधर्म है। अब यदि कोई कहे कि 'कोई भी वस्तु व्यक्तिगत नहीं है' , यह भी तो सत्, अर्थात् निज-अनुभव है, तो फिर सभी को अपना स्वीकार करना कहाँ तक युक्ति-युक्त है ! यदि मिली हुई वस्तु योग्यता, सामर्थ्य आदि व्यक्तिगत नहीं हैं, तो उनके दुरुपयोग का किसी को क्या अधिकार है? कदापि नहीं। मिले हुए का सदुपयोग करने के लिए सभी से एकता स्वीकार करना अनिवार्य है

और सभी को अपना स्वीकार करने पर, मिले हुए की ममता तथा अप्राप्त की कामना स्वत: नाश हो जाती है, जिसके होते ही 'सभी अपने हैं' - यह बोध स्वतः हो जाता है। इस दृष्टि से 'सभी को अपना स्वीकार करना', अथवा 'अपने में अपना करके कुछ नहीं है' -यह अनुभव समान अर्थ रखता है।

शरीर और विश्व की एकता वैज्ञानिक तथ्य है और शरीर व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं है, यह निज-अनुभव है। इस दृष्टि से अपना अनुभूतियों का आदर करते हुए यह स्पष्ट विदित होता है कि शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि तथा समस्त सृष्टि जिसका प्रकाश है, वह सभी का है। उसे अपना मानना, अथवा उसके नाते सभी को अपना मानना, अथवा सब कुछ उसी का मानना वास्तविकता है। वास्तविकता का आदर सत्संग है।

'सृष्टि किसी का प्रकाश है' -यह मानव की आस्था है, अथवा अनुभव? कोई भी प्रतीति बिना प्रकाशक के प्रतीत नहीं होती। सृष्टि स्वयं अपने को आप प्रकाशित नहीं करती। अतः यह स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है कि सृष्टि किसी का प्रकाश है। उसमें मानव अविचल आस्था करे, अथवा उसकी खोज करे, यह उसकी अपनी स्वाधीनता है। खोज उसी की होती है जो 'है' और आस्था भी उसी में की जाती है जो 'है'। 'है' का संग सत् का संग है। असत् की अनुभूति उसी से होती है, जो सत् है। असत् का प्रकाशक एवं आश्रय असत् नहीं हो सकता, अपितु सत् ही है। सत् कैसा है, कहाँ है, क्या है? इस सम्बन्ध में अनेक मत हो सकते हैं, किन्तु उसके होने में किसी का भी विरोध नहीं हो सकता। 'है' एक है, अनेक नहीं। अत: वह कैसा है? यह विवेचन उतना अपेक्षित नहीं है, जितना उसका संग। सत् का बोध, उससे योग एवं उसमें प्रियता सत्संग से ही साध्य है। इस दृष्टि से सत्संग में ही सर्वतोमुखी विकास निहित है।

असत् का ज्ञान सत् की जिज्ञासा जाग्रत करता है। सत् की जिज्ञासा ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों असत् की ममता तथा कामना मिटती जाती है। सर्वांश में सत् की माँग जाग्रत होते ही निर्ममता तथा निष्कामता स्वत: आ

जाती है, जिसके आते ही असत् से तादात्म्य नहीं रहता और फिर स्वतः सत् में अगाध प्रियता होती है। प्रियता स्वभाव से ही दूरी, भेद तथा भिन्नता को शेष नहीं रहने देती, अर्थात् योग, बोध तथा प्रेम से अभिन्न कर देती है।

माँग-मात्र से उसी की प्राप्ति होती है, जो नित्य प्राप्त है, अर्थात् जिससे देश, काल आदि की दूरी नहीं है। इतना ही नहीं, वास्तविक माँग उसी की होती है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है। स्वतन्त्र अस्तित्व उसी का होता है, जो अविनाशी है। अविनाशी वही है, जिसमें जड़ता की गन्ध भी नहीं है, अर्थात् जो चिन्मय है। जड़ता और विनाश-रहित जो है, उसी की माँग है, वही अपना है। समस्त सृष्टि उसी का प्रकाश है। उससे दूरी, भेद तथा भिन्नता सम्भव नहीं है। पर यह रहस्य एकमात्र सत्संग से ही स्पष्ट होता है, किसी अन्य प्रकार से नहीं। इस दृष्टि से सत्संग में ही जीवन है। सत् की अगाध प्रियता जाग्रत होने पर ही असत् की आसक्ति सर्वांश में नाश होती हे।

असत् की आसक्ति और सत् की प्रियता असत् और सत् में नहीं हो सकती, अपितु उसी में होती है, जो जाने हुए का आदर, अथवा अनादर तथा मिले हुए का सदुपयोग, अथवा दुरुपयोग एवं सुने हुए में श्रद्धा, अथवा अश्रद्धा करता है। उसका यदि नामकरण आवश्यक है, तो उसे 'मानव' कह सकते हैं। मानव जाने हुए का आदर, मिले हुए का सदुपयोग एवं सुने हुए में अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वास करने में स्वाधीन है। जाने हुए के आदर से असंगता, मिले हुए के सदुपयोग से कर्तव्य -परायणता और सुने हुए में अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वास से आत्मीयता स्वत: अभिव्यक्त होती है। जाने हुए का अनादर, मिले हुए का दुरुपयोग और सुने हुए में अश्रद्धा, न करना 'सत्संग' है, जो प्रत्येक मानव स्वाधीनतापूर्वक कर सकता है। सत्संग से अरसाधन का नाशा तथा साधन की अभिव्यक्ति स्वतः होती है। असंगता, कर्तव्य - परायणता एवं आत्मीयता 'साधन' हैं, जो सत्संग से ही साध्य हैं। सत्संग के बिना साधन का चिन्तन करना प्राप्त सामर्थ्य का ह्रास और असत् का आश्रय है। सत्संग से प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग और आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति स्वतः होती है। सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होने पर, जो नहीं करना

चाहिए उसकी उत्पत्ति ही नहीं होती और जो करना चाहिए, वह स्वत: होने लगता है। इतना ही नहीं, अखण्ड स्मृति और अगाध प्रियता स्वतः जाग्रत होती है। इस दृष्टि से असमर्थता का अन्त करने के लिए एकमात्र सत्संग ही अचूक उपाय है। सामर्थ्य के अभाव का नाम असमर्थता नहीं है, अपितु प्राप्त सामर्थ्य का दुरुपयोग ही वास्तविक असमर्थता है। प्रत्येक मानव साधननिष्ठ हो सकता है, किन्तु अपने को असाधन में आबद्ध रखता है। यही वास्तविक असमर्थता है। जो सम्भव है, उससे निराश हो जाना और जो असम्भव है, उसकी आशा में आबद्ध होना असत् के संग का ही परिणाम है।

सर्वांश में असत् के आश्रय का त्याग किए बिना सत्संग सम्भव नहीं है। यद्यपि प्राकृतिक नियमानुसार मानव सर्वांश में असत् का संग कर नहीं पाता, परन्तु आंशिक असत् के संग मात्र से ही मानव असाधन में आबद्ध हो जाता है। इस दृष्टि से असाधन की उत्पत्ति भूल-जनित है, प्राकृतिक नहीं। इसी कारण असाधन की निवृत्ति होती है। जाने हुए का अनादर करना और किए हुए में आसक्त होना भारी भूल है। जाने हुए का आदर करते ही किए हुए की आसक्ति स्वतः नाश हो जाती है और फिर जो करना चाहिए, वह होने लगता है। जो स्वत: होता है उसका अभिमान अंकित नहीं होता, अर्थात् जब वह होने लगता है जो करना चाहिए, तब निरभिमानता स्वत: आ जाती है, जिसके आते ही सर्वांश में असत् का त्याग, अर्थात् सत् का संग हो जाता है, जिसके होते ही स्वत: साधन की अभिव्यक्ति होती है, जो विकास का मूल है।

असमर्थता की अनुभूति मानव में वेदना जाग्रत करती है, जिसके जाग्रत होते ही समर्थ की खोज या आस्था उदित होती है। खोज से असंगता एवं आस्था से आत्मीयता प्राप्त होती है। असंगता स्वाधीनता से और आत्मीयता प्रियता से अभिन्न करती है, जो वास्तविक जीवन है। इस दृष्टि से असमर्थता का अनुभव करना मानव-मात्र के लिए अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु वास्तविकता से निराश होना, हार स्वीकार कर लेना सर्वथा त्याज्य है। असमर्थता की पीड़ा में ही सामर्थ्य की माँग निहित है। सामर्थ्य जिसकी देन है, वह अपना है। असमर्थता को सहन करते रहना ही सामर्थ्य से विमुख

होना है। अत: सामर्थ्य की माँग उत्तरोत्तर बढ़ती रहे, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक असमर्थता का अन्त हो सकता है। माँग-मात्र से ही जिसकी प्राप्ति होती है, उससे कभी-भी निराश नहीं होना चाहिए। पर यह दृढ़ता तभी सम्भव है, जब सत्संग को ही वर्तमान का सर्वोत्कृष्ट कार्यक्रम बना लिया जाय।

सत्संग करने में प्रत्येक मानव सर्वदा स्वाधीन है, कारण, कि अपने ही द्वारा सत्संग हो सकता है। सत्संग का वास्तविक अर्थ है-अपने जाने हुए का प्रभाव तथा सुने हुए में अविचल आस्था। जाने हुए का प्रभाव संयोग में वियोग का, जीवन में मृत्यु का और सुख में दुःख का स्पष्ट बोध करा देता है। सुने हुए में अविचल आस्था मानव को श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीयता प्रदान करती है। जीवन में मृत्यु का दर्शन करते ही मृत्यु का भयशेष नहीं रहता और संयोग में वियोग का अनुभव करने पर नित्य-योग की प्राप्ति होती है, एवं सुख में दुःख का दर्शन करने से सुख का प्रलोभन नाश हो जाता है, जो विकास का मूल है।

जिस किसी को जो कुछ मिला है, वह उसका अपना नहीं है, यह अनुभव मानव-मात्र का अपना अनुभव है। प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता आदि के उपयोग का अधिकार मिलने पर भी यह विधान नहीं है कि उन्हें अपना माना जाय, अपितु अपना मानना भूल ही है। अपना मानने से किसी वस्तु आदि पर अपना स्वत्व नहीं हो जाता, और अपना न मानने पर भी उनके उपयोग में कोई कठिनाई नहीं होती। इतना ही नहीं, अपना मानने से केवल लोभ, मोह, दीनता, अभिमान आदि विकारों की ही उत्पत्ति होती है, और अपना न मानने से स्वतः निर्विकारता की अभिव्यक्ति होती है, जो विकास की भूमि है। विकार-युक्त जीवन किसी के लिए भी उपयोगी सिद्ध नहीं होता और निर्विकार जीवन सभी के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध है कि ममता का मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। जीवन में जिसका कोई स्थान नहीं है, उसको बनाए रखना असत् का संग है, जिसका त्याग करना प्रत्येक मानव के लिए वर्तमान में ही अनिवार्य है, जो वास्तव में सत्संग है।

अब यदि कोई यह कहे कि मिली हुई वस्तु योग्यता, सामर्थ्य अपनी

नहीं है, पर उनका अस्तित्व तो है? यह नियम है कि जिनका स्वतन्त्र अस्तित्व होता है, वे अपने को अपने-आप प्रकाशित करते हैं, पर शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि कोई भी वस्तु अपने को अपने-आप प्रकाशित नहीं करतीं। अत: यह सभी को मान्य होगा कि वस्तुओं का प्रकाशक वस्तुओं से अतीत है। जो सभी वस्तुओं से अतीत है, वह उत्पत्ति-विनाश-रहित है; कारण, कि समस्त सृष्टि स्वयं अपने को अपने-आप प्रकाशित नहीं करती। इस दृष्टि से सृष्टि भी वस्तु ही है। यदि इन्द्रिय आदि अपने को अपने आप प्रकाशित नहीं करतीं, तो इन्द्रियों के द्वारा जिस जगत् की प्रतीति हो रही है, वह भी तो अपने को अपने-आप प्रकाशित नहीं करता। इस दृष्टि से मिली हुई वस्तु योग्यता, सामर्थ्य तथा समस्त सृष्टि समान हैं, अथवा यों कहो कि इन दोनों में जातीय एकता है। यह सभी को मान्य होगा कि प्रत्येक उत्पत्ति का आश्रय उत्पत्ति-रहित है। वैज्ञानिक आविष्कार, दार्शनिक खोज, साहित्यिक रचनाओं एवं कलाकृतियों के अभ्युदय आदि का जो आश्रय है, वह सभी का अपना है। उसमें आस्था न करना असत् का संग है, और उत्पन्न हुए में ममता करना भी असत् ही का संग है।

व्यक्तिगत विशेषताओं की जो प्रतीति है, वह किसी व्यक्ति-विशेष की उपज नहीं है, खोज भले ही हो। इतना ही नहीं, खोज करने की सामर्थ्य खोज करने से पूर्व मिलती है। जो मिलता है, वह किसी की देन है, व्यक्तिगत मिल्कियत नहीं है। मिले हुए के सदुपयोग से भिन्न-भिन्न प्रकार की विशेषताएँ उत्पन्न होती हैं और उनके दुरुपयोग से अनेक प्रकार की न्यूनताएँ उत्पन्न होती हैं। मिले हुए के सदुपयोग तथा दुरुपयोग की स्वाधीनता भी मानव-मात्र को मिली ही है। जिससे मिला है, उसे मानव भले ही न जाने, पर जो मिला है, वह किसी दाता की देन है, इतना तो जानता ही है। अन्तर केवल इतना है कि 'किसने दिया है' -यह नहीं जानता, पर किसी ने दिया है, यह प्रत्यक्ष ही है।

अब यदि कोई कहे कि मानव को जो कुछ मिला है, वह जगत् की देन है, तो यह मान्यता भी युक्तियुक्त नहीं है; कारण, कि दाता वही हो सकता है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व हो। जगत् की प्रतीति तो होती

है, पर उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व प्रत्यक्ष नहीं होता। जगत् की ओर आकर्षण भी तो भूल-जनित ही है। जब मानव मिले हुए को अपना मान लेता है, तभी कामनाएँ उत्पन्न होती हैं और उनकी पूर्ति के लिए ही जगत् की ओर आकर्षण तथा प्रवृत्ति होती है। किन्तु सभी कामनाएँ पूरी नहीं होतीं, यह वैधानिक तथ्य है। कामनाओं के अनुरूप प्रवृत्ति भले ही हो, पर प्रवृत्ति के अन्त में प्राप्ति कुछ नहीं होती, अपितु प्राप्त सामर्थ्य आदि का ह्रास ही होता है। अर्थात् प्रवृत्ति के परिणाम में अभाव ही शेष रहता है। इससे स्पष्ट ही है कि जगत् में देने की सामर्थ्य नहीं है। अत: जगत् दाता नहीं है, और न वह वास्तविक माँग की पूर्ति में समर्थ ही है। इतना अवश्य है कि व्यक्तिगत वस्तु सामर्थ्य, योग्यता और जगत् इनमें परस्पर एकता है। जब मानव प्राप्त वस्तु योग्यता, सामर्थ्य की ममता तथा अप्राप्त वस्तु सामर्थ्य, योग्यता आदि की कामनाओं का त्याग कर देता है, और मिली हुई वस्तु योग्यता, सामर्थ्य का दुरुपयोग नहीं करता एवं दाता में अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीयता स्वीकार कर लेता है, तब दुःख की निवृत्ति, परम-शान्ति, स्वाधीनता एवं प्रेम की अभिव्यक्ति स्वत: होती है, जो मानव की वास्तविक माँग है।

मिले हुए को अपना मानना, उसका दुरुपयोग करना एवं दाता को अपना न मानना-असत् का संग है, कारण, कि जो वास्तविकता है, उसको न अपनाने का अर्थ है-जो 'नहीं है' , उसे अपनाना। 'है' को न अपनाकर नहीं को अपनाना असत् का संग है और वास्तविकता को अपनाना सत् का संग है। सत् के संग में ही सर्वतोमुखी विकास निहित है।

कामना-पूर्ति को वास्तविक माँग मानकर किया हुआ प्रयास मानव को वास्तविकता से विमुख ही करता है। कामना-पूर्ति व आपूर्ति दो अवस्थाएँ हैं, जीवन नहीं। कामनाओं की उत्पत्ति भूल-जनित है, वास्तविक नहीं। इस दृष्टि से कामना-पूर्ति को लक्ष्य मान लेना असत् का संग है, जिसका त्याग अनिवार्य है। 'कामना-पूर्ति मानव-जीवन का लक्ष्य नहीं है' -यह अनुभव करते ही निष्कामता स्वतः आती है, जिसके आते ही अनावश्यक कामनाओं की निवृत्ति स्वतः होती है, कामना-पूर्ति के सुख में

जीवन-बुद्धि नहीं रहती और नवीन कामनाओं का जन्म नहीं होता, जो विकास की भूमि है। अतः कामना-पूर्ति को मानव-जीवन का लक्ष्य न मानना सत्संग है। सत्संग को द्वारा निर्मम तथा निष्काम होने पर कर्तव्य - परायणता एवं असंगता तथा आत्मीयता स्वतः जाग्रत होती है। इस दृष्टि से समस्त साधनों की अभिव्यक्ति सत्संग में ही निहित है। सत्संग के बिना बलपूर्वक किये हुए साधन से जीवन और साधन में एकता नहीं होती, आशिक असाधन रहता ही है। इतना ही नहीं, साधन करते हैं और असाधन होता रहता है। साधन की अभिव्यक्ति होने पर साधन और जीवन में एकता होती है और फिर साधन करना नहीं पड़ता और असाधन की उत्पत्ति नहीं होती। अत: सत्संग ही समस्त साधनों की भूमि है।

असतू का त्याग, सत का संग, असाधन का नाश और साधन की अभिव्यक्ति युगपद् होते हैं। साधन और असाधन के द्वन्द्व का अन्त सत्संग से ही होता है। साधन अभिव्यक्त होता है, उत्पन्न नहीं होता। इस कारण साधन अविनाशी है। असाधन असत् के संग से उत्पन्न होता है। वह कोई प्राकृतिक तथ्य नहीं है। असत् का संग भूल-जनित है। भूल-रहित होते ही स्वत: सत् का संग होता है और फिर सदा के लिए असाधन का नाश हो जाता है, जिसके होते ही 'साधन जीवन है'-यह प्रत्यक्ष हो जाता है।

कर्तव्य-परायणता, असंगता एवं आत्मीयता साधन का वास्तविक क्षेत्र है और यही मानव-जीवन है। मिले हुए का सदुपयोग ही कर्तव्य - परायणता है। पर वह तभी सम्भव है, जब सत्संग द्वारा यह स्पष्ट हो जाय कि मिला हुआ अपना नहीं है, अपने लिए नहीं है। कर्तव्य -परायणता से सुन्दर समाज का निर्माण स्वतः होता है और असंगता में ही अपना कल्याण निहित है एवं आत्मीयता से जाग्रत अगाध प्रियता ही में नितनव रस है, जो मानव मात्र को स्वभाव से ही प्रिय है; कारण, कि 'रस' क्षति, पूर्ति एवं निवृति से रहित है, इस कारण अनन्त है। रस की माँग सभी को है। रस से कभी किसी को अरुचि नहीं होती और न तृप्ति ही होती है। इस कारण रस की उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती रहती है। रस की माँग ही अन्तिम माँग है।

कर्तव्य -परायणता स्वभाव-सिद्ध है, श्रम-साध्य नहीं है; कारण, कि अपने लिए कुछ भी नहीं करना है, और वही करना है, जो कर सकते हैं, जिससे किसी का अहित नहीं है। इस दृष्टि से कर्तव्य -परायणता सहज, स्वाभाविक प्रवृत्ति है, जो मानव को असंगता का अधिकारी बना देती है। स्वाभाविक प्रवृत्ति मानव को सहज निवृत्ति से अभिन्न कर देती है, कार्य के अन्त में स्वत: विश्राम प्राप्त होता है। परन्तु जब मानव वर्तमान कर्तव्य-कर्म को सर्वोत्कृष्ट कार्य नहीं मानता और मिले हुए का सदुपयोग नहीं करता, तब सर्वांश में कर्तव्यपरायणता सिद्ध नहीं होती, कार्य के अन्त में भी कर्तव्य का भार बना ही रहता है। प्रत्येक कार्य का प्रारम्भ तथा अन्त होता है। कर्तव्यनिष्ठ होने पर कर्ता कार्य के आदि और अन्त में चिर-शान्ति पाता है, जो समस्त साधनों की भूमि है। कर्तव्यपालन के लिए आवश्यक सामर्थ्य, असंगता के लिए विचार का उदय एवं प्रीति की जागृति के लिए अखण्ड स्मृति चिर-शान्ति में ही निहित है। इस दृष्टि से शान्ति सुरक्षित रखना अनिवार्य है, जो वास्तव में मूक-सत्संग है।

अपना कुछ नहीं है, अपने को नहीं चाहिए, अपने लिए कुछ नहीं करना है-यह सत्संग है। अहंकृति-रहित होते ही चिर-विश्राम की अभिव्यक्ति होती है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब मानव मिले हुए के सदुपयोग में ही अपना अधिकार मानता है, सदुपयोग के फल की कामना नहीं रखता और न सदुपयोग करने के सुख का ही भोग करता है, अपितु दाता की प्रसन्नता, जगत् के अधिकार की रक्षा एवं करने के राग की निवृत्ति के लिए ही मिले हुए का सदुपयोग कर, निश्चिन्त हो जाता है। यही वास्तविक कर्तव्य-परायणता है। किये हुए का प्रभाव कर्ता में करने की आसक्ति उत्पन्न करता है। कर्तव्य विद्यमान राग की निवृत्ति के लिए है। करने से करने के राग को पोषित करना कर्तव्य नहीं है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब इस सत्य को अपना लिया जाय कि अपने लिए कुछ भी नहीं करना है। 'अपने लिए कुछ करना है' -यह असत् का संग है। कर्तव्य जगत् की सेवा है। सेवा से मान और भोग प्राप्त करने का प्रयास कर्तव्य के रूप में अकर्तव्य ही है, जो

सर्वथा त्याज्य है। मान और भोग का प्रलोभन असत् के संग से ही उत्पन्न होता है, जो विनाश का मूल है। अहंकृति-रहित हुए बिना कर्तव्य-परायणता सिद्ध नहीं होती। अहंकृति का अन्त तभी सम्भव है, जब इस वास्तविकता को अपना लिया जाय कि वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य से अतीत नित्य-प्राप्त में अविचल आस्था तथा उसकी खोज अपने लिए है, पर मिले हुए का सदुपयोग जगत् के लिए है।

यद्यपि कर्तव्य-कर्म के अन्त में विश्राम स्वाभाविक है, परन्तु करने का राग तथा उसका अभिमान एवं किये हुए की फलासप्ति श्रम-रहित नहीं होने देती। श्रम-रहित हुए बिना न तो आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति ही होती है और न अखण्ड-स्मृति तथा असंगता ही प्राप्त होती है। इस दृष्टि से श्रम-रहित होना प्रत्येक मानव के लिए अनिवार्य है। प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग अनिवार्य है। पर जो नहीं करना चाहिए, उसको करना और जिसे नहीं कर सकते, उसका चिन्तन करना भूल है। इस भूल का अन्त किये बिना परिस्थिति का सदुपयोग सम्भव नहीं है। परिस्थिति का सदुपयोग किये बिना सभी परिस्थितियों से अतीत वास्तविक जीवन से एकता नहीं होती। अत: प्राप्त परिस्थिति का आदरपूर्वक स्वागत करते हुए उसका सदुपयोग करना है।

सत्संग स्वधर्म है, शरीर धर्म नहीं। इस कारण उसका सम्पादन 'स्व ' के द्वारा ही सम्भव है। उसके लिए किसी 'पर' की अपेक्षा नहीं है। शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि पर स्वयं सत्संग का प्रभाव होता है। शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के द्वारा सत्संग नहीं होता। अपने ही द्वारा सत्संग करना है, कारण, कि अपने ही में सत्संग की माँग है। शरीर के सम्बन्ध से तो ममता, कामना आदि विकारों की उत्पत्ति होती है। अत: यदि अपने को सत् का संग करना है, तो वह तभी सम्भव होगा, जब अपने में से ममता, कामना आदि का त्याग कर दिया जाय। जिसकी ममता का त्याग करना है, उसकी वास्तविकता का परिचय भले ही अपेक्षित हो, किन्तु निर्मम होने के लिए उसके सहयोग की अपेक्षा नहीं है। जिससे जातीय एकता तथा नित्य सम्बन्ध नहीं है, उसका वास्तविक परिचय अर्थात् यथार्थ ज्ञान तभी होगा, जब उससे असंगता प्राप्त

हो जाय, जो एकमात्र सत्संग से ही साध्य है। सत् से देश-काल की दूरी नहीं है। जिससे देश-काल की दूरी नहीं है, वह स्वभाव से ही नित्य-प्राप्त है। उसका संग ही सत् का संग है।

नित्य–प्राप्त का संग किसी श्रम-साध्य प्रवृत्ति से सम्भव नहीं है, अपितु उसका संग तभी होगा, जब श्रम-रहित हो जायें। श्रमरहित होने के लिए निष्कामता और निष्कामता के लिए निर्ममता अनिवार्य है। निर्मम होने के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है। अपने ही द्वारा अपने में से मानव ममता का त्याग कर सकता है। जिसे हम अपना मानते हैं, क्या उस पर हमारा स्वतन्त्र अधिकार है? कदापि नहीं। तो फिर निर्मम होने में आपत्ति ही क्या है? कुछ नहीं। निर्मम होते ही 'पर' से 'स्व' की ओर गति स्वत: होती है, जो नित्य-प्राप्त से नित्य-योग कराने में समर्थ है। नित्य-योग में ही सर्वतोमुखी विकास निहित है। इस दृष्टि से असत् का त्याग, सत् का संग एवं नित्य-योग युगपद होते हैं। असत् का ज्ञान ही असत् के त्याग में हेतु है। यद्यपि असत् का ज्ञान मानव-मात्र को स्वतः प्राप्त है, किन्तु मिले हुए में अहम् तथा मम बुद्धि स्वीकार करने से असत् से तादात्म्य हो जाता है और फिर आंशिक सत्य की जिज्ञासा मात्र ही शेष रहती है।

असत् के संग से उत्पन्न हुए दोषों से जब मानव पीड़ित होता है, तब सत् की जिज्ञासा सबल तथा स्थायी होती है, जो जाने हुए असत् के त्याग की प्रेरणा देती है। असत् का संग तभी तक जीवित है, जब तक मानव असत् के संग-जनित परिणाम को सहन करता है, जो वास्तव में भूल है। भूल प्राकृतिक दोष नहीं है, अपितु असत् के संग से उत्पन्न होती है। उत्पत्ति का विनाश प्राकृतिक तथ्य है। इसी कारण भूल सदैव नहीं रह सकती। किसी का नाश ही उसकी उत्पत्ति सिद्ध करता है। अत: भूल का नाश होता है, इस कारण उसकी उत्पत्ति होती है, यह मानना युक्तियुक्त ही है।

अब यदि कोई यह कहे कि असत् के संग से भूल उत्पन्न हई, अथवा भूल से असत् का संग होता है? इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट ही है कि मिली हुई स्वाधीनता के दुरुपयोग से ही असत् का संग होता है, जिसे मूल भूल भी कह सकते हैं, पर यह प्राकृतिक नहीं है। प्राकृतिक तथ्य में परिवर्तन

भले ही हो, किन्तु उसका अत्यन्त अभाव नहीं होता। भूल का अत्यन्त अभाव होता है, इस कारण वह प्राकृतिक नहीं है, अपितु असत् के संग से ही उत्पन्न होती है। यह सभी को विदित ही है कि सर्वांश में असत् का संग सम्भव ही नहीं है। अत: असत् का संग करने पर भी सत् की माँग शेष रहती ही है। असत् के संग से उत्पन्न हुई कामनाएँ सत् की माँग का नाश नहीं कर सकतीं, किन्तु माँग की पूर्ति होने पर कामनाएँ सदा के लिए मिट जाती हैं। और फिर लेशमात्र भी असत् का संग नहीं रहता, जिसके मिटते ही भोग, मोह और आसक्ति का नाश तथा योग, बोध, प्रेम की अभिव्यक्ति स्वत: होती है, जो वास्तविक जीवन है।

श्रम, संयम, सदाचार शरीर-धर्म हैं, उनके अभिमान का त्याग सत्संग है, जो एकमात्र विश्राम से ही साध्य है। विश्राम कोई अभ्यास तथा अनुष्ठान नहीं है। वह किसी के सहयोग से सिद्ध नहीं होता है, अपितु अपने ही द्वारा अपने को साध्य है। विश्राम काल में आगे-पीछे का व्यर्थ-चिन्तन उत्पन्न होता है, परन्तु उसका मूल किये हुए का प्रभाव, अथवा जो करना चाहते हैं, उसके अतिरिक्त कुछ नहीं है। व्यर्थ-चिन्तन का नाश किसी चिन्तन से नहीं होता, अपितु कुछ काल के लिए दब जाता है। इसी कारण मानव सार्थक-चिन्तन करता रहता है और व्यर्थ-चिन्तन होता रहता है। 'करने' और 'होने' का द्वन्द्व तभी नाश होगा, जब व्यर्थ-चिन्तन की उत्पत्ति न हो। व्यर्थ-चिन्तन के नाश के लिए एकमात्र मूक-सत्संग ही अचूक उपाय है, अर्थात् श्रम-रहित होना है।

विश्राम-काल में अपने-आप होने वाले चिन्तन का अनुभव अपने को है, जो वास्तव में भुक्त-अभुक्त का प्रभाव है, और कुछ नहीं। व्यर्थ-चिन्तन का अनुभव प्रवृत्ति-काल में नहीं होता, अपितु विश्राम-काल में ही होता है। कोई भी प्रवृत्ति अखण्ड नहीं हो सकती, इस कारण प्रवृत्ति के अन्त में व्यर्थ-चिन्तन होने लगता है। इतना ही नहीं, प्रवृत्ति से व्यर्थ-चिन्तन दबता है, मिटता नहीं। व्यर्थ-चिन्तन का अन्त एकमात्र सत्संग से ही होता है। प्रवृत्ति का वह भाग, जिसके बिना करे किसी भी प्रकार नहीं रह सकते, उसका करना अनिवार्य है; किन्तु प्रवृत्ति में जीवन-बुद्धि रखना भूल है। आवश्यक प्रवृत्ति कार्यान्वित होकर नाश हो जाय, पर नवीन प्रवृत्ति को जन्म न दे, तो

प्रवृत्ति के अन्त में स्वतः आने वाली निवृत्ति सत्संग में हेतु है। यह सभी को मान्य है कि सत् अप्राप्त नहीं है। प्राप्त का संग निवृत्ति से ही सम्भव है; कारण, कि प्रवृति-काल में मिले हुए से संग, अर्थात् तादात्म्य हो जाता है। बस, यही असत् का संग है। इस दृष्टि से प्रवृत्ति का राग असत् के संग को पोषित् करता है। जब तक मानव सहज निवृत्ति से होने वाले सत्संग को नहीं अपनाता, तब तक प्रवृत्ति का राग नाश नहीं होता, जो असत् के संग को पोषित करता है। प्रवृत्ति प्रवृत्ति का राग मिटाने में भले ही उपयोगी सिद्ध हो, किन्तु प्रवृत्ति का राग तो एकमात्र असत् के संग का ही पोषक है।

बलपूर्वक प्रवृत्ति का निरोध निवृति नहीं है, अपितु प्रवृत्ति ही है। आवश्यक प्रवृत्ति के अन्त में अपने-आप आने वाली निवृत्ति ही वास्तविक निवृत्ति है और उसी निवृत्ति से सत् का संग होता है। निवृत्ति-काल में देहाभिमान अपने-आप गल जाता है; किन्तु प्रवृत्ति की रुचि पुनः देहाभिमान को उत्पन्न कर देती है। इस कारण प्रवृत्ति के राग का अत्यन्त अभाव अनिवार्य है, जो एकमात्र सत्संग से ही साध्य है।

अपने-आप होने वाले चिन्तन से भयभीत होना, अथवा उससे सुख लेना, व्यर्थ-चिन्तन को जीवित रखना है। इतना ही नहीं, किसी अन्य चिन्तन से उसको दबा देना भी उसके नाश में हेतु नहीं है। जो हो रहा है, उसका अनुभव जिसको है, उसे उससे असहयोग करना है। पर जब तक करने का राग है, तब तक किए हुए का प्रभाव चिन्तन के रूप में उत्पन्न होता ही रहता है। विश्राम अपने लिए उपयोगी है, उसमें जीवन है-यही महा मन्त्र है, करने के राग की निवृत्ति में। इस दृष्टि से मूक-सत्संग ही विकास की भूमि है।

जिस श्रम का अन्त विश्राम में हो, वही श्रम उपयोगी है। यह सभी को मान्य है कि श्रम से प्राप्त सामर्थ्य का व्यय होता है और विश्राम-काल में ही आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है। इस दृष्टि से विश्राम ही श्रम के आदि और अन्त में है। जो आदि और अन्त में है उसी में जीवन है, वही अविनाशी है। उससे अभिन्न होना ही सत् का संग है।

मिली हुई वस्तु योग्यता, सामर्थ्य के सदुपयोग में ही श्रम का महत्व है और उसी से सुन्दर समाज

का निर्माण होता है, अर्थात् पारस्परिक एकता सुरक्षित रहती है। यदि अपने लिए विश्राम ही है, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक श्रम द्वारा दूसरों के अधिकारों की यथाशक्ति रक्षा की जा सकती है। जिसे अपने लिए कुछ करना है, वह दूसरों के अधिकारों की रक्षा ईमानदारी से कर ही नहीं सकता। दूसरों के अधिकार उसी के द्वारा सुरक्षित रहते हैं, जिसने अपने लिए विश्राम को ही अपनाया है। इस दृष्टि से मूक-सत्संग में ही कर्तव्य-परायणता निहित है।

'विश्राम' अकर्मण्यता तथा अकर्तव्य नहीं है, अपितु योग तथा कर्तव्यपरायणता की भूमि है। जिसे अपने लिए कुछ नहीं करना है, उसे वास्तव में किसी से कुछ नहीं चाहिए। अत: निष्कामता भी विश्राम से ही सुरक्षित रहती है। जिसे कुछ भी चाहिए, उसमें प्रेम की अभिव्यक्ति भी नहीं होती और न वह स्वाधीनता का साम्राज्य ही पाता है, अपितु आसक्ति तथा पराधीनता में ही आबद्ध रहता है। इस दृष्टि से विश्राम में ही वास्तविक जीवन है। अपने-आप होने वाले व्यर्थ-चिन्तन का अनुभव कर उसके कारण की खोज करना अत्यन्त आवश्यक है। उससे तादात्म्य कर लेना सर्वथा त्याज्य है।

यह स्पष्ट ही है कि चिन्तन के रूप में जो प्रतीत हो रहा है, उसका वर्तमान में अस्तित्व नहीं है, कारण, कि चिन्तन आगे और पीछे से सम्बन्ध रखता है। जिसका अस्तित्व ही नहीं है, उससे भयभीत होना, अथवा उससे सुख लेना असावधानी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। भूतकाल की घटनाएँ, जो चिन्तन के रूप में प्रतीत होती हैं, उनके अर्थ को अपनाना है और घटनाओं के अस्तित्व को, जो वर्तमान में नहीं है, अस्वीकार करना है। की हुई बुराई के न दोहराने का निर्णय करते ही उसका चिन्तन निर्जीव हो जाएगा, और की हुई भलाई के अभिमान तथा फलासप्ति का त्याग करने से भलाई का चिन्तन भी मिट जाएगा, अर्थात् बुराई उत्पन्न न होगी और भलाई का अभिमान गल जाएगा, और फिर बड़ी ही सुगमतापूर्वक होने वाले चिन्तन से असंगता हो जाएगी, जिसके होते ही व्यर्थ-चिन्तन स्वत: नाश हो जाएगा और फिर चिर-विश्राम से अभिन्नता हो जाएगी।

प्रत्येक कर्तव्य-कर्म का सम्बन्ध वर्तमान से है। अत: भविष्य में

जो कुछ करना है, उसका चिन्तन तभी तक होता है, जब तक मानव कर्तव्यनिष्ठ नहीं होता और 'विश्राम में जीवन है'-इसमें आस्था नहीं होती। चिन्तन से उसकी प्राप्ति नहीं होती, जो कर्म-सापेक्ष है। अर्थात् उत्पन्न हुई वस्तुओं की प्राप्ति कर्म-सापेक्ष है, चिन्तन-साध्य नहीं। इस दृष्टि से वस्तु व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति आदि का चिन्तन व्यर्थ-चिन्तन ही है। अब यदि कोई यह कहे कि आत्मा-परमात्मा का त्तो चिन्तन करना होगा? अनात्मा का आश्रय लिए बिना, क्या कोई भी मानव किसी प्रकार का चिन्तन कर सकता है? कदापि नहीं। अनात्मा से असंग होने पर आत्मसाक्षात्कार तथा आत्मरति होती है, चिन्तन से नहीं। असंगता अनुभव-सिद्ध है, चिन्तन-साध्य नहीं। अत: आत्म-चिन्तन अनात्मा का तादात्म्य ही है, और कुछ नहीं। परमात्मा से देश-काल की दूरी नहीं है। जो सभी का है, सदैव है, सर्वत्र है, सर्व है, उसकी आत्मीयता ही उससे अभिन्न कर सकती है, कारण, कि आत्मीयता अगाध-प्रियता की जननी है। प्रियता दूरी, भेद, भिन्नता को रहने नहीं देती, अर्थात् मानव को योग, बोध, प्रेम से अभिन्न करती है।

'आत्मीयता' आस्था, श्रद्धा, विश्वास से ही साध्य है, किसी अन्य प्रकार से नहीं। आस्था, श्रद्धा, विश्वास की पुनरावृत्ति नहीं करनी पड़ती, अपितु अपने ही द्वारा स्वीकृति होती है। इन्द्रिय तथा बुद्धि-दृष्टि से जिसकी प्रतीति होती है, उससे असंग होना और सुने हुए आत्मा व परमात्मा में अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वास करना सत्संग है, अभ्यास नहीं। अभ्यास के लिए किसी 'पर' की अपेक्षा होती है और सत्संग अपने ही द्वारा साध्य है। इस दृष्टि से सत्संग 'स्वधर्म' तथा प्रत्येक अभ्यास 'शरीर-धर्म' ही है। स्वधर्म तथा शरीर-धर्म दोनों ही का पालन अनिवार्य है। स्वधर्म अपने लिए तथा शरीर-धर्म 'पर' के लिए उपयोगी है। योग, बोध तथा प्रेम की अभिव्यक्ति स्वधर्म, अर्थात् सत्संग से ही साध्य है।

प्रत्येक कर्तव्य-कर्म के आदि और अन्त में सत्संग का सुअवसर है। सत्संग के बिना कर्तव्य की, निज-स्वरूप की एवं प्रभु की विस्मृति नाश नहीं होती। कर्तव्य की विस्मृति में ही अकर्तव्य की उत्पत्ति, निज-स्वरूप की विस्मृति में ही देहाभिमान की उत्पत्ति और प्रभु की विस्मृति में ही आसक्तियों की उत्पत्ति होती है, जो विनाश का मूल

है। स्मृति अपने में अपने-आप जाग्रत होती है, उसके लिए किसी करण की अपेक्षा नहीं है। स्मृति में ही प्रीति, बोध तथा प्राप्ति निहित है। जिस प्रकार काष्ठ में अभिव्यक्त हुई अग्नि काष्ठ को भस्मीभूत कर देती है, उसी प्रकार अपने में ही जाग्रत स्मृति समस्त दोषों को भस्मीभूत कर देती है।

अखण्ड स्मृति किसी श्रम-साध्य उपाय से साध्य नहीं है, अपितु विश्राम, अर्थात् सत्संग से ही साध्य है। अविनाशी का संग किसी उत्पन्न हुई वस्तु के आश्रय से नहीं होता, ममता, कामना एवं तादात्म्य के नाश से ही होता है, जो अपने ही द्वारा अपने से साध्य है।

जो उत्पत्ति-विनाश-युक्त है, उसका आश्रय अनुत्पन्न अविनाशी तत्व ही है। अविनाशी की माँग मानव-मात्र में स्वभाव-सिद्ध है और विनाशी की ममता, कामना भूल-जनित है। भूल का नाश होने से ममता, कामना आदि का नाश हो जाता है। फिर स्वाभाविक माँग की पूर्ति स्वतः हो जाती है। उसके लिए कुछ करना नहीं पड़ता।

माँग की जागृति से, ममता तथा कामना के नाश से माँग की पूर्ति होती है। इस दृष्टि से वास्तविक माँग की पूर्ति और ममता, कामना आदि की निवृत्ति अनिवार्य है। इस ध्रुव सत्य में अविचल आस्था करने से सत्संग बड़ी ही सुगमतापूर्वक हो सकता है।

क्रिया–जनित सुख का प्रलोभन देहाभिमान, अर्थात् असत् के संग को पोषित करता है। असत् का संग रहते हुए किसी भी मानव को वास्तविक जीवन की उपलब्धि नहीं हो सकती। इस दृष्टि से असत् का त्याग तथा सत् का संग अनिवार्य है। यह नियम है कि जो मानवमात्र के लिए अनिवार्य है, उसकी प्राप्ति में पराधीनता तथा असमर्थता नहीं है। यह वैधानिक तथ्य है। अत: सत्संग मानवमात्र के लिए सुलभ है। उससे निराश होना भूल है। उसके लिए नित-नव उत्साह बनाए रखना अत्यन्त आवश्यक है। उत्साह मानव को सजगता तथा तत्परता प्रदान करता है। उत्साहहीन जीवन निराशा की ओर ले जाता है, जो अवन्नती का मूल है। जिसकी प्राप्ति में निराशा की गन्ध भी नहीं है, उसके लिए उत्साह सुरक्षित रखना सहज तथा स्वाभाविक है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब मानव सत्संग को अपना जन्म-सिद्ध

अधिकार स्वीकार करता है, कारण, कि सत्संग के बिना काम की निवृत्ति, जिज्ञासा की पूर्ति एवं प्रेम की जागृति सम्भव नहीं है। काम की निवृत्ति में ही नित्य-योग एवं जिज्ञासा की पूर्ति में ही तत्व-साक्षात्कार तथा प्रेम की जागृति में ही अनन्त रस की अभिव्यक्ति निहित है, जो मानवमात्र की अन्तिम माँग है।

क्रिया-जनित सुख-भोग में पराधीनता, असमर्थता एवं अभाव निहित है, जो किसी-भी मानव को अभीष्ट नहीं है। इतना ही नहीं, समस्त 'कर्म मान और भोग में हेतु हैं। मान और भोग की रुचि देहातीत जीवन से अभिन्न नहीं होने देती। देहयुक्त जीवन में स्थायित्व नहीं है, यह प्रत्येक मानव का निज-अनुभव है। स्थायित्व-रहित जीवन वास्तविक जीवन की माँग है, और कुछ नहीं। अर्थात् मानव का अस्तित्व 'माँग' है, जिसकी पूर्ति अनिवार्य है। असत् के संग से उत्पन्न हुई कामनाएँ मानव को वास्तविक माँग से विमुख करती हैं, और सत्संग से माँग की पूर्ति होती है।

कर्म का सम्बन्ध 'पर' के प्रति है, 'स्व' के प्रति नहीं। अपने से भिन्न जो कुछ है, वही 'पर' है। जिसे 'यह ' करके सम्बोधन करते हैं, वह अपने से भिन्न है। इस कारण शरीर तथा समस्त सृष्टि पर के अर्थ में ही आती है। शरीर और सृष्टि के प्रति ही कर्म की अपेक्षा है। वह कर्म, जो शरीर तथा सृष्टि के लिए अहितकर है, उसका करना असत् का संग है। अहितकर कर्म का त्याग सत् का संग है, अर्थात् जो नहीं करना चाहिए, उसका करना असत् का संग और उसका न करना सत् का संग है।

कर्म-विज्ञान की दृष्टि से जो नहीं करना चाहिए, उसके न करने में ही, जो करना चाहिए, वह स्वतः होने लगता है। इस दृष्टि से जो करना चाहिए, वह स्वतः होगा। पर जो नहीं करना चाहिए, उसका त्याग अनिवार्य है। सत्संग त्याग से ही साध्य है। त्याग सहज तथा स्वाभाविक तथ्य है। जैसे, कुछ भी करने से पूर्व, न करना स्वत: सिद्ध है और करने के अन्त में भी, न करना ही है। जो आदि और अन्त में है, उसे अपना लेना सत्संग है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि अकर्मण्यता तथा आलस्य का मानव-जीवन में कोई स्थान है। अकर्मण्यता तथा आलस्य तो

सर्वथा त्याज्य है। 'स्व' के प्रति करने की बात है ही नहीं, पर-हित में ही कर्म का स्थान है। प्रत्येक प्रवृत्ति सर्वहितकारी सद्भावना से ही आरम्भ हो। प्रवृत्ति के द्वारा अपने को कुछ भी नहीं पाना है-यह अनुभव हो जाने पर ही कर्म-विज्ञान की पूर्णता होती है। कर्म-विज्ञान वह विज्ञान है, जो मानव को क्रिया-जनित सुख-लोलुपता से रहित करने में समर्थ है।

क्रिया-जनित सुख-लोलुपता का अन्त होते ही योग-विज्ञान का आरम्भ होता है, जो एकमात्र सत्संग से ही साध्य है। योग की अभिव्यक्ति के लिए किसी प्रकार की प्रवृत्ति अपेक्षित नहीं है, अपितु मूक-सत्संग ही अपेक्षित है। मूक-सत्संग का अर्थ कोई श्रमयुक्त मानसिक साधन नहीं है, अपितु अहंकृति-रहित विश्राम है। कुछ न करने का संकल्प भी श्रम है। कर्तव्य के अन्त में अपने-आप आने वाला विश्राम मूक-सत्संग है। विश्राम-काल में ही सार्थक तथा निरर्थक चिन्तन की अभिव्यक्ति तथा उत्पत्ति होती है। सार्थक-चिन्तन का अर्थ है– अखण्ड स्मृति और निरर्थक चिन्तन का अर्थ है-भुक्त-अभुक्त का प्रभाव। भुक्त-अभुक्त के प्रभाव की प्रतीति को ही व्यर्थ-चिन्तन, मानसिक चंचलता आदि कहते हैं, जो किसी को भी अभीष्ट नहीं है।

प्राकृतिक नियमानुसार भुक्त-अभुक्त के प्रभाव की प्रतीति यद्यपि मानव के विकास में हेतु है, परन्तु उसके वास्तविक रहस्य को न जानने के कारण हम अपने-आप होने वाले चिन्तन को किसी अन्य चिन्तन के द्वारा मिटाने का प्रयास करते हैं, और यह भूल जाते हैं कि किए हुए का तथा करने की रुचि का परिणाम ही तो व्यर्थ–चिन्तन है। जिस कारण से व्यर्थ-चिन्तन उत्पन्न हुआ है, उसका नाश न करना और उसी के द्वारा व्यर्थ-चिन्तन मिटाने का प्रयास करना, व्यर्थ-चिन्तन को ही पोषित करना है।

व्यर्थ-चिन्तन की उत्पत्ति मानव को यह बोध कराती है कि भूतकाल में क्या कर चुके हो और भविष्य में क्या करना चाहते हो, जो कर चुके हो, उसका परिणाम क्या है? जो करना चाहते हो उसका परिणाम क्या होगा? इस पर विचार करने का सुअवसर व्यर्थ-चिन्तन के होने से ही मिलता है। व्यर्थ-चिन्तन का सदुपयोग

न करना और उसको बलपूर्वक किसी क्रिया-विशेष से मिटाने का प्रयास करना, अपने ही द्वारा अपना विनाश करना है। ज्यों-ज्यों व्यर्थ-चिन्तन मिटाने के लिए किसी क्रिया-विशेष को अपनाते हैं, त्यों-त्यों व्यर्थ-चिन्तन सबल तथा स्थायी होता है। किए हुए के परिणाम को किसी कर्म के द्वारा मिटाने का प्रयास सर्वथा व्यर्थ ही सिद्ध होता है, अर्थात् व्यर्थ-चिन्तन नाश नहीं होता। व्यर्थ-चिन्तन का अन्त करने के लिए क्रिया-जनित सुख-लोलुपता का सर्वांश में त्याग करना अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा, जब मूक-सत्संग के द्वारा शान्ति की अभिव्यक्ति, विचार का उदय एवं अखण्ड-स्मृति जाग्रत हो जाय। शान्ति में योग, विचार में बोध एवं अखण्ड-स्मृति में अगाध रस निहित है।

क्रिया-जनित सुख-लोलुपता की दासता का नाश रस की अभिव्यक्ति होने पर ही होता है। सुख-लोलुपता मानव को सदैव पराधीनता, जड़ता एवं अभाव में ही आबद्ध करती है। किन्तु रस की अभिव्यक्ति में पराधीनता, जड़ता, अभाव आदि की गन्ध भी नहीं है। इतना ही नहीं, पराधीनता से ही क्रिया-जनित सुख उत्पन्न होता है। जब मानव को पराधीनता असह्य हो जाती है, तब वह बड़ी ही सुगमता एवं स्वाधीनता पूर्वक सत्संग करने में तत्पर होता है। यह कैसा आश्चर्य है ! जिसकी उपलब्धि स्वाधीनता पूर्वक होती है, उससे विमुख होना और जिसमें पराधीनता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, उसके लिए प्रयास करना, क्या अपने ही द्वारा अपने विनाश का आह्वान नहीं है?

सत्संग की भूख जाग्रत होते ही सत्संग अत्यन्त सुलभ हो जाता है, उससे निराश होना भूल है। जो मौजूद है, उसका संग न करना और जो नहीं है, उसके पीछे दौड़ने का प्रयास करना, क्या प्राप्त सामर्थ्य का दुर्व्यय नहीं है? अर्थात् अवश्य है।

यह अनुभव सिद्ध है कि प्रतीति की ओर प्रवृत्ति भले ही हो, किन्तु परिणाम में प्राप्ति कुछ नहीं है। प्रवृत्ति के अन्त में अपने-आप आने वाली निवृत्ति ही मूक-सत्संग है। उस निवृत्ति को सुरक्षित रखना अनिवार्य है। यह तभी सम्भव होगा, जब "अपने लिए कुछ भी करना नहीं है, अपितु सेवा, त्याग, प्रेम में ही जीवन है" - इसमें किसी प्रकार का विकल्प न हो।

प्रवृत्ति का आकर्षण पराधीनता को जन्म देता है। प्रवृत्तियों का उद्गम देहाभिमान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। देहाभिमान की उत्पत्ति भूल-जनित है, जिसकी निवृत्ति मूक-सत्संग से ही साध्य है।

मूक-सत्संग स्वाभाविक है; पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब मानव करने के राग से रहित हो जाय, जो हो रहा है, उससे असहयोग कर ले तथा जो 'है, उसमें अविचल आस्था कर निश्चिन्त हो जाय। निश्चिन्तता आते ही है' से योग, उसका बोध एवं उसके प्रेम की प्राप्ति स्वतः होती है। मूक-सत्संग के बिना योग, बोध तथा प्रेम की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से मूक-सत्संग मानव-मात्र के लिए अनिवार्य है।

प्रत्येक कार्य के आदि और अन्त में मूक-सत्संग स्वतः होता है, उसको सुरक्षित रखना अत्यन्त आवश्यक है। कर्ता, कर्म और फल-इन तीनों में जातीय एकता है। क्रिया-जनित राग की निवृत्ति होने पर कर्ता 'जिज्ञासु' तथा 'भक्त' हो जाता है, कारण, कि उससे वास्तविकता की खोज एवं अपने निर्माता में आस्था उदित होती है। वास्तविकता की खोज स्वत: कर्मफल के राग से रहित कर देती है, कारण, कि किसी भी कर्म का फल अविनाशी जीवन नहीं है, जो मानव की स्वाभाविक माँग है। जिज्ञासा की तीव्र जागृति मानव को पराधीनता-जनित सुख-लोलुपता से रहित कर देती है। इस दृष्टि से जिज्ञासा की जागृति विकास की जननी है। कर्म-विज्ञान मानव को क्रिया-जनित सुख-लोलुपता से रहित होने की प्रेरणा देता है और नित्य-योग से अभिन्न करता है। किन्तु जब तक मानव करने के राग से रहित नहीं होता, तब तक न तो वह कर्तव्यनिष्ठ ही हो पाता है और न व्यर्थ-चिन्तन से ही छुटकारा पाता है।

व्यर्थ-चिन्तन की उत्पत्ति न चाहते हुए स्वतः होती है। यह नियम है कि प्रत्येक उत्पत्ति का विनाश अपने-आप होता है। इस कारण व्यर्थ-चिन्तन का सदुपयोग करना है, उससे भयभीत नहीं होना है। अपने सम्बन्ध में विचार करने का अवसर व्यर्थ-चिन्तन के होने से ही मिलता है। व्यर्थ-चिन्तन हो रहा है, किया नहीं जा रहा है। न करने की स्थिति में ही उसकी स्पष्ट प्रतीति होती है। उससे तद्रूप हो जाना भूल है। व्यर्थ-

चिन्तन से वर्तमान वस्तुस्थिति का परिचय होता है, जिसके होने से मानव अपनी माँग तथा दायित्व को भली-भाँति अनुभव कर सकता है।

यह नियम है कि दायित्व पूरा करने पर माँग की पूर्ति होती है और माँग का स्पष्ट दर्शन होने पर दायित्व का ज्ञान स्वत: होता है। इस दृष्टि से मूक-सत्संग मानव को साधननिष्ठ बनाकर लक्ष्य की प्राप्ति कराने में समर्थ है।

खोज तथा आस्था दोनों ही प्रकार से मानव सत्संग कर सकता है। आस्था सदैव सुने हुए में होती है और सन्देह देखे हुए पर होता है। एक ही दृश्य को अनेक दृष्टियों से देखा जाता है। दृष्टि-भेद होने पर दृश्य के परिचय में अन्तर हो जाता है। किन्तु देखने की रुचि में ही दृश्य का आकर्षण रहता है। देखने की रुचि तभी तक रहती है, जब तक मानव अपनी वास्तविक माँग से अपरिचित रहता है। वास्तविक माँग बीज रूप से विद्यमान है। उसका स्पष्ट दर्शन देखे हुए, किये हुए के प्रभाव से रहित होने पर ही होता है। देखा हुआ मिला नहीं किये हुए का परिणाम भाता नहीं, तब मानव विवश होकर सुने हुए में आस्था करता है। सुने हुए की अविचल 'आस्था' श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीयता प्रदान करती है। सुने हुए की आत्मीयता तथा देखे हुए से विमुखता दृढ़ होने पर नित्य-योग, बोध तथा प्रेम की अभिव्यक्ति स्वत: होती है।

क्रिया-जनित राग का नाश होने पर मिले हुए का सदुपयोग और देखे हुए से असंगता होती है, जिसके होते ही अपने ही में अपने प्रेमास्पद को पाकर मानव कृतकृत्य हो जाता है। इस दृष्टि से मानवमात्र को मिले हुए का सदुपयोग करना, देखे हुए से असंग होना एवं सुने हुए प्रभु में आत्मीयता स्वीकार करना अनिवार्य है, जो एकमात्र मूक-सत्संग से ही साध्य है।

निस्सन्देहता के बिना चैन से न रहने पर ही वास्तविक जिज्ञासा जाग्रत होती है। और 'अपने प्रकाशक तथा आश्रय की आत्मीयता ही अपना सर्वस्व है' -यह निष्ठा ही मानव को भक्त बना देती है। जिज्ञासु 'जिज्ञासा' होकर परम-तत्व से अभिन्न होता है और भक्त 'भक्ति' होकर अपने प्रेमास्पद को नित-नव रस प्रदान करता है। पर मूक-सत्संग के बिना निस्सन्देहता तथा भक्ति की भूख

जाग्रत नहीं होती। सन्देह-युक्त जीवन में ही मान तथा भोग की रुचि जीवित रहती है और निस्सन्देहता में ही योग, बोध तथा प्रेम की प्राप्ति होती है। इस दृष्टि से सन्देह-रहित होना अनिवार्य है।

कर्तव्य-परायणता, असंगता एवं आत्मीयता की अभिव्यक्ति के लिए मूक-सत्संग ही अचूक उपाय है, कारण, कि जिसको अपने लिए कुछ नहीं करना है, उसी में कर्तव्य-परायणता उदित होती है और जो अपने में अपना करके कुछ नहीं पाता तथा जिसे कुछ नहीं चाहिए, उसी को असंगता प्राप्त होती है एवं जिसने अन्य विश्वास का अन्त कर केवल सुने हुए प्रभु में ही अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वास को अपनाया है, उसी को आत्मीयता प्राप्त होती है। इस दृष्टि से मूक-सत्संग समस्त साधनों की भूमि है।

असत् के संग के प्रभाव से पराधीनता में जीवन-बुद्धि उत्पन्न होती है, परन्तु सत् के संग से स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश होता है। प्राकृतिक नियमानुसार संग का प्रभाव स्वत: होता है और मानव बिना संग के अपने को कभी नहीं पाता, अर्थात् किसी-न-किसी का आश्रय मानव में रहता ही है। यदि वह सत् का आश्रय अपना ले, तो बड़ी सुगमतापूर्वक निश्चिन्तता, निर्भयता एवं प्रियता को प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है। और असत् के आश्रय से चिन्ता, भय तथा अनेक प्रकार की आसक्तियों में आबद्ध होता है। इस दृष्टि से संग का कितना प्रभाव होता है-यह मानवमात्र के लिए विचारणीय विषय है।

सत्संग के बिना किसी भी प्रकार कोई भी मानव निश्चिन्तता, निर्भयता एवं प्रियता से अभिन्न नहीं हो सकता, अर्थात् साधननिष्ठ नहीं हो सकता। निश्चिन्तता में ही आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति तथा उसका सदुपयोग निहित है। भय-रहित हुए बिना कोई भी परम-शान्ति नहीं पाता। शान्ति के बिना नित्य-योग की अभिव्यक्ति नहीं होती। प्रियता में ही रस की अभिव्यक्ति होती है। इस कारण मानवमात्र को निश्चिन्तता निर्भयता एवं प्रियता से अभिन्न होना अनिवार्य है, जो एक मात्र सत्संग से ही साध्य है।

असत् के संग से ही मानव निर्विकारता, शान्ति एवं स्वाधीनता से विमुख हो गया है। इतना ही नहीं, असत् के संग ने ही मानव को अनेक

आसक्तियों में आबद्ध कर दिया है। समस्त निर्बलताएँ असत् के संग का ही परिणाम हैं। इस कारण असत् के संग का मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

प्राकृतिक नियमानुसार जो कुछ हो रहा है, उससे कोई क्षति नहीं होती। क्षति का मूल, अपनी भूल, अर्थात् असत् का संग है। यदि मानव उत्पन्न हुई वस्तुओं का आश्रय न अपनाए, तो वस्तुएँ स्वयं किसी प्रकार के विकार को उत्पन्न नहीं कर सकतीं। इतना ही नहीं, उनके सदुपयोग से भी कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। पर प्रमादवश वस्तुओं का आश्रय लेना और उनका दुरुपयोग करना मानव में अनेक दोष उत्पन्न करता है। वस्तुएँ स्वरूप से चाहे जैसी हों, पर उनका आश्रय तथा दुरुपयोग असत् है। उसी के त्याग का मानव पर दायित्व है। मूल वस्तुओं के उत्पादन की सामर्थ्य किसी मानव में नहीं है। उनका सदुपयोग तथा दुरुपयोग ही मानव कर सकता है। उनका दुरुपयोग असत् का संग है, जो सर्वथा त्याज्य हे।

वस्तुओं का आश्रय लेने से वस्तुएँ सुरक्षित रहेंगी-ऐसा प्राकृतिक नियम नहीं है और आश्रय त्याग करते ही उनका उपयोग न हो सकेगा-ऐसा भी विधान नहीं है। आश्रय लेने से ही वस्तुओं की दासता उत्पन्न होती है, जो मानव को पराधीनता, जड़ता एवं अभाव में आबद्ध करती है। आश्रय उसी का सार्थक है, जो अविनाशी है। इस दृष्टि से वस्तुओं के सदुपयोग का तो मानव-जीवन में स्थान है, पर उनका आश्रय तो सर्वथा त्याज्य ही है। वस्तुओं के आश्रय ने ही संग्रह की रुचि तथा अप्राप्त का चिन्तन एवं उनके दुरुपयोग की वृत्ति को जन्म दिया है, जो विनाश का मूल है। उत्पन्न हुई वस्तुओं का आश्रय मिटते ही अनुत्पन्न-तत्व का आश्रय स्वतः हो जाता है,। जो वास्तव में सत्संग है। इस दृष्टि से संयोग को नित्य-योग में परिणत करने की सामर्थ्य एकमात्र सत्संग में ही निहित है। सत्संग एक ऐसा अनुपम प्रयोग है, जो वर्तमान में ही साध्य है और अपने ही द्वारा सम्भव है। उसके लिए भविष्य की आशा तथा 'पर' की अपेक्षा नहीं है। उससे विमुख होने के समान और कोई असावधानी नहीं है।

सत्संग और उसका फल युगपद् होते हैं, अर्थात् सत् का संग करते ही स्वत: समस्त साधनों की अभिव्यक्ति होती है। अत: सत्संग ही

वास्तव में मानव का अपना पुरुषार्थ है। उसका अधिकार उसे जन्म-सिद्ध प्राप्त है। सत्संग से जिसकी प्राप्ति होती है, उसकी प्राप्ति किसी अन्य प्रकार से नहीं होती। इस दृष्टि से सत्संग का त्याग करना अपने वास्तविक जीवन से विमुख होना है। अतः सत्संग अव्दितीय उपाय है। इस अव्दितीय-अनुपम उपाय को न अपनाना अपने ही द्वारा अपना सर्वनाश करना है।

मानव आश्रय-रहित नहीं होता। सत् के आश्रय से वह योग, बोध, प्रेम को प्राप्त कर कृतकृत्य होता है और असत् के आश्रय से भोग, मोह और आसक्ति में आबद्ध होता है। असत् का ज्ञान तथा सत् की आस्था मानवमात्र में बीज रूप से विद्यमान है। मूक-सत्संग से असत् का ज्ञान स्पष्ट हो जाता है और सत् की आस्था सजीव होती है। असत् के ज्ञान में ही असत् के त्याग की सामर्थ्य निहित है, अर्थात् असत् का ज्ञान तथा सत् का संग युगपद् होते हैं। आस्था की सजीवता, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक सत् में आत्मीयता प्रदान कर असत् का त्याग करा देती है। विचार-पथ से असत् के त्याग से सत् का संग होता है।

मूक-सत्संग से विस्मृति नाश होती है, जिसके होते ही वास्तविकता का बोध, कर्तव्यपरायणता और अगाध प्रियता स्वतः जाग्रत होती है। विस्मृति ने ही मानव को देहाभिमान, अकर्तव्य एवं आसक्ति में आबद्ध कर दिया है, इस कारण विस्मृति का अन्त करना अनिवार्य है, जो एकमात्र मूक-सत्संग से ही साध्य है।

अहंकृतिपूर्वक निवृत्ति भी मूक-सत्संग नहीं है। आवश्यक प्रवृत्ति के अन्त में स्वतः आने वाली निवृत्ति मूक-सत्संग है। कर्तव्य-पथ की दृष्टि से भी कर्तव्य का अन्त मूक-सत्संग में ही होता है। पर कब? जब मानव फलासक्ति रहित हो जाय। विचार-पथ, अर्थात् निज-अनुभव का आदर करने पर भी मूक-सत्संग सिद्ध होता है। विश्वास-पथ की दृष्टि से शरणागत होने पर भी मूक-सत्संग सिद्ध होता है और मूक-सत्संग से सभी पथ स्वतः सिद्ध होते हैं, अर्थात् मूक-सत्संग से ही समस्त साधनों की अभिव्यक्ति होती है और सभी श्रम-साध्य प्रयोग मूक-सत्संग में ही विलीन होते हैं। इस दृष्टि से मूक-सत्संग आदि में भी है और अन्त में भी। यह सभी को मान्य है कि सजगता सदैव शान्ति में ही निहित है।

इस कारण शान्ति ही से सर्वतोमुखी विकास आरम्भ होता है। अतः प्रत्येक मानव को शान्ति का सम्पादन अनिवार्य है, जो एकमात्र मूक-सत्संग से ही साध्य है।

यह सभी को मान्य होगा कि अहंकृति-रहित हुए बिना विश्राम नहीं मिलता। विश्राम के बिना सामर्थ्य की अभिव्यक्ति नहीं होती। सामर्थ्य की अभिव्यक्ति में ही लक्ष्य की प्राप्ति निहित है। असमर्थता मानव को पराधीनता में आबद्ध करती है। असमर्थता का अन्त किसी परिस्थिति से सम्भव नहीं है, कारण, कि प्रत्येक परिस्थिति स्वभाव से ही अपूर्ण है। किसी-न-किसी प्रकार का अभाव प्रत्येक परिस्थिति में रहता ही है। कृति का महत्व परिस्थिति के सदुपयोग में है। परिस्थिति का सदुपयोग जीवन के एक भाग में है, समस्त जीवन में नहीं।

परिस्थितियों का आश्रय तथा प्रकाशक जो है' उसमें अविचल आस्था और परिस्थितियों से अतीत के जीवन की खोज करना प्रत्येक मानव के लिए अनिवार्य है। अहंकृति-रहित होते ही आस्था तथा खोज स्वत: उदित होती है। प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना है, परन्तु किसी भी परिस्थिति में जीवन-बुद्धि नहीं रखना है। परिस्थितियों के परिवर्तन का ज्ञान मानव को है। जिसके परिवर्तन का ज्ञान है, वह उसका जीवन नहीं है। अत: कोई भी परिस्थिति जीवन नहीं हो सकती। जीवन की माँग जीवन को अस्तित्व को सिद्ध करती है। इस दृष्टि से जीवन है और उस की प्राप्ति होती है। उससे निराश होना, उसमें अविचल आस्था न करना तथा उसकी खोज न करना असत् का संग है। अत: मूक-सत्संग से असमर्थता का अन्त तथा सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होने पर ही लक्ष्य की प्राप्ति होती है।

श्रम और विश्राम दोनों ही जीवन के आवश्यक अंग हैं। परन्तु श्रम का सम्बन्ध सृष्टि के साथ है। समस्त चेष्टाएँ व्यक्तिगत होते हुए भी किसी-न-किसी दृष्टि से समस्त सृष्टि के साथ सम्बन्ध रखती हैं। पर यह बात तभी स्पष्ट होती है, जब मानव अपने ही द्वारा अपनी चेष्टाओं का विश्लेषण करता है। जिस किसी को जो कुछ करना है, उसका सम्बन्ध 'पर' के साथ होता ही है, अथति अनेक चेष्टाओं से मिलकर कार्य की सिद्धि का सम्पादन होता है। ऐसी कोई चेष्टा हो ही नहीं सकती, जिसका सम्बन्ध केवल उसी से

हो, जिसने चेष्टा आरम्भ की है। कार्य की सिद्धि एक दूसरे के सहयोग में ही निहित है। अत: वही करना सार्थक सिद्ध होगा, जिसका आरम्भ पर-हित से हो। पर-हित में रति तभी होती है, जब मानव किसी-न-किसी दृष्टि से सभी के साथ एकता स्वीकार करे। सभी के साथ एकता स्वीकार करना सत्संग है, कारण, कि समस्त सृष्टि एक है, उससे व्यक्तिगत विभाजन स्वरूप से सम्भव नहीं है। अनेक बाह्य भेद होने पर भी एकता है ही। यदि ऐसा न हो, तो प्रत्येक कर्म का सम्बन्ध समस्त विश्व के साथ सम्भव ही न होता और संगठन के बिना कर्म का आरम्भ ही नहीं हो सकता।

अतः यह स्पष्ट ही है कि अनेकता के मूल में एकता स्वतः सिद्ध है। उस एकता की विस्मृति असत् का संग है, जो अकर्तव्य में हेतु है। कर्तव्य और अकर्तव्य का निर्णय सत्संग से ही साध्य है। सभी के साथ आदरपूर्वक रहने के लिए यह आवश्यक है कि कोई ऐसा कार्य न किया जाय, जो किसी के लिए भी अहितकर हो। सर्वहितकरी प्रवृत्ति का उद्गम सत्संग ही है। जो किसी के लिए भी अहितकर है, उसके करने का अधिकार मानव को नहीं है। जिसके करने का अधिकार नहीं है, उसको न करना ही असत् का त्याग तथा सत् का संग है।

भौतिकवाद की दृष्टि से समस्त सृष्टि एक होने से, "सभी अपने हैं"-यह सम्बन्ध स्वीकार करना सत्संग है। अध्यात्मवाद की दृष्टि से समस्त सृष्टि से असंग होना सत्संग है और आस्तिकवाद की दृष्टि से श्रद्धा, विश्वासपूर्वक प्रभु में आत्मीयता स्वीकार करना सत्संग है।

सभी को अपना स्वीकार करते ही सर्वात्म-भाव अर्थात् विश्व-प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, जिसके होते ही कर्तव्य-परायणता की अभिव्यक्ति और उदारता की जागृति स्वतः होती है। उदारता में करुणा तथा प्रसन्नता निहित है, जो मानव को सुख-लोलुपता से रहित कर सेवा के रस से अभिन्न करती है।

निर्ममता, निष्कामतापूर्वक असंग होते ही मानव देहाभिमान-रहित होकर स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश पाता है और अमरत्व से अभिन्न हो, कृतकृत्य होता है, तथा पराधीनता शेष नहीं रहती और फिर स्वतः अखण्ड रस की अभिव्यक्ति होती हे।

यह सभी को विदित है कि अपने में अपनी प्रियता स्वत: होती है। अत: जब मानव अपने को प्रभु का और प्रभु को अपना स्वीकार करता है, तब स्वत: अगाध-प्रियता से उदित अनन्त रस की अभिव्यक्ति होती है। वास्तविकता से भेद अथवा अभेद-भाव से सम्बन्ध स्वीकार करना ही सत्संग है। सत्संग से मानव सुख की दासता तथा दु:ख के भय से रहित हो, रस से परिपूर्ण होता है, जो स्वभाव से ही मानवमात्र की वास्तविक माँग है। कुछ भी करने से पूर्व यदि सत्संग द्वारा मानव अपने लक्ष्य के सम्बन्ध में सन्देह-रहित हो जाता है, तो फिर बड़ी ही सुगमतापूर्वक श्रम और विश्राम की वास्तविकता को भलीभाँति अनुभव कर लेता है। श्रम की महत्ता पर-सेवा में ही निहित है और विश्राम अपने लिए उपयोगी सिद्ध होता है। जिसे अपने लिए कुछ भी करना शेष नहीं है, वही विश्व-प्रेम, आत्मरति तथा प्रभु-प्रेम से परिपूर्ण होता है, जो वास्तविक जीवन है।

यह मानव मात्र का अनुभव है कि वह अपने में श्रम तथा विश्राम दोनों ही की आवश्यकता अनुभव करता है। किन्तु मूक-सत्संग के बिना श्रम और विश्राम की वास्तविकता से अपरिचित रहता है। बड़े-से-बड़ा श्रमी, क्या विश्राम के बिना रह सकता है? कदापि नहीं। जिन्होंने विश्राम के महत्व को नहीं जाना है, वे स्वप्न तथा सुषुप्ति द्वारा वर्तमान परिस्थिति से असंग होते हैं। इससे यह स्पष्ट ही है कि प्रवृत्ति का परिवर्तन तथा प्रवृत्ति की निवृत्ति अनिवार्य है। जाग्रत और स्वप्न में कोई भी सदैव नहीं रह सकता। दोनों से अतीत सुषुप्ति प्रत्येक मानव को आवश्यक है। किन्तु जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति-तीनों अवस्थाएँ देहाभिमान के आश्रित ही होती हैं। देहाभिमान-रहित हुए बिना जाग्रत-सुषुप्ति, जो वास्तव में मूक-सत्संग से साध्य है, उपलब्ध नहीं होती और उसके बिना विश्राम सजीव नहीं होता।

'श्रम ही जीवन है' -यह तभी तक प्रतीत होता है, जब तक वास्तविक विश्राम अप्राप्त है। श्रम विश्राम के लिए ही उपयोगी है और विश्राम से ही आवश्यक सामर्थ्य मिलती है, जिससे श्रम सिद्ध होता है, अर्थात् श्रम द्वारा प्राप्त सामर्थ्य का सदव्यय और विश्राम से आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है। श्रम

का महत्व पर-पीड़ा से पीड़ित होकर प्राप्त सामर्थ्य के सदव्यय में है। पर श्रम द्वारा अपने को कुछ नहीं मिल सकता, यह वास्तविक तथ्य है। श्रम विश्राम की तैयारी है। जब मानव यह भलीभाँति अनुभव कर लेता है कि श्रम अपने लिए नहीं है, अपितु विश्राम ही अपने लिए है, तब वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक असंगता तथा आत्मीयता से परम-शान्ति, स्वाधीनता एवं प्रेम से परिपूर्ण हो, कृतकृत्य हो जाता है। शान्ति, स्वाधीनता तथा प्रेम में ही वास्तविक जीवन निहित है।

यदि श्रमी श्रम के अन्त में विश्राम नहीं पाता, तो समझना चाहिए कि श्रम विधिवत् नहीं किया और सर्वहितकारी प्रवृत्ति स्वतः नहीं होती, तो मानना चाहिए कि वास्तविक विश्राम नहीं मिला। सर्वहितकारी प्रवृति में ही श्रम की पूर्णता है। विश्व-प्रेम तथा पर-पीड़ा को अपनाए बिना कर्तव्य-परायणता नहीं आती, जो एकमात्र सत्संग से ही साध्य है। यद्यपि असत् का ज्ञान मानव में बीज-रूप से विद्यमान है, परन्तु मूक-सत्संग के बिना असत् से असंगता और सत् से अभिन्नता नहीं होती है। सत् असत् का प्रकाशक है, नाशक नहीं। पर सत् का संग मानव को असत् से असंग तथा सत् से अभिन्न करने में समर्थ है। इस दृष्टि से सत् का संग सत् से भी अधिक महत्वपूर्ण है। असत् से असंग होते ही, असत् का नाश और सत् से अभिन्नता स्वतः होती है, यह दार्शनिक तथ्य है। परन्तु असत् से असंग होते ही, असत् का प्रभाव मिट जाता है और सत् का संग होते ही, उसके प्रभाव की अभिव्यक्ति स्वतः होती है, अर्थात् असाधन का नाश तथा साधन की अभिव्यक्ति सत्संग में ही निहित है।

जिस प्रकार शरीर का प्रत्येक अवयव भिन्न-भिन्न प्रतीत होने पर भी वास्तव में शरीर से अभिन्न है, उसी प्रकार सृष्टि की प्रत्येक वस्तु भिन्न-भिन्न होने पर भी सृष्टि से अभिन्न है। इस दृष्टि से प्रत्येक मानव की समस्त सृष्टि से एकता है। इस तथ्य में आस्था करने से बड़ी ही सुगमतापूर्वक सार्थक श्रम की अभिव्यक्ति होती है, जो सुन्दर समाज के निर्माण और विश्व-प्रेम की अभिव्यक्ति में हेतु है। जिन प्रवृत्तियों से सुन्दर समाज का निर्माण तथा विश्व-प्रेम की अभिव्यक्ति नहीं होती, उन प्रवृत्तियों की उत्पत्ति असत् के संग से होती है। सत्संग के बिना विश्व-शान्ति, संघर्ष का नाश एवं परस्पर एकता

सम्भव नहीं है। सत्संग मानव को अकर्मण्यता तथा आलस्य परिच्छिन्नता से रहित कर स्वाधीनता, चिन्मयता एवं असीम जीवन से अभिन्न करता है। इतना ही नहीं, सत्संग से ही मानव अगाध अनन्त नित-नव प्रियता से अभिन्न हो, सर्व के प्रकाशक तथा आश्रय को रस प्रदान करता है, यह सत्संग की महिमा है।

प्राकृतिक नियमानुसार विश्राम की भूख श्रम की अपेक्षा अधिक है, कारण, कि श्रम का आरम्भ और अन्त विश्राम में ही निहित है।परन्तु जड़ता में विलीन होकर विश्राम की भूख मिटाना और जाग्रत तथा स्वप्न में क्रियाशीलता में रत रहना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। सुषुप्ति के समान जाग्रत में ही विश्राम अपेक्षित है। उसी विश्राम से मानव वास्तविक जीवन से अभिन्न होता है। जड़तायुक्त विश्राम श्रम के योग्य बनाता है, पर उसकी गति सृष्टि ही की ओर रहती है। सृष्टि के उद्गम तथा प्रकाशक की ओर प्रगति उस विश्राम से होती है, जो विश्राम जाग्रत में उपलब्ध होता है, जिसके लिए एकमात्र मूक-सत्संग ही उपाय है।

जड़तायुक्त विश्राम मानव को देहाभिमान-रहित नहीं कर पाता। उसका परिणाम यह होता है कि वह बेचारा क्रिया-जनित सुख-लोलुपता, अर्थात् करने के राग से रहित नहीं होता। उसके हुए बिना देह से तादात्म्य नहीं मिटता और फिर क्रियाशीलता, चिन्तन और स्थिति में ही आबद्ध रहता है। किन्तु जड़ता-रहित विश्राम क्रियाशीलता, चिन्तन एवं स्थिति से अतीत दिव्य चिन्मय जीवन से अभिन्न करता है। इस दृष्टि से मूक-सत्संग से साध्य विश्राम ही वास्तव में विश्राम है।

प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक कार्य के आरम्भ से पूर्व और उसके अन्त में विश्राम स्वत:सिद्ध है। परन्तु उस पर दृष्टि न रहने से, अथवा उसके वास्तविक महत्व को न जानने तथा न मानने से, विश्राम-काल में भी मानव आगे-पीछे का चिन्तन करता है अथवा अपने-आप होने वाले व्यर्थ-चिन्तन में आबद्ध हो जाता है। उससे प्राप्त सामर्थ्य का ह्रास ही होता है और सृष्टि के मूल की ओर गतिशील नहीं हो पाता, जिसके हुए बिना नित्य-योग तथा बोध एवं परम-प्रेम की अभिव्यक्ति नहीं होती। इस कारण सहज भाव से, प्रत्येक कार्य के आदि और अन्त में

अल्प-से-अल्प काल क्यों न हो, विश्राम से अभिन्न होना अनिवार्य है। ज्यों-ज्यों विश्राम से अभिन्नता होती जाती है, त्यों-त्यों सर्वतोमुखी विकास स्वतः होता जाता है।

विश्राम के लिए आवश्यक श्रम का त्याग अपेक्षित नहीं है, किन्तु कार्य के अन्त में कार्य से असंग होना अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा, जब 'विश्राम में जीवन है' -इस ध्रुव सत्य में अविचल आस्था हो। वह जीवन, जो मानवमात्र का अपना जीवन है, विश्राम से ही साध्य है। कर्तव्यपरायणता, असंगता एवं शरणागति से मानव चिर-विश्राम पाता है और 'विश्राम में जीवन है'-इस आस्था को अपना लेने पर मानव बड़ी ही सुगमतापूर्वक कर्तव्यपरायणता, असंगता एवं शरणागति प्राप्त कर सकता है। इस दृष्टि से साधन और साध्य विश्राम में ही निहित हैं।

कार्य के अन्त में कार्य से असंगता क्यों नहीं होती? उसके मूल में यही भूल है कि कार्य की फलासति और करने का राग मिटाने के लिए कार्य का आरम्भ नहीं किया, अपितु करना ही जीवन, इसी पर दृष्टि रखी। जीवन विश्राम में है, करने में नहीं। यदि करने में जीवन होता, तो कर्म-सामग्री अविनाशी होती, पर ऐसा नहीं है। कार्य करते-करते कर्म-सामग्री का नाश होता है। जिस सामग्री से कार्य का सम्पादन होता है, वही नाश-रहित नहीं है, तो क्रियाशीलता कैसे अविनाशी हो सकती है? विश्राम का कभी नाश नहीं होता। इस कारण विश्राम में ही अविनाशी जीवन है। यदि जन्म क्रियाशीलता है, तो मृत्यु भी अनिवार्य है। जन्म मृत्यु में और मृत्यु जन्म में परिणत होती है। ऐसी कोई उत्पत्ति नहीं है, जिसका विनाश न हो और ऐसा कोई विनाश नहीं है, जिसकी उत्पत्ति न हो। उत्पत्ति-विनाश का क्रम ही समस्त सृष्टि है। उत्पत्ति-विनाश के क्रम को ही जब मानव स्थिति स्वीकार करता है, तभी उसे सृष्टि में आस्था होती है। सृष्टि का आश्रय और प्रकाशक जो है, उससे नित्य-योग, उसका बोध एवं उसमें अगाध प्रियता विश्राम से ही साध्य है।

श्रम-रहित हुए बिना श्रम का सम्पादन ही सम्भव नहीं है। किन्तु क्रिया-जनित राग नाश होने पर निरपेक्ष विश्राम स्वतः सिद्ध है। क्रियाशीलता एक अवस्था है, उसका

कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। किन्तु विश्राम अवस्थातीत है, उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है, वह समस्त शक्तियों का प्रतीक है। इस दृष्टि से विश्राम मानवमात्र के लिए सर्वदा अभीष्ट है। विश्राम के महत्व को भूलते ही मानव पराधीनता, जड़ता, अकर्मण्यता, आलस्य आदि दोषों में आबद्ध होता है। अमित होने पर ही आलस्य और अकर्मण्यता की उत्पत्ति होती है। कर्तव्य-परायणता श्रमित नहीं करती, अपितु करने के राग से रहित करती है। सामर्थ्य तथा विवेक के अनुरूप प्रवृत्ति श्रमित नहीं करती, अपितु विश्राम से अविच्छिन्न एकता रखती है।

मानव कर्तापन के अभिमान तथा फलासति से ही श्रमित होता है, कर्तव्यपरायणता से नहीं। कर्तव्यपरायणता सहज तथा स्वाभाविक प्रवृत्ति है। पर यह रहस्य वे ही मानव जान पाते हैं, जिन्होंने मूक-सत्संग को अपनाया है। सहज तथा स्वाभाविक प्रवृत्ति मानव को श्रमित नहीं करती, अपितु करने के राग से रहित करती है। इस दृष्टि से कर्तव्यपरायणता श्रम नहीं है। अहंकृति-युत प्रवृत्ति, जो अपने लिए की जाती है, उसी से मानव श्रमित होता है। कर्म के फल में आसक्ति पराधीन बनाती है। पराधीनता समस्त दोषों की जननी है। अत: प्रत्येक मानव को शीघ्रातिशीघ्र पराधीनता से रहित होने के लिए सत्संग को अपनाना है।

ममता, कामना तथा अहंकृति में जीवन-बुद्धि रखने से पराधीनता पोषित होती है। "विश्राम में जीवन है"-इस वास्तविकता में अविचल आस्था किये बिना स्वाधीनतापूर्वक स्वाधीनता प्राप्त करना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। प्राकृतिक नियमानुसार पराधीनता के नाश में ही स्वाधीनता निहित हे। पराधीनता का नाश करने की स्वाधीनता मानव-मात्र को स्वतः प्राप्त है, परन्तु मिली हुई वस्तु सामर्थ्य, योग्यता आदि को अपना मानने से मानव पराधीन हो गया है। प्राप्त वस्तु आदि की ममता ही अप्राप्त की कामना को जन्म देती है और कामनायुक्त मानव ही अहंकृति में आबद्ध होता है। वह इस वास्तविकता को भूल जाता है कि अपने लिए अपने को कुछ नहीं करना है। उसका परिणाम यह होता है कि 'विश्राम में जीवन है'-इस तथ्य में आस्था नहीं रहती। जिसे अपने लिए कुछ भी

करना है, वह स्वाधीन नहीं रह सकता, कारण, कि उसे किसी-न-किसी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि के अधीन होना ही पड़ता है, जो वास्तव में असत् का संग है।

मिली हुई वस्तु योग्यता आदि का सदुपयोग विश्व की सेवा में है, अपने लिए नहीं है। केवल विश्राम ही अपने लिए है। इस वास्तविकता को अपनाने पर ही मानव पराधीनता से रहित हो सकता है, जो विकास का मूल है। पराधीनता सहन करना अपने को जड़ता में आबद्ध करना है। सजगता के बिना असत् का त्याग सम्भव नहीं है। इस कारण पराधीनता-रहित होना अनिवार्य है, जो एकमात्र विश्राम से ही साध्य है।

यदि स्वाधीनता किसी परिस्थिति-विशेष में होती, तो उसकी उपलब्धि मानव-मात्र को नहीं हो सकती, कारण, कि दो व्यक्ति भी सर्वांश में समान परिस्थिति के नहीं होते। किन्तु श्रम-रहित सभी हो सकते हैं। इस दृष्टि से विश्राम मानवमात्र के लिए अनिवार्य है। विश्राम कोई अप्राप्त तथ्य नहीं है, अपितु सभी को सर्वदा प्राप्त है, परन्तु असत् के संग से वह नित्य प्राप्त होने पर भी अप्राप्त जैसा भारिसत होता है। आवश्यक कार्य करने में कोई भी मानव असमर्थ नहीं है। उसके अन्त में विश्राम से अभिन्नता होती है। पर कार्य को ही जीवन मान लेने से विश्राम का स्पष्ट बोध नहीं होता।

प्राकृतिक नियमानुसार आवश्यक कार्य सेवा का क्रियात्मक चित्र है। सेवा का अन्त स्वभाव से ही चिर-शान्ति, अर्थात् विश्राम में होना चाहिए। पर जब मानव किए हुए कार्य का फल स्वयं भोगने लगता है, तब वह विश्राम से विमुख हो जाता है और मान तथा भोग की रुचि में आबद्ध हो, पराधीन हो जाता है। वास्तविक सेवा की अभिव्यक्ति तभी होती है, जब अपने लिए कुछ भी करना शेष नहीं रहता, जो एकमात्र मूक-सत्संग से ही साध्य है। मूक-सत्संग कल्पतरु के समान है, अर्थात् आवश्यक सामर्थ्य, विचार का उदय, प्रीति की जागृति मूक-सत्संग में ही निहित है। सामर्थ्य का सद्व्यय करना अनिवार्य है, पर अपने लिए तो विश्राम ही अपेक्षित है।

दुरुपयोग न करने का निर्णय सामर्थ्य के सदुपयोग की प्रेरणा देता है। अपने लिए कुछ भी नहीं करना है- इस निर्णय से ही दुरुपयोग न करना

सम्भव होता है। अपने लिए कुछ करना है-इस भूल से ही अकर्तव्य की उत्पत्ति होती है, जो सर्वथा त्याज्य है। अपने में अपना प्रियतम है, अपने को उसी की प्रीति होना है। जिसे कुछ नहीं चाहिए, उसी में प्रीति की अभिव्यक्ति होती है। प्रीति की जागृति में ही जीवन की पूर्णता निहित है, कारण, कि प्रीति वास्तविकता से दूरी, भेद तथा भिन्नता नहीं रहने देती, अर्थात् मानव को योग, बोध तथा प्रेम से अभिन्न करती है, जो वास्तविक जीवन है।

जिसे कुछ नहीं चाहिए, उसे अपने लिए कुछ नहीं करना है। जिसे कुछ नहीं करना है, उसका देहादि वस्तुओं से तादात्म्य नहीं रहता। तादात्म्य के मिटते ही असीम, नित्य, चिन्मय जीवन से एकता होती है। इस दृष्टि से कुछ न करने में ही सब कुछ विद्यमान है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब मानव आवश्यक कार्य के आदि और अन्त में शान्त रहने का स्वभाव बना ले, जो एकमात्र मूक-सत्संग से ही साध्य है।

मूक-सत्संग कोई उपाय नहीं है, अपितु वास्तविक जीवन का एक पहलू है। उसके बिना सर्वतोमुखी विकास सम्भव नहीं है। स्वाधीनता की भूख बड़ी ही सुगमतापूर्वक मूक-सत्संग से मानव को अभिन्न करती है। पराधीनता ने ही मानव को सत्संग से विमुख कर दिया है। इस कारण पराधीनता का मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। स्वाधीनता स्वत:सिद्ध तथ्य है। स्वाधीनता की माँग पराधीनता का नाश कर, मानव को स्वाधीनता से अभिन्न करती है। इस दृष्टि से पराधीनता तभी तक जीवन में रहती है, जब तक मानव स्वाधीनता के बिना चैन से रहता है। स्वाधीनता किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रखती, इसी कारण मानवमात्र को मिल सकती है। अन्य की अपेक्षा तो एकमात्र पराधीनता-जनित सुख-लोलुपता के लिए ही होती है, जो असत् का संग है। अपने लिए कुछ नहीं करना है। जो नहीं करना चाहिए, उसे भी नहीं करना है। जो करना चाहिए और जिसे कर सकते हैं, उसे पूरा करके उसका अन्त कर देना है। जो हो रहा है, उससे असहयोग और जो 'है' उसमें आत्मीयता से स्वाधीनता स्वत: प्राप्त होती है।

भूतकाल चाहे जैसा क्यों न रहा हो, की हुई भूल न दोहराने से स्वाधीनता वर्तमान में प्राप्त होती है।

समस्त दोषों का अन्त उनके न दोहराने में है। किसी गुण के द्वारा दोषों का नाश नहीं होता, अपितु निर्दोषता में ही समस्त गुणों की अभिव्यक्ति स्वतः होती है। दोष-रहित होने के लिए गुणों के सम्पादन की अपेक्षा नहीं है, अपितु वर्तमान निर्दोषता को सुरक्षित रखना है, जो एकमात्र स्वाधीनता की उत्कट लालसा से ही साध्य है, कारण, कि सभी दोष पराधीनता से ही पोषित होते हैं। जिसे पराधीनता असह्य हो जाती है, वह मानव स्वतः निर्दोषता से अभिन्न हो जाता है। इस दृष्टि से स्वाधीनता का बड़ा ही महत्व है। पराधीनता रहते हुए अभाव का अभाव सम्भव ही नहीं है। स्वाधीनता प्राप्त होते ही, अभाव का अभाव स्वतः हो जाता है, जो एकमात्र मूक-सत्संग से ही साध्य है।

पराधीन रहने से मानव समष्टि शक्तियों से विद्रोह कर बैठता है और अन्त में पराजित होता है। किन्तु स्वाधीन होते ही समष्टि शक्तियाँ स्वत: स्वागत करती हैं, यह वैज्ञानिक तथ्य है, कारण, कि स्वाधीन जीवन से किसी को भय नहीं होता। जिससे किसी को भय नहीं होता, उसकी सेवा करने के लिए चराचर जगत् तत्पर रहता है, पर उसे अपने लिए कुछ भी अपेक्षा नहीं रहती। अतः स्वाधीनता की भूख उत्तरोत्तर तीव्र होनी चाहिए। इतना ही नहीं, स्वाधीनता शब्द के उच्चारण में काल अपेक्षित है, किन्तु स्वाधीनता की प्राप्ति में काल की अपेक्षा नहीं है। इस कारण स्वाधीनता सर्व देश, सर्व काल में सदैव प्राप्त हो सकती है। उससे निराश होना भारी भूल है। स्वाधीनता की उत्कट माँग मानव को मूक-सत्संग से अभिन्न करती है; कारण, कि स्वाधीनता के पुजारी को मूक-सत्संग से भिन्न और कुछ नहीं करना है। मूक-सत्संग अपने द्वारा होता है, उसके लिए शरीर के सहयोग की अपेक्षा नहीं होती। इस दृष्टि से मूक-सत्संग में स्वाधीनता और स्वाधीनता में मूक-सत्संग ओत-प्रोत हैं।

विषमता, दीनता और अभिमान, राग तथा द्वेष 'पराधीनता' में ही जीवित हैं। समता, निरभिमानता, त्याग तथा प्रेम 'स्वाधीनता' में ही निहित हैं। इस कारण स्वाधीनता वर्तमान में ही प्राप्त करना अनिवार्य है। स्वाधीनता के साम्राज्य में वास्तविकता से दूरी, भेद तथा भिन्नता नहीं रहती है। दूरी न रहने से नित्य-योग, भेद का अन्त होने से बोध तथा

भिन्नता के नाश से प्रेम स्वत: प्राप्त होता है। अत: योग, बोध तथा प्रेम स्वाधीनता से ही साध्य हैं। स्वाधीनता के लिए भविष्य की आशा करना भूल है। उसे तो वर्तमान में ही प्राप्त करना है।

मिली हुई वस्तु योग्यता, सामर्थ्य आदि के तादात्म्य से मानव स्वाधीनता से विमुख हुआ है। अप्रयत्न होते ही तादात्म्य स्वतः नाश हो जाता है और फिर पराधीनता लेशमात्र भी शेष नहीं रहती, अर्थात् स्वाधीनता स्वतः प्राप्त होती है। अहम्भाव रूपी अणु एकमात्र पराधीनता से ही पोषित है। पराधीनता के नाश में ही उसका नाश है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब मानव को पराधीनता असह्य हो जाती है। पराधीनता की असह्य वेदना वस्तु, अवस्था आदि से असंग कर देती है। असंगता स्वाधीनता से अभिन्न करती है। स्वाधीनता कोई अवस्था नहीं है, अपितु अनन्त का स्वभाव और मानव का जीवन है। इतना ही नहीं, विश्राम, स्वाधीनता तथा प्रेम में स्वरूप से विभाजन नहीं हो सकता, क्योंकि वे एक ही जीवन की विभूतियाँ हैं। विश्राम में स्वाधीनता और स्वाधीनता में प्रेम ओत-प्रोत हैं। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब मानव विश्राम में रमण नहीं करता और स्वाधीनता में सन्तुष्ट नहीं होता। विश्राम में रमण करना तथा स्वाधीनता में सन्तुष्ट होना परिच्छिन्नता को जीवित रखना है। परन्तु विश्राम तथा स्वाधीनता के बिना अगाध, अनन्त प्रीति की जागृति नहीं होती, किन्तु उनके आश्रित अहम्भाव को जीवित रखना असत् का ही संग है, जिसका मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

'मैं' और 'हे' का द्वन्द्व विश्राम में रमण तथा स्वाधीनता में सन्तुष्ट न होने से स्वतः नाश हो जाता है। अहम् का अस्तित्व 'है' की प्रीति से भिन्न कुछ नहीं है। परन्तु 'है' से विमुख हो, 'नहीं' का आश्रय लेने पर अहम्भाव-रूपी अणु भासित होता है। जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता, वह पराधीनता में ही भारिसत होता है। श्रम और पराधीनता एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इन्हीं के आश्रित अहम् भासित होता है। पराधीनता तथा श्रम-रहित होते ही, अर्थात् स्वाधीनता तथा विश्राम की अभिव्यक्ति में ही अहम् का नाश और है' का बोध स्वत: सिद्ध है। 'मैं' और है' का द्वन्द्व मिटते ही प्रीति में प्रियतम और प्रियतम में प्रीति

का नित्य वास है, जो वास्तविक जीवन है।

श्रमित तथा पराधीन व्यक्ति के जीवन में नीरसता तथा अभाव रहता ही है। नीरसता की भूमि में ही समस्त कामनाओं की उत्पत्ति होती है और कामनाओं की पूर्ति तथा अपूर्ति में ही मानव पराधीनता में आबद्ध होता है। इस कारण नीरसता का नाश अनिवार्य है। विश्राम में शान्त रस, स्वाधीनता में अखण्ड रस एवं प्रेम में अनन्त रस है। रस की माँग ही मानव की वास्तविक माँग है। रस स्वभाव से ही अविनाशी है। इस कारण अभाव के अभाव में भी रस ही हेतु है। सुख की दासता तथा दुःख के भय ने मानव को अभाव में आबद्ध किया है।

कामनाओं की पूर्ति-अपूर्ति मानव को सुख की दासता तथा दुःख के भय में आबद्ध करती है। यह सभी को विदित है कि नीरसता ही काम की जननी है और काम मानव को श्रमित तथा पराधीन बनाता है। अतएव काम-रहित होना अनिवार्य है, जो एकमात्र नीरसता के नाश से ही सम्भव है। सर्वांश में नीरसता का नाश करने के लिए मूक-सत्संग अनिवार्य है। मूक-सत्संग देहाभिमान का अन्त करता है। देहाभिमान-रहित होते ही स्वत: विश्राम की अभिव्यक्ति होती है। यह स्पष्ट ही है कि विश्राम की अभिव्यक्ति होने पर पराधीनता नहीं रहती, अर्थात् स्वाधीनता स्वतः प्राप्त होती है। जब मानव शान्त-रस में रमण नहीं करता, तब उसे अखण्ड-रस स्वतः प्राप्त होता है और अखण्ड-रस में सन्तुष्ट न रहने पर, स्वतः अनन्त-रस की अभिव्यक्ति होती है। 'रस' क्षति, पूर्ति, निवृत्ति से रहित है। इस कारण स्वभाव से ही शान्त-रस अखण्ड-रस में और अखण्ड-रस अनन्त-रस में विलीन होता है।

यद्यपि पराधीनता एवं श्रम का नाश शान्त-रस की अभिव्यक्ति से ही हो जाता है, परन्तु रस की कोई सीमा नहीं है। इस कारण 'अखण्ड' और 'अनन्त' विशेषण आवश्यक हो जाते हैं। परिच्छिन्नता का अत्यन्त अभाव अनन्त-रस की अभिव्यक्ति से ही होता है। अशान्ति तथा पराधीनता की उत्पत्ति ही न हो, और शान्ति तथा स्वाधीनता का अभिमान न रहे, तभी प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। प्रेम की अभिव्यक्ति में ही नीरसता का अत्यन्त अभाव है और नीरसता के नाश से ही

अभाव का अभाव होता है। इस कारण मूक-सत्संग के द्वारा देहाभिमान-रहित होने से ही नीरसता का सर्वांश में नाश होता है, जो एकमात्र मूक-सत्संग से ही साध्य है।

देहाभिमान रहते हुए श्रम तथा पराधीनता रहती ही है। श्रम तथा पराधीनता से पीड़ित मानव विश्राम तथा स्वाधीनता को ही पूर्ण जीवन मानता है, परन्तु विश्राम तथा स्वाधीनता प्राप्त होने पर सर्वांश में नीरसता का नाश नहीं होता; कारण, कि विश्राम एवं स्वाधीनता का अभिमान भेद तथा भिन्नता को जीवित रखता है। यद्यपि विश्राम तथा स्वाधीनता स्वभाव से ही प्रिय तथा रसरूप एवं अविनाशी हैं, परन्तु 'मैं शान्त तथा स्वाधीन हूँ' -इस प्रकार का अहम्भाव जब तक शेष रहता है, तब तक परिच्छिन्नता का नाश नहीं होता। जब परिच्छिन्नता स्वयं अपने को असह्य हो जाती है, तब अनन्त की अहैतुकी कृपालुता स्वयं प्रेम प्रदान करती है और फिर नीरसता का अत्यन्त अभाव स्वतः हो जाता है। इस दृष्टि से प्रेम की अभिव्यक्ति से ही जीवन की पूर्णता, अर्थात् नीरसता का नाश तथा अभाव का अभाव होता है।

परिच्छिन्नता मानव को व्यक्तित्व के मोह में आबद्ध करती है और भेद तथा भिन्नता को जन्म देती है। इस कारण परिच्छिन्नता का नाश अनिवार्य है। किसी प्रकार का भी द्वन्द्व रहने पर परिच्छिन्नता का नाश नहीं होता। निज-माँग तथा रुचि में भेद एक द्वन्द्वात्मक स्थिति है। माँग सत् की ओर और रुचि असत् की ओर आकर्षित करती है। माँग के आधार पर किया हुआ निर्णय रुचिकर न होने से स्थायी नहीं रहता और फिर मानव अधीर होकर हार मान बैठता है। इस द्वन्द्वात्मक स्थिति में निर्णय के अनुरूप रुचि हुए बिना विकास नहीं होता। माँग के अनुरूप रुचि होने पर स्वतः विकास होता है।

प्राकृतिक नियमानुसार 'रुचि ' उत्पन्न हुई वस्तु आदि के तादात्म्य से उत्पन्न होती है और माँग अपने में होती है। अपने तथा वस्तुओं के सम्बन्ध पर विचार करना अनिवार्य है। जो अपने बिना रह सकती है, वही उत्पन्न हुई वस्तु है। अत: उसके बिना रहने का स्वभाव बनाना अत्यन्त आवश्यक

है। वस्तुओं के अधीन रहने पर माँग के विपरीत रुचि सबल होती है। उसी दशा में मानव पराधीनता में ही जीवन-बुद्धि स्वीकार करता है, जो वास्तव में असत् का संग है। असत् का संग प्राकृतिक तथ्य नहीं है, अपितु भूल-जनित है। जाने हुए के प्रभाव से प्रभावित होने पर भूल का नाश होता है और फिर बड़ी ही सुगमतापूर्वक मानव माँग और रुचि के द्वन्द्व का अन्त कर सकता है। द्वन्द्व का अन्त होते ही रुचि भाँग से अभिन्न होती है। रुचि और माँग की एकता ही माँग की पूर्ति में हेतु है। यह सभी को विदित है कि चाहते हुए भी अनुकूलता नहीं रहती, और न चाहने पर भी प्रतिकूलता आ ही जाती है, अर्थात् रुचि के विपरीत परिस्थिति आती ही है। किन्तु वास्तविक माँग नाश नहीं होती। इतना ही नहीं, प्रतिकूलता आने पर माँग सबल ही होती है। प्रतिकूलताओं का प्रभाव जब रुचि के परिवर्तन में समर्थ होता है, तब माँग के अनुरूप किया हुआ निर्णय स्थायी हो जाता है, और फिर बड़ी ही सुगमतापूर्वक मानव अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। इस दृष्टि से माँग और रुचि का द्वन्द्व मिटाना अनिवार्य है।

माँग मिटकर रुचि में विलीन हो जाए, यह सम्भव नहीं है, कारण, कि माँग का उद्गम अपने ही में है और रुचि की उत्पत्ति पराश्रय से होती है। पराश्रय भूल-जनित है। अतः माँग स्वाभाविक और रुचि अस्वाभाविक है। स्वाभाविकता की पूर्ति और अस्वाभाविकता की निवृत्ति विकास की भूमि है। माँग से निराश होना और रुचि-पूर्ति की आशा रखना अपने ही द्वारा अपना सर्वनाश करना है। रुचि की पूर्ति नवीन रुचि की जननी होती है और अन्त में रुचि की अपूर्ति ही शेष रहती है। इस कारण रुचि-पूर्ति में जीवन नहीं है। किन्तु रुचि के विरुद्ध प्रवृत्ति-निवृत्ति सांगोपांग नहीं होती, किसी-न-किसी अंश में अधूरापन रहता ही है। यह स्पष्ट ही है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति ही मानव-जीवन के दो पहलू हैं। सांगोपांग प्रवृत्ति और निवृत्ति से ही विकास होता है। इस कारण माँग और रुचि के द्वन्द्व का अन्त करना अनिवार्य है।

रुचि–पूर्ति को ही जीवन मान लेना अपने को पराधीनता, जड़ता एवं

अभाव में आबद्ध करना है। किन्तु रुचि के विपरीत बलपूंक किए गए प्रयोगों द्वारा भी तो जीवन में स्वाभाविकता नहीं आती। इस कारण रुचि में परिवर्तन लाना आवश्यक है। वह तभी सम्भव होगा, जब मानव रुचि के उद्गम की खोज करे। रुचि के मूल में और माँग में वास्तविक भेद नहीं है। सौन्दर्य, ऐश्वर्य और माधुर्य सभी को स्वभाव से प्रिय हैं। स्वाभाविक प्रियता ही रुचिकर है। इस दृष्टि से माँग और रुचि में स्वाभाविक एकता है। पर असत् के संग से मानव सीमित परिवर्तनशील सौन्दर्य, ऐश्वर्य एवं माधुर्य को ही जीवन मान लेता है। बस, यही भूल रुचि और माँग में भेद उत्पन्न करती है। जो सीमित तथा परिवर्तनशील है, उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। जो नहीं है, उसी में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना सत् से विमुख होना है। किन्तु प्राकृतिक नियमानुसार सर्वांश में सत् का त्याग सम्भव नहीं है। सत् की विस्मृति तथा उससे विमुखता भले ही हो जाए, किन्तु उससे दूरी नहीं होती।

इतना ही नहीं, सत् ही असत् को प्रकाशित करता है। असत् में सत्ता सत् ही की है। "जो है ही नहीं" , उसका भास "जो है" , उसी के आश्रित होता है। पर मानव प्रमादवश 'है' में 'नहीं' को न देखकर 'नहीं' में 'है' को आरोपित करने लगता है, अर्थात् 'नहीं' को ही 'है' मान लेता है। इसी अवस्था में रुचि और माँग में भेद उत्पन्न होता है। माँग सदैव 'हे' की ही होती है, 'नहीं' की नहीं। 'नहीं' की रुचि और 'है' की माँग से ही परिच्छिन्नता जीवित है। परिच्छिन्नता के नाश का दायित्व मानवमात्र पर है, जो एकमात्र माँग तथा रुचि की एकता से ही सम्भव है।

सौन्दर्य की माँग जीवन की माँग है। सौन्दर्य उसे नहीं कहते, जिससे अरुचि हो और वह भी सौन्दर्य नहीं है, जो कभी रुचिकर और कभी अरुचिकर हो। सौन्दर्य वही हो सकता है, जो सदैव रुचिकर रहे, अथति जिसमें उत्तरोत्तर प्रियता बढ़ती ही रहे। क्या इस प्रकार का सौन्दर्य किसी भी उत्पन्न हुई वस्तु व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति देश-काल आदि में है? यदि नहीं है, तो वस्तु व्यक्ति आदि की ममता, कामना एवं तादात्म्य मानव को सौन्दर्य से विमुख ही करते हैं। सौन्दर्य,

स्वरूप से नित्य तथा अनन्त है। अतएव उसके प्रति प्रियता भी नित्य तथा अनन्त ही होनी चाहिए। जो प्रियता सदैव नहीं रहती, वह वास्तव में प्रियता नहीं है, अपितु आसक्ति है। आसक्ति-जनित रुचि का नाश करना अनिवार्य है। आसक्ति से उत्पन्न हुई रुचि मानव को श्रमित करती है, शक्तिहीन बनाती है, चेतनाशून्य करती है, सजगता नहीं रहने देती तथा असावधानी पोषित करती है, जो विनाश का मूल है।

सीमित परिवर्तनशील सौन्दर्य वास्तव में सौन्दर्य नहीं है, अपितु अनन्त, नित्य सौन्दर्य की माँग है। उसे देख, वास्तविक नित्य, अनन्त सौन्दर्य की माँग तथा उसकी खोज होनी चाहिए। पर यह तभी सम्भव होगा, जब मानव वास्तविकता के बिना किसी भी प्रकार चैन से न रह सके। वास्तविकता की खोज किसी पराधीनता-जनित उपायों से सम्भव नहीं है, अपितु पराधीनता का अन्त करने पर ही मानव वास्तविकता की खोज कर सकता है, जो एकमात्र मूक-सत्संग से ही साध्य है।

देखे हुए सौन्दर्य की रुचि तथा सुने हुए सौन्दर्य की माँग होती है। इन्द्रिय-दृष्टि तथा बुद्धि-दृष्टि से जो कुछ देखने में आता है, वह देखा हुआ ही है। सुना हुआ तो केवल वही है, जो इन्द्रिय तथा बुद्धि से परे है। उसको किसी भी संकेत भाषा से कहा जाए, पर वह सुना हुआ है, देखा हुआ नहीं। देखा हुआ जो कुछ है, उसी का प्रभाव रुचि के रूप में अंकित है और बिना देखे हुए की माँग है। यद्यपि देखे हुए का आश्रय तथा प्रकाशक वही है, जो देखा हुआ नहीं है। परन्तु मानव असत् के संग के कारण प्रकाशक तथा आश्रय को भूल कर देखे हुए को ही सब कुछ मान लेता है, जो वास्तव में कुछ नहीं है, और जो सब कुछ है, उससे, 'कहाँ' है? 'कैसा है' ? 'कुछ नहीं है'-आदि कह कर विमुख हो जाता है, उसमें आस्था ही नहीं करता। उसी का यह परिणाम होता है कि माँग के रहते हुए भी मानव रुचि का दास हो जाता है, जो संघर्ष तथा विनाश का मूल है।

देखे हुए में जो आकर्षण है, वह उसी का है, जो देखा हुआ नहीं है। उसकी कोई सीमित परिभाषा नहीं की जा सकती। मानव की माँग ज्यों-ज्यों स्पष्ट होती जाती है, त्यों-त्यों सुने हुए

की महिमा प्रत्यक्ष होती जाती है और ज्यों-ज्यों महिमा प्रत्यक्ष होती जाती है, त्यों-त्यों माँग और अधिक उत्कट तथा स्पष्ट होती जाती है। इतना ही नहीं, अनन्त की माँग भी अनन्त ही है। उसके सम्बन्ध में जितना भी कहा जाय, कम है। वह अद्वितीय होने से अनुपम है, पर वह सभी का अपना है। उसी में अनन्त सौन्दर्य, ऐश्वर्य तथा माधुर्य है।

अपना होने से अपने को अत्यन्त प्रिय है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब मानव देखे हुए की रुचि को सुने हुए की माँग में विलीन कर, माँग तथा रुचि के द्वन्द्व से रहित हो जाय।

प्राकृतिक नियमानुसार रुचि की निवृत्ति तथा माँग की पूर्ति अनिवार्य है, कारण कि रुचि भूल-जनित तथा माँग स्वाभाविक है। स्वाभाविक से निराश होना और अस्वाभाविक की आशा करना असत् का संग है। माँग की पूर्ति में देश-काल, वस्तु-व्यक्ति आदि की अपेक्षा नहीं है, अपितु सभी से असंग होना अनिवार्य है, जो एकमात्र मूक-सत्संग से ही सम्भव है। सौन्दर्य किसी वस्तु व्यक्ति आदि की सीमा में आबद्ध नहीं किया जा सकता। सौन्दर्य अनन्त का स्वभाव तथा मानव का जीवन है। उसके बिना चैन से रहना भूल है। जीवन उसे नहीं कहते, जो कभी हो और कभी न हो, कहीं हो और कहीं न हो, किसी को मिले और किसी को न मिले, किसी का हो और किसी का न हो। जो सदैव है, सर्वत्र है, सभी का है और सभी को मिल सकता है, वही जीवन है। मानव उससे विमुख हो गया है तथा उसको भूल गया है। विमुखता तथा विस्मृति की निवृत्ति एकमात्र मूक-सत्संग से ही होती है।

'नहीं' में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना मानव का अपना बनाया हुआ दोष है। अपने बनाए हुए दोषों की निवृत्ति का दायित्व अपने पर ही है। प्राकृतिक नियमानुसार दायित्व पूरा करने की स्वाधीनता तथा सामर्थ्य मानवमात्र को स्वतः प्राप्त है। दायित्व पूरा करने पर माँग की पूर्ति होती है, यह ध्रुव सत्य है। अत: मानव-जीवन में वास्तविक जीवन से निराश होने के लिए कोई स्थान ही नहीं है। यह सभी को विदित है कि पराजित होना किसी को भी स्वभाव से प्रिय नहीं है। मानव किसी पर विजयी हो, अथवा न हो, पर

किसी से पराजित होना उसे सह्य नहीं है, न रुचिकर ही है और न पराजित होने की कभी किसी की माँग होती है। यह स्पष्ट ही है कि कामना-पूर्ति में मानव पराजित ही होता है, कारण कि कामना-पूर्ति काल में पराधीनता और अपूर्ति-काल में अभाव रहता ही है।

पराधीनता तथा अभाव में आबद्ध रहना ही पराजित होना है। जब तक पराधीनता तथा अभाव का अभाव न हो, तब तक मानव अपनी दृष्टि में अपने को विजयी नहीं पाता, अपितु पराजित ही अनुभव करता है। किसी अन्य पर विजयी होने की कामना तो कभी-कभी पशु भी अनुभव करते हैं, किन्तु अपने पर विजयी होना ही वास्तव में विजयी होना है। दूसरों पर विजयी होने के लिए अपने को पराधीन ही करना पड़ता है। इस दृष्टि से किसी अन्य पर विजयी होना पराजित होना ही हे।

किसी वस्तु योग्यता, सामर्थ्य आदि का आश्रय लिए बिना, क्या कोई किसी पर विजयी होता है? कदापि नहीं। जो स्वयं वस्तु, योग्यता आदि के अधीन है, क्या वह स्वाधीन है? और जो स्वाधीन नहीं है, क्या वह विजयी है? कदापि नहीं। इतना ही नहीं, पराधीनता में आबद्ध मानव ही दूसरे को पराधीन बनाने का प्रयास करता है। जो किसी को पराधीन नहीं बनाता और न किसी के अधीन होता है, वही स्वाधीन है। जो स्वाधीन है, उसी में ऐश्वर्य है। ऐश्वर्यवान सभी के लिए सदैव उपयोगी होता है, किसी के लिए अनुपयोगी नहीं है। जो किसी के लिए अनुपयोगी नहीं है, वही सभी का अपना है। उसी की माँग सभी को होती है। जिसकी माँग सभी को होती है। वह सदैव है। उसमें अविचल आस्था तथा उससे एकता हो सकती है, जो एकमात्र मूक-सत्संग से ही साध्य है।

जो सभी का अपना है, उसके प्रति प्रियता स्वाभाविक है, पर असत् का संग करने से उसकी प्रियता वस्तु योग्यता, सामर्थ्य आदि की आसक्ति में परिणत हो जाती है। किन्तु यह सत् की महिमा है कि अनेक आसक्तियों के उत्पन्न होने पर भी स्वाभाविक प्रियता की माँग नष्ट नहीं होती। उस अविनाशी जीवन की खोज, अथवा उसमें अविचल आस्था अनिवार्य है, जो जाने हुए असत् के त्याग, अर्थात् सत् के संग से ही साध्य है। जिसमें सौन्दर्य तथा ऐश्वर्य है, उसी में माधुर्य है। इन तीनों में परस्पर एकता है, विभाजन

सम्भव नहीं है। जो सभी का है, उसने किसी का त्याग नहीं किया, अपितु सदैव सभी को अपनाने के लिए तत्पर है। किन्तु यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब मानव ममता, कामना एवं तादात्म्य से रहित हो जाय।

साध्य और साधक में जातीय तथा स्वरूप की एकता होती है। जिसमें सौन्दर्य, ऐश्वर्य एवं माधुर्य है, वही सभी का साध्य है। उसी की माँग मानवमात्र में विद्यमान है। सौन्दर्य, ऐश्वर्य, माधुर्य की कोई सीमा नहीं है, अर्थात् असीम हैं। जो असीम है, वह अविनाशी भी है। जो अविनाशी है, वह दिव्य चिन्मय भी है। उसी का योग, बोध तथा प्रेम मानव को अभीष्ट है, जो मूक-सत्संग से ही साध्य है। सौन्दर्य, ऐश्वर्य और माधुर्य साध्य का स्वरूप है और साधक का जीवन है। ममता ने मानव को सौन्दर्य से, कामनाओं ने ऐश्वर्य से और तादात्म्य ने माधुर्य से विमुख कर दिया है, अथवा यों कहो कि उत्पन्न हुई वस्तुओं की ममता, कामना तथा तादात्म्य ने मानव के सौन्दर्य, ऐश्वर्य एवं माधुर्य को अपहृत कर लिया है, जो असत् के संग का परिणाम है। मूक-सत्संग के द्वारा सर्वांश में असत् के आश्रय का नाश हो जाता है, जिसके होते ही निर्ममता से उदित सौन्दर्य, निष्कामता से प्राप्त ऐश्वर्य और आत्मीयता से जाग्रत माधुर्य स्वतः अभिव्यक्त होते हैं, जिसके होते ही साधक और साध्य में दूरी, भेद तथा भिन्नता नहीं रहती, जो वास्तविक जीवन है।

यह स्पष्ट ही है कि ममता, कामना तथा तादात्म्य भूल-जनित ही हैं, अर्थात् जब मानव मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग करता है, तब ममता-कामना-तादात्म्य उत्पन्न होते हैं, जिनके उत्पन्न होते ही निर्विकारता, परम-शान्ति तथा स्वाधीनता अपहृत हो जाती है। तब अपने-आप दुःख आता है, जो मानव को स्वभाव से प्रिय नहीं है। ज्यों-ज्यों दुःख का प्रभाव सबल तथा स्थायी होता जाता है, त्यों-त्यों मानव अपनी भूल से परिचित होता जाता है। यह नियम है कि भूल के ज्ञान में ही भूल का नाश निहित है। भूल-रहित होते ही निर्ममता, निष्कामता एवं असंगतापूर्वक निर्विकारता, परम शान्ति तथा स्वाधीनता की अभिव्यक्ति होती है, जो मानवमात्र को स्वभाव से ही अभीष्ट है। इस दृष्टि से आये हुए दुःख के प्रभाव से मिली हुई स्वाधीनता के दुरुपयोग का परिणाम नष्ट हो जाता

है और जो मानव अपने में अपने को विकारी, अशान्त तथा पराधीन पाता था, वह अपने को निर्विकार, परम-शान्त एवं स्वाधीन पाता है। न चाहने पर भी दुःख क्यों आया? मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग क्यों किया? इन मूल प्रश्नों पर विचार करना अनिवार्य है।

दुःख के आने में किसी की करुणा निहित है और मिली हुई स्वाधीनता के दुरुपयोग में मानव की असावधानी का ही स्पष्टीकरण होता है। यदि असावधानी प्राकृतिक दोष होता, तो उसकी निवृत्ति नहीं होती। निवृत्ति प्राकृतिक नियमानुसार उसी की होती है, जो भूल-जनित है। यदि स्वाधीनता किसी की देन न होती, तो क्या मानव उसका दुरुपयोग करता? कदापि नहीं। स्वाधीनता जिसका स्वरूप है, उसमें भूल की गन्ध भी नहीं होती। जिस प्रकार सूर्य में अन्धकार नहीं है, अपितु नेत्रों में अन्धकार की उत्पत्ति होती है; यद्यपि नेत्र में सत्ता सूर्य ही की है, पर अन्धकार में हेतु नेत्र का दोष है, सूर्य का नहीं, उसी प्रकार उस अनन्त की दी हुई स्वाधीनता के दुरुपयोग का दायित्व मानव पर है, अनन्त पर नहीं। अपने किए हुए दुरुपयोग को न दोहराने का दायित्व भी मानव ही पर है। दुरुपयोग का परिणाम न चाहते हुए भी भोगना पड़ता है।

इससे यह स्पष्ट ही हो जाता है कि दुरुपयोग भूल-जनित है, जो वास्तव में असत् का संग है। किए हुए दुरुपयोग के परिणाम का प्रभाव सदुपयोग की प्रेरणा देता है, यह वैधानिक तथ्य है। विधान का अनादर असत् का संग है, जिसका मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। विधान का आदर, अर्थात् सत्संग करते ही विकारी अपने को निर्विकार, अशान्त अपने को परम शान्त एवं पराधीन अपने को स्वाधीन पाता है। यह निर्विकारता, परम-शान्ति तथा स्वाधीनता अपने को तथा जगत् को मोहित कर सकती है, किन्तु इस महिमा के आधार पर कोई भी मानव उस पर अधिकार नहीं पाता, जिसने करुणित होकर दी हुई स्वाधीनता के सदुपयोग की प्रेरणा दी है।

वे कितने उदार हैं ! इस सम्बन्ध में जितना कहा जाय, कम है। अर्थात् उनकी उदारता का वारापार नहीं है। यहाँ तक कि मिली हुई स्वाधीनता के सदुपयोग-जनित

निर्विकारता, परम-शान्ति एवं स्वाधीनता प्राप्त होने पर मानव अपने ही को सब कुछ मान लेता है। पर, उस करुणानिधि को इससे कोई क्षोभ नहीं होता, अपितु प्रसन्नता ही होती है। वे कितने सभी के अपने हैं ! जो उन्हें नहीं मानता, उसको भी उसी के रूप में प्राप्त होते हैं। और यदि कोई उनकी करुणा के प्रभाव से ही प्रभावित होकर उन्हें अपना मान लेता है, तब तो उसे वे अगाध प्रियता प्रदान करते हैं, जिसके जाग्रत होते ही मानव निर्विकारता, परम-शान्ति, स्वाधीनता तथा अगाध प्रियता से परिपूर्ण होता है। प्रियता की अभिव्यक्ति निर्विकारता, परम-शान्ति एवं स्वाधीनता के महत्व को खा लेती है, किन्तु निर्विकारता, परम शान्ति एवं स्वाधीनता ज्यों-की-त्यों सुरक्षित रहती है।

निर्विकारता आदि के अभिमान के गलते ही परिच्छिन्नता की गन्ध भी नहीं रहती, जो सर्वतोमुखी विकास की भूमि है। यह स्पष्ट ही है कि गुण-दोष के आश्रित ही परिच्छिन्नता जीवित रहती है। निर्दोषता की अभिव्यक्ति होने पर गुणों का भास अपने ही में होता है। यद्यपि दोष भूल-जनित एवं गुण प्राकृतिक हैं, परन्तु मानव प्राकृतिक विभूतियों को अपनी मान बैठता है, जो भारी भूल है। उसका परिणाम यह होता है कि निदांष होने पर भी परिच्छिन्नता नाश नहीं होती, जो भेद की जननी है। इस कारण निरभिमानता प्राप्त करने के लिए उस करुणानिधि में आत्मीयता स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है। निरभिमानता अहंभाव-रूपी अणु का अन्त करने में समर्थ है। पर यह रहस्य मूक-सत्संग से ही स्पष्ट होता है। अहंकृति के रहते हुए निरभिमानता की अभिव्यक्ति नहीं होती और मूक-सत्संग के बिना अहंकृति का नाश नहीं होता। इस दृष्टि से मूक-सत्संग में ही मानव के पुरुषार्थ की परावधि है, अर्थात् करने का अन्त है।

प्राकृतिक नियमानुसार करने के अन्त में ही होने की अभिव्यक्ति निहित है। 'होने' में प्रसन्न रहने से, जो हो रहा है, उसमें उसकी महिमा का स्पष्ट दर्शन होने लगता है, जो सभी का आश्रय तथा प्रकाशक है। महिमा का दर्शन होते ही स्वत: अविचल आस्थाश्रद्धा-विश्वासपूर्वक आत्मीयता जाग्रत होती है, जिसके होते ही अगाध, अनन्त, नित-नव रस का स्रोत प्रवाहित होता ही रहता है, जो

वास्तविक जीवन है। रस की भूख मानवमात्र की अपनी भूख है। यद्यपि निर्विकारता, परम-शान्ति एवं स्वाधीनता में भी रस है, किन्तु आत्मीयता से जाग्रत अगाध प्रियता के रस का तो पारवार नहीं है। इसी दृष्टि से रस की तीन श्रेणियाँ हैं-शान्त, अखण्ड एवं अनन्त। शान्त एवं अखण्ड रस की अभिव्यक्ति होने पर यद्यपि जड़ता, पराधीनता एवं अभाव नहीं रहते, परन्तु दुःख-निवृत्ति, परम शान्ति तथा स्वाधीनता के आश्रय अहम् रूपी अणु का अत्यन्त अभाव नहीं होता।

इस कारण आत्मीयता से जाग्रत प्रियता में ही मानव-जीवन की पूर्णता निहित है। प्रियता से उदित रस शान्त तथा अखण्ड रस का पोषक है, नाशक नहीं। प्रियता एकमात्र अहम् की ही नाशक है, जिसके नाश से ही सदा के लिए दूरी, भेद तथा भिन्नता शेष नहीं रहती, अर्थात् योग, बोध एवं प्रेम से अभिन्नता हो जाती है, जो मानव, अर्थात् साधक का जीवन तथा साध्य का स्वभाव है।

समस्त दोषों की उत्पत्ति का कारण मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग है। स्वाधीनता के दुरुपयोग की रुचि, क्या प्राकृतिक दोष है, अर्थात् किसी की देन है? अथवा अपनी भूल है? जिसने मानव को स्वाधीनता प्रदान की है, क्या वह उसके दुरुपयोग की प्रेरणा देगा? कदापि नहीं। जगत् का बीज तथा तत्त्व की जिज्ञासा मानवमात्र में विद्यमान है। तत्व की जिज्ञासा जगत् के बीज को भस्मीभूत कर, जगदाधार से जातीय-एकता, नित्य-सम्बन्ध तथा आत्मीयता प्रदान करती है। जिज्ञासा 'मैं' और 'यह' के सम्बन्ध में होती है। 'यह' और 'मैं' की वास्तविकता का बोध होने पर अहम् और मम का नाश होता है। मम के नाश से निर्विकारता और अहम् के नाश से दूरी, भेद तथा भिन्नता का अन्त होता है, अर्थात् योग, बोध एवं प्रेम की अभिव्यक्ति होती है।

यह स्पष्ट ही है कि सर्वांश में मम का नाश होते ही निष्कामता तथा असंगता स्वत: प्राप्त होती है। इस दृष्टि से निर्विकारता में ही शान्ति तथा स्वाधीनता निहित है। किन्तु अहम् का नाश हुए बिना सर्वांश में दूरी, भेद तथा भिन्नता का अन्त नहीं होता। अहम् का नाश आत्मीयता से ही होता है, असंगता से नहीं। असंगता पराधीनता का नाश करती है और स्वाधीनता से

अभिन्न करती है, किन्तु स्वाधीनता-जनित रस का प्रलोभन अहम् को जीवित रखता है। आत्मीयता की अभिव्यक्ति अहम् रूपी अणु को खा लेती है और अगाध प्रियता से अभिन्न करती है।

'यह' की प्रतीति और 'मैं' का भास मानव में स्वाभाविक है, किन्तु यह और 'मैं' की वास्तविकता की खोज भी मानव ही में है। 'यह' और 'मैं' की खोज करते-करते स्वत: 'है' का बोध होता है, 'मैं' का नहीं। 'मैं', 'है' की प्रीति से भिन्न कुछ नहीं है। खोज का प्रयास खोज के अन्त में स्वतः नाश हो जाता है, अर्थात् अहंकृति शेष नहीं रहती, अहम्-स्फूर्ति भले ही हो। अहंकृति के मिटते ही अपने ही में अपने प्रेमास्पद को पाकर मानव कृतकृत्य होता है। अपने ही में अपने प्रेमास्पद को पाने का अन्तिम उपाय आत्मीयता से जाग्रत अगाध प्रियता ही है। इस दृष्टि से अगाध प्रियता की भूख में ही जीवन की पूर्णता निहित है। काम की निवृत्ति परम-शान्ति से और जिज्ञासा की पूर्ति अमरत्व से एवं अगाध प्रियता की जागृति अनन्त-रस से अभिन्न करती है।

अपने में अपने से भिन्न प्रेमास्पद की स्वीकृति, क्या आवश्यक है? अवश्य है; कारण, कि मानव ने अपने ही में पराधीनता, जड़ता, अभाव आदि को स्वीकार किया है, जो वास्तव में भूल-जनित है। भूल अपने में है, तत्व में नहीं। भूल का अत्यन्त अभाव तभी हो सकता है, जब अपने ही में अपने प्रेमास्पद को अपनाया जाय। अपने में अपने प्रेमास्पद की स्वीकृति भेद की जननी नहीं है, अपितु भिन्नता की नाशक है। अहम्भाव ही परिच्छिन्नता को और परिच्छिन्नता भेद को जन्म देती है।

सर्व का आश्रय तथा प्रकाशक सदैव ज्यों-का-त्यों है, उसमें भूल की गन्ध भी नहीं है। भूल अपने ही में अपनी असावधानी से उत्पन्न होती है। अपनी असावधानी यही है कि मानव अपने प्रेमास्पद को अपने से भिन्न में खोजता है, किन्तु पाता नहीं, कारण, कि प्रेमास्पद से देश-काल आदि की दूरी नहीं है। जिससे देश-काल की दूरी नहीं है, उससे न जानने तथा न मानने की दूरी भासती है। जो सर्व का प्रकाशक तथा ज्ञाता है, उसको जानने का प्रयास, उसको भूलना है। जिस प्रकार नेत्र से कोई नेत्र को नहीं

देखता, आकृति को ही देखता है, किन्तु जिससे देखता है, वही नेत्र है, उसी प्रकार सर्व के आश्रय तथा प्रकाशक का कोई ज्ञाता नहीं हो सकता।

अतः प्रेमास्पद अर्थात् परमतत्त्व को जाना नहीं जाता, अपितु प्राप्त किया जाता है, जो एकमात्र आत्मीयता से जाग्रत प्रियता से ही साध्य तथा सुलभ है। इतना ही नहीं, प्रेमास्पद को स्वीकार न करने पर भी प्रेमास्पद की ही प्राप्ति होती है, कारण, कि 'है' से दूरी, भेद तथा भिन्नता सम्भव नहीं है। है' की 'मैं' के रूप में तथा निर्विकारता, परम-शान्ति, स्वाधीनता, अमरत्व आदि विभूतियों के रूप में 'है' की ही प्राप्ति होती है, किन्तु 'है' की 'है' के रूप में प्राप्ति का मूल मन्त्र 'है' की अगाध-प्रियता ही है। अत: अपने में अपने प्रेमास्पद की स्वीकृति अनिवार्य है।

खोज के मूल में माँग ही हेतु है, अर्थात् जिसकी आवश्यकता होती है, उसी की खोज होती है। माँग जिसमें होती है, वही खोजता है। अतः अपने में उसी की माँग है, जो अपने ही में है। किन्तु प्रियता के अभाव से दूरी तथा भेद प्रतीत होता है। जिसकी आवश्यकता है, उसमें अविचल आस्था करना भी उसकी प्राप्ति में हेतु है। इस दृष्टि से खोज तथा आस्था दोनों ही प्रशस्त पथ हैं। खोज के अन्त में आस्था स्वत: होती है और आस्था के आधार पर भी खोज की जाती है। इस दृष्टि से खोज में आस्था और आस्था में खोज ओत-प्रोत हैं। मानव को खोज तथा आस्था की सामर्थ्य स्वत: प्राप्त है। खोज से आस्था को सजीव बनाना अथवा आस्था से खोज करना, यह स्वाधीनता प्रत्येक मानव को प्राप्त है। अपने से भिन्न को स्वीकार न करना, अपने से भिन्न की, की हुई स्वीकृतियों को मिटाने का उपाय है। यदि अपने ही में अपने प्रेमास्पद को स्वीकार कर लिया जाय, तो अपने सहित सब कुछ उसी की प्रीति हो जाती है।

जिज्ञासु का जिज्ञासा से भिन्न कोई अस्तित्व नहीं है। अत: जिज्ञासा-पूर्ति होने पर जिज्ञासु का कोई अस्तित्व नहीं रहता। इस दृष्टि से भी 'मैं 'है' में ही विलीन होता है। 'है' को 'मैं' में विलीन करना, क्या सम्भव है? कदापि नहीं। लहर सागर में विलीन होती है, सागर लहर में नहीं। सागर और लहर

का भेद जल में नहीं है। क्या लहर सागर में नहीं है? उसी प्रकार प्रीति और प्रियतम का भेद प्रियतम में नहीं है, कारण, कि प्रीति प्रियतम का ही स्वभाव और में प्रियतम का नित्यवास है। 'मैं' और 'है' का भेद 'है' में, यह है की ही महानता है। किन्तु 'मैं' 'है' को अस्वीकार कर 'मैं' को ही स्वीकार करे, क्या यह 'मैं' की भूल नहीं है? 'मैं' और 'है' का भेद प्रीति और प्रीतम के स्वरूप में है। प्रीति में सत्ता प्रीतम से भिन्न की नहीं होती और प्रीति ने प्रीतम से भिन्न को पाया ही नहीं। 'मैं' की अभिन्नता प्रीति से होती है और प्रीति सदैव प्रीतम से अभिन्न है। इस दृष्टि से प्रीति होकर प्रीतम की प्राप्ति सहज, सुलभ तथा स्वाभाविक है। अतः अपने ही में अपने प्रेमास्पद को स्वीकार करने में सफलता अनिवार्य है।

'यह' की खोज करने पर 'यह' का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहता और 'मैं' की खोज करने पर भी 'मैं' 'हे' की प्रीति हो जाता है। 'यह' और 'मैं' दोनों में यदि मानी हुई एकता न होती, तो 'मैं' को 'यह' की प्रतीति ही न होती। 'यह' और 'मैं' भोग की रुचि से भिन्न मालूम होते हैं। मूक-सत्संग द्वारा नित्य-योग प्राप्त होने पर 'यह और 'मैं' की वास्तविकता का बोध स्वत: हो जाता है। 'यह' की आसक्ति 'मैं' का 'यह' से सम्बन्ध जोड़ती है, जो वास्तव में भूल-जनित है। 'है' की प्रीति 'यह' की आसक्ति को खाकर 'मैं' को है' से अभिन्न करती है और फिर प्रीति और प्रीतम का नित्य-विहार ही शेष रहता है, जो वास्तविक जीवन है। 'यह' कुछ नहीं है, अथवा 'है' की ही अभिव्यक्ति है-यह दार्शनिक तथ्य है। 'यह' की आसक्ति से ही 'मैं' का 'यह' से सम्बन्ध होता है। 'है' की उत्कट लालसा 'मैं' का 'यह' से सम्बन्ध विच्छेद करने में समर्थ है। सर्वांश में आसक्ति का नाश होने पर लालसा की पूर्ति स्वतः होती है, यह वैज्ञानिक तथ्य है। 'है' की लालसा 'है' में और 'यह' की आसक्ति 'यह' में नहीं होती। जिसमें 'यह' की आसक्ति और 'है' की लालसा है, वही 'मैं' है।

आसक्ति की निवृत्ति और लालसा की पूर्ति होने पर 'मैं' है के योग, बोध एवं प्रेम से भिन्न कुछ नहीं है। पर यह रहस्य मूक-सत्संग से ही स्पष्ट होता है।

योग, बोध और प्रेम मानव की वास्तविक माँग है, कारण, कि भोग, मोह और आसक्ति का परिणाम मानव को पराधीनता, जड़ता एवं अभाव में आबद्ध करता है, जिसकी निवृति अत्यन्त आवश्यक है, जो एकमात्र योग, बोध तथा प्रेम से ही सम्भव है। योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति किसी परिस्थिति विशेष की अपेक्षा नहीं रखती, अपितु प्रत्येक परिस्थिति में सम्भव है। किन्तु प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग और अप्राप्त परिस्थीत के चिन्तन का नाश अनिवार्य है, जो एकमात्र निर्ममता तथा निष्कामता से ही साध्य है।

योग की पूर्णता में बोध और बोध की पूर्णता में प्रेम ओत-प्रोत हैं। इस कारण नित्य-योग की अभिव्यक्ति अत्यन्त आवश्यक है, जिसके लिए मूक-सत्संग ही अचूक उपाय है। संयोग-जनित सुख-लोलुपता का नाश होने पर ही नित्य–योग की अभिव्यक्ति होती है। मूक-सत्संग मानव को संयोग की दासता से रहित करने में समर्थ है। संयोग की दासता का अन्त होने पर वियोग का भय स्वतः नाश हो जाता है, जिसके होते ही मोह की निवृत्ति तथा बोध की अभिव्यक्ति होती है। बोध की अभिव्यक्ति में ही अखण्ड स्मृति अर्थात् अगाध प्रियता निहित है। इस दृष्टि से योग में बोध और बोध में प्रेम ओत-प्रोत हैं। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब मानव योग, बोध आदि के अभिमान से रहित हो जाता है। निरभिमानता के बिना सर्वांश में परिच्छिन्नता का नाश नहीं होता, जो भेद तथा भिन्नता की जननी है। परिच्छिन्नता किसी-न-किसी अवस्या के आश्रय से ही जीवित रहती है। सभी अवस्थाओं से असंग होने पर निरभिमानता की अभिव्यक्ति होती है और फिर परिच्छिन्नता शेष नहीं रहती।

क्रियाशीलता, चिन्तन तथा स्थिति-अवस्थाएँ हैं। अकर्तव्य के नाश में कर्तव्यपरायणता और व्यर्थ-चिन्तन का नाश होते ही सार्थक-चिन्तन की जागृति तथा अचिन्तता स्वतः आती है, जो एकमात्र मूक-सत्संग से ही साध्य है। अकर्तव्य तथा व्यर्थ-चिन्तन के मूल में असत् का संग ही हेतु है। अत: असत् के संग के त्याग में ही समस्त दोषों की निवृत्ति निहित है। भेद की उत्पत्ति होने पर ही मानव संयोग की दासता तथा वियोग के भय

में आबद्ध होता है। इस कारण भेद का अन्त करना अनिवार्य है, जो परिच्छिन्नता को नाश से ही सम्भव है। परिच्छिन्नता का नाश किसी अभ्यास से सम्भव नहीं है, कारण, कि अभ्यास के लिए देह का आश्रय अपेक्षित होता है। देहाभिमान के रहते हुए परिच्छिन्नता का नाश सम्भव नहीं है। देहाभिमान गलाने में मूक-सत्संग ही मूल मन्त्र है।

प्राण तथा वृत्तियों का निरोध एक अवस्था है, नित्य-योग नहीं। नित्य-योग की अभिव्यक्ति अवस्थाओं से असंग होने में ही निहित है। सभी अवस्थाओं का प्रकाशक स्वरूप से सभी अवस्थाओं से अतीत है। अवस्थाओं के आश्रय से ही मानव नित्य-योग से विमुख होता है। यद्यपि प्रत्येक अवस्था स्वभाव से ही परिवर्तनशील है, परन्तु मानव अवस्थाओं से तद्रूप होकर अवस्थाओं में जीवन-बुद्धि स्वीकार कर लेता है, जो वास्तव में असत् का संग है।

सत् सभी अवस्थाओं में ज्यों-का-त्यों है। उसका संग किसी अवस्था के आश्रित नहीं हैं, अपितु विश्राम से ही साध्य है। सत् के संग में सत् की अनुरक्ति ही हेतु है। अनुरक्ति किसी श्रम-साध्य प्रयोग से जाग्रत नहीं होती, अपितु आत्मीयता से ही साध्य है। अनुरक्ति जिसमें जाग्रत होती है, उसको अपने से अभिन्न कर लेती है, अर्थात् अनुरक्ति से भिन्न अनुरत में और कुछ नहीं है, किन्तु जिसके प्रति जाग्रत होती है, उसके लिए रसरूप सिद्ध होती है, यह अनुरक्ति की विलक्षणता है।

सभी आसक्तियों का सर्वांश में समावेश अनुरक्ति में ही होता है। यदि विरक्ति असत् से असंग करती है, तो अनुरक्ति सत् से अभिन्न करती है। इतना ही नहीं, विरक्ति का अन्त अनुरक्ति में ही होता है। आसक्ति जिसमें उत्पन्न होती है, उसे अपने से अभिन्न नहीं कर पाती। इसी कारण आसक्ति के रहते हुए परिच्छिन्नता शेष रहती है। किन्तु अनुरक्ति की यह विलक्षणता है कि जिसमें जाग्रत होती है, उसके अस्तित्व को अपने से भिन्न नहीं रहने देती। इसी कारण अनुरक्ति की जागृति से ही परिच्छिन्नता का अत्यन्त अभाव होता है। योग, बोध, प्रेम कोई अवस्था विशेष नहीं है, अपितु मानव का जीवन है। इस दृष्टि से योग, बोध तथा प्रेम से अभिन्न होना - अनिवार्य है। भोग, मोह तथा

आसक्ति के रहते हुए नित्य-योग की माँग शिथिल भले ही हो जाय, नाश नहीं होती।

मूक-सत्संग से नित्य-योग की माँग तीव्र होती है। ज्यों-ज्यों नित्य-योग की माँग तीव्र होती जाती है, त्यों-त्यों भोग की रुचि स्वत: मिटती जाती है। भोग की रुचि का नाश होते ही मोह तथा असक्ति शेष नहीं रहते। सर्वांश में भोग की रुचि का नाश तया नित्य-योग युगपद होते हैं। नित्य-योग वर्तमान जीवन की वस्तु है। उससे निराश होने के समान और कोई भारी भूल नहीं है। किये हुए का परिणाम कालान्तर में स्वतः नाश हो जाता है, किन्तु मूक-सत्संग से साध्य नित्य-योग अविनाशी जीवन से अभिन्न करता है। इतना ही नहीं, नित्य-मिलन तथा नित्य-विरह नित्य-योग में ही निहित है। विरह और मिलन में स्वरूप से भेद नहीं है, कारण, कि विरह में मिलन और मिलन में विरह ओत-प्रोत हैं। इसी कारण अनुरक्ति क्षति, पूर्ति एवं निवृत्ति से रहित है। क्षति, पूर्ति एवं निवृत्ति से रहित होने से ही अनुरक्ति नित-नव तथा अनन्त है। अनन्त को रस देने में अनुरक्ति ही समर्थ है। अनुरक्ति में सत्ता उसी की है, जिसकी वह अनुरक्ति है। इस दृष्टि से प्रेम और प्रेमास्पद के नित्य-विहार में ही मानव-जीवन की पूर्णता निहित है, जो एकमात्र नित्य-योग से ही साध्य है।

संयोग की दासता ही एकमात्र नित्य-योग में बाधक है। संयोग की रुचि मानव को नित्य-प्राप्त से विमुख कर प्रतीति की ओर आकर्षित करती है और किसी-न-किसी प्रवृत्ति को जन्म देती है। प्रवृत्ति से प्राप्त सामर्थ्य का ह्रास ही होता है, प्राप्त कुछ नहीं होता। यह स्पष्ट ही है कि प्रवृत्तियों का परिणाम जो वस्तु अवस्था, परिस्थिति आदि के रूप में प्रतीत होता है, उसमें भी तो सतत परिवर्तन ही है। परिवर्तन उत्पत्ति-विनाश का क्रम है। अत: प्रवृत्ति के परिणाम में किसी अस्तितत्व की प्राप्ति नहीं होती। उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश में स्थिति केवल प्रतीति मात्र है। वास्तव में तो वह उत्पत्ति-विनाश का प्रवाह ही है, स्थिति नहीं। किन्तु संयोग की रुचि नाश होते ही सहज निवृतिपूर्वक स्वतः नित्य-योग की अभिव्यक्ति होती है। इस दृष्टि से संयोग की दासता का अन्त करना अनिवार्य है। संयोग-जनित चेष्टाएँ अखण्ड नहीं होतीं। संयोग की रुचि के कारण निवृत्ति में भी प्रवृत्ति

भासती है। संयोग की रुचि का नाश होते ही प्रत्येक प्रवृत्ति स्वतः निवृत्ति में विलीन होती है। निवृत्ति में ही नित्य-योग निहित है। निवृत्ति करनी नहीं पड़ती, अपितु अपने-आप होती है।

प्रवृत्ति के मूल में करने की रुचि होती है, जो मानव को देहाभिमान में आबद्ध करती है। देहाभिमान के रहते हुए संयोग की दासता का नाश नहीं होता। देहाभिमान का अन्त करने के लिए सहज निवृत्तिपूर्वक मूक-सत्संग अनिवार्य है। प्रतीति और प्राप्त में एक बड़ा भेद यह है कि प्रतीति की आस्था प्रवृत्तियों को जन्म देती है, किन्तु परिणाम में अभाव ही शेष रहता है। यद्यपि प्राप्त की प्रतीति नहीं होती, परन्तु 'प्राप्त' में आस्था निवृतिपूर्वक अभाव का अभाव करने में समर्थ होती है। किसी भी प्रवृत्ति द्वारा अभाव का अभाव नहीं होता, यह वैज्ञानिक तथ्य है। सहज तथा स्वाभाविक निवृत्ति से अपने आप अभाव का अभाव हो जाता है, कारण, कि निवृत्ति प्राप्त से दूरी, भेद, भिन्नता नहीं रहने देती। इस दृष्टि से सहज निवृत्ति, अर्थात मूक-सत्संग अभाव का अभाव करने में समर्थ है।

नित्य-प्राप्त में अविचल आस्था अथवा प्रतीति की वास्तविकता का परिचय सहज निवृत्ति में हेतु है। सहज निवृत्ति का कभी नाश नहीं होता। प्रवृत्ति-काल में भी निवृत्ति ज्यों-की-त्यों रहती है, किन्तु उसका अनुभव प्रवृत्ति के आरम्भ से पूर्व और प्रवृत्ति के अन्त में स्वत: होता है। जो आदि में और अन्त में होता है, वह मध्य में भी रहता है, उसका भास भले ही न हो। जो वस्तु जैसी भासित होती है, क्या वह वास्तव में वैसी ही होती है? यदि होती, तो प्रवृत्ति जिस आकर्षण से आरम्भ होती है, मानव को उसकी प्राप्ति होनी चाहिए थी। पर ऐसा नहीं होता। प्रतीति का आकर्षण प्रवृत्ति को जन्म देकर प्रवृत्ति कर्ता को अभाव में ही आबद्ध करता है। इस दृष्टि से यह स्पष्ट ही है कि प्रतीति का आकर्षण वास्तविक नहीं है, अपितु भूल-जनित ही है। भूल का अन्त होते ही प्रतीति का आकर्षण शेष नहीं रहता और आवश्यक कार्य के अन्त में स्वतः सहज निवृत्ति सजीव होती है, जो विकास की भूमि है।

प्रवृत्ति की सार्थकता प्रतीति की वास्तविकता के बोध में ही है। प्रतीति की वास्तविकता का बोध स्वतः प्रवृत्ति-कर्ता को नित्य-योग से अभिन्न करता है।

अविचल आस्था उसी में होती है, जिसे इन्द्रिय तथा बुद्धि-दृष्टि से देखा नहीं है, अर्थात् प्रतीति में अविचल आस्था सम्भव नहीं है। प्रतीति के सम्बन्ध में जिज्ञासा होती है, आस्था 'नहीं। प्रतीति का आकर्षण नाश होते ही निष्कामता की अभिव्यक्ति होती है, जिसके होते ही स्वतः जिज्ञासा की पूर्ति, अर्थात् वास्तविकता का बोध हो जाता है, कारण, कि निष्कामता प्रतीति से विमुख कर नित्य-प्राप्त से अभिन्न करती है। अभिन्नता प्रीति की प्रतीक है। इस दृष्टि से जिज्ञासा की पूर्ति और प्रीति की जागृति युगपद होते हैं, कारण, कि ज्ञान में प्रेम, और प्रेम में ज्ञान ओत-प्रोत हैं। यदि ज्ञान और प्रेम का विभाजन हो जाय, तो ज्ञान-रहित प्रेम 'काम' और प्रेम-रहित ज्ञान शून्यता में आबद्ध करता है, जो अभाव रूप है। वास्तव में ज्ञान और प्रेम का विभाजन सम्भव ही नहीं है। जिज्ञासा की पूर्ति में प्रेम का प्रादुर्भाव और प्रेम की अभिव्यक्ति में जिज्ञासा की पूर्ति स्वतः होती है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब मानव प्रतीति के आकर्षण से रहित हो, सहज निवृत्ति से नित्य–योग को अपनाये।

नित्य–प्राप्त की अविचल आस्था भी मानव को सहज निवृत्ति प्रदान करती है, कारण कि आस्था' श्रद्धा-विश्वासपूर्वक शरणागति प्रदान करती है। शरणागत में अन्य विश्वास, अन्य सम्बन्ध तथा अन्य चिन्तन शेष नहीं रहते, अपितु अखण्ड–स्मृति की जागृति होती है। अखण्ड-स्मृति अन्य की विस्मृति कर दूरी, भेद तथा भिन्नता को शेष नहीं रहने देती, अर्थात् नित्य-प्राप्त में अगाध प्रियता जाग्रत करती है, जो वास्तविक जीवन है। इस दृष्टि से प्रतीति की वास्तविकता के परिचय से जो जीवन मिलता है, वही 'प्राप्त' की अविचल आस्था से भी मिलता है। पर विश्वास तथा विचार दोनों ही स्वतन्त्र पथ हैं। विश्वास और विचार दोनों ही से सत् का संग होता है। सत्संग में ही सर्वतोमुखी विकास निहित है। मूक-सत्संग विश्वास तथा विचार दोनों ही पथों के लिए समान है, कारण, कि विचार का उदय तथा प्रीति की जागृति मूक-सत्संग से स्वतः होती है। सत् का संग श्रम-साध्य नहीं है। इस कारण मूक-सत्संग ही वास्तविक सत्संग है।

सत्-चर्चा तथा सत्-चिन्तन से सत्संग की अभिरुचि जाग्रत होती

है। परन्तु सर्वांश में असत् का त्याग किये बिना सत् का संग नहीं होता। सत्संग के लिए "पर" की अपेक्षा नहीं है, अपने ही द्वारा अपने को करना है। इस कारण इसे प्रत्येक मानव कर सकता है। यह नियम है कि सत्संगी ही साधननिष्ठ होता है। इस दृष्टि से सत्संग मानवमात्र के लिए अत्यन्त आवश्यक है। सत्संग के बिना कोई ऐसा उपाय है ही नहीं कि जिससे मानव सर्वांश में असाधन-रहित होकर साधननिष्ठ हो जाय। आंशिक साधन और असाधन का द्वन्द्व तो मानवमात्र में जन्मजात है, पर सर्वांश में असाधन का अन्त करना ही वास्तव में मानव का पुरुषार्थ है। असाधन का नाश तथा साधन की अभिव्यक्ति हो सकती है; कारण, कि साधनपरायणता प्राप्त परिस्थिति में ही सम्भव है।

साधननिष्ठ होने के लिए मानव को नित्य-प्राप्त वर्तमान निर्दोषता को सुरक्षित रखना अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा, जब मानव की हुई भूल को न दोहराए और जानी हुई बुराई न करे। यह स्पष्ट ही है कि समस्त दोष भूल-जनित होते हैं। अपने लिए मानव को कुछ भी नहीं करना है, पर यह बात मानव भूल जाता है। उसका परिणाम यह होता है कि मानव वह करने लगता है, जो उसे नहीं करना चाहिए और सामर्थ्य-विरोधी कार्य करना चाहता है, यद्यपि कर नहीं पाता, परन्तु उन कार्यों को अपने में जमा रखता है, जो वास्तव में व्यर्थ-चिन्तन है। व्यर्थ-चिन्तन का मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। सार्थक-चिन्तन की अभिव्यक्ति व्यर्थ-चिन्तन के नाश होने पर होती हे।

जो नहीं करना चाहिए तथा जिसे नहीं कर सकते, वह कार्य सभी के लिए सर्वथा त्याज्य है। ऐसा करते ही, जो करना चाहिए और जिसे मानव कर सकता है, वह समष्टि शक्तियों से स्वत: होने लगता है। इतना ही नहीं, उसके करने का अभिमान भी अंकित नहीं होता। उसका परिणाम यह होता है कि विद्यमान राग की निवृत्ति होती है और नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होती, अर्थात् मानव बड़ी ही सुगमतापूर्वक राग-रहित हो जाता है, जो नित्य–योग की भूमि है। जो सर्वथा त्याज्य है, उसका मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। अत: जानी हुई बुराई को किसी भी प्रलोभन तथा भय से नहीं करना है और की हुई बुराई को

दोहराना नहीं है। बस, स्वतः निर्दोषता से अभिन्नता हो जाएगी। निर्दोषता अप्राप्त नहीं है, अपितु नित्य-प्राप्त है। किन्तु बुराई को बुराई जान लेने पर भी बुराई का त्याग नहीं करते, उसी का परिणाम यह होता है कि विद्यमान निदाँषता अप्राप्त प्रतीत होती है।

आशिक निर्दोषता का अनुभव तो मानव-मात्र को स्वभाव से ही है, पर सर्वाश में निर्दोषता की प्राप्ति जाने हुए दोषों के त्याग से ही होती है, किसी अन्य प्रकार से नहीं होती। किसी गुण-विशेष से दोष निवृत हो जाएँ-यह सम्भव नहीं है। जाने हुए दोषों के त्याग से समस्त दिव्य-गुणों की अभिव्यक्ति स्वतः होती है, यह प्राकृतिक तथ्य है। पर यह रहस्य वे ही मानव जान पाते हैं, जो आशिक निर्दोषता में सन्तुष्ट नहीं होते, अपितु दोषों की सर्वंश निवृत्ति ही जिन्हें अभीष्ट है। निदॉषता की माँग में ही दोषों के त्याग की सामर्थ्य निहित है। जिसकी प्राप्ति आवश्यकता अनुभव करने-मात्र से ही होती है, उसे वर्तमान में प्राप्त न करना भारी भूल, अर्थात् असत् का संग है, जो सर्वथा त्याज्य है।

दोषयुक्त जीवन किसी को कभी-भी स्वभाव से प्रिय नहीं है; किन्तु आशिक निर्दोषता के अभिमान से मानव दोषों को पोषित करता है। आशिक निर्दोषता का अभिमान समस्त दोषों का मूल है। सर्वांश में दोषी होना किसी भी मानव के लिए सम्भव ही नहीं है, यह प्राकृतिक तथ्य है। अतः आशिक दोषों की निवृत्ति प्रत्येक मानव को वर्तमान में ही करना है। दोष का त्याग और निर्दोषता की अभिव्यक्ति युगपद होते हैं। निर्दोष जीवन में ही सर्वतोमुखी विकास निहित है। निदोंष होने में कोई भी मानव पराधीन तथा असमर्थ नहीं है, यह प्राकृतिक तथ्य है। दोषों का असह्य होना और निर्दोषता की उत्कट लालसा मानव को बड़ी ही सुगमतापूर्वक निर्दोषता से अभिन्न करते हैं। बिना करे कोई भी दोष अपने-आप नहीं होता, कारण, कि दोष प्राकृतिक तथ्य नहीं है, अपितु दोषों की उत्पत्ति मानव की असावधानी का ही परिणाम हे।

मूक-सत्संग से असावधानी का अन्त बडी ही सुगमतापूर्वक हो जाता है। प्राकृतिक नियमानुसार श्रम-रहित होते ही आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती हे। असमर्थता का अन्त होते ही असावधानी शेष नहीं

रहती। सामर्थ्य का अभाव असमर्थता नहीं है, अपितु प्राप्त सामर्थ्य का दुरुपयोग ही वास्तविक असमर्थता है। सावधान होते ही प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग सुलभ हो जाता है। सामर्थ्य के दुरुपयोग से ही दोषों की उत्पत्ति होती है। अत: सामर्थ्य का दुरुपयोग न करने पर किसी भी दोष की उत्पत्ति ही नहीं होती। इतना ही नहीं, गुणों का अभिमान भी नहीं होता। दोषों की उत्पत्ति तथा गुणों का अभिमान न हो, यही वास्तविक निर्दोषता है, जो मानव-मात्र को मिल सकती है।

अदूरदर्शिता, द्वन्द्व, संवेगात्मक-असन्तुलन, अशान्ति आदि से असावधानी उत्पन्न तथा पोषित होती है। अदूरदर्शिता का नाश सजगता से ही सम्भव है। सजगता शान्ति के सम्पादन से ही साध्य है। इस दृष्टि से मूक-सत्संग से ही असावधानी मिट सकती है। यह स्पष्ट ही है कि श्रमित होने पर जड़ता अपने-आप आती है, जिसके आते ही दूरदर्शिता नहीं रहती और फिर मानव द्वन्द्वात्मक स्थिति में आबद्ध हो जाता है, जिसके होते ही सन्तुलन नहीं रहता, जो अशान्ति में हेतु है। शान्ति भंग होते ही सावधानी नहीं रहती, जो विनाश का मूल है।

श्रम-रहित होते ही जड़ता शेष नहीं रहती और फिर स्वत: सजगता तथा शान्ति का सम्पादन होता है। शान्ति के सम्पादन में ही विचार का उदय, सामर्थ्य की अभिव्यक्ति तथा स्मृति की जागृति होती है। विचार का उदय होते ही अविचार स्वत: नाश हो जाता है। अविचार के अन्त में ही देहाभिमान की निवृत्ति निहित है, जो विकास की भूमि है।

असमर्थता का नाश तथा सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होते ही अकर्तव्य शेष नहीं रहता और फिर मानव बडी ही सुगमतापूर्वक प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करने में सफल होता है। प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में ही द्वन्द्वात्मक स्थिति का नाश निहित है। द्वन्द्व -रहित होते ही संवेगात्मक-असन्तुलन शेष नहीं रहता और फिर बड़ी ही सुगमतापूर्वक मानव असावधानी का अन्त करने में समर्थ होता है।

असावधानी के अन्त में ही विस्मृति का नाश तथा स्मृति की जागृति निहित है। विस्मृति के कारण

ही, जो नित्य-प्राप्त है, वह अप्राप्त जैसा प्रतीत होता है। विस्मृति के नाश तथा स्मृति की जागृति से नित्य-प्राप्त की प्राप्ति होती है और फिर दूरी, भेद एवं भिन्नता शेष नहीं रहती। दूरी के नाश में ही नित्य-योग और भेद का अन्त होते ही बोध एवं अभिन्नता में अगाध प्रियता ओत-प्रोत हैं। इस दृष्टि से स्मृति से ही प्राप्ति, बोध एवं प्रीति की जागृति होती है, जो वास्तविक जीवन है। अकर्तव्य, देहाभिमान तथा आसक्तियों की जब मानव क्रिया-जनित सुख में आबद्ध रहता है, तब विस्मृति उत्पन्न होती है, कारण, कि क्रिया में रत मानव उत्पन्न हुई वस्तु आदि से तदूप हो जाता है, जिसके होते ही विस्मृति उत्पन्न होती है। श्रम-रहित होने से स्वत: उत्पन्न हुई वस्तु आदि की वास्तविकता का परिचय तथा उनसे असंगता होती है। श्रमासक्ति ही तीनों शरीरों से संग-उत्पन्न करती है। श्रम-रहित हुए बिना असंगता उदित नहीं होती और असंगता के बिना जड़ता, पराधीनता आदि विकारों का नाश नहीं होता। इस कारण श्रम-रहित होने, अर्थात् मूक-सत्संग। से ही असंगता की अभिव्यक्ति होती है, जिसके होते ही अखण्ड स्मृति स्वत: जाग्रत होती है, जो प्रीति, प्राप्ति एवं बोध में हेतु है। स्मृति में ही तत्व-ज्ञान, परम-प्रेम एवं नित्य-योग निहित है। स्मृति के लिए किसी करण की अपेक्षा नहीं है, अपितु यह मूक-सत्संग से ही साध्य है।

मूक-सत्संग के बिना देहाभिमान का नाश सम्भव नहीं है। देहाभिमान के रहते हुए चिर-विश्राम, परम-शान्ति, स्वाधीनता एवं प्रेम की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है। देहाभिमान देह-जनित श्रम से ही पोषित है। इस कारण विश्राम ही देहाभिमान गलाने में हेतु है। इस वास्तविकता की विस्मृति ने ही मानव को पराधीनता, जड़ता, अशान्ति, विषमता, परिच्छिन्नता आदि विकारों में आबद्ध कर दिया है। प्राकृतिक नियमानुसार श्रम विश्राम के लिए ही आदरणीय है और विश्राम से ही आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है, जो श्रम में हेतु है। विश्राम की महिमा न जानने तथा न मानने से, जो दुर्गति हुई है, वह मानवमात्र को स्पष्ट ही है। जो जीवन अपने लिए, जगत् के लिए एवं प्रभु के लिए उपयोगी है, वह विश्राम के न अपनाने से सभी के लिए अनुपयोगी हो गया है। इस दुर्गति का कारण कुछ और नहीं है, अपितु

विश्राम में जीवन है-इस तथ्य में अवचिल आस्था न करना है।

यह स्पष्ट ही है कि जब तक मानव अपना संकल्प रखता है, अर्थात नि:संकल्प नहीं होता, जब तक विश्राम, अर्थात् नित्य-योग से विमुख ही रहता है। प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक मानव नि:संकल्प होने में पराधीन तथा असमर्थ नहीं है, अपितु सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है। प्रत्येक संकल्प की पूर्ति किसी अन्य के संकल्प से ही होती है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब मानव वर्तमान वस्तुस्थिति से भली भाँति परिचित हो जाय। यद्यपि संकल्प की उत्पत्ति प्राकृतिक तथ्य है, परन्तु उससे असहयोग करने में मानव सर्वदा स्वाधीन है। उत्पन्न हुए संकल्पों से असहयोग करते ही, अनावश्यक तथा अशुद्ध संकल्प स्वतः नाश हो जाते हैं और आवश्यक तथा शुद्ध संकल्प पूरे होकर नाश हो जाते हैं। अपना संकल्प रखने से मानव संकल्प-पूर्ति का सुख भोगने लगता है। उसका परिणाम यह होता है कि नवीन संकल्प उत्पन्न होते रहते हैं और अन्त में संकल्प-आपूर्ति ही शेष रहती है, जो किसी भी मानव को अभीष्ट नहीं है। यद्यपि संकल्प-पूर्ति काल में भी पराधीनता ही रहती है, परन्तु संकल्प-आपूर्ति काल में तो पराधीनता-जनित व्यथा उत्पन्न होती है। संकल्प-पूर्ति काल की पराधीनता मधुर विष है और संकल्प-आपूर्ति काल की पराधीनता क्षोभ तथा क्रोध से दग्ध करती है। इस दृष्टि से अपना संकल्प अपने लिए अनुपयोगी सिद्ध होता है।

यह वैधानिक तथ्य है कि जो अपने लिए अनुपयोगी है, वह किसी के लिए भी उपयोगी नहीं होता। इस कारण अपने लिए उपयोगी होना अनिवार्य है, जो एकमात्र निःसंकल्पता से ही हो सकता है। जिसका अपना संकल्प नहीं रहता, वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक समता के साम्राज्य में नित्य वास पाता है। समता से उदित जो रस है, वह संकल्प-पूर्ति से कभी भी सम्भव नहीं है। संकल्प मानव को उत्पन्न हुई वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि में आबद्ध करता है। संकल्प और आवश्यकता में एक बड़ा भेद है। संकल्प का उदगम देहाभिमान है और आवश्यकता अपने में जाग्रत होती है। इसी कारण आवश्यकता की पूर्ति तथा संकल्प की निवृत्ति अनिवार्य है।

विषमता, जड़ता, पराधीनता, परिच्छिन्नता आदि की निवृत्ति मानव

की आवश्यकता है। उसकी पूर्ति अनिवार्य है। जब मानव अपने में अपना संकल्प नहीं रखता, तब बड़ी ही सुगमतापूर्वक निर्विकारता से अभिन्न होता है और स्वत: उदारता की अभिव्यक्ति होती है, जिसके होते ही जीवन जगत् के लिए उपयोगी हो जाता है। उदारता की माँग समस्त विश्व को सदैव रहती है। उदारतायुक्त जीवन ही जगत् के लिए उपयोगी होता है। उदारता की अभिव्यक्ति होते ही, सभी अपने हो जाते हैं, तथा पराधीनता की गन्ध भी नहीं रहती। उदारता प्रेम का ही क्रियात्मक रूप है। उदारता में त्याग स्वाभाविक है। इस दृष्टि से उदारता, त्याग तथा प्रेम में रसभेद भले हो, स्वरूप-भेद नहीं है।

अपने संकल्प में बँधा हुआ मानव पराधीनता, अशान्ति, विषमता आदि से पीड़ित तथा जड़ता में आबद्ध रहता है। इस कारण वर्तमान में ही अपने को संकल्प-रहित करना है, जो मूक-सत्संग से ही साध्य है। अपने संकल्प ने ही अपने को परिच्छिन्नता में आबद्ध कर दिया है, जो भेद तथा भिन्नता की जननी है। भेद ने तत्व-ज्ञान से और भिन्नता ने प्रेम से मानव को विमुख कर दिया है। तत्व-ज्ञान के बिना जीवन अपने लिए और प्रेम के बिना जीवन प्रभु के लिए अनुपयोगी होता है। परिच्छिन्नता का अन्त करने के लिए अपने में अपना संकल्प नहीं रखना है। विश्व के संकल्प में अपना संकल्प विलीन करने से उदारता स्वत: जाग्रत होती है तथा संकल्पातीत जीवन की खोज करने से अंसगता से प्राप्त स्वाधीनता और विश्व के आश्रय तथा प्रकाशक के संकल्प में अपना संकल्प विलीन करने से आत्मीयता से जाग्रत अगाध प्रियता स्वतः प्राप्त होती है। इस दृष्टि से मानव उदारता, असंगता एवं आत्मीयता से युक्त होकर विश्व के लिए, अपने लिए एवं प्रभु के लिए उपयोगी होता है, जो वास्तविक जीवन है।

अपने अस्तित्व को स्वीकार करते हुए यह अनिवार्य हो जाता है कि मानव अपने पर कोई दायित्व भी अनुभव करे। प्राकृतिक नियमानुसार दायित्व वही है, जिसे पूरा करने की स्वाधीनता मानव को स्वतः प्राप्त है। इस दृष्टि से मानव स्वाधीनतापूर्वक दायित्व को पूरा कर अपने अभीष्ट को प्राप्त कर सकता है। अत: मानव-जीवन में असफलता के लिए कोई स्थान ही नहीं है। सफलता मानव का

जन्म सिद्ध अधिकार है। यह असत् के संग का परिणाम है कि मानव अपने को असफल पाता है। दायित्व और लक्ष्य का स्पष्ट ज्ञान मानवमात्र को हो सकता है। पर उसके लिए उसे मूक-सत्संग अपनाना अनिवार्य होगा, कारण, कि श्रम-रहित होकर अविनाशी का संग किए बिना मानव अपने दायित्व तथा लक्ष्य का स्पष्ट दर्शन नहीं कर सकता। अविनाशी का संग मानव को मिले हुए का दुरुपयोग न करने की प्रेरणा देता है। अत: मानव अविनाशी का संग करते ही कर्तव्यनिष्ठ हो जाता है।

विनाशी के संग से काम की उत्पत्ति होती है, जो मानव को पराधीनता, जड़ता एवं अभाव में आबद्ध करती है। यह स्वाधीनता मानव को है कि वह विनाशी अथवा अविनाशी का संग करे। उत्पन्न हुई वस्तु अवस्था, परिस्थिति आदि में ममता तथा उनकी कामना विनाशी का संग है। उसी का यह परिणाम है कि बेचारा मानव विषमता में आबद्ध हो गया है, जिसके होने से ही अनेक प्रकार के संघर्ष तथा द्वन्द्व उत्पन्न हो गए हैं। संघर्ष ने असमर्थता में और द्वन्द्व ने अशान्ति में आबद्ध कर दिया है, जो विनाश का मूल है। असमर्थता का अर्थ सामर्थ्य का अभाव नहीं है, अपितु प्राप्त सामर्थ्य का दुरुपयोग है, जो वास्तव में असत् का संग है।

प्राप्त का दुरुपयोग करते हुए कोई भी मानव कभी भी सफलता के साम्राज्य में प्रवेश नहीं पाता। यदि असफलता है, तो प्राप्त का दुरुपयोग अवश्य किया है, जिसका मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। प्राप्त वस्तु योग्यता, सामर्थ्य आदि के दुरुपयोग न करने का अविचल निर्णय सत्संग है, कारण, कि कोई भी मानव किसी से अपने प्रति वस्तु योग्यता, सामर्थ्य आदि के दुरुपयोग की आशा नहीं करता।

अत: यह स्पष्ट ही है कि प्राप्त वस्तु योग्यता, सामर्थ्य आदि के दुरुपयोग का किसी भी मानव को अधिकार नहीं है। जो नहीं है उसी को अपनाना ही असत् का संग है, अर्थात् अनधिकार चेष्टा करना असत् का संग है। उसके न करने का अविचल निर्णय सत् का संग है। 'न करने' से अविनाशी का संग स्वत: होता है। अत: विश्राम में अविनाशी का संग निहित है। अकर्तव्य के स्पष्ट दर्शन में कर्तव्य का यथेष्ट ज्ञान निहित है। इस कारण

प्रत्येक मानव अपने दायित्व को भलीभाँति अनुभव कर सकता है। दायित्व की पूर्ति और लक्ष्य की प्राप्ति युगपद् होते हैं। अतः यह निर्विवाद है कि मानव-जीवन में असफलता के लिए कोई स्थान ही नहीं है। असफलता-जनित वेदना असत् के त्याग की अभिरुचि तथा सामर्थ्य प्रदान करती है। 'सफलता अनिवार्य है' - यह अविचल आस्था असफलता-जनित वेदना जाग्रत करती है, जिसमें सर्वतोमुखी विकास निहित है।

सफलता की भूख मानव की अपनी भूख है। उसे शिथिल कर देना भारी भूल है। भूतकाल चाहे जैसा क्यों न बीता हो, यदि वर्तमान में सफलता की भूख जाग्रत है, तो विकास अनिवार्य है। यह सभी को विदित है कि असफलता किसी को भाती नहीं, यह प्राकृतिक तथ्य है। इस कारण सफलता की भूख जगाना अत्यन्त आवश्यक है। उसके बिना मानव-जीवन की सार्थकता सम्भव नहीं है। जो भाता नहीं है उसकी व्यथा, और जो अभीष्ट है उसकी उत्कट लालसा, क्या स्वाभाविक नहीं है? यदि है, तो सफलता की भूख जाग्रत हो सकती है। उससे निराश होना और असफलता को सहन करना, अपने ही द्वारा अपना विनाश करना है। अप्राप्त वस्तु योग्यता, सामर्थ्य आदि की प्राप्ति में भले ही पराधीनता हो, किन्तु प्राप्त वस्तु आदि के दुरुपयोग न करने में तो मानव सर्वथा स्वाधीन है।

प्राकृतिक नियमानुसार प्राप्त के सदुपयोग में ही अप्राप्त की प्राप्ति निहित है अथवा प्राप्त वस्तु योग्यता, सामर्थ्य के सदुपयोग से ही मानव वस्तु अवस्था आदि से अतीत के जीवन में प्रवेश पाता है, जिसमें विषमता की गन्ध भी नहीं है।

समता के साम्राज्य में ही सर्वोत्कृष्ट जीवन की उपलब्धि निहित है। इस दृष्टि से मानवमात्र वास्तविक जीवन से अभिन्न हो सकता है। अत: असफलता सहन करना और सफलता से निराश होना प्राकृतिक तथ्य नहीं है, अपितु अपनी ही भूल है। अपनी भूल के ज्ञान में ही भूल का नाश निहित है, जो एकमात्र मूक-सत्संग से ही साध्य है। जब मानव अपने द्वारा अपने दायित्व का अनुभव कर लेता है, तब उसे दायित्व पूरा करने में कोई कठिनाई नहीं होती, अर्थात् दायित्व पूरा करना स्वाभाविक हो जाता है।

अपने दायित्व का ज्ञान अपने ही में है। जो अपने ही में है, उसके लिए 'पर की ओर देखना अपने ही द्वारा अपने को वास्तविकता से विमुख करना है, जो वास्तव में असत् का संग है। माँग और दायित्व, दोनों का स्थान एक है। एक के बोध में दूसरे का बोध निहित है। इस कारण प्रत्येक मानव दायित्व की पूर्ति एवं लक्ष्य की प्राप्ति में सर्वदा स्वाधीन है। अपने दायित्व तथा अपनी माँग को अपने द्वारा अनुभव न करने के कारण ही मानव अपने को दायित्व पूरा करने में असमर्थ अनुभव करता है और लक्ष्य से निराश होता है। यह वास्तविकता नहीं है, अपितु असत् के संग का परिणाम है, जिसकी निवृत्ति मूक-सत्संग से ही होती है।

प्रत्येक मानव को वह प्राप्त है, जिसके सदुपयोग में उसका सर्वतोमुखी विकास निहित है। प्राप्त के दुरुपयोग के कारण ही मानव अप्राप्त वस्तु योग्यता, सामर्थ्य आदि का चिन्तन करता है और अपने को पराधीन बनाता है। यद्यपि मानव-जीवन पराधीनता के नाश के लिए ही मिला है, पराधीन होने के लिए नहीं, परन्तु अपनी ओर न देखने के कारण मानव पराधीनता में आबद्ध होता है। अनन्त काल की पराधीनता का अन्त मानव-जीवन में ही सम्भव है, कारण, कि स्वाधीनता की माँग मानव-मात्र में स्वाभाविक है। स्वाभाविक माँग को दबा देना और अस्वाभाविक कामनाओं में आबद्ध होना असत् का संग है।

दायित्व का सम्बन्ध प्राप्त परिस्थिति से है। इस कारण मानव अपने दायित्व को वर्तमान में ही पूरा कर सकता है। वास्तविक माँग मानव की अपनी माँग है। अपनी माँग से किसी भी मानव को कभी भी निराश नहीं होना है, अपितु नित-नव आशा अनिवार्य है। प्राकृतिक नियमानुसार निराशा के नाश में ही वास्तविक आशा सजीव तथा जाग्रत होती है, जो विकास की भूमि है। वास्तविक माँग से निराश होने पर दायित्व पूरा करने का उत्साह नहीं होता। उत्साह-हीन जीवन में नीरसता उत्पन्न होती है। यह स्पष्ट ही है कि नीरसता की भूमि में ही काम की उत्पत्ति होती है, जो विनाश का मूल है, अर्थात् समस्त दोषों की उत्पत्ति काम में ही निहित है। नीरसता का नाश नित-नव उत्साह की जागृति में ही निहित है। 'सफलता अनिवार्य है' -

यह अविचल आस्था ही मानव में नित-नव उत्साह बढ़ाती है।

असफलता असह्य हो जाय, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक सफलता में अविचल आस्था हो सकती है। असफलता को सहन करते रहना, अपनी ही बनाई हुई दुर्बलता है। असफलता-जनित वेदना से अपने को बचाने का प्रयास करना असत् का संग है, जिसका मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

प्राकृतिक नियमानुसार वर्तमान की वेदना ही भविष्य की उपलब्धि होती है। इस कारण असफलता-जनित वेदना में ही सफलता निहित है। वेदना मानव में भूल नहीं रहने देती। भूल-रहित होते ही समस्त दोष स्वतः नाश होते हैं। इस दृष्टि से वेदना विकास की भूमि है, पर यह बड़ी ही सजगतापूर्वक देखना है कि वेदना सुख-लोलुपता के लिए तो नहीं है। यदि नहीं है, तो वेदना एकमात्र चिर-विश्राम, स्वाधीनता एवं प्रेम के लिए ही होगी, जो प्राप्य हैं। वेदना का उपयोग कामना-पूर्ति में करना अपने को आसक्तियों में आबद्ध करना है, जो विनाश का मूल है। सुख-लोलुपता से उत्पन्न हुई व्यथा मानव को सुख की दासता, अर्थात् पराधीनता में आबद्ध करती है। पराधीनता में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना वास्तविक जीवन से विमुख होना है, जिसका मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। वास्तविक जीवन की माँग की पूर्ति अनिवार्य है। इतना ही नहीं, मानव-जीवन की यह महिमा है कि प्रत्येक मानव वास्तविकता से अभिन्न हो सकता है। इस दृष्टि से वास्तविक जीवन की उत्कट तीव्र लालसा में ही सर्वतोमुखी विकास निहित है।

वास्तविक जीवन से देश-काल की दूरी नहीं है। जिससे देश-काल दूरी नहीं है, उससे साधक को अभिन्न करने में एकमात्र मूक-सत्संग ही समर्थ है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब मानव किसी भी प्रकार की पराधीनता स्वीकार नहीं करता। पराधीनता सहन करते रहना ही अपने को सत्संग से विमुख करना है। यद्यपि स्वाधीनता की भूख स्वाभाविक है, परन्तु असत् के संग से पराधीनता में जीवन-बुद्धि उत्पन्न होती है, जो प्रत्येक मानव को सर्वथा त्याज्य है। 'पराधीनता में जीवन नहीं है' -यह मानवमात्र की अपनी अनुभूति है।

फिर भी उत्पन्न हुई परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि हो जाती है, जो वास्तव में असत् का संग है। असत् का संग प्राकृतिक दोष नहीं है, अपितु भूल-जनित है। असत् के संग के परिणाम से जब असह्य वेदना जाग्रत होती है, तब मानव अपने-आप भूल-रहित हो जाता है, कारण, कि वेदना भूल-रहित करने में समर्थ है। उत्पन्न हुए संकल्पों की पूर्ति तथा अपूर्ति का प्रभाव मानव को सुख की दासता तथा दुःख के भय में आबद्ध करता है।

प्राकृतिक नियमानुसार दासता तथा भय किसी भी मानव को, स्वभाव से प्रिय नहीं है और स्वाधीनता तथा निर्भयता सभी को स्वभाव से प्रिय हैं। किन्तु उत्पन्न हुई वस्तु अवस्था आदि में वास्तविक जीवन नहीं है-इस वास्तविकता पर विचार न करने से पराधीनता में जीवन-बुद्धि उत्पन्न होती है, जो अविचार-सिद्ध है। अविचार का अन्त विचार से ही साध्य है। विचार की जागृति एकमात्र मूक-सत्संग से ही होती है, किसी अभ्यास से नहीं। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब मानव वर्तमान में ही अविचार का अन्त करने के लिए तत्पर हो जाय।

निज-अनुभव के अनादर से ही अविचार पोषित होता है, जो विनाश का मूल है। निज-अनुभव के आदर का दायित्व मानवमात्र पर है। अपने दायित्व को पूरा करने की स्वाधीनता वैधानिक तथ्य है। इस दृष्टि से दायित्व पूरा न करने में अपनी ही असावधानी है, जिसका मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। दायित्व पूरा करने में पराधीनता तथा असमर्थता स्वीकार करना प्राकृतिक दोष नहीं है, अपितु भूल-जनित है। यह स्पष्ट ही है कि भूल जाने हुए की ही होती है। अर्थात् जिसके सम्बन्ध में मानव कुछ नहीं जानता, उसके भूलने की बात ही नहीं आती। अत: जाने हुए को ही भूलते हैं।

श्रम-रहित होते ही आवश्यक स्मृति स्वतः जाग्रत होती है, यह प्राकृतिक तथ्य है। इस दृष्टि से मूक-सत्संग में विस्मृति का नाश तथा स्मृति की जागृति निहित है। स्मृति अभ्यास नहीं है, अपितु अनन्त की देन अर्थात् स्वतः सिद्ध है। जो स्वतः सिद्ध है, उसी में जीवन है। इस कारण अखण्ड स्मृति में ही जीवन है। स्मृति दूरी, भेद तथा भिन्नता नहीं रहने देती। दूरी के नाश में योग और भेद के अन्त में बोध एवं भिन्नता के अभाव में अगाध

प्रियता निहित है। योग, बोध तथा प्रेम जिसमें अभिव्यक्त होते हैं, उसे अपने से अभिन्न कर लेते हैं, और जिसके प्रति होते हैं, उससे भी किसी प्रकार का भेद नहीं रहने देते। इतना ही नहीं, जिसकी जीवन में माँग है, योग, बोध, प्रेम उसी का स्वभाव है। प्रत्येक मानव अपनी वास्तविक माँग से परिचित हो सकता है, परन्तु असत् के संग के कारण काम को ही माँग मान लेता है। यद्यपि काम की निवृत्ति तथा जिज्ञासा की पूर्ति एवं प्रेम की जागृति ही मानव की स्वाभाविक माँग है, परन्तु असत् के संग के प्रभाव से माँग की विस्मृति और काम की उत्पत्ति होती है और फिर मानव पराधीनता में आबद्ध हो जाता है।

किसी भी मानव को सदैव पराधीनता सहन नहीं होती। यह विदित ही है कि घोर प्रवृत्ति में भी मानव स्वभाव से निवृत्ति अपनाता है। किन्तु प्रवृत्ति के राग के कारण निवृत्ति को सुरक्षित नहीं रख पाता। उसी का परिणाम यह होता है कि पराधीनता में जीवन मान लेता है। पर यह वैधानिक तथ्य है कि स्वभाव से पराधीनता प्रिय नहीं है। मूक-सत्संग से प्रवृत्ति का राग स्वतः नाश हो जाता है, जिसके होते ही जाग्रत-सुषुप्ति उदित होती है, जो सर्वतोमुखी विकास की भूमि है। जाग्रत-सुषुप्ति में ही सामर्थ्य की अभिव्यक्ति, विचार का उदय एवं प्रीति की जागृति निहित है। सामर्थ्य की अभिव्यक्ति में ही असमर्थता का नाश है। असमर्थता का नाश होते ही दोषों की उत्पत्ति तथा गुणों का अभिमान शेष नहीं रहता। गुण-दोष रहित होते ही परिच्छिन्नता स्वतः नाश हो जाती है और फिर असीम, अनन्त, नित्य, चिन्मय जीवन से अभिन्नता होती है। इस दृष्टि से मूक-सत्संग में ही वास्तविक जीवन निहित है।

उत्पन्न हुई वस्तु अवस्था, परिस्थितियो का आश्रय मानव को पराधीनता में आबद्ध रखता है-यह मानवमात्र का अपना अनुभव है। इस अनुभव का आदर करते ही अनुत्पन्न हुए नित्य-जीवन की माँग स्वत: जाग्रत होती है। विचारशील मानव इस स्वाभाविक माँग से निराश नहीं होते। इस माँग की पूर्ति पराधीनता में जीवन-बुद्धि स्वीकार करने पर सम्भव नहीं है, अर्थात् सर्वदा असम्भव है। इस कारण नित्य-जीवन की अभिव्यक्ति स्वाधीनता में ही निहित है। स्वाधीनता की प्राप्ति में मानव सर्वदा स्वाधीन है।

पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब मानव प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के वास्तविक तथ्य को अनुभव कर लेता है। प्रवृत्ति की वास्तविकता प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में है। अप्राप्त परिस्थिति का आह्वान मानव को काम-रहित नहीं होने देता।

इसी का यह परिणाम होता है कि मानव पराधीनता में ही जीवन मान लेता है और अपने इस अनुभव का अनादर कर बैठता हे कि जब प्राप्त परिस्थिति ही जीवन नहीं हे, तो अप्राप्त परिस्थिति से कैसे जीवन मिलेगा ! किन्तु परिस्थितियों की दासता निज-अनुभव के अनादर में हेतु है। परिस्थितियों की दासता से रहित होने के लिए यह अनिवार्य है कि मानव आई हुई सहज निवृत्ति को अपनाए, अर्थात् इस वैधानिक तथ्य में अविचल आस्था करे कि प्रत्येक कार्य के आरम्भ से पूर्व और कार्य के अन्त में जो सहज निवृत्ति है वह अपने लिए उपयोगी है, उसमें जीवन है।

प्रवृत्ति की वास्तविकता दूसरों के अधिकारों की सुरक्षा में है। प्रवृत्ति से अपने को कुछ मिल सकता है, अथवा वह अपने लिए उपयोगी हो सकती है-यह भ्रान्ति है। इस भ्रान्ति का अन्त मूक-सत्संग से ही होता है, कारण, कि भ्रान्ति का मूल असत् का संग है, और कुछ नहीं। दूसरों के अधिकार सुरक्षित होने से परस्पर संघर्ष का नाश, सुन्दर समाज का निर्माण और आवश्यक संकल्पों की पूर्ति होती है। किन्तु वास्तविक जीवन का अभिलाषी संकल्प-पूर्ति का सुख नहीं भोगता। संकल्प-पूर्ति जीवन का वह भाग है, जो मानव को क्षणिक सन्तोष देता है, पर पराधीनता से रहित नहीं करता। पराधीनता के रहते हुए मानव अपनी दृष्टि में अपने को न तो आदर के योग्य पाता है और न वास्तविक सन्तुष्टि ही होती है। इतना ही नहीं मानव अपने में अपना कुछ मूल्य ही नहीं पाता, केवल परिस्थितियों की दासता में ही आबद्ध रहता है। अपना मूल्य न रहने से ही परिस्थितियों में महत्व-बुद्धि उत्पन्न होती है।

प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक परिस्थिति सतत परिवर्तनशील है, तो फिर परिस्थिति जीवन कैसे हो सकती है? अर्थात् नहीं हो सकती। परिस्थितियों के सदुपयोग का महत्व है, परिस्थिति का नहीं। इस वैधानिक तथ्य का आदर करने पर सभी परिस्थितियों में समानता का दर्शन

होता है और फिर मानव बड़ी ही सुगमतापूर्वक अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन रो रहित होकर, निश्चिन्तता तथा निर्भयतापूर्वक प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करने में समर्थ होता है, जो विकास की भूमि है। सभी परिस्थितियाँ सुख तथा दुःख से युक्त हैं। सुख-दुःख के सदुपयोग में ही प्रवृत्ति तथा निवृत्ति की सार्थकता है। प्रवृत्ति और निवृत्ति पथ हैं, जीवन नहीं, अथवा यों कहो कि वास्तविक जीवन तक पहुँचने के लिए दायें-बायें पैर के समान हैं। इतना ही नहीं, जिस प्रकार दिन-रात अपने-आप आते-जाते हैं, उसी प्रकार प्रवृत्ति और निवृत्ति अपने आप आती-जाती हैं।

मूक-सत्संग में प्रवृत्ति और निवृत्ति के सदुपयोग की सामर्थ्य विद्यमान है। उसकी अभिव्यक्ति होने पर ही मानव सर्वांश में पराधीनता से रहित होता है। स्वाधीन होते ही नित्य-योग, नित्य-जीवन एवं नित्य-रस की अभिव्यक्ति होती है, जो सभी को स्वभाव से प्रिय है। इस दृष्टि से प्रवृत्ति और निवृत्ति का सदुपयोग अनिवार्य है, जो उदारता तथा विरक्ति से ही सम्भव है। अर्थात् उत्पन्न हुई परिस्थितियों में जीवन नहीं है, इस अनुभव से ही उदारता तथा विरक्ति की अभिव्यक्ति होती है। मूक-सत्संग से स्वतः परिस्थितियों से असंगता हो जाती है, कारण, कि विश्राम में पराश्रय नहीं है। विश्राम अपने लिए उपयोगी है और आवश्यक प्रवृत्ति द्वारा पर-सेवा होती है; किन्तु सेवा का भाव स्वाधीन मानव में ही अभिव्यक्त होता है। सेवा कर्म नहीं है, अपितु सर्व-हितकारी सद्भावना है।

भावना का क्रियात्मक रूप परिस्थिति के अनुरूप होता है पर भावना वास्तविकता से पोषित होती है। सेवा का क्रियात्मक रूप सीमित और भावात्मक रूप असीम होता है। सीमित क्रिया असीम भाव को सजीव और असीम भाव सीमित क्रिया को शुद्ध करता है। अर्थात् कर्म की शुद्धि सद्भावना से और सद्भावना में सजीवता परिस्थिति के अनुरूप प्रवृत्ति से होती है। प्रवृत्ति और निवृत्ति का उद्गम अपने ही में है। यदि मानव अपने को मूक-सत्संग द्वारा असत के संग से रहित कर ले, तो बडी ही सुगमतापूर्वक सर्व-हितकारी प्रवृत्ति उदित होती है तथा सहज निवृत्ति सजीव होती है, जो नित्य-योग से अभिन्न करने में समर्थ है।

जब तक मानव प्रवृत्ति के द्वारा अपने सुख-सम्पादन का प्रयास करता है, तब तक सर्वहितकारी सद्भावना जाग्रत ही नहीं होती, जिसके जाग्रत हुए बिना प्राप्त परिस्थितियों का सदुपयोग सम्भव नहीं है। परिस्थितियों के सदुपयोग के बिना न तो मानव परिस्थितियों से अतीत वास्तविक जीवन से अभिन्न होता है और न अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन से ही रहित हो पाता है। इतना ही नहीं, व्यर्थ-चिन्तन को कारण प्राप्त सामर्थ्य का ह्रास ही होता है, जो विनाश का मूल है। प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक मानव में प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग की सामर्थ्य विद्यमान है, पर व्यर्थ-चिन्तन में आबद्ध हो जाने से मानव परिस्थिति का सदुपयोग नहीं कर पाता। यह असमर्थता प्राकृतिक दोष नहीं है, अपितु भूल-जनित है। इस कारण इस असमर्थता का नाश हो सकता है, जो एकमात्र मूक-सत्संग से ही साध्य है।

जब मानव परिस्थितियों के आश्रित अपना मूल्यांकन करता है, तब वह दीनता तथा अभिमान की अग्नि में दग्ध होता रहता है। दीनता तथा अभिमान में आबद्ध मानव अपने लिए, जगत् के लिए तथा अपने निर्माता के लिए अनुपयोगी ही सिद्ध होता है। इस कारण दीनता तथा अभिमान से रहित होना अनिवार्य है। परिस्थितियों से अतीत के जीवन में अविचल आस्था बिना किए समता के साम्राज्य में प्रवेश सम्भव नहीं है और समता के बिना मानव सर्वांश में दीनता तथा अभिमान से रहित नहीं हो सकता।

जीवन की माँग मानव में है। परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि भूल है, कारण, कि जीवन उसे नहीं कहते, जो सर्वदा, सर्वत्र नहीं है। परिस्थितियों की प्रतीति होती है, उनका सदुपयोग हो सकता है, किन्तु परिस्थितियों में नित्यता नहीं है। इस दृष्टि से परिस्थिति में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना अपने ही द्वारा अपने को धोखा देना है, जो विनाश का मूल है। परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि न रहने पर परिस्थितियों से अतीत के जीवन में आस्था अथवा उसकी खोज स्वत: होती है। परिस्थितियों से अतीत के जीवन की खोज एकमात्र मूक-सत्संग से ही होती है, किसी अन्य प्रयोग से सम्भव नहीं है; कारण, कि नित्य-जीवन की प्राप्ति के लिए किसी वस्तु योग्यता, सामर्थ्य की अपेक्षा नहीं है, अपितु यह विश्राम से

ही साध्य है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि मूक-सत्संग से परिस्थितियों से अतीत के जीवन की प्राप्ति होती है। मूक-सत्संग में आस्तिक की शरणागति और अध्यात्मवादी की असंगता एवं भौतिकवादी की कर्तव्य-परायणता निहित है। 'मूक-सत्संग' अकर्मण्यता, जड़ता एवं अभाव में आबद्ध नहीं होने देता, अपितु कर्तव्य-परायणता, चिन्मयता एवं पूर्णता से अभिन्न करता है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब मानव परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि स्वीकार नहीं करता तथा वास्तविक जीवन से निराश नहीं होता।

प्रत्येक मानव अपने में आसक्ति तथा आवश्यकता अनुभव करता है। आसक्ति उसकी, जिसकी प्रतीति है, और आवश्यकता उसकी, जिसे देखा नहीं है। आसक्तियों के नाश में ही आवश्यकता की पूर्ति निहित है, यह वैधानिक तथ्य है। जो मानव आसक्ति-जनित कामनाओं को ही आवश्यकता मान लेता है, वह किसी भी प्रकार अपने को परिस्थितियों की दासता से रहित नहीं कर पाता, अर्थात् अपने को उसकी दासता में आबद्ध कर लेता है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं है। परिस्थितियों के आश्रय तथा प्रकाशक की आवश्यकता मानव की अपनी आवश्यकता है। अत: यह स्पष्ट ही है कि आवश्यकता उसकी है, जिसे देखा नहीं है, और आसक्ति उसकी है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। आसक्ति और आवश्यकता जिसमें है, वह न तो वह है, जिसकी प्रतीति है और न वह है, जिसकी आवश्यकता है, अपितु देखे हुए तथा बिना देखे हुए को आसक्ति और आवश्यकता के रूप में जो अपने में आरोप करता है, वह है-मानव। जिसमें आसक्ति और आवश्यकता है, क्या उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व होता है? क्या वह देखे हुए, तथा न देखे हुए, दो विरोधी सत्ताओं से सम्बन्ध रख सकता है? कदापि नहीं। दो विरोधी सत्ताओं से वही सम्बन्ध रख सकता है, जिसका अपना कोई अस्तित्व न हो। जिसका अपना कोई अस्तित्व होता है, वह किसी से अभिन्न नहीं हो सकता।

इस दृष्टि से मानव का यद्यपि कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, परन्तु वह आसक्ति के रूप में जगत् को और आवश्यकता के रूप में जगत के

प्रकाशक को स्वीकार करता है। आसक्ति भूल-जनित होने के कारण नाश होती है, और आवश्यकता वास्तविक होने के कारण पूरी होती है। आसक्ति की निवृत्ति और आवश्यकता की पूर्ति में विकल्प करना भारी भूल है। प्राकृतिक नियमानुसार भूल का कोई अस्तित्व नहीं होता। केवल प्राप्त विवेक का अनादर ही भूल है। विवेक रूपी प्रकाश मानव-मात्र को प्राप्त है। मूक-सत्संग से बड़ी ही सुगमतापूर्वक निज-विवेक का आदर मानव कर सकता है; कारण, कि मूक-सत्संग से आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है, यह प्राकृतिक तथ्य है। इस दृष्टि से निज-विवेक का आदर मूक-सत्संग से ही सम्भव है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होगा, जब मानव आसक्ति की निवृत्ति और आवश्यकता की पूर्ति से निराश न हो।

यह केसी विलक्षणता है कि आसक्ति और आवश्यकता एक ही में मौजूद हैं। आसक्ति आवश्यकता को शिथिल भले ही करे, पर उसका नाश नहीं कर सकती, किन्तु आवश्यकता की पूर्ण जागृति आसक्ति के नाश में हेतु है। आवश्यकता की पूर्ण जागृति तभी सम्भव होती है, जब आसक्ति-जनित प्रवृत्ति न रहे। आसक्ति-जनित प्रवृत्ति का अन्त करने के लिए प्रवृत्ति के आदि और अन्त में निवृत्ति, अर्थात् विश्राम को सुरक्षित रखना अनिवार्य है, जो वास्तव में मूक-सत्संग है।

'विश्राम में जीवन है' -यह अनुभव होने पर प्रवृत्तियों का राग स्वयं नाश हो जाता है और आवश्यक प्रवृत्ति स्वतः होती है। प्रवृत्तियों के राग से रहित होने पर कर्तव्य-परायणता स्वतः आ जाती है। विश्राम मानव को अकर्मण्य नहीं बनाता, अपितु कर्तव्यनिष्ठ बनाता है, तथा उसकी कर्तव्य में फलासप्ति नहीं रहती, कारण, कि अहंकृति-रहित होने में जो जीवन है, वह किसी भी प्रवृति से साध्य नहीं है।

आलस्य तथा अकर्मण्यता के लिए तो मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। आवश्यक कार्य की पूर्ति और अनावश्यक कार्य की निवृत्ति अनिवार्य है। आवश्यक कार्य करने में मानव सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है। पर अनावश्यक कार्य का त्याग बिना किए आवश्यक कार्य की पूर्ति सम्भव नहीं है। अनावश्यक कार्य का चिन्तन मानव को असमर्थ बनाता है।

असमर्थता को कारण आवश्यक कार्य की पूर्ति में पराधीनता अनुभव होती है। इस कारण सामर्थ्य तथा विवेक-विरोधी कार्य का त्याग अत्यन्त आवश्यक है, जिसको करते ही आवश्यक कार्य की पूर्ति प्राकृतिक नियमानुसार स्वतः होने लगती है; कारण, कि अनावश्यक कार्य की निवृत्ति तथा आवश्यक कार्य की पूर्ति युगपद् हैं। आवश्यक कार्य पूरा करने पर अहंकृति-रहित होना प्राकृतिक तथ्य है। पर कार्य-जनित सुख-लोलुपता के कारण मानव कार्य के अन्त में भी कार्य का चिन्तन ही करता रहता है, जो वास्तव में प्रमाद है। कार्य का चिन्तन यह सिद्ध करता है कि कर्ता में कोई दोष है। जो करना है, उसका चिन्तन अपेक्षित नहीं है, कारण, कि कर्ता में वह विद्यमान है, जो उसे करना है, अर्थात् कार्य कत्तां का ही चित्र है।

फलासक्ति-रहित होते ही कार्य के अन्त में कर्ता स्वयं नित्य-योग से अभिन्न होता है, यह वैज्ञानिक तथ्य है। यदि कार्य के अन्त में नित्य-योग की अभिव्यक्ति नहीं हुई, तो यह मानना होगा कि आवश्यक कार्य पूरा नहीं किया, अथवा अनावश्यक कार्य का त्याग नहीं किया। कार्य का आश्रय ही मानव को परिच्छिन्नता में आबद्ध रखता है। परिच्छिन्नता के रहते हुए वास्तविकता से दूरी, भेद तथा भिन्नता बनी ही रहती है। परिच्छिन्नता का अन्त करने के लिए विश्राम अनिवार्य है। किसी न किसी श्रम के आश्रय से ही परिच्छिन्नता जीवित रहती है। श्रम-रहित होते ही परिच्छिन्नता शेष नहीं रहती और फिर स्वतः योग, बोध एवं प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, जो वास्तविक जीवन हे।

अहंकृति-रहित हुए बिना देहाभिमान का नाश नहीं होता। देहाभिमान के रहते हुए निष्कामता नहीं आती और निष्कामता के बिना न तो परम शान्ति ही प्राप्त होती है, न स्वाधीनता ही मिलती है और न प्रीति की ही जागृति होती है। कामना-युक्त मानव तो पराधीनता, अशान्ति एवं आसक्तियों में ही आबद्ध रहता है, जो विनाश का मूल है। इस दृष्टि से प्रत्येक मानव को अहंकृति-रहित होना अनिवार्य है।

भौतिकवाद की दृष्टि से कर्तव्य-परायणता ही मानव का परम पुरुषार्थ है, पर फलासक्ति-रहित हुए बिना और अनावश्यक कार्य का त्याग

किये बिना कर्तव्य-परायणता सिद्ध नहीं होती। कर्तव्य-परायणता सिद्ध होने पर कर्ता स्वयं अहंकृति-रहित होता है, जो वास्तव में मूक-सत्संग है। इस दृष्टि से कर्तव्य का अन्त सत्संग में ही निहित है। फलासति तथा अनावश्यक कार्यो का त्याग न करना असत् का संग है; कारण, कि किसी भी कर्म का फल मानव को अमरत्व से अभिन्न नहीं कर सकता। इस कारण फलासप्ति का त्याग अनिवार्य है। नित्य-योग में ही नित्य-जीवन निहित है, जो एकमात्र मूक-सत्संग से ही साध्य है।

असत् के त्याग में सत् का संग निहित है और सत् के संग से असत् का त्याग स्वत: हो जाता है। इस कारण असत् का त्याग, अथवा सत् का संग, जो भी अपने को सुलभ प्रतीत हो, वही करना है। करने में करने का अन्त स्वत: सिद्ध है। यही करने की सार्थकता है। करने से करने का जन्म होता रहे, यह वस्तुस्थिति प्रमाद-जनित है। यदि करने की सार्थकता करने ही में होती, तो करने से ही नित्य-जीवन प्राप्त होता, पर ऐसा अनुभव नहीं है। अतः करने की पूर्णता अहंकृति-रहित होने में ही है, जो वास्तव में मूक-सत्संग है।

अध्यात्मवाद की दृष्टि से अपने पर अपने जाने हुए का प्रभाव अनिवार्य है, अर्थात् निज-ज्ञान का आदर ही अध्यात्मवादी का परम पुरुषार्थ है। निज-ज्ञान का आदर करते ही निर्ममता, निष्कामता एवं असंगता स्वतः प्राप्त होती है, जिसके होते ही अहंकृति शेष नहीं रहती। अत: विचार की पूर्णता भी मूक-सत्संग में ही निहित है। यह स्पष्ट ही है कि निर्ममता से निर्विकारता और निष्कामता से परम-शान्ति तथा असंगता से स्वाधीनता स्वतः प्राप्त होती है, किन्तु निर्विकारता, परम-शान्ति एवं स्वाधीनता का आश्रय अहंभावरूपी अणु को जीवित रखता है। असत् के संग से उत्पन्न हुई ममता, कामना एवं तादात्म्य से मानव जड़ता, पराधीनता आदि दोषों में आबद्ध होता है। असत् का त्याग करते ही दोषों का नाश तथा निर्विकारता, परम-शान्ति, स्वाधीनता आदि दिव्य-गुणों की अभिव्यक्ति होती है।

समस्त दोष भूलजनित और दिव्य-गुण प्राकृतिक हैं। गुण-दोष के आश्रय से ही अहंभाव जीवित रहता है। अहम् का अन्त करने के लिए यह

अनिवार्य है कि मानव भूल-जनित दोषों की निवृत्ति और गुणों के अभिमान से रहित हो जाय, जो एकमात्र मूक-सत्संग से ही साध्य है। यद्यपि दिव्य-गुण अविनाशी हैं, परन्तु उनके आश्रय से सीमित अहभाव को जीवित रखना असत् का ही संग है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब मानव सर्वांश में असत् के संग से रहित हो जाय। विचार-पथ की दृष्टि से निर्मम, निष्काम एवं असंग होना अनिवार्य है। परन्तु अपने में निर्ममता, निष्कामता एवं असंगता को आरोपित करना प्रमाद ही है, जिसकी निवृत्ति अहंकृति-रहित होने से ही होती है, जो वास्तव में मूक-सत्संग है।

ममता, कामना और तादात्म्य भूल-जनित हैं, वास्तविक नहीं। भूल-रहित होना ही अध्यात्मवाद की दृष्टि से परम-पुरुषार्थ है। भूल को 'भूल' अनुभव करना ही भूल-रहित होने का उपाय है। प्राप्त विवेक के प्रकाश में ही भूल का अनुभव होता है। पर जब तक मानव इन्द्रिय तथा बुद्धि के दृष्टि-व्यापार में ही रमण करता है, तब तक प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपनी वर्तमान वस्तुस्थिति को नहीं अनुभव कर पाता। बस, यही भूल का मूल है। इन्द्रिय तथा बुद्धि-दृष्टि के व्यापार से विमुख होकर श्रम-रहित होते ही, निज-विवेक का प्रभाव स्वतः होता है और फिर मानव बड़ी ही सुगमतापूर्वक भूल-रहित हो जाता है, जो विकास का मूल है।

अहंकृति के रहते हुए कोई भी मानव इन्द्रिय तथा बुद्धि-दृष्टि से विमुख नहीं हो सकता और उसके बिना हुए निज-विवेक का आदर तथा प्रभाव सम्भव नहीं है। यह वैज्ञानिक तथ्य है कि दृष्टि और दृश्य प्रकाश के ही आश्रित हैं, परन्तु दृष्टि और दृश्य के प्रभाव से प्रभावित मानव प्रकाश से विमुख हो जाता है। यद्यपि निज-विवेक का प्रकाश मानवमात्र को नित्य–प्राप्त है, किन्तु दृष्टि और दृश्य के तादात्म्य के कारण मानव उसका आदर नहीं करता। निज-विवेक का अनादर ही मूल भूल है। उसका अन्त करना प्रत्येक मानव के लिए अनिवार्य है, जो एकमात्र मूक-सत्संग से ही सम्भव है।

मूक-सत्संग के बिना दृश्य और दृष्टि का तादात्म्य नाश नहीं होता और उसके बिना हुए निर्ममता, निष्कामता एवं असंगता सिद्ध नहीं

होती। यदि बुद्धि-दृष्टि के प्रभाव से मानव अपने को निर्मम, निष्काम एवं असंग स्वीकार करे, और निर्विकारता, परम-शान्ति एवं स्वाधीनता में सन्तुष्ट हो जाय, तो भी अहभाव का अन्त नहीं होता, कारण, कि बुद्धि का आश्रय शेष रहता है। निराश्रय बिना हुए अहभाव रूपी अणु का नाश नहीं होता। इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव से रहित होने में बुद्धि-दृष्टि का प्रभाव उपयोगी है, पर परिच्छिन्नता का अन्त करने में बुद्धि-दृष्टि उपयोगी सिद्ध नहीं होती। अहंकृति-रहित होने पर ही बुद्धि-दृष्टि सम होती है, जो वास्तव में मूक-सत्संग है। बुद्धि-दृष्टि के सम होते ही दृश्य और दृष्टि अपने उद्गम से अभिन्न होती हैं। बस, यही अध्यात्म जीवन की पूर्णता है। अध्यात्मवादी दृष्टिकोण से भी मूक-सत्संग उपयोगी है।

मूक-सत्संग मानव को किसी स्थिति में आबद्ध नहीं करता, अपितु सभी से असंग करता है। असंगता में ही अभिन्नता निहित है, यह वैधानिक तथ्य है। असंगता उसे, जो असंग हुआ है, अविनाशी से अभिन्न करती है। अर्थात् असंगता मानव को योग, बोध, तथा प्रेम प्रदान करती है। दूरी, भेद तथा भिन्नता का नाश असंगता से स्वतः हो जाता है और अहंकृति-रहित होते ही असंगता की स्वत: अभिव्यक्ति से तादात्म्य नहीं रहता। तादात्म्य का नाश और असंगता युगपद् होते हैं। अत: अहंकृति-रहित होना अनिवार्य है, जो विकास की भूमि है।

आस्थावान् मानव के लिए भी मूक-सत्संग अपेक्षित है, कारण कि आस्था, श्रद्धा, विश्वास मानव को शरणागति की प्रेरणा देते हैं। शरणागति कोई अभ्यास नहीं है, अपितु आस्थावान् का अन्तिम प्रयास है। प्राकृतिक नियमानुसार आस्था जिसमें उदित होती है, उसमें आस्थास्पद की अविचल श्रद्धा तथा विश्वास जाग्रत करती है, यह आस्था की महिमा है। आस्था सदैव उसी के प्रति होती है कि जिसकी आवश्यकता तो हो, पर जिसे देखा न हो, अर्थात् जो इन्द्रिय तथा बुद्धि-गोचर नहीं है, किन्तु बीज रूप से जिसकी माँग है, उसी में अविचल आस्था होती है। विचार-पथ से मानव काम-रहित होता है। निष्काम होते ही देखे हुए का प्रभाव शेष नहीं रहता और फिर मानव बड़ी ही सुगमतापूर्वक उसमें आस्था करता है, जिसे देखा नहीं है, अपितु सुना है। जो मिला है, जिसे देखा है, उसमें

अविचल आस्था नहीं हो सकती; कारण, कि मिला हुआ सदैव नहीं रहता और समस्त दृश्य सतत परिवर्तनशील है। अतएव मिले हुए तथा देखे हुए में आस्था नहीं रह सकती। हाँ, मिले हुए का सदुपयोग और देखे हुए के प्रति जिज्ञासा हो सकती है।

आस्था केवल उसी में होती है, जो दृष्टिगोचर नहीं है; किन्तु जिसकी स्वभाव से ही माँग है। अपनी माँग के बोध में आस्था निहित है। जिस प्रकार काम दृश्य से सम्बन्ध जोड़ देता है, उसी प्रकार माँग आस्थास्पद में आत्मीयता जाग्रत करती है। दृश्य की प्रतीति है, उसके प्रति प्रवृत्ति है, किन्तु प्राप्ति नहीं है। श्रमित मानव को विवश होकर विश्राम अपनाना अनिवार्य है, यह प्राकृतिक तथ्य है। विश्राम में ही आस्थास्पद की अखण्ड स्मृति निहित है। स्मृति और व्यर्थ-चिन्तन में भेद है। व्यर्थ-चिन्तन के मूल में भूल रहती है और स्मृति भूल-रहित है; कारण, कि स्मृति नित्य-प्राप्त में आत्मीयता प्रदान करती है और व्यर्थ-चिन्तन, जो नहीं है, अथवा जो मिला है, उसकी आसक्ति में आबद्ध करता है, अर्थात् व्यर्थ-चिन्तन देहाभिमान तथा अभाव में आबद्ध कर देता है। इतना ही नहीं, व्यर्थ-चिन्तन की उत्पत्ति भी देहाभिमान से ही होती है। पर अखण्ड स्मृति की जागृति अविचल आस्था में ही निहित है।

आस्था किसी अभ्यास से सजीव नहीं होती। जिसमें आस्था है, उसमें किसी प्रकार का दोष-दर्शन नहीं होता, कारण, कि उसे बुद्धि-दृष्टि से देखा नहीं जाता। जो परम-तत्व बुद्धि की सीमा में आबद्ध नहीं है, उसमें दोष-दर्शन के लिए कोई स्थान ही नहीं है।

हाँ, कोई उसमें आस्था करे, अथवा न करे, यह वैधानिक स्वाधीनता मानव-मात्र को प्राप्त है। पर आस्था न करने पर भी जो अपने हैं, उन्हें इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि की सीमा में बाँधा नहीं जा सकता। जो इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि की सीमा से परे है, अर्थात् असीम है, उसकी शरणागति ही उसकी प्रियता तथा प्राप्ति में हेतु है। अहंकृति रहते हुए शरणागति सिद्ध नहीं होती। आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक अपने को समर्पण करने ही में शरणागति निहित है। इस दृष्टि से मूक-सत्संग से ही शरणागति सजीव होती है।

अहम् के समर्पण में ही अहम् का नाश है। 'अहम्' और 'मम' का नाश ही वास्तविक शरणागति हे। शरणागत में शरण्य की अगाध प्रियता स्वत: जाग्रत होती है। प्रियता की जागृति में ही जीवन की पूर्णता निहित है। अतः आस्था के पथ में भी मूक-सत्संग अपेक्षित है। 'अहम् ' का नाश किसी कृति से साध्य नहीं है, अपितु अहंकृति-रहित होने से ही 'अहम्' का नाश होता है, यह वैज्ञानिक तथ्य है। यद्यपि आस्था तथा आवश्यकता के आधार पर मानव शरणागत होने का निर्णय करता है, पर कृति का आश्रय रख कर शरणागत नहीं हो सकता, यह ध्रुव सत्य है। जिसे अपने लिए कुछ भी करना है, भला वह अपने को कैसे समर्पित कर सकता है? और जो अपने को समर्पित नहीं कर सकता, वह भला शरणागत कैसे हो सकता है? शरणागत बिना हुए शरण्य की अगाध प्रियता कैसे मिल सकती है ! कदापि नहीं।

अगाध प्रियता के बिना नीरसता का सर्वांश में नाश सम्भव नहीं है। नीरसता की भूमि में ही काम की उत्पत्ति होती है। अत: निष्कामता के लिए नीरसता का नाश अनिवार्य है, जो एकमात्र अगाध प्रियता से ही साध्य है। प्रियता अपने में होती है। यह स्पष्ट ही है कि 'जो मिला है', और 'जो दिखाई देता है' , वह व्यक्तिगत, अर्थात् अपना नहीं है। उसका आश्रय और प्रकाशक जो है, उसे देखा नहीं है, किन्तु आश्रय तथा प्रकाशक के बिना उत्पत्ति तथा प्रतीति सम्भव नहीं है। अत: यह युक्ति-युक्त है कि उत्पन्न हुई वस्तुओं का जो आश्रय तथा प्रतीति का जो प्रकाशक है, उसी की माँग मानव की अपनी माँग है। अतएव उसमें अविचल आस्था करना अनिवार्य है। अविचल आस्था में श्रद्धा तथा विश्वास स्वत: अभिव्यक्त होते हैं, यह निर्विवाद सिद्ध है। अतः आस्थावान् मानव को शरणागत होने के लिए अपने को समर्पण करना होगा, जो एकमात्र अहंकृति-रहित, अर्थात् मूक-सत्संग से ही साध्य है।

सर्व के प्रकाशक तथा आश्रय को अपना स्वीकार करना आस्था का पथ है। उसके होने में विकल्प न रहे, यही आस्था है। इस आस्था से उत्पन्न हुई वस्तुओं की ममता तथा कामना नाश होती है। आश्रय अपना है, उत्पन्न

हुई वस्तु अपनी नहीं है। हाँ, उन्हीं के नाते, मिली हुई वस्तु योग्यता सामर्थ्य आदि का सदुपयोग करना है। मिले हुए के सदुपयोग में पराधीनता तथा असमर्थता की गंध भी नहीं है और जो अपना है, उसमें आत्मीयता स्वीकार करने में भी मानव सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है। अपने में अपनी प्रियता स्वभाव-सिद्ध है, श्रम-साध्य नहीं। प्रियता में जीवन है, यह अनुभव-सिद्ध तथ्य है। इस कारण आस्था का पथ भी स्वतन्त्र पथ है। मानव को साधन-निष्ठ होने में स्वाधीनता है, परन्तु साधन-निष्ठ होने के लिए एकमात्र मूक-सत्संग ही सर्वोत्कृष्ट उपाय है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब मानव अपनी वर्तमान वस्तुस्थिति से भलीभाँति परिचित हो जाय। जब मिली हुई वस्तु योग्यता, सामर्थ्य आदि से नित्य सम्बन्ध सम्भव नहीं है, तब प्रकाशक तथा आश्रय में आस्था न करना भारी भूल है। इस भूल का अन्त आस्थावान साधक को वर्तमान में ही करना अनिवार्य है।

मिले हुए की ममता ने अप्राप्त वस्तु योग्यता सामर्थ्य आदि की कामना में मानव को आबद्ध किया है और इसी से व्यर्थ-चिन्तन उत्पन्न होता है। व्यर्थ-चिन्तन के रहते हुए बलपूर्वक सार्थक-चिन्तन करना अपने को मिथ्या अभिमान में आबद्ध रखना है। व्यर्थ-चिन्तन के नाश में ही सार्थक-चिन्तन की अभिव्यक्ति होती है। सार्थक-चिन्तन की जागृति इन्द्रिय-जन्य स्वभाव से मानव को मुक्त कर देती है, और फिर अपने-आप देहाभिमान गल जाता है, जिसके गलते ही वास्तविक जीवन से दूरी, भेद तथा भिन्नता शेष नहीं रहती, अर्थात् स्वत: योग, बोध तथा प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। व्यर्थ-चिन्तन के नाश तथा सार्थक-चिन्तन की अभिव्यक्ति को लिए निर्ममता, निष्कामतापूर्वक सर्व के प्रकाशक में अविचल आस्था, श्रद्धा एवं विश्वास आवश्यक है।

प्राकृतिक नियमानुसार आस्था, श्रध्दा, विश्वास जिसमें अभिव्यक्ति होती हैं, उसमें उसकी आत्मीयता जाग्रत करते हैं, जिसमें आस्था की है। आत्मीयता स्वभाव से ही अगाध प्रियता में परिणत होती है। प्रियता में प्रिय से भिन्न कुछ नहीं है। प्रियता अपने प्रेमास्पद के लिए रसरूप है। अर्थात् अगाध प्रियता से सर्व के आश्रय तथा प्रकाशक को रस मिलता है, अर्थात् प्रियता से आनन्दघन

भी आनन्दित होते हैं, यह प्रियता की महिमा है। जिस प्रकार प्रत्येक पौधे के लिए भूमि अनिवार्य है, उसी प्रकार प्रत्येक साधक के लिए मूक-सत्संग अनिवार्य है। साधक का पद मानव से भिन्न किसी अन्य प्राणी को नहीं मिल सकता, अर्थात् मानव ही साधक है। न तो उत्पन्न हुआ शरीर साधक है और न अनुत्पन्न परम-तत्व साधक है। जिसमें उत्पन्न हुए शरीर की ममता और अनुत्पन्न हुए परम-तत्व की आस्था विद्यमान है, वह स्वयं शरीर तथा परम-तत्व नहीं है।

उत्पन्न हुए शरीर आदि वस्तुओं की ममता भूल-जनित है और अनुत्पन्न हुए अविनाशी जीवन की आस्था स्वभाव-सिद्ध है। ममता और आस्था का पुंज ही मानव-जीवन है। ममता की निवृत्ति और आस्था की पूर्ति में ही मानव-जीवन की पूर्णता है। ममता की निवृत्ति तथा आस्था की पूर्ति मूक-सत्संग से ही साध्य है; कारण, कि अहंकृति-रहित होते ही देह से तादात्म्य नहीं रहता अर्थात् स्वत: असगता की अभिव्यक्ति होती है। असंगता में ही आस्था की पूर्ति निहित है, कारण, कि असंगता से 'नहीं' की निवृत्ति और 'है' । की प्राप्ति स्वत: होती है, यह वैधानिक तथ्य है। 'है' में अगाध प्रियता तथा उसका बोध एवं उससे नित्य-योग ही मानव के विकास की पराकाष्ठा है।

नित्य-योग, बोध तथा अगाध प्रियता में तत्व-भेद नहीं है, केवल रस का भेद है। नित्य-योग में चिर-शान्ति, बोध में अमरत्व एवं अगाध प्रियता में अनन्त रस स्वतः सिद्ध है। चिर-शान्ति, एवं अनन्त रस से परिपूर्ण जीवन ही वास्तविक जीवन है, जो एकमात्र मूक-सत्संग से ही साध्य है। नित्य-योग, बोध एवं प्रेम की प्राप्ति में प्रत्येक मानव स्वाधीन तथा समर्थ है। पराधीनता एकमात्र भोग, मोह, आसक्ति-जनित सुख-लोलुपता ही में है। पराधीनता की पीड़ा में ही स्वाधीनता की माँग जाग्रत होती है। स्वाधीनता की माँग मानव को अचाह तथा अप्रयत्न करने में समर्थ है, जो वास्तव में मूक-सत्संग है। अचाह तथा अप्रयत्न होने पर कर्तव्य-परायणता तथा असंगता स्वत: आती है। कर्तव्य-परायणता विश्व से और अचाह नित्य-योगपूर्वक अमरत्व से और अप्रयत्न शरणागतिपूर्वक अनन्त से मानव को अभिन्न करता है। पर यह

रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब मानव मिली हुई वस्तु योग्यता, सामर्थ्य आदि का दुरुपयोग, निज अनुभव का अनादर तथा सर्व के आश्रय तथा प्रकाशक में अश्रद्धा, न करे। विश्राम में सर्वतोमुखी विकास निहित है, इस तथ्य में अविचल आस्था तथा इसका अनुभव न करने से ही मानव मिले हुए का दुरुपयोग करता है, जो विनाश का मूल है।

प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक दोष में समस्त दोष निहित हैं। इस दृष्टि से जब मानव निज-अनुभव का अनादर करता है, तब मिले हुए का दुरुपयोग भी करने लगता है और सर्व के आश्रय तथा प्रकाशक में अश्रद्धा भी करता है। इस कारण विश्राम में जीवन है, यह अनुभव मानवमात्र के लिए अनिवार्य है। विश्राम के लिए प्रत्येक कार्य के आरम्भ से पूर्व और अन्त में शान्त होना अत्यन्त आवश्यक है, यही वास्तव में मूक-सत्संग है।

मूक-सत्संग मानवमात्र के लिए अत्यन्त उपयोगी है, अर्थात् मानव का परम पुरुषार्थ तथा स्वधर्म है। उसके बिना सर्वतोमुखी विकास सम्भव नहीं है। मूक-सत्संग के लिए शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि वस्तुओं के सहयोग की अपेक्षा नहीं है, अपितु अपने ही द्वारा अपने का संग करना है। सत्चर्चा तथा सत्-चिन्तन के लिए इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि के सहयोग की अपेक्षा होती है; किन्तु मूक-सत्संग स्वाधीनता-पूर्वक मानव कर सकता है। यह मानवमात्र का अनुभव है कि निद्रा से पूर्व स्वभाव से ही वह अपने को अकेला अनुभव कर सुषुप्ति प्राप्त करता है। जाग्रत और स्वप्नावस्था में मानव अपने को अकेला नहीं पाता, अर्थात् सामान तथा साथियों से रहित नहीं होता। सुषुप्ति, अर्थात् गाढ़ निद्रा में अचेतन-सा होता है। सुषुप्ति के उत्थान काल में अपने को अकेला पाता है और सोचता है, 'बड़े सुख से सोया'। इससे यह स्पष्ट ही होता है कि मानव सुषुप्ति से पूर्व जाग्रत एवं स्वप्न के अन्त में अल्प से अल्प काल के लिए अपने को अकेला पाता है और सुषुप्ति के उत्थान काल में भी अपने को अकेला पाता है। जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति अवस्थाएँ प्राकृतिक तथ्य हैं, ये अपने-आप आती-जाती हैं। किन्तु तीनों ही अवस्थाएँ जाग्रत में भी होती हैं, अर्थात् जाग्रत में जाग्रत-स्वप्न तथा जाग्रत-सुषुप्ति। पर यह रहस्य मूक-सत्संग से ही स्पष्ट होता है।

शारीरिक, मानसिक चेष्टाओं में आबद्ध रहते हुए गाढ़ निद्रा नहीं होती, अर्थात् जिस काल में मानव शारीरिक तथा मानसिक चेष्टा करता रहता है, उस काल में गाढ़ निद्रा नहीं होती।

निद्रा की तैयारी में ही स्वभाव से मानव को कर्म तथा चिन्तन से अरुचि होती है। यह अनुभूति सिद्ध करती है कि मानव श्रम-रहित हुए बिना श्रमित काल की असमर्थता की व्यथा से रहित नहीं हो सकता। इस कारण जाग्रत और स्वप्न के अन्त में सुषुप्ति अनिवार्य है। सजगतापूर्वक कार्य में रत होना जाग्रत है। पर एक कार्य करते हुए अकस्मात् कभी-कभी किसी अन्य कार्य की याद आती है, यही जाग्रत का स्वप्न है, अर्थात् आप्राप्त वस्तु आदि का चिन्तन होता है, जो किसी को स्वभाव से प्रिय नहीं है। कार्य के अन्त में किसी अन्य कार्य का चिन्तन न हो, तो अपने-आप जाग्रत-सुषुप्ति होती है। उस काल में मानव अपने को अकेला तथा श्रम-रहित पाता है। वही काल मूक-सत्संग के लिए सर्वोत्कृष्ट है। पर यह तभी सम्भव होगा, जब मानव प्रत्येक कार्य के अन्त में कार्य-रहित होकर ही अन्य कार्य का आरम्भ करे।

कार्य-रहित होकर अन्य कार्य का आरम्भ करने से पूर्व, पूर्व-कृत-कार्य का स्पष्ट परिचय होता है और भावी कार्य सम्बन्धी ज्ञान का भी प्रादुर्भाव होता है, यह वैधानिक तथ्य है। इस विधान का आदर करने के लिए प्रत्येक कार्य के अन्त में मूक-सत्संग अनिवार्य है। गाढ़ निद्रा में प्रवेश करने के लिए मानव स्वत: सब ओर से विमुख होता है। यदि उसी समय निद्रा से पूर्व, शान्त हो जाय, तो मूक-सत्संग हो जाता है, जिसके होते ही आगे-पीछे का चिन्तन उत्पन्न होता है, जिससे मानव अपनी वर्तमान वस्तुस्थिति का परिचय पाता है और फिर बड़ी ही सुगमतापूर्वक, जो नहीं करना चाहिए, उसके न करने का निर्णय कर सकता है, जिसके करते ही मानव वर्तमान निर्दोषता से अभिन्न होता है, जो विकास की भूमि है।

शरीर का तादात्म्य मानव को जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति-तीनों अवस्थाओं में आबद्ध रखता है; पर मूक-सत्संग से अवस्थातीत जीवन में प्रवेश होता है। पर यह रहस्य तब तक स्पष्ट नहीं होता, जब तक मानव प्रयत्न-रहित होकर शान्त न हो जाय। प्रयत्न-रहित होने में पराधीनता तथा असमर्थता नहीं है,

अपितु अप्रयत्न स्वभाव-सिद्ध तथ्य है। कर्मासक्ति प्रमाद से उत्पन्न होती है। किसी भी मानव को अपने लिए कुछ नहीं करना है। देहाभिमान के कारण करने की रुचि उत्पन्न होती है, जो अविवेक-सिद्ध है। देह की प्रतीति और अपना भास मानव को स्वत: होता है। अपने ही में जीवन की माँग है, देह में नहीं। देह की जातीय एकता समस्त सृष्टि से है।

इसी कारण प्रत्येक उत्पन्न हुई वस्तु सदैव सृष्टि में ही रहती है। शरीर का सृष्टि से विभाजन नहीं हो सकता और अपना शरीर से नित्य सम्बन्ध नहीं रह सकता। जिससे नित्य सम्बन्ध नहीं रह सकता, उसके आश्रय का त्याग सहज तथा स्वाभाविक है। पर निज-अनुभव का अनादर करने से शरीर के आश्रय का त्याग असम्भव प्रतीत होता है, जो वास्तव में भ्रान्ति है। इस भ्रान्ति का अन्त करना अनिवार्य है, जो एकमात्र मूक-सत्संग से ही साध्य है। जिस प्रकार शरीर की समस्त दृश्य से एकता है, उसी प्रकार मानव की अविनाशी जीवन, अर्थात् सत् से अपनी एकता है। इसी कारण अपने द्वारा सत् का संग होता है, उसके लिए शरीर की अपेक्षा नहीं है। अपने द्वारा कुछ भी करने की बात उत्पन्न ही नहीं होती। अत: न करने की स्थिति अपने द्वारा सिद्ध होती है।

आश्रय स्वीकार करना अपना स्वभाव है। शरीर का आश्रय लेते ही समस्त दोषों की उत्पत्ति होती है, यह वैधानिक तथ्य है और सत् के आश्रय में ही समस्त दोषों की निवृत्ति तथा दिव्य-जीवन की अभिव्यक्ति निहित है। इस दृष्टि से सत् के आश्रय की बड़ी महिमा है। सत् का आश्रय यद्यपि स्वत: प्राप्त है, परन्तु शरीर में अहम्-बुद्धि तथा मम-बुद्धि स्वीकार करने से सत् के आश्रय का प्रभाव प्रकट नहीं होता, अपितु असत् का संग हो जाता है, जो विनाश का मूल है। स्वीकृति का नाश एकमात्र अस्वीकृति से ही होता है, किसी अन्य प्रकार से नहीं। निज-अनुभव का आदर करने पर यह स्वीकृति कि 'शरीर मैं हूँ' अथवा 'मेरा है' ,शेष नहीं रहती। शरीर के रहते हुए ही शरीर से असंगता हो जाती है, जो वास्तव में मूक-सत्संग है। जो अपना नहीं है; वह उसी की देन है, जिसकी सृष्टि है। पर जिसकी देन है, वह अपना है। पर यह रहस्य अविचल आस्था के बिना स्पष्ट

नहीं होता। ममता, कामना, तादात्म्य का नाश अनुभव के आदर में निहित है और आत्मीयता आस्था से साध्य है।

अनुभव का आदर करने के लिए कार्य के अन्त में कुछ काल कार्य-रहित होना अनिवार्य है। कार्य-रहित होने में कुछ करना नहीं है, अपितु कर्म के आरम्भ तथा अन्त का भलीभाँति अनुभव करना है। प्रतीति करण-सापेक्ष है, पर अनुभव करण-निरपेक्ष है। इस दृष्टि से अनुभव के लिए शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि के सहयोग की अपेक्षा नहीं है। मिली हुई वस्तु योग्यता, सामर्थ्य आदि के उपयोग में शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि की अपेक्षा है। अनुभव का आदर करने के लिए सब ओर से विमुख होना ही मूल मन्त्र है। जब तक मानव मिली हुई वस्तु योग्यता, सामर्थ्य के द्वारा अपना मूल्यांकन करता है, तब तक मूक-सत्संग सिद्ध नहीं होता। मानव का अपना मूल्य किसी उत्पन्न हुई वस्तु अवस्था, परिस्थिति पर निर्भर नहीं है। जब तक मानव इस वास्तविकता का आदर नहीं करता, तब तक सब ओर से विमुख होकर अपने में ही अपने प्रेमास्पद को नहीं पाता। सब ओर से विमुख होना ही वास्तविक सत्संग है और सत्संग से ही प्रेमी प्रेमास्पद से, जिज्ञासु तत्व-ज्ञान से, अशान्त परम-शान्ति से और असमर्थ सामर्थ्य से अभिन्न होता है। इस दृष्टि से सत्संग में ही सर्वतोमुखी विकास निहित है।

सब ओर से विमुख होने के लिए किसी अभ्यास की अपेक्षा नहीं है, अपितु अनभ्यास ही अपेक्षित हैं। अनभ्यास का अर्थ अभ्यास के अभाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, अर्थात् कर्त्तृत्व के अभिमान से रहित होना तथा करने के राग की निवृत्ति एवं कर्म से उत्पन्न हुई परिस्थितियों के आश्रय का त्याग ही अनभ्यास है। अनुत्पन्न हुआ नित्य-जीवन सदैव सभी से अभिन्न है। जो अभिन्न है, उसका त्याग नहीं हो सकता। जिसका त्याग नहीं हो सकता, उसमें नित्य-योग तथा बोध एवं अगाध प्रियता होती है, जो वास्तविक जीवन है। अनभ्यास मानव को नित्य-योग, बोध तथा प्रेम प्रदान करने में समर्थ है। अनभ्यास सिद्ध होने पर अकर्तव्य का नाश, कर्तव्यपरायणता की अभिव्यक्ति, भोग की रुचि का नाश और नित्य-योग की प्राप्ति एवं आसक्तियों का नाश तथा प्रीति की जागृति स्वतः होती है; कारण, कि

अनभ्यास मानव को अहंकृति-रहित करने में समर्थ है, जो मूक-सत्संग है।

दृश्य के देखने की रुचि में ही देहाभिमान निहित है तथा दृश्य की जिज्ञासा में ही देखने की रुचि का नाश है। रुचि का नाश तथा जिज्ञासा की पूर्ति युगपद् होते हैं। दृश्य का आकर्षण मानव को काम में आबद्ध करता है। काम-जनित सुख-लोलुपता मानव को पराधीनता, जड़ता एवं अभाव में आबद्ध करती है। अभाव-जनित वेदना काम-रहित करने में समर्थ है। निष्कामता की अभिव्यक्ति में ही नित्य-योग तथा मूक-सत्संग निहित है। दृश्य के देखने की रुचि, क्या दृश्य में है? अथवा उसमें जो उसका आश्रय तथा प्रकाशक है? कदापि नहीं। दृश्य के देखने की रुचि जिसमें है, यद्यपि वह दृश्य नहीं है, परन्तु उसमें दृश्य का आकर्षण है और उसी में दृश्य के आश्रय तथा प्रकाशक की लालसा है। दृश्य की रुचि तथा सर्व के आश्रय तथा प्रकाशक की लालसा मानव में है। इस दृष्टि से मानव दृश्य की आसक्ति और प्रकाशक की माँग अपने ही में पाता है।

मूक-सत्संग दृश्य की रुचि की निवृत्ति में और प्रकाशक की प्रियता में हेतु है। 'नहीं' में 'है'-बुद्धि रुचि से ही जीवित है, और है। से दूरी, भेद तथा भिन्नता के भास में भी रुचि ही हेतु है। यदि दृश्य की रुचि दृश्य की जिज्ञासा में एवं सर्व के आश्रय तथा प्रकाशक की आवश्यकता में परिणत हो जाय, तो मानव बड़ी ही सुगमतापूर्वक पूर्णता से अभिन्न हो सकता है। यद्यपि किसी भी दृश्य का आश्रय नित्य नहीं है, परन्तु देखे हुए का प्रभाव दृश्य से सम्बन्ध जीवित रखता है। इतना ही नहीं, दृश्य नहीं रहता, पर उसका सम्बन्ध रहता है। दृश्य का सम्बन्ध मानव को मूक-सत्संग तथा नित्य-योग से विमुख करता है। सम्बन्धी नहीं है, सम्बन्ध है, यह वस्तुस्थिति, क्या भूल-जनित नहीं है? अवश्य है। भूल-जनित वस्तुस्थिति का वर्तमान में ही अन्त करना अनिवार्य है, जो एकमात्र मूक-सत्संग से ही साध्य है।

दृश्य का प्रभाव देखने की रुचि से अपने में उत्पन्न हो गया है। जिज्ञासा की जागृति दृश्य के प्रभाव का नाश करती है। जिज्ञासा की पूर्ति जिज्ञासु को निस्सन्देहता से अभिन्न करती है। दृश्य के प्रभाव को बनाए

रखना, 'नहीं' में 'है'-बुद्धि स्वीकार करना है, अर्थात् असत् का संग है, जो विनाश का मूल है। देखने की रुचि से दृष्टि दृश्य का आश्रय स्वीकार करती है। किन्तु दृश्य में सतत परिवर्तन हो रहा है, अर्थात् दृश्य अदृश्य हो जाता है, इस अनुभव का आदर करने पर दृष्टि दृश्य का आश्रय त्याग, अपने उद्गम में विलीन होती है, जिसके होते ही मूक-सत्संग तथा नित्य-योग सिद्ध होता है, जो सर्वतोमुखी विकास की भूमि है। दृष्टि और दृश्य का सम्बन्ध तभी तक रहता है, जब तक मानव किसी एक दृश्य पर दृष्टि नहीं रखता। यद्यपि स्वरूप से दृश्य एक है, पर प्रतीति अनेक हैं। यदि अनेक प्रतीतियों से विमुख होकर एक ही प्रतीति पर दृष्टि रहे, तो अपने-आप दृष्टि दृश्य से विमुख हो, अपने उद्गम में विलीन होती है, यह वैज्ञानिक तथ्य है।

मूक-सत्संग से दृष्टि बिना दृश्य के स्थिर होती है, जो वास्तव में नित्य-योग है। यह नियम है कि जब दृष्टि बिना दृश्य के स्थिर होती है, तब चित बिना आधार के शान्त और प्राण बिना ही निरोध के सम होता है। इस कारण दृश्य की वास्तविकता का अनुभव कर, दृश्य से विमुख होना अनिवार्य है। प्राकृतिक नियमानुसार देखे हुए के प्रति जिज्ञासा और बिना देखे हुए में अविचल आस्था होती है। जब मानव देखे हुए में विश्वास और बिना देखे हुए में सन्देह करता है, तब अपने ही द्वारा अपने विनाश का बीज बोता है। मूक-सत्संग से देखे हुए में सन्देह और बिना देखे में अविचल आस्था स्वतः होती है। इस दृष्टि से जिज्ञासा की जागृति तथा उसकी पूर्ति में मूक-सत्संग समर्थ है। मूक-सत्संग आस्थावान् की आस्था को सजीव कर श्रद्धा-विश्वासपूर्वक आत्मीयता जाग्रत कर 'प्रीति' से अभिन्न करता है। अतः जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की प्राप्ति में मूक-सत्संग हेतु है।

दृश्य की वास्तविकता के बोध में ही काम की निवृत्ति निहित है। काम की निवृत्ति, जिज्ञासा की पूर्ति एवं प्रेम की प्राप्ति युगपद् होती हैं। इस कारण दृश्य की वास्तविकता का अनुभव करना मानव-मात्र के लिए अनिवार्य है। देखे हुए की सत्यता तथा सुन्दरता, देखने की रुचि से ही भासित होती है। जिसमें देखने की रुचि है, उसी में जिज्ञासा है। जिज्ञासा की पूर्ण

जागृति और देखने की रुचि की निवृत्ति युगपद् होती हैं। देखने की रुचि का नाश होते ही दृश्य से असंगता स्वत: प्राप्त होती है। और फिर मानव नित्य-योग से अभिन्न होता है। नित्य-योग में ही नित्य-जीवन निहित है। इस दृष्टि से दृश्य की वास्तविकता का परिचय अत्यन्त आवश्यक है। यद्यपि प्रवृत्ति प्राकृतिक तथ्य है, परन्तु प्रवृत्ति का राग विनाश का मूल है। मूक-सत्संग से प्रवृत्ति का राग निवृत्त होता है और फिर बड़ी ही सुगमतापूर्वक मानव अपने ही में सब कुछ पाकर वास्तविक जीवन से अभिन्न हो जाता है।

प्रवृत्ति का राग नवीन प्रवृत्ति को जन्म देता है और आवश्यक प्रवृत्ति, जो प्राकृतिक तथ्य है, सहज निवृत्ति प्रदान करती है। आवश्यक प्रवृत्ति की पूर्ति में मानव सर्वदा समर्थ है। पर यह रहस्य प्रवृत्ति के राग की निवृत्ति के बिना स्पष्ट नहीं होता। प्रवृत्ति का राग मानव को देहाभिमान से रहित नहीं होने देता, जो विनाश का मूल है। प्रवृत्ति की वास्तविकता का अनुभव कराने के लिए आवश्यक प्रवृत्ति की स्वाधीनता वैधानिक तथ्य है, पर प्रवृत्ति-जनित सुखलोलुपता प्रमाद है। प्रत्येक प्रवृत्ति के लिए वस्तु योग्यता, सामर्थ्य आदि का आश्रय आवश्यक है। इस दृष्टि से प्रवृत्ति काल में मानव किसी-न-किसी रूप में पराधीनता को स्वीकार करता है। प्रवृति-जनित सुख-लोलुपता पराधीनता में जीवन-बुद्धि पोषित करती है। पराधीनता में आबद्ध मानव सदैव अभाव से पीड़ित रहता है। इस कारण प्रवृति-जनित सुख-लोलुपता का अन्त करना अनिवार्य है, जो एकमात्र सहज निवृतिपूर्वक मूक-सत्संग से ही साध्य है।

निवृत्ति के लिए कोई प्रयास अपेक्षित नहीं होता, अपितु प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में निवृत्ति की स्वतः अभिव्यक्ति होती है, किन्तु प्रवृत्ति का राग निवृत्ति को सुरक्षित नहीं रहने देता और फिर मानव नित्य-योग से विमुख हो, संयोग की दासता तथा वियोग के भय में आबद्ध हो जाता है, जो किसी को अभीष्ट नहीं है। संयोग की दासता तथा वियोग का भय न रहे, यह मानव की स्वाभाविक माँग है। मूक-सत्संग से माँग की पूर्ति होती है, इस कारण प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में मूक-सत्संग अनिवार्य है। मूक-सत्संग तथा नित्य-योग की प्राप्ति में ही मानव का सर्वतोमुखी विकास निहित है।

प्राकृतिक नियमानुसार निरन्तर संयोग, वियोग में विलीन हो रहा है, पर इस वैधानिक तथ्य पर दृष्टि न रखने से संयोग की दासता तथा वियोग का भय जीवित रहता है। मूक-सत्संग से मानव संयोग में ही वियोग का अनुभव करता है। संयोग में वियोग का अनुभव होते ही नित्य-योग की अभिव्यक्ति होती है, जो विकास की भूमि है। नित्य-योग से निराश होने और संयोग को सुरक्षित रखने का प्रयास करने के समान और कोई भारी भूल नहीं है। इस भूल का अन्त बिना किये मानव मानव-जीवन' के वास्तविक महत्व का अनुभव नहीं कर सकता, जो विनाश का मूल है। मानवमात्र को मानव-जीवन की महिमा से भलीभोति परिचित होना अत्यन्त आवश्यक. है, कारण, कि मानव अपने महत्व को भूल कर ही परिस्थितियों की दासता में आबद्ध होता है। परिस्थितियों की दासता ने ही मानव को सभी परिस्थितियों से अतीत दिव्य-चिन्मय जीवन से विमुख कर दिया है। अत: मूक-सत्संग तथा नित्य-योग के द्वारा प्रत्येक मानव परिस्थितियों से अतीत दिव्य-चिन्मय जीवन से अभिन्न हो, कृतकृत्य हो सकता है, यह निर्विवाद सत्य है।

जब तक मानव क्रियाशीलता में ही आबद्ध रहता है, तब तक उसमें मूक-सत्संग की अभिरुचि जाग्रत नहीं होती, कारण, कि क्रियाजनित-सुख-लोलुपता देहादि वस्तुओं के आश्रय से रहित नहीं होने देती, अर्थात् सर्वांश में असत् का त्याग नहीं होता, जो विनाश का मूल है। कर्म और क्रिया का भेद स्पष्ट होने पर मानव बडी ही सुगमतापूर्वक कर्म-रहित हो, मूक-सत्संग का अधिकारी हो जाता है। कर्म का उद्गम काम है और काम की उत्पत्ति असत् के संग से ही होती है, अर्थात् जब तक मानव अपने को देह से तद्रूप नहीं कर लेता, तब तक काम का जन्म ही नहीं होता और उसके बिना हुए मानव में कर्मासक्ति उत्पन्न नहीं होती, जो पराधीनता की जननी है। पराधीनता सहन करते रहना अपने को भोग, मोह तथा आसक्ति में आबद्ध करना है। यद्यपि पराधीनता, स्वाधीनता की माँग है, और कुछ नहीं। परन्तु पराधीनता में ही स्वाधीनता का आरोप कर लेना भूल है। इस भूल से ही मानव सुख की दासता में आबद्ध होता है।

प्राकृतिक नियमानुसार पराधीनता-जनित सुख शेष नहीं रहता, पर सुख की दासता रह जाती है, जो किसी को भी स्वभाव से अभीष्ट नहीं है। सुखासक्ति-रहित हुए बिना सुख की दासता का नाश नहीं होता। सुखासक्ति-रहित होने के लिए पराधीनता-जनित असह्य वेदना अनिवार्य है। स्वाधीनता से निराश होना और पराधीनता में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना अपने ही द्वारा अपना विनाश करना है। उदारता, समता एवं प्रियता की जागृति होने पर पराधीनता स्वत: नाश हो जाती है, यह वैज्ञानिक तथ्य है। उदारता मानव को करुणा तथा प्रसन्नता प्रदान करती है, अर्थात् उदार-चरित्र मानव दु:खियों को देख, करुणित और सुखियों को देख, प्रसन्न होता है। करुणा सुख-भोग की रुचि को शेष नहीं रहने देती और प्रसन्नता से मानव निष्काम होता है। निष्कामता परम-शान्ति से अभिन्न करती है। भोग की रुचि का नाश होने पर नित्य-योग की अभिव्यक्ति होती है। इस दृष्टि से उदारता में ही नित्य-योग निहित है।

परम-शान्ति से अभिन्न होते ही विषमता शेष नहीं रहती अर्थात् समता की अभिव्यक्ति होती है। समता की अभिव्यक्ति में ही बोध निहित है। सभी से एकता अनुभव करने पर स्वतः उदारता का प्रादुर्भाव होता है। भेद-रहित होने के लिए मूक-सत्संग अनिवार्य है, कारण, कि कर्मासक्ति ही मानव में दूरी, भेद तथा भिन्नता उत्पन्न करती है, अर्थात् एकता सुरक्षित नहीं रहने देती। कर्मासक्ति का अन्त तभी सम्भव होगा, जब मानव मूक-सत्संग अपनाए। मूक-सत्संग के अपनाने में किसी प्रकार की पराधीनता तथा असमर्थता नहीं है। इस दृष्टि से मूक-सत्संग मानवमात्र के लिए उपयोगी है। इतना ही नहीं, मूक-सत्संग से कर्मासक्ति नाश होते ही क्रिया और कर्म का भेद स्पष्ट हो जाता है। क्रिया स्वत: होती है और कर्म अविवेक सिद्ध है। मूक-सत्संग से अविवेक का नाश और विवेक की जागृति होती है। विवेक के अनादर के अतिरिक्त अविवेक कुछ नहीं है और विवेक के आदर में ही अविवेक की निवृत्ति है, जो एकमात्र मूक-सत्संग से ही साध्य है। अविवेक का अन्त होने पर काम का नाश स्वतः हो जाता है, जिसके होते ही अहंकृति की गंध भी नहीं रहती और

फिर अपने-आप मूक-सत्संग होने लगता है।

समस्त असाधनों की उत्पत्ति अविवेक सिद्ध है, इस कारण अविवेक का अन्त करना अनिवार्य है, जो एकमात्र मूक-सत्संग से ही साध्य है। अविवेक का अन्त होते ही असाधनों का नाश और समस्त साधनों की अभिव्यक्ति स्वतः होती है। मूक-सत्संग समस्त साधनों का उद्गम भी है और समस्त साधन मूक-सत्संग में ही विलीन होते हैं। जिस प्रकार समस्त पौधे भूमि से उत्पन्न होकर, उसी में स्थित रहते हैं और उसी में विलीन भी होते हैं, उसी प्रकार मूक-सत्संग समस्त साधनों की अभिव्यक्ति से पूर्व अपेक्षित है और समस्त साधनों की पूर्णता भी मूक-सत्संग में ही निहित है।

सत् और असत् के संग में एक बड़ा भेद है। सत् स्वभाव से ही सर्व का आश्रय तथा प्रकाशक है। सत् किसी का नाशक नहीं है। इस कारण असत् के संग से उत्पन्न हुए असाधन भी सत् से ही प्रकाशित होते हैं। किन्तु असत् से उत्पन्न हुए असाधन सत् की जिज्ञासा का नाश नहीं कर सकते, कारण, कि कोई भी मानव सर्वांश में असत् का संग नहीं कर सकता। आंशिक रूप में ही असत् का संग करता है। उसी का परिणाम यह है कि आशिक असाधन तथा साधन का द्वन्द्व जीवन में है। इस द्वन्द्वात्मक स्थिति का नाश बिना हुए मानव साधननिष्ठ नहीं हो सकता और साधनपरायणता के बिना वास्तविक जीवन से अभिन्नता नहीं होती। सत् का संग होते ही असत् से उत्पन्न हुए समस्त असाधन स्वत: नाश हो जाते हैं और फिर द्वन्द्वात्मक स्थिति शेष नहीं रहती। इस दृष्टि से सत् से भी कही अधिक सत्संग का महत्त्व है। सत्-चर्चा तथा सत्-चिन्तन करते हुए आशिक असत् का आश्रय रहता है; किन्तु मूक-सत्संग से सर्वांश में सत्संग होता है, अथवा यों कहो कि मूक-सत्संग ही सत्संग है। सत् से कभी किसी की देश-काल की दूरी नहीं होती, अर्थात् जो सर्वदा-सर्वत्र है, वही सत्य है, किन्तु सत्संग के बिना नित्य-प्राप्त सत्य अप्राप्त-सा भासित होता है। इतना ही नहीं, असत् के संग से, जो 'नहीं' है, वह 'है' के समान प्रतीत होता है और, जो 'है' , वह अप्राप्त-सा भासित होता है। 'नहीं' की निवृत्ति

और है की प्राप्ति में एकमात्र सत्संग ही हेतु है।

ममता, कामना और तादात्म्य जिससे हैं, वह सत् है अथवा असत्, इसमें विकल्प हो सकता है; पर ममता, कामना और तादात्म्य असत् हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। सर्वांश में ममता का नाश होने पर कामना का नाश और कामनाओं के नाश में ही तादात्म्य का नाश निहित है। जिन उत्पन्न हुई वस्तुओं से ममता स्वीकार की है, वे वस्तुएँ जड़ हैं, अनित्य हैं या मिथ्या हैं- इसमें मतभेद हो सकता है। पर वे व्यक्तिगत नहीं हैं- इसमें कोई मतभेद नहीं है। अत: ममता बनाए रखना असत् का संग है, जिसका मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

मूक-सत्संग से निर्मम, निष्काम एवं असंग होने की सामर्थ्य स्वतः आ जाती है। इस दृष्टि से मूक-सत्संग सर्वप्रथम पुरुषार्थ है और निर्मम, निष्काम तथा असंग होने पर नित्ययोग, जिसमें अहंकृति की गंध भी नहीं है, स्वत: प्राप्त होता है। इस कारण अन्तिम प्रयास भी मूक-सत्संग ही है। जो आदि और अन्त में है, वह मध्य में भी है, यह प्राकृतिक तथ्य है। अत: मूक-सत्संग में ही जीवन है और जीवन में मूक-सत्संग है।

मूक-सत्संग तथा नित्य-योग एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इन दोनों में स्वरूप से विभाजन नहीं है। अपितु मूक-सत्संग में ही नित्य-योग और नित्य-योग में ही मूक-सत्संग ओत-प्रोत हैं। आस्था और अनुभव दोनों ही से मूक-सत्संग साध्य है। इतना ही नहीं, आस्था में सजीवता और अनुभव का आदर मूक-सत्संग से ही पोषित होता है। मूक-सत्संग के बिना देहाभिमान का नाश सम्भव नहीं है। अहंकृति से देहाभिमान ही पुष्ट होता है और अहंकृति-रहित होते ही उत्पन्न हुई वस्तुओं का आश्रय अपेक्षित नहीं रहता। यह नियम है कि जब मानव वस्तु अवस्था, परिस्थिति के आश्रय से रहित होता है, तब सवांधार का आधार स्वत: प्राप्त हो जाता है। इस दृष्टि से आस्था में सजीवता मूक-सत्संग से ही साध्य है।

वस्तु आदि के आश्रय से रहित होते ही असंगता की स्वतः अभिव्यक्ति होती है और फिर मानव बड़ी ही सुगमतापूर्वक ममता, कामना एवं तादात्म्य से रहित हो जाता है। जिसके होते ही परिच्छिन्नता, भेद,

भिन्नता शेष नहीं रहती। इस कारण तत्त्व-साक्षात्कार में मूक-सत्संग ही हेतु है। मूक-सत्संग कोई अभ्यास, अनुष्ठान एवं श्रम-साध्य प्रयोग नहीं है, अपितु सहज तथा स्वाभाविक स्वतः सिद्ध तथ्य है। नित्य-प्राप्त की प्राप्ति और पराश्रय की निवृत्ति मूक-सत्संग में ही निहित है। पराश्रय के रहते हुए भोग की रुचि नाश नहीं होती। भोग की रुचि में ही मोह तथा आसक्ति पोषित होती है, जो विनाश का मूल है। पराश्रय मानव को पराधीनता, जड़ता एवं अभाव में ही आबद्ध करता है।

स्वाधीनता, चिन्मयता एवं पूर्णता के लिए, जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता नहीं है, अथवा जिसकी प्रतीति है और प्राप्ति नहीं है, उससे विमुखता अनिवार्य है, जो एकमात्र मूक-सत्संग से ही साध्य है। स्वाधीनता स्वभाव से ही मानवमात्र को प्रिय है, पर श्रम-रहित अर्थात् विश्राम के बिना स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से मूक-सत्संग में ही नित्य-योग, परम-शान्ति एवं स्वाधीनता निहित है।

मूक-सत्संग से साध्य नित्य-योग में मानव को किसी कारण के सहयोग की अपेक्षा नहीं होती, अपितु इन्द्रिय, मन, प्राण, बुद्धि आदि स्वतः अपने अधिष्ठान में विलीन होते हैं, कारण, कि मूक-सत्संग से असत् का त्याग, अर्थात् ममता, कामना एवं तादात्म्य शेष नहीं रहते। इतना ही नहीं, मूक-सत्संग से आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति तथा उसका सदुपयोग स्वतः होता है। इस दृष्टि से मूक-सत्संग में सर्वतोमुखी विकास निहित है।

व्यर्थ-चिन्तन से असहयोग, पराधीनता, विषमता तथा जड़ता का नाश और उदारता, समता एवं प्रियता की जागृति मूक-सत्संग से ही होती है। उदारता से जीवन जगत् के लिए, समता से अपने लिए एवं प्रियता से सर्व के आश्रय तथा प्रकाशक के लिए उपयोगी होता है। उदारता, समता एवं प्रियता में ही नित-नव रस निहित है। रस की माँग ही जीवन की माँग है। रस से अरुचि नहीं होती, उसकी निवृत्ति भी नहीं होती, वह क्षति-पूर्ति से रहित, असीम, अनन्त अखण्ड है। 'रस' अनन्त का स्वभाव तथा मानव की माँग है। सुख की दासता तथा दुःख का भय असत् के संग से उत्पन्न होता है और रस की अभिव्यक्ति एकमात्र मूक-सत्संग से ही होती है; कारण, कि मूक-

सत्संग अहम्-भाव रूपी अणु का अन्त करने में समर्थ है। इस दृष्टि से मूक-सत्संग में ही मानव के पुरुषार्थ की परावधि है। कोई भी अभ्यास सभी के लिए समान रूप से अनुकूल नहीं होता; कारण, कि अभ्यास का सम्बन्ध प्राप्त वस्तु योग्यता सामर्थ्य से है।

प्राकृतिक नियमानुसार दो व्यक्ति भी वस्तु योग्यता, सामर्थ्य की दृष्टि से सर्वांश में समान नहीं हैं। इस दृष्टि से कोई भी अभ्यास ऐसा हो ही नहीं सकता, जो मानव-मात्र के लिए सुलभ हो, किन्तु मूक-सत्संग में सभी का समान अधिकार है। अत: मूक-सत्संग ही एक ऐसा अद्वितीय, अचूक, अनुपम उपाय है कि जिससे प्रत्येक मानव वास्तविक जीवन से अभिन्न हो, कृतकृत्य हो सकता है। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध है कि मूक-सत्संग ही सर्वतोमुखी विकास की भूमि है।

सम्पूर्ण जीवन दर्शन

(भाग – १)

I. मानवमात्र के शरणानन्दजी

II. सत्संग और साधन

1. असत् का त्यागः साधन की अभिव्यक्ति
2. अकर्तव्य का नाश: कर्तव्य की अभिव्यक्ति
3. पराधीनता का नाश: स्वाधीनता की अभिव्यक्ति
4. आसक्ति का अभाव और प्रेम की अभिव्यक्ति
5. मूक-सत्संग और विश्राम की अभिव्यक्ति
6. उपसंहार

III. दर्शन और नीति

IV. जीवन पथ

1. जीवन असत से सत की ओर।
2. प्रभु में प्रियता।
3. मिले हुए का सदुपयोग।
4. मानव जीवन का महत्व।
5. विश्राम में जीवन हैं।
6. कर्तव्य परायणता।
7. स्मृति की जागृति – "हैं" की प्राप्ति
8. असंगता का महत्व।
9. प्रवृति सेवा में निवृति प्रेम में।
10. प्रभु में विश्वास
11. प्रियता में जीवन की पूर्णता।
12. ममता का त्याग
13. अगाध अनन्त आनन्द की प्राप्ति
14. जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति – अनित्य हैं।

V. दुःख का प्रभाव

1. एक परिचय
2. दुः:ख का प्रभाव
3. उपसंहार

VI. मानवता के मूल सिद्धांत

VII. मूक-सत्संग तथा नित्य-योग

सम्पूर्ण जीवन दर्शन

भाग - २

I. साधन-तत्व

1. साधक कौन है?
2. साधन-तत्व क्या है?
3. साध्य क्या है?
4. क्या सभी साधकों का साध्य एक ही है?
5. साधन-तत्व से अभिन्न होने के उपाय क्या हैं?

6. साधन और साधन-तत्व में क्या भेद है?
7. साधन की आवश्यकता क्यों है?
8. साधन में विघ्न क्या हैं?
9. साधक को साधन में स्वाभाविक प्रियता क्यों नहीं होती?
10. जब सभी का साध्य एक है तो साधन अनेक क्यों है?
11. साधक को अपने साधन का ज्ञान कैसे हो?
12. साधक होने का अधिकारी कौन है?
13. साधन में शिथिलता क्यों आती है?
14. साधन में अस्वाभाविकता क्यों प्रतीत होती है?
15. साधन का आरंभ कैसे हो?
16. साधन की लालसा
17. साधन का महत्व
18. असाधन का त्याग
19. दर्शन और साधन
20. जीवन और साधन
21. विश्वास और साधन
22. साधन-विधि
23. साधन-क्रम
24. साधन और असाधन
25. साधन और सत्संग
26. सत्संग की आवश्यकता
27. अहम् का नाश तथा साधन-तत्व

II. मानव की मांग

1. प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग
2. सुन्दर समाज का निर्माण
3. अपना कल्याण चाह-रहित होने में है
4. सर्वहितकारी प्रवृत्ति तथा वासना-रहित निवृत्ति
5. बल का सदुपयोग तथा विवेक का आदर
6. अनावश्यक इच्छाओं की निवृत्ति
7. संयोग में वियोग के दर्शन
8. कर्तव्य-परायणता
9. अपने प्रति न्याय तथा दूसरों के प्रति क्षमा तथा प्रेम
10. भुक्ति, मुक्ति और भक्ति
11. निर्दोष और निर्वैर जीवन ही मानव जीवन है
12. मुक्त किससे होना है
13. कर्ता और कर्म- मान्यता का प्रभाव
14. निर्मलता कि प्राप्ति
15. सुख का उपयोग सेवा है
16. कर्म, विवेक और विश्वास
17. परिस्थितियाँ
18. भाव – शुद्धि
19. अचाह होने का महत्व
20. कर्तव्य-पालन में स्वतन्त्रता
21. पर-दोष-दर्शन
22. करना और होना
23. जीवन-विभाजन
24. करो 'सेवा' जानो 'अपने' को, मानो 'प्रभु' को
25. निर्भयता की प्राप्ति

26. स्वाभाविक आवश्यकता कि सहज पूर्ति
27. चरित्र – निर्माण

III. मानव–दर्शन

28. मानव जीवन की समस्या, मानव–दर्शन का महत्व
29. असत् का विवेचन
30. मैं का विवेचन
31. पथ-विवेचन
32. कर्तव्य-विवेचन
33. समाज-दर्शन
34. दुःख की समस्या
35. शिक्षा और दीक्षा
36. विश्व-शान्ति
37. उपसंहार

IV. साधन-निधि

1. अपने लिए उपयोगी होना
2. जगत् के लिए उपयोगी होना
3. प्रभु के लिए उपयोगी होना
4. उपसंहार

V. मंगलमयी विधान

सम्पूर्ण जीवन दर्शन

भाग – ३ & ४

स्वामी श्रीशरणानन्दजी महाराज के अकाट्य प्रवचनों का संग्रह

सम्पूर्ण जीवन दर्शन

भाग – ५

I. सन्त समागम
II. सन्त सौरभ
III. सन्त उद्बोधन
IV. साधन सूत्र

सम्पूर्ण जीवन दर्शन

भाग – ६

I. चित्त शुद्धि

1. अशुद्धि क्या?
2. अशुद्धि के कारण की खोज
3. सामर्थ्य का विकास एवं उसका उपयोग
4. व्यक्तित्व की दासता एवं गुणों का अभिमान
5. प्राप्त का सदुपयोग
6. अस्वाभाविकता का त्याग
7. न्याय अपने प्रति तथा प्यार दूसरों के प्रति
8. न्याय अपने प्रति तथा क्षमा दूसरों के प्रति
9. असाधनरूप मान्यताओं की अस्वीकृति
10. परिस्थितियों की अनित्यता
11. भय तथा प्रलोभन से मुक्ति
12. नीरसता और खिन्नता से मुक्ति
13. स्थिरता, प्रसन्नता और निर्भयता की आवश्यकता
14. कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व का अंत
15. निस्संकल्पता की आवश्यकता
16. वस्तुओं से सम्बन्ध-विच्छेद
17. अपनी प्रसन्नता किसी और पर निर्भर नहीं
18. निषेधात्मक साधन की आवश्यकता
19. निज-ज्ञान की सामर्थ्य
20. चित्त की महिमा
21. चित्त की चंचलता एवं संकल्पों की निवृत्ति
22. ज्ञान और जीवन की अभिन्नाता
23. व्यक्तित्व के मोह का अन्त
24. सुख-दुःख से अतीत के जीवन की खोज
25. सन्देह की निवृत्ति तथा निस्सन्देहता की प्राप्ति
26. असंभव का त्याग तथा संभव की प्राप्ति
27. गुणदोष-युक्त द्वन्द्व से मुक्ति
28. सुख के प्रलोभन तथा दुःख के भय से मुक्ति
29. कर्त्तव्य का पालन एवं अकर्त्तव्य का त्याग
30. जानने की सामर्थ्य का सदुपयोग
31. मान्यताओं से अतीत के जीवन की प्राप्ति
32. अपने सम्बन्ध में विकल्प-रहित निर्णय

33. स्वाभाविक माँग एवं अस्वाभाविक इच्छाएँ
34. निज दोष और दुःख का वास्तविक ज्ञान
35. इन्द्रिय-ज्ञान का सदुपयोग एवंबुद्धि-ज्ञान का आदर
36. आसक्ति की निवृत्ति एवं प्रेम की प्राप्ति
37. सुख-भोग की आशा का त्याग
38. मान्यताओं का नाश एवं प्रीति का उदय
39. सामूहिक दुःख की अनुभूति का महत्व
40. क्षमा-प्रार्थना एवं क्षमा-शीलता का महत्व
41. अपने से भिन्न सत्ता की अस्वीकृति
42. व्यक्ति, दृश्य एवं दृष्टियाँ
43. रूचि-अरूचि के द्वन्द्व का अन्त
44. अहम् और वस्तु का विभाजन
45. आसक्ति और अनासक्ति के द्वन्द्व का अन्त
46. प्राप्त परिस्थिति द्वारा साधन-निर्माण
47. प्रवृत्ति का विलय निवृत्ति में
48. अशुद्धि के ज्ञान में ही शुद्धि की अभिव्यक्ति
49. अहम्-भाव की निवृत्ति एवंभय-प्रलोभन से मुक्ति
50. अनन्त के विधान-विवेक का आदर
51. वस्तुओं के अस्तित्व की अस्वीकृति
52. कर्त्तव्यनिष्ठ में ही उदारता की अभिव्यक्ति
53. संकल्प उत्पत्ति-पूर्त्ति से अतीत का जीवन
54. करने में सावधान और होने में प्रसन्न

II. जीवन दर्शन

55. अचाह पद
56. विवेक एवं अविवेयुक्त विश्वास
57. भोग-इच्छाओं की निवृत्
58. व्यक्तित्व की दासता
59. परिस्थितियों का सदुपयोग
60. व्यक्तित्व के मोह की निवृत्ति
61. हमारी वास्तविकता आवश्यकता
62. मान्यता, विधान और जीवन की एकता
63. आशा और निराशा किसकी?
64. 'करने' का 'होने' में परिवर्तन
65. गुणों के अभिमान का त्याग
66. अनित्य जीवन से निराशा
67. कामना-निवृत्ति

68. नित्य-जीवन का अनित्य-जीवन पर प्रभाव
69. माने हुए सम्बन्ध की निवृत्ति और नित्य सम्बन्ध की प्राप्ति
70. सहज निवृत्ति का सदुपयोग
71. वर्तमान का सदुपयोग
72. आसक्ति और प्रीति
73. व्याकुलता और प्रेम
74. विवेक और प्रीति
75. साधन-निर्माण
76. प्रीति ही जीवन है।
77. कर्त्तव्यपरायणता से लक्ष्य की प्राप्त
78. निर्मोहता में दिव्य-जीवन
79. परिस्थितियों से अतीत के जीवन की ओर
80. निर्भयता की कुन्जी
81. आसक्ति और प्रीति का विवेचन
82. सुख की आशा के त्याग में ही विकास
83. पर-चर्चा से हानि
84. सफलता की कुन्जी
85. विश्राम की महिमा
86. विश्राम की विधि
87. साधन-निर्माण की भूमि
88. अहं और मम के नाश में जीवन की सार्थकता
89. साधन में शिथिलता क्यों आती है?
90. भिन्नता के अन्त में जीवन
91. 'मैं' क्या है?
92. निस्संदेहता से लक्ष्य की प्राप्ति
93. प्रवृत्ति और निवृत्ति
94. निष्कामता में ही सफलता है
95. पराश्रय का त्याग और सेवा
96. कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेचन
97. साधन-तत्त्व
98. वर्तमान जीवन का सदुपयोग
99. साधन करने में कोई असमर्थ नहीं है
100. वर्तमान का आदर ही साधन है।
101. स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति
102. 'मैं' का स्वरूय
103. त्याग और प्रेम
104. विवेक की अलौकिकता
105. व्यक्तित्व की निवृत्ति में जीवन
106. उपासना का रहस्य
107. नि:संदेहता तथा प्रीति
108. कर्तव्यनिष्ठा और स्मृति
109. कामना-निवृत्ति का महत्त्व
110. जीवन का परम पुरुषार्थ
111. असंगता और प्रेम
112. दोषों का मूल-असावधानी
113. गुण, दोष और उनकी निवृत्ति
114. साधनरूप मान्यताएँ

115. अस्वाभाविकता और उसकी निवृत्ति
116. विवेक से प्रीति
117. उद्देश्य और उसकी पूर्ति
118. कर्तव्य-मीमांसा
119. क्षणिक जीवन से निराशा तथा अनन्त का आश्रय
120. परिवर्तनशील एवं वास्तविक जीवन
121. ममता का त्याग और प्रेम
122. अचाह में अभिन्नता
123. श्रमरहित साधन
124. साधन-भेद और साध्य की एकता
125. बाह्य दुष्टियों का सदुपयोग
126. चिर-शान्ति और सरसता।

सम्पूर्ण जीवन दर्शन

भाग – ७

साधकों को पत्रों के माध्यम से स्वामी श्रीशरणानन्दजी महाराज जी का उपदेशों का संग्रह

सम्पूर्ण जीवन दर्शन

भाग – ८

I. सन्त जीवन दर्पण
1. स्वामी श्री शरणानन्द जी महाराज`
2. पुण्य- स्मृति
3. वह तो आते आधे नाम
4. जीवन के मार्मिक प्रसंग
5. विविध प्रसंग

II. साधन त्रिवेणी
1. जीवन का सत्य
2. हमारी आवश्यकता
3. सेवा ही जीवन का सार सर्वस्व
4. सत्संग मानव का स्वधर्म
5. स्वाधीनता, उदाराता और प्रेम
6. धर्म विज्ञान
7. सच्चा साधक कौन?
8. विवेक और विश्वास
9. साधना-पथ की बाधाएँ
10. प्रभु-प्रेम की विलक्षणता
11. विश्व-शान्ति

III. 'मैं' की खोज
1. 'मैं' क्या है?
2. 'मैं' का स्वरूप'
3. 'मैं' का विवेचन
4. उपसंहार

IV. पथ प्रदीप
1. जीवन कला
2. मानव की महिमा
3. 'मैं' का परिचय
4. अचाह-मानव का परम पुरुषार्थ
5. राग निवृत्ति-नित्ययोग
6. दुःख-एक विवेचन
7. सन्तुलन
8. सेवा का माहात्म्य
9. व्यक्तिगत सत्संग
10. विश्राम-विकास की पृष्ठभूमि
11. विश्रान्ति की सीमा पर मिलते हैं
12. साधन-भजन-पूजन
13. भक्ति – योग
14. अहैतुकी कृपा
15. प्रभु की प्रियता

V. प्रश्नोतरी संतवाणी

सम्पूर्ण जीवन दर्शन

भाग – ९ & १०

दिव्य ज्योति प्रो.देवकी माँ जी का उपदेशों का संग्रह